जातकमाला

बोधिसत्त्वावदानमालापरपर्याया

अनुवादक

डॉ० जगदीशचन्द्र मिश्र



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

१२३



आर्यशूरकृता

जातकमाला

(बोधिसत्त्वावदानमालापरपर्याया)

हिन्दी अनुवाद एवं भूमिकादि सहित

सम्पादक एवं अनुवादक

डॉ० जगदीशचन्द्र मिश्र

साहित्याचार्य, व्या० शा०

एम० ए० (द्वितय), पी-एच्० डी०, डिप्० इन एड०



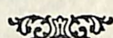
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

१२३



आर्यशूरकृता

जातकमाला

(बोधिसत्त्वावदानमालापरपर्याया)

हिन्दी अनुवाद एवं भूमिकादि सहित

सम्पादक एवं अनुवादक

डॉ० जगदीशचन्द्र मिश्र

साहित्याचार्य, व्या० शा०

एम० ए० (द्वितय), पी-एच्० डी०, डिप्० इन एड०



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

प्रकाशक—

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ५७२१४

*

द्वितीय संस्करण १९८९

मूल्य { सम्पूर्ण [illegible]-००
१–१० जातक [illegible]-००

अन्य प्राप्तिस्थान—

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू. ए., जवाहरनगर, बंगलो रोड

पो० बा० नं० २११३

दिल्ली ११०००७

दूरभाष : २३६३९१

*

प्रधान वितरक—

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ६३०७६

मुद्रक—

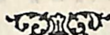
श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

THE

CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHAMALA

123



JĀTAKAMĀLA

(BODHISATTVĀVADĀNAMĀLĀPARAPARYĀYĀ)

OF

ĀRYAŚŪRA

Hindi Translation & Introduction

By

Dr. Jagadisha Chandra Mishra

Sahityacharya, V. S.

M. A. (Double), Ph. D., Dip. in Ed.



CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

VARANASI

(Oriental Publishers & Booksellers)
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
VARANASI 221001

Second Edition
1989

Also can be had of
CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A., Jawaharnagar, Bungalow Road
Post Box No. 2113
DELHI 110007
Telephone : 236391

*

Sole Distributors
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No. 1069
VARANASI 221001
Telephone : 63076

भूमिका

"केशवधृत बुद्धशरीर जय जगदीश हरे"

—गीतगोविन्द

हिन्दुओं के दशावतारों में एक भगवान् बुद्ध भी हैं। 'जातकमाला' में उन्हीं के श्रीमुख से कही गई, उन्हीं के पूर्वजन्मों की चौंतीस कहानियाँ हैं। ये कथाएँ बोधिसत्त्व की महाकरुणा से उद्दीप्त हैं। मानव-हृदय की सर्वाधिक निगूढ और विलक्षण निधि—करुणा को इन कथाओं के माध्यम से व्यंजित किया गया है। इन कथाओं को 'अवदान' अर्थात् बोधिसत्त्व के उदार-चरित भी कहते हैं। बुद्धत्व की प्राप्ति के लिये जिन आवश्यक पारमिताओं का महत्त्व हैं, उन्हें ये कथाएँ उजागर करती हैं। प्रत्येक कहानी का प्रारम्भ उद्‌देश्य-कथन के माध्यम से हुआ है। उद्‌देश्य-कथन के बाद जो शब्दावलि आती है, वह है—"तद्यथानुश्रूयते" अर्थात् जैसी कि अनुश्रुति है। उद्‌देश्य का प्रतिपादन कथा के प्रवाह में कैसे किया गया है, यह कथा के अन्त में कहा जाता है। केर्न की सम्मति है कि कथाओं के उपसंहारात्मक वाक्य प्रक्षिप्त हैं[1]। कथा का तात्पर्य स्पष्टरूप से अन्त में बतलाना आधुनिक मनीषा को ठीक नहीं जँचता। फिर भी श्रीपरशुराम शर्मा इसे प्रक्षिप्त नहीं मानते[2] हैं। जो कुछ भी हो, ये कथाएँ साधारण जनता को ही नहीं, विद्वानों को भी प्राणिमात्र के मोक्ष-तत्त्वों का परिचय सुन्दर तथा बालबोध रीति से कराती है और यही इन जातक-कथाओं की निर्मिति का मूल उद्‌देश्य[3] है।

मौलिक बौद्ध-सम्प्रदाय के प्रमुख विचार थे—प्रज्ञा और करुणा की महत्ता, संसार की अनित्यता और वस्तुमात्र का क्षण-क्षण में, प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त के अनुसार उत्पत्ति, स्थिति और विनाश होना। इन बातों का परिशीलन करते हुए, स्मृति और भूतकाल क्या है? आज जो मानव-शरीर धारण किये हुए प्राणी देखने में आते हैं, उनका पूर्वजन्म था कि नहीं। यदि पूर्वजन्म था, तो उस समय उनका शरीर, मन इत्यादि जो हैं, उसी जाति और स्वभाव के थे या नहीं, इन विषयों पर विचार करना आवश्यक होता है।

---

१. द्रष्टव्य—केर्न की प्रस्तावना पृष्ठ १०।

२. द्रष्टव्य—जातकमाला, श्री परशुराम शर्मा, प्रस्तावना पृ० १२।

३. द्रष्टव्य—इत्सिंग (ई० सप्तम शताब्दी) ताकाकुसु : इत्सिंग के प्रवास, पृ० ६३।

आज जो मनुष्य हैं, वे पहले किसी जन्म में बन्दर या हिरन थे, इसकी सम्भावना होती हैं। आज जो पशु या पक्षी देखने में आते हैं, वे किसी जन्म में मनुष्य का शरीर धारण करते होंगे, यह बात भी शक्यता की मर्यादा के बाहर नहीं जाती है। इस तरह प्रज्ञा और करुणा संसार की घटनाओं के प्रमुख सिद्धान्तों का आधार जातककथाएँ बन जाती हैं। इसी हेतु उनकी निर्मिति[1] हुई है।

उपलब्ध जातककथाओं का संग्रह 'सुत्तपिटक' के खुद्दक-निकाय में दिया हुआ है। आचार्य पाउसबोल सम्पादित संग्रह में ५४७ जातककथाएँ हैं। ई० पू० पहली या दूसरी शताब्दी में रचित चुल्ल-निदेश ग्रन्थ में जातककथाओं की संख्या मात्र ५०० बतलाई गई[2] है। चीन का प्रवासी फाहियान ने ई० पाँचवीं शताब्दी में लङ्का में ५०० जातकों की चित्राकृतियाँ देखी थीं[3]। गुप्त-युग में संस्कृत के इस प्रसिद्ध बौद्ध-ग्रंथ में ३४ जातकों की कथाएँ गुम्फित की गई हैं। प्रसिद्ध विद्वान् तारानाथ ने इस 'जातकमाला' के रचयिता का नाम 'आर्यशूर' लिखा है। ईशानचन्द्र घोष के मतानुसार 'महावस्तु' नामक ग्रंथ में ८० जातककथाओं का होना प्रमाणित होता है। थेरवादियों (सिंहल, स्याम, वर्मा, हिन्दचीन आदि देशों के बौद्धों) की परम्परा है कि जातकों की संख्या ५५० हैं। जातककथा में जातकों की संख्या ५४७ है। 'चुल्ल-निदेश' जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है, में 'पञ्चजातकशतानि' का उल्लेख मिलता है। बौद्ध विद्वानों ने भी मान लिया है कि जातकों की संख्या ५४७ ही है और यह अन्तिम संख्या है। किन्तु, 'जातककथा' में उल्लिखित साधारण कथाओं को गिन डालें, तो उनकी संख्या हजारों तक पहुँच जाती है। ईशानचन्द्र घोष का अनुमान है कि ऐसी कथाएँ लगभग तीन हजार होंगी। संस्कृत 'जातकमाला' में आर्यशूर ने भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्मों से सम्बन्ध रखनेवाली गाथाओं का ही संग्रह किया है। 'जातकमाला' के कुल ३४ जातकों[4] में से, जो पालि से

---

१. द्रष्टव्य—जातककालीन भारतीय संस्कृति : लेखक मोहनलाल महतो 'वियोगी' प्रस्तावना खण्ड, पृ० सं० ५।

२. द्रष्टव्य—चुल्लनिदेश—२-८०।

३. श्रीधर वासुदेव सोहनी : 'जा० का० भा० सं० पृ० ५।

४. हेमचन्द्र ने 'अभिधानचिन्तामणि कोष' में बुद्ध को 'चतुस्त्रिंश-जातकज्ञ' कहा गया है। इसकी व्याख्या में लिखा है—'चतुस्त्रिंशतं जातकानि व्याघ्रीप्रभृतिनि जानाति चतुस्त्रिंशजातकज्ञः' यह उद्धरण सू० ना० चौधरीजी की भूमिका से साभार उद्धृत है।

लिये गये हैं, उनका मुख्यांश तो मूल का ही है, किन्तु यत्र-तत्र आर्यशूर ने कुछ परिवर्तन भी किया है।

बौद्धधर्म एवं दर्शन पर आश्रित संस्कृत में काव्यरूप में लिखे गये काव्यों में आर्यशूर-रचित 'जातकमाला' एक अत्यन्त प्रसिद्ध एवं उल्लेखनीय काव्य है। इसमें एक ऐसी संस्कृति उपनिबद्ध है कि निःसंकोच भाव से हम प्राणिमात्र की संस्कृति कह सकते हैं। इसकी कथाओं का मूलाधार, करुणा और मैत्री है। यह उस ज्योति की अमरवाणी से सम्बद्ध है, जिसने भोग-विलास के अन्तस्तल में करुणा का उद्भावन किया। कनक, कामिनी और कीर्तिरूप दृढ़तम बन्धन-शृंखलाओं को तोड़नेवाले ज्ञान, करुणा, प्रेम आदि तत्त्वों को जन-मन में स्थिर करने के लिए जातकमाला की कथाएँ, धनी-निर्धन, ऊँच-नीच जैसे सामाजिक द्वन्द्वों से ऊपर उठकर सरल, एवं सुबोध भाषा में लिखी गई। इन कथाओं की शिक्षा से दीक्षित संसार आज भी श्रद्धा, आदर और गौरव के साथ बुद्ध को स्मरण करता है। भगवान् बुद्ध जिस रश्मि से देदीप्यमान थे, उसी का प्रबल प्रकाश इन जातकों को प्रभाव-भास्वर करता है। आर्यशूर ने बुद्ध के संदेशों को सामान्य कथाओं के द्वारा मानव मन पर अंकित करने का प्रयास किया है। बौद्ध सिद्धान्त को कोमलकान्त-पदावली की शय्या देकर आर्यशूर ने उसे जन-मन तक पहुँचाया।

'जातकमाला' में गद्य और पद्य दोनों का ही सन्निवेश हुआ है। अपने पूर्ववर्त्ती कथासाहित्य 'पञ्चतन्त्र' के आदर्श पर लिखी गई इस जातकमाला पर उक्त ग्रंथ का बहुत अधिक प्रभाव दीख पड़ता है। पञ्चतन्त्र के बाद क्रमशः विकसित होनेवाले संस्कृत गद्य-शैली के ऐतिहासिक पर्यालोचन के लिए जातकमाला में प्रयुक्त गद्य का तो महत्त्वपूर्ण स्थान है ही, नीति के उपदेश के रूप में काव्यात्मक पद्यों का भी अपना विलक्षण सौन्दर्य है। दोनों दृष्टियों से इस कृति का अपना महत्त्व है। यह सच है कि आर्यशूर को अश्वघोष की तरह महाकाव्यत्व के निर्वाह की एकसूत्रता नहीं मिली है। क्योंकि जातक-माला का प्रत्येक जातक अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखता है। आर्यशूर को जातकमाला की कथाएँ पालि-जातकों में उपजीव्य विषयवस्तु के रूप में प्राप्त हुई है।

'जातकमाला' की अनेक विशेषताएँ हैं और यह साधिकार कहा जा सकता है कि विश्व साहित्य में उसका अपना एक अलग स्थान है। इस ग्रंथ के पात्र देवता, यक्ष, प्रेत प्रभृति के अतिरिक्त प्रायः इस मिट्टी के साधारण जीव भी हैं। वे चाहें हाथी हो या हिरन, बन्दर हो या बाघ, सिंह हो या

सौदास, शेर हो या शरभ, मोर हो या हंस, मछली हो या मगर हो, इन सारे जीव-जन्तुओं का जीवन-प्रवाह सर्वाधिक सचेतन प्राणी मानव के जीवन-प्रवाह के साथ ही प्रवाहित होता है। इन्हें पढ़ने से ऐसा लगता है कि मानव का परिवार बहुत ही विशाल है, जिसमें सभी तरह के जीव-जन्तु, कीट-पतंग, प्रेत-पिशाच, यक्ष-किन्नर हैं। मानव अकेला नहीं है—वह थलचर, जलचर, नभचर सबको साथ लेकर जीवन-यात्रा के पथ पर चलता है।

'जातकमाला' की कथाएँ जीवमात्र को एक ही सूत्र में पिरोती है। इस तरह सबके लिए सबको सोचने और कर्म करने की प्रेरणा भी प्रदान करती है। 'मैत्री-धर्म' का तात्पर्य केवल मानव से मानव की ही मैत्री नहीं है। मानव अपने स्वाभाविक बैरी शेर, चीता आदि हिंसक जीवों के प्रति भी मैत्री-भावना को सजग रखें। संक्षेप में सभी प्राणियों के प्रति हृदय में मैत्री के भाव रखकर ही सुखी रहने की बात हम सोच सकते हैं और यही आर्य विचारकों की विशेषता है। मुख्यतः हम यह देखते हैं कि रामायण एवं महाभारतादि में प्राणी अपने ही कर्मों का फल भोगते नजर आते हैं। जीवमात्र तो उसके हिताहित के साथी है। पर, जातकमाला में सभी प्राणियों का पारस्परिक मैत्रीभाव विशेष दर्शनीय है।

'जन्' धातु से निष्ठार्थक या भावार्थक 'क्त' प्रत्यय के अनन्तर स्वार्थ में क प्रत्यय लगाने पर 'जातक' शब्द निष्पन्न हुआ। इसका शाब्दिक अर्थ हुआ 'बीते हुए जन्म की कहानी'। विकासवादी सिद्धान्त के अनुसार एक फूल को विकसित होने के लिए उस पुष्प की जाति विशेष की प्राप्ति में लाखों वर्ष लग जाते हैं। उसी तरह किसी प्राणी को जीवन-मुक्त होने के लिए कई जन्मों के शुभ कर्म सापेक्ष होते हैं। भगवान् बुद्ध को भी किसी एक जन्म के प्रयास से ही बुद्धत्व नहीं मिल गया था। बुद्धत्व-प्राप्ति के लिए उन्होंने अनेक जन्मों तक भगीरथ प्रयास किया था। बुद्धत्व-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील भगवान् बुद्ध जब अपने पूर्वजन्मों में सद्गुणों का विकास और अपने आचरणों के द्वारा सत्कर्मों का अभ्यास कर रहे थे, तब उनकी संज्ञा बोधिसत्त्व थी। सामान्यतः बोधि का अर्थ है बुद्धत्व और सत्त्व का अर्थ है प्राणी। इस प्रकार बोधिसत्त्व का अर्थ है बुद्धत्व-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील प्राणी। इस दृष्टि से बोधिसत्त्व को हम भावी बुद्ध भी कह सकते हैं। मिलिन्दपञ्ह[1] के अनुसार 'अर्हत्'

---

१. मिलिन्द पञ्ह—३१. "किन्ति महाराज इदं दुःखं निरुज्झाय अञ्जञ्च दुःखं न उप्पज्जेय्याति, एवदत्था महाराज अम्हाकं पब्बज्जा अनुपादा-परिनिब्बानं"

केवल निजी दुःख-विमुक्ति हेतु प्रयत्नशील थे ।[1] बोधिसत्त्व का मुख्य कार्य, अर्हत् की आध्यात्मिक संकीर्णता की आलोचना एवं निन्दा करना था ।[2]

बोधिसत्त्व की कल्पना मुख्यतः महायान-सम्प्रदाय की सर्वाधिक विशेषता है। इसके अनुसार भी बोधि का अर्थ है बुद्धत्व (Enlight teument) ऐसा प्रायः सभी विद्वान् मानते हैं। किन्तु 'सत्त्व' के अर्थ में विद्वानों के बीच मत-भिन्नताएँ हैं। अतः यही कारण है कि बोधिसत्त्व शब्द की व्याख्या भी अनेक तरह की होती हैं। हरदयाल ने अपनी पुस्तक[3] में बोधिसत्त्व के अनेक अर्थ दिए है, जो उपयुक्त होते हुए भी हमें संदिग्ध स्थिति में डाल देते हैं।

(१) सत्त्व (नपुं०) का अर्थ मोनियर विलियम्स के अनुसार — बुद्धि, चरित्र, ज्ञान, प्रकृति। अत एव बोधि अर्थात् पूर्ण ज्ञान जिसे हो, जिसकी प्रकृति पूर्ण ज्ञानमयी हो, वह बोधिसत्त्व है[4]।

(२) सत्त्व (पुं०) का अर्थ है प्राणी (Any living or sentient being) पालि सत्त का अर्थ है—सजीव पदार्थ (A living being, creature, a sentient and rational being, person.)

यही अर्थ आधुनिक मनीषा मानती है। इसी आधार पर समाधिराज सूत्रकार ने बोधिसत्त्व का अर्थ किया है—'बोधति सत्त्वान् इति बोधिसत्त्वः'। पी० घोष ने भी सत्त्व का अर्थ प्राणी ही किया है, किन्तु समस्तपद-बोधिसत्त्व की व्याख्या उन्होंने की है—'बोधिः स चासौ महाकृपाशयेन सत्त्वालम्बनात् सत्त्वश्चेति'[5] इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य 'बोधि' और 'सत्त्व' दोनों है।

(३) सत्त्व का अर्थ है—आत्मा, मनस, इन्द्रिय, चेतना। पालि में

---

1. "The Bodhisatva doctrine was promulgated by some Buddhist leaders as a protest against this lack of true spiritual fervour and altruism among the marks of that period."—Hardayal, Bodhisattva Doctrine, Page 3.

2. "A Bodhisattva is emphatically and primarily one who criticises and condenons the spiritual egoism of such 'Arhats' and Pratyeka Budhas."—Ibid

3. The Bodhisattva Doctrine in Buddhist Sanskrit Literature.

4. M. William's Sanskrit Dictionary, P. 688 b. "One who has bodhi or perfect wisdom as his essence."

5. 'सतसाहस्त्रिका—प्रज्ञापारमिता' पृ० २, Note 2 (Chapter 1–xii) ।

सत्त का अर्थ है आत्मा। प्रज्ञाकरमति ने 'बोधिचय वितार' की टीका में लिखा है—

तत्र (बोधौ) सत्त्वं अभिप्रायोऽस्येति बोधिसत्त्वः[१]। 'बोधिसत्त्व' के एक और व्याख्याकार, जिसने 'सत्त्व का अर्थ अभिप्राय' बतलाया है, का उल्लेख श्री पी० घोष ने किया है—'बोधौ सत्त्वम् अभिप्रायो येषां ते बोधिसत्त्वाः' इनके अनुसार जिनका मन, प्रवृत्तियाँ, विचार तथा इच्छाएँ 'बोधि' पर केन्द्रित हो, वे ही बोधिसत्त्व हैं[२]।

(४) सत्ता का अर्थ है—गर्भ, गुप्त, अज्ञात, अव्यक्त (मो० वि०), तदनुसार बोधिसत्त्व वह है, जिसमें बोधि-ज्ञान अव्यक्त रूप में निहित हो[३]।

एच. केर्न ने बोधि शब्द को सांख्ययोग के 'बुद्धि' शब्द का समानार्थी माना है। बुद्धिसत्त्व शब्द योग-साहित्य में पाया जाता है। इस आधार पर उन्होंने बोधिसत्त्व का अर्थ किया है—अन्तर्निहित बुद्धि का मानवाकार रूप (Personification of potential intelligence)[४] किन्तु, यह अर्थ उपयुक्त प्रतीत नहीं होता है, जबकि 'बोधि' का सम्बन्ध उच्चतम ज्ञान से है। मोनियर विलियमकृत 'संस्कृत-अंग्रेजी-कोश' में 'सत्त्व' का अर्थ है—शक्ति, बल, साहस, उत्साह[५]। इसके अनुसार जिस व्यक्ति की शक्ति बोधि (जागृति या ज्ञान) की ओर अभिमुख है, वही बोधिसत्त्व है।

इससे निष्कर्ष निकलता है बोधिसत्त्व की अवस्था को प्राप्त करनेवाला साधक अध्यात्मवीर होता है। ऐसे साधकों के जीवन का लक्ष्य नितान्त उदात्त, महनीय तथा व्यापक होता है। उसके जीवन का उद्देश्य जगत् का परम कल्याणसाधन मात्र है। विश्व का एक भी प्राणी जब तक दुःख का अनुभव करता है, तब तक बोधिसत्त्वावस्था का साधक अपनी मुक्ति भी नहीं चाहता है। उसका हृदय प्राणियों के क्लेशों के निरीक्षण से स्वभावतः द्रवीभूत हो उठता है। उसकी सदैव यही इच्छा बनी रहती है कि मैंने जो कुछ

---

१. द्रष्टव्य—बोधिचर्यावतारपंजिका, पृ० ४२१।

२. ,, —सतसाहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता, पृ० २ टिप्पणी ३।

३. See H. S. Gaur—Buddhism, p. xi—
"In whom knowledge is latent and undeveloped."

४. 'Manual.' p. 65, Note 5, 'Histoise' 1, 383 Note, H. Keru.

५. Sanskrit Dictionary, M. W., P. 1052—Strength, "energy, vigour, power, courage."

भी पुण्यों का संचय किया हैं, उसका उपयोग संसार के प्राणियों के दुःखनाश के लिए हो। रसहीन सूखी मुक्ति की अपेक्षा दुःख-मुक्त जीवों के आनन्द में ही आनन्द की अनुभूति प्राप्त करते हैं। दैवी रूप में प्रज्ञापारमिता की उपासना बौद्धों का प्रधान आचार हैं। बोधिसत्त्व में ही प्राणियों को मुक्त बनाने की क्षमता रहती है।

'जातकमाला' का दूसरा नाम है—'बोधिसत्त्वावदानमाला' 'अवदान' का अर्थ है सुकर्म। इस प्रकार बोधिसत्त्वावदानमाला का अर्थ होगा – बोधिसत्त्व के अवदानों अर्थात् सुकर्मों की माला। इसमें भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्मों की कथाएँ हैं। भगवान् बुद्ध के जीवन में अनेकों बार ऐसे अवसर आये, जब कि तत्कालीन किसी घटना को देखकर उन्हें अपने पूर्वजन्म की घटनाएँ याद हो आती थीं। कुछ देर तन्मय होकर उस पर विचार करते और फिर उपस्थित श्रोताओं को सुनाकर वर्त्तमान के साथ अतीत का मेल बैठा दिया करते थे। यह उनकी एक जातककथा बन जाती थी। पालिजातक[२] में ५४७ जातककथाएँ उपलब्ध है, जिसकी चर्चा हम ऊपर कर आये हैं।

भगवान् बुद्ध तो सर्वज्ञ थे ही, बोधिसत्त्वावस्था में भी वे अपने पूर्व जन्म की घटनाओं को जानते थे। कोशल राजा के रूप में बोधिसत्त्व ने अपने अतीत जन्म की याद करते हुए एक बार कहा था कि इससे पूर्व के जन्म में, जब वे एक मजदूर थे, तब उन्होंने कुछ भिक्षुओं को भोजन दान दिया था, उसी के पुण्यफल के कारण अगले जन्म में वे कोशलाधिपति हुए[३]। उनकी धर्मपरायण पतिव्रता पत्नी ने भी बोधिसत्त्व नहीं होने के बावजूद उनके सम्पर्क में रहने के कारण पूर्वजन्म को स्मृत करते हुए कहा था—दासी होकर भी उसने एक मुनि को भोजन दिया था, जिस पुण्य-फल के कारण वह कोशलाधिपति की पटरानी बनी[४]।

बोधिसत्त्व जातकमाला के सभी जातकों में प्रधानपात्र है। वे मनुष्यों की

---

१. द्रष्टव्य—नैरात्म्यपरिपृच्छासूत्र, १२–१८।

२. पालिजातकों का अंग्रेजी, जर्मन, बंगला और हिन्दी में अनुवाद हो चुका है। बंगला अनुवाद श्रीईशानचन्द्र घोष ने और हिन्दी अनुवाद भदन्त आनन्द कौशल्यायन ने किया है।

३. द्रष्टव्य—जातकमाला क० ३, श्लो० १०–१२।

४. वही —३।१७-१८।

योनि में भी कभी राजा,[१] कभी आचार्य[२], कभी ब्राह्मण[३], कभी तपस्वी[४], कभी परिव्राजक[५], कभी श्रेष्ठी[६], और कभी नाविक[७] के रूप में जन्म ग्रहण करते हैं। देवयोनि में देवताओं के अधिपति शक्र[८] होते हैं और पशु-पक्षियों की योनि में व्याघ्री[९], शशक[१०], मत्स्य[११], मृग[१२], कपि[१३], हस्ती[१४], वन-महिष[१५], या हंस[१६] होकर जन्म ग्रहण करते हैं। पर, जिस किसी योनि में जन्म लेते हैं, बचपन से ही होनहार प्रतीत होते हैं। अल्पकाल में सर्वगुण-सम्पन्न बन जाते हैं। भूख में तड़पती सद्यः प्रसूता बाघिन के आगे जो अपने जन्य को ही आहार बनाने को उत्सुक थी, अपना शरीर अर्पित कर आत्मतुष्ट होते[१७] हैं। वे अपना सर्वस्व दान कर ही संतुष्ट नहीं होते, कभी-कभी तो अपने शरीर का अवयव भी प्रसन्नतापूर्वक किसी को दे डालते हैं[१८]। दान-कर्म में भयानक विघ्न उपस्थित होने पर भी वे अपने कर्म से विचलित नहीं होते हैं[१९]। लगातार कई दिनों तक इन्द्र ने तपस्या में लीन बोधिसत्त्व के

---

१. शिबि, कुल्माषपिण्डी, मैत्रीबल, विश्वन्तर, यज्ञ, उन्मादयन्ती, सुत-सोम, अयोगृह।

२. ब्राह्मणजातक।

३. विस० तथा चुड्डबोधिजातक।

४. अगस्त्य तथा क्षान्तिजातक।

५. महाबोधिजातक।

६. श्रेष्ठि, अविषह्य० तथा श्रेष्ठीजातक।

७. सुपारगजातक।

८. शक्रजातक एवं कुम्भजातक।

९. व्याघ्रीजातक।

१०. शशजातक।

११. मत्स्यजातक।

१२. शरभ एवं रुरुजातक।

१३. महाकपिजातक।

१४. हस्तिजातक।

१५. महिषजातक।

१६. हंसजातक।

१७. व्याघ्रीजातक।

१८. शिविजातक।

१९. श्रेष्ठिजातक।

आहार गायब कर दिए, फिर भी उनके मन में कोई विकार उत्पन्न नहीं हुआ[1]। अपने शरीर का गरम-गरम मांस और अपनी धमनी का गर्म लहू खिला-पिला कर क्रूरकर्मा यक्ष को संतुष्ट कर उन्हें आत्मतोष होता है[2]। बोधिसत्त्व के उत्तम आचरण का उद्देश्य उन्हीं के शब्दों में—

नायं प्रयत्नः सुगतिं ममाप्तुं नैकातपत्रां मनुजेन्द्रलक्ष्मीम्।
सुखप्रकर्षैकरसां नच द्यां ब्राह्मीं श्रियं नैव न मोक्षसौख्यम्॥
यत्त्वस्ति पुण्यं मम किञ्चिदेवं कान्तारमग्नं जनमुज्जिहीर्षोः।
संसारकान्तारगतस्य तेन लोकस्य निस्तारयिता भवेयम्॥

—जातकमाला ३०।२१

\+ \+ \+

नायं यत्नः सार्वभौमत्वमाप्तुं नैव स्वर्गं नापवर्गं न कीर्तिम्।
त्रातुं लोकानित्ययं त्वादरो मे याञ्चाक्लेशो मा च भूदस्य बोधः॥

—जातकमाला २।२८

जातकमाला के नायक बोधिसत्त्व के कर्म दिव्य और अद्भुत् है। उनका जीवन अलौकिक और आदर्श है। उनके सदाचरण से प्राणिमात्र को प्रेरणा मिलती है।

आर्यशूर जातकमाला के रचयिता है। किन्तु आर्यशूर के काल-निर्धारण में अन्तःसाक्ष्य का नितान्त अभाव है। बाह्यतथ्यों के आधार पर इनका कुछ समय निर्धारित किया जा सकता है। जातकमाला का चीनी भाषा में अनुवाद ९६० ई० से ११२७ ई० के बीच में हुआ था। इत्सिग के अनुसार ७वीं शती के अन्तिम भाग में भारत में जातकमाला का काफी प्रचार हुआ था। अजन्ता के पत्थर की दीवारों पर जातकमाला के क्षान्तिवादी, मैत्रीबल, महाहंस, रुरु, शिवि, महाकपि, महिष आदि जातकों के दृश्य चित्रित हैं। दृश्य-परिचय के लिए उन जातकों से उपयुक्त श्लोक भी उद्धृत हैं। श्लोकों के अभिलेख की लिपि छठी शती की है। इससे यह प्रमाणित होता है कि जातकमाला की ५वीं शती तक पूर्ण ख्याति हो चुकी थी। कहा जाता है कि आर्यशूर ने कर्मफल पर सूत्र लिखा था, जिसका चीनी अनुवाद ४३४ ई० में किया गया था। जातकमाला की भाषा के अध्ययन के आधार पर नलिनाक्षदत्त ने

---

१. बिसजातक।

२. मैत्रीबलजातक।

आर्यशूर को तृतीय अथवा चतुर्थ शती के आसपास का माना है[१]। इन सारे तथ्यों के आधार पर हम जातकमाला का समय ३५० से ४०० ई० के बीच के लगभग मान सकते है।

आर्यशूर, पहले व्यक्ति है, जिन्होंने बुद्ध के उपदेश को पाणिनीसम्मत शुद्ध संस्कृत भाषा के माध्यम से संसार के समक्ष रखने का स्तुत्य प्रयास किया है। बुद्ध के प्रति इनकी अटूट आस्था थी। साहित्य, दर्शन, अलंकार एवं छन्दशास्त्र के ये एक अच्छे विद्वान् थे। जातकमाला में इन्होंने २७ प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है। इनकी रचना से ही यह प्रमाणित हो जाता है कि ये परम दयालु प्रकृति के व्यक्ति थे। तिब्बतीय बौद्धधर्म के एक प्रसिद्ध इतिहासकार तारानाथ का कथन है कि एक बार उन्होंने अपने रक्त से ७० श्लोकों की एक स्तुति लिखी थी। आर्यशूर की निम्नलिखित कृतियाँ मानी जाती हैं।

(१) जातकमाला, (२) सुभाषितरत्न-करण्डककथा (३) पारमिता समास। यही तीन ग्रन्थ आर्यशूर के इस समय उपलब्ध है। इनके अतिरिक्त केवल तिब्बती अनुवाद में उपलब्ध तीन और ग्रंथ हैं, जिनकी सूचना क्रमशः टोहोकू-सूची ४१०३, ४१५७ एवं ४१७५ में उपलब्ध है। वे ग्रन्थ हैं—(१) प्रतिमोक्ष-सूत्र-पद्धति (२) बोधिसत्त्वजातक-धर्मगण्डी (३) सुपथ-निर्देश-परिकथा। कुछ विद्वानों के विचार में इनके अतिरिक्त कुछ और ग्रन्थों का प्रणयन या कम से कम परिष्कार आर्यशूर ने अवश्य किया है। स्व-सम्पादित जातकमाला की भूमिका में श्री पी. एल. वैद्य ने लिखा है कि "दिव्यावदान" का ३८ वाँ अवदान 'मैत्रकन्यकावदान' आर्यशूर की ही रचना है। यह मेरी निश्चित धारणा है। क्योंकि उसकी भाषा-शैली, उसका उपक्रम एवं उपसंहार की पदावली देखने से कोई इसी निष्कर्ष पर पहुँच सकता है। उनका यह भी कहना है कि इस ग्रंथ का २२ और ३२ वाँ अवदान आर्यशूर द्वारा अगर रचित नहीं है, तो कम से कम परिष्कृत अवश्य ही है।

---

१. "It is perhaps from the 3rd or 4th century A. D. that the highly learned Buddhist thinkers gave preference to Paninian Sanskrit and adopted that language in the composition of their works. To this category belonged writers like Asvaghosa, Nagarjuna, Aryadev, Asanga, Vasubandhu, Shantidev, Aryasura, Kshemendra as also several others."

—Bodhisattvabhami—Intr.

गद्य-पद्यात्मक चम्पूशैली में लिखी गई जातकमाला बुद्ध की कीर्त्ति-गाथाओं एवं पवित्र चरित्रों का एक मनोहर संकलन है। आर्यशूर ने कोमल-कान्त-पदावलियों में गाथाओं की कुसुमाञ्जलि विश्व के सामने प्रस्तुत करने का एक सफल प्रयास किया है। यह सरल संस्कृतनिष्ठ प्रसादगुण-गुम्फित मनोहर काव्य है। सुमार्ग पर सदैव चलने का उपदेश देना इस ग्रन्थ का प्रधान उद्देश्य है। अभिधा के द्वारा अर्थ का सुन्दर संयोजन इसकी अपनी विशेषता है। इस ग्रन्थ की शैली बौद्धेतर साहित्य से तो प्रभावित है ही, बौद्ध-संस्कृत-साहित्य का प्रभाव भी इस पर कम नहीं है। जातकमाला के गद्य और पद्य में शैली का पार्थक्य स्पष्ट है। जहाँ गद्य लिखने में लेखक पर 'ललित-विस्तर' का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है, वही इस ग्रन्थ के पद्यों में जो पालिवाङ्मय की छाप दीखती है या संस्कृत के अशुद्ध प्रयोग भी यत्र-तत्र दीखते हैं, उनकी प्रतिक्रिया में आर्यशूर ने जातकमाला में अपने मौलिक श्लोक लिखकर यह दिखलाया है कि पालि की गाथाओं को किस प्रकार सफलतापूर्वक संस्कृत में उतारा जा सकता है। लेखक ने जातकमाला की गद्यशैली को कहीं भी प्रदर्शन का विषय नहीं बनाया है। सर्वत्र एकसमान, अल्पसमासयुक्त गद्य की धारा प्रवाहित नजर आती है। इससे भिन्न पद्यभाग में विषयवस्तु के अनुरूप भाषा-प्रवाह, प्रसाद-गुण एवं सौम्य-शैली का गुण मिलता है। चित्रात्मक सरलता अपनी उदात्त एवं ओजस्वी शैली में अभिव्यक्त है। संक्षेप में जातकमाला एक कलाकार की कृति है।

जातकमाला का पहला संस्करण हालैण्ड निवासी डॉ० हेन्ड्रिक केर्न (Dr. Hendrik Kern) ने तैयार किया था। इसका मुद्रण एवं प्रकाशन अमेरिका के हार्वर्ड-विश्वविद्यालय के द्वारा किया गया था। १८९० ई० में हार्वर्ड-प्राच्यमाला के प्रथम ग्रन्थ के रूप में ही इसका वहाँ सम्पादन किया गया था। इसके सम्पादन का आधार था, कैम्ब्रिज-विश्वविद्यालय की दो पाण्डुलिपियाँ (संख्या १३२८ एवं १४१५) तथा पेरिस के राष्ट्रीय-ग्रन्थागार की एक पाण्डुलिपि (संख्या ९५)। इस संस्करण के विषय में मैक्समूलर ने कहा है कि डच विद्वान् केर्न द्वारा प्रस्तुत जातकमाला का संस्करण उत्कृष्ट है और संभवतः उसमें परिवर्त्तन न हो सकेगा[1]।

---

1. The edition of the Sanskrit text by prof. Kern is not only an edition princeps' but the text as restored by him will probably remain the final text."

—Prof. Maxmular.

रायल एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता के पुस्तकालय में जातकमाला की दो पाण्डुलिपियाँ हैं, जो नेपाल से आई हैं। ये दोनों 'नेवारी लिपि' में लिखी हैं। इसमें से एक में अविषह्यजातक से प्रारम्भ होनेवाले पाँच जातक हैं। क्योंकि इनके (जी. ९९८०) खण्डित हैं तथा ११वीं शती की 'नेवारी लिपि' में तालपत्र पर लिखी है। दूसरी पाण्डुलिपि (बी. १३) १८वीं शती की नेवारी लिपि में कागज पर लिखी है। इसमें 'सुभाषराज' नामक एक जातक अधिक है। दोनों पाण्डुलिपियाँ केर्न के संस्करण से मिलती हैं। जातकमाला का चीनी अनुवाद सन् ९६० और ११२७ ई० के बीच हुआ, जिसमें केवल १४ जातकों का ही समावेश है।

इसका अंग्रेजी अनुवाद सर्वप्रथम प्रो० जे० एस० स्पेयर ने किया है। यह संस्करण आक्सफोर्ड की बौद्धधर्म-ग्रन्थमाला के प्रथम ग्रन्थ के रूप में सन् १८९५ ई० में आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस में छपकर प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ के प्रधान सम्पादक एफ. मैक्समूलर थे। स्पेयर ने ही सर्वप्रथम विद्वानों का ध्यान जातकमाला की साहित्यिक विशेषताओं की ओर आकृष्ट किया। इन्होंने इस ग्रन्थ के पूरे एक अनुच्छेद में इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है[1]।

भारतवर्ष में भी जब विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में जातकमाला का सन्निवेश हुआ, तब चुने हुए जातकों के कतिपय संस्करण प्रकाशित हुए। इन संस्करणों में पं० बटुकनाथ शास्त्री के संस्करण में चुने हुए ११ जातक उनकी बाला नामक संस्कृत-टीका के साथ प्रकाशित हुए। श्रीसूर्यनारायण चौधरी ने भी क्रमशः प्रथम २० जातकों का हिन्दी अनुवाद के साथ प्रथम संस्करण तथा शेष जातकों को पूरा कर द्वितीय संस्करण प्रकाशित किया है।

मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा से बौद्ध-संस्कृत-ग्रन्थावली (संख्या २१) के अन्तर्गत डॉ० पी. एल. वैद्य के सम्पादन में सन् १९५९ ई० में जातकमाला का एक संस्करण प्रकाशित हुआ है। इसमें आर्यशूर के नाम से प्राप्त 'सुभाषित-रत्नकरण्डक-कथा' परिशिष्ट के रूप में पहली बार प्रकाशित हुई है। जातकमाला के पद्यों में प्रयुक्त वृत्तों की सूची सर्वप्रथम इसी संस्करण में दी गई है।

---

1. It has perhaps been the most perfect writing of its kind. It is distinguished no less by the superiority of its style than by the loftiness of its thoughts. Above all, I admire his moderation. Unlike so many other Indian mastery in the art of literary composition he does not allow himself the use of embellishing apparel.—Speyer Intr. p. xxiii-ix.

डॉ० कमलाकान्त मिश्र ने 'जातकमाला : एक अध्ययन' नामक एक शोधप्रबन्ध गंगानाथ झा, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद से १९७७ ई० में प्रकाशित किया है। इस ग्रन्थ में लेखक ने आर्यशूर के जीवनवृत्त, व्यक्तित्व तथा धार्मिक तथा साहित्यिक कृत्यों का प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत किया है। इस प्रबन्ध में मिश्रजी ने बौद्ध-संस्कृत-साहित्य में जातकमाला का स्थान निर्धारित करने का सफल प्रयास किया है।

श्रीमोहनलाल महतो वियोगी का जातककथा विषयक 'जातककालीन भारतीय संस्कृति' नामक एक ग्रन्थ बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से प्रकाशित है। इसमें सामाजिक, ऐतिहासिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से विचार प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ में वियोगीजी ने बौद्ध-जातकों की अनेक कथाओं से मिलनेवाली नैतिक शिक्षा को वैदिक सिद्धान्तों से प्रभावित सिद्ध किया है। बौद्ध-जातकों के युग में भारतीय-संस्कृति के रूप और भारतीय समाज की विचारधारा में कहाँ तक परिवर्त्तन परिलक्षित होते थे, इसका विवेचन विद्वान् लेखक ने बड़े विशद ढंग से प्रस्तुत किया है।

इन मुद्रित संस्करणों का मैंने यथावसर अध्ययन, मनन एवं अवलोकन किया है। भूमिका-खण्ड लिखने में इन सामग्रियों का यथेच्छ उपयोग भी मैंने किया है। जिनकी कृतियों का उपयोग मैंने भावात्मक या शब्दात्मक रूप से ग्रहण किया है, उनके सामने मैं श्रद्धावनत हूँ। मूलपाठ मैंने श्री पी. एल. वैद्य के संस्करण से ही स्वीकार किया हैं। इस संस्करण में भी कतिपय संशोधन स्वीकार करने में मुझे संकोच हुआ है और ऐसी स्थिति मे मैंने प्रो० सूर्य-नारायण चौधरीजी के संस्करण को ही सामने रक्खा है। भिन्न-भिन्न पाठा-न्तरों पर जहाँ-तहाँ मैंने विचार किया है तथा जो शब्द प्रचलित सर्वमान्य बौद्ध-शब्दावलि से मेल खाते नजर नही आये हैं, उन्हे मान्य श्रीचौधरीजी के संस्करण से मिलाकर ही ग्रहण कर लिया है। अतः मैं श्रीचौधरीजी का आभार हृदय से कबूल करता हूँ।

बची बात हिन्दी अनुवाद की, सो तो मुझे पग-पग पर अवरोध मिलता रहा है। इसे न तो मैं केवल भाषांन्तर में प्रस्तुत कर सकता था और न निरी भाव-छाया पर आधारित स्वतंत्र रूप ही दे सकता था। बौद्ध-विषयक ग्रंथ होने के कारण बौद्ध-साहित्य की पारिभाषिक शब्दावली अलग ही सिर ताने खड़ी थी। कहीं-कहीं तो तंत्रविद्या के परकाय-प्रवेश जैसा यह कार्य बड़ा ही दुरूह प्रतीत हुआ है। अनुवाद करते समय मूल रचना के सर्वाङ्ग बोध के लिए प्रयोग में आनेवाले शब्दों का पूर्ण ज्ञान, उनकी विशिष्ट प्रवृत्ति, रूढि, परम्परा

और संस्कारगत ज्ञान मुझे जितना अपेक्षित रहा है, उतना ही मूल रचना के प्राण को हृदयङ्गम करने के लिए भाषा के हर शब्द का अन्तरंग परिचय, उसकी व्यञ्जना और लक्षणा शक्ति का आकलन, शब्द-विन्यास और ध्वनि-प्रतिमान की समझदारी भी अपेक्षित रही है।

'जातकमाला' का अनुवाद करते समय उस ग्रंथ की सभी विलक्षणताओं और मर्म को हृदयङ्गम कर हिन्दी में जातक-कथा के जीवन्त तत्त्वों को उसकी स्वभावानुकूल विलक्षणताओं के साथ उतनी ही सशक्त अभिव्यक्ति देने के क्रम में कहीं-कहीं मुझे मनमानी करनी पड़ी है। कूपर ने होमर का अनुवाद करते समय कहा है—

"My chief boast in that I have adhered closely to the original"

प्रत्येक जातक का अर्थ सरल, सुगम और लोकप्रचलित स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त हो, इसके लिए, मैंने हर पहलू पर विचार किया है। क्योंकि कोशगतशब्दों के प्राण तो प्रचलन में बसते हैं। प्रचलन का कारण प्रयोगकर्त्ता की आस्था है और यह आस्था पूर्णता से ही प्राप्त होती है। किसी शब्द का भाषान्तरीय पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग से मेरी दृष्टि में अनुवाद की पूर्णता तो नहीं है, वह तो अर्थ के उद्घाटन में ही निहित है और इसी अर्थोद्घाटन में जहाँ कहीं अनुवाद करने में मेरी मनमानी रही है।

अन्त में फिर मैं एकबार उन लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करना पुनीत कर्त्तव्य मानता हूँ, जिनकी पुस्तक से मुझे अपना संस्करण तैयार करने में सहायता मिली है। अपने जिस किसी रूप में भी यह संस्करण मेरे जैसे 'अल्पमति' लेखक के माध्यम से सुजनों के हाथों तक पहुँच रहा है, मेरे लिए यह कम परितोष का विषय नहीं है।

—जगदीशचन्द्र मिश्र

उपसंहार

कलकत्ता रिव्यू; जुलाई, १९३० ई० पृ० ६८ में श्रीगोकुलदास डे ने यह प्रमाणित करने का सफल प्रयास किया है कि जातक-कथाओं का सबसे प्राचीन भाग गाथाओं का ही है, जो अत्यन्त प्राचीन-भारतीय-जानपद-वाङ्मय का एक अंश है। इस तरह जातक-वाङ्मय बुद्ध पूर्वकाल में आख्यानकों के रूप में, विशेषतः लोककथाओं में निबद्ध था। भगवान् बुद्ध के जीवनकाल में राजगृह में भिक्षुओं की प्रथम संगीति तक—जातककथा-संग्रह बौद्धों के कर्म सिद्धान्त का उदाहरण मात्र था। द्वितीय संगीति के समय तक ये जातक वाङ्मय नीति और धर्मप्रद कथाओं में परिणत हो गया। तृतीय संगीति के काल तक जातककथाओं का संग्रह खुद्दक-निकाय के अन्तर्गत कर लिया गया। दिनानुदिन इस संग्रह में वृद्धि होती चली गई। ई० सन् पाँचवी शती में बोधिसत्त्व के पूर्वजन्मों के बारे में जातककथा का अलग संग्रह हुआ। इन गाथाओं का गद्य और पद्य में विस्तार कब और कैसे हुआ? आर्यशूर नें फिर ३४ गाथाओं का चुनकर संस्कृत-अनुवाद क्यों किया, यह जानकारी ऐतिहासिक अन्वेषण के लिए महत्त्वपूर्ण है।

भरहुत और साँची के स्तूपों की शिलाओं पर तीस से अधिक जातककथाएँ उत्कीर्ण है[1]। भरहुत और साँची के स्तूप ई० पूर्व दूसरी-तीसरी शताब्दी के हैं। अमरावती के शिल्प में भी कुछ जातककथाएँ दिखलाई गई हैं। अजन्ता, एलोरा, बाघ में तो जातककथाओं के अनेक चित्र है हीं। इतना तो सत्य ही है कि जातक-कथाओं में जो परिस्थिति निर्दिष्ट की गई है, वह भारतीय-संस्कृति की पूर्व-दशा से परिणत हुई है। कुछ इन में ऐसे तथ्य हैं, जिन पर ध्यान देने से ये सारी बाते स्पष्ट हो जाती हैं। राजनैतिक दृष्टि से ई० पू० २००० से १००० वर्ष तक वैदिककालीन कुछ राजाओं के बारे में उल्लेख केवल ऐतिहासिक खण्ड में ही मिलता है और कतिपय प्राचीन राजाओं के विषय में कुछ और प्रकाश ई० पू० १२०० से १००० वर्ष तक कुरु और पांचाल राजाओं के बारे में उल्लेख मिलता है। ई० पू० १२०० से ८०० वर्ष तक विदेह एवं छोटे-छोटे और राज्यों के बारे में, एवं ई० पू० ८०० से ६०० वर्ष तक महाजन-पदों का इतिहास काशी एवं कोसल के बारे में भी उल्लेख मिलता है। इन खण्डों में सबसे अधिक प्रकाश काशी-कोसल राज्यों और महाजनपदों के

---

१ बरुआ एण्ड सिन्हा, भरहुत इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० ७८–९९

इतिहास के बारे में मिलता है। ऐतिहासिक काल में, इन राज्यों को परास्त करने पर ही मगध-साम्राज्य की नींव पक्की बनी, जो घटना बुद्धदेव के समकालीन थी। इस युग में तक्षशिला नगरी में एक बड़ा शिक्षा केन्द्र था और राजकुमारों को शिक्षा पाने के लिए वहीं भेजने की इच्छा राजकुलों में प्रबल रहती थी। ब्राह्मण और सधन सेठी-कुलों से भी पढाई के लिए छात्र वहीं पहुँचते थे। यहाँ तीन वेद और अठ्ठारह शिल्पकलाएँ पढाई जाती थीं।

मनोरंजक जातककथाओं में सुप्पारक-जातक विशेष उल्लेखनीय है। इसमें भारुकच्छ (वर्त्तमान भड़ौंच) से हुई समुद्र-यात्रा का वर्णन है। इसमें यह भी कहा गया है कि यात्रा सुचारु रूप से चलाने के लिए जो नौकाशास्त्र-विशेषज्ञ जहाज पर था, वह अन्धा होने के बावजूद भी बहुत कुशल था। भड़ौंच से ईरान की खाड़ी तक सात बन्दरगाहों का नाम इस जातक में दिया गया है।

जातककथा में भौगोलिक बातें भी आई हैं। गांधार और कम्बोज से कलिंग, आन्ध्रप्रदेश और कश्मीर तथा हिमालयप्रदेश से अवन्ती एवं अश्मक (वर्त्तमान खानदेश) आदि तक के देशों का जातककथाओं में उल्लेख मिलता है। लंका और जावा देशों के सम्बन्ध में भी उस समय लोगों को पर्याप्त ज्ञान था। यहाँ के कई प्राचीन नगरों के बारे में जातककथाओं में महत्त्वपूर्ण संदर्भ दिये गये हैं। हिमालय तथा गंगा नदी की भी चर्चा की गई है। कोसी नदी का नाम आया है। मगधदेश की कई नदियों और गाँवों के नाम भी जातककथाओं में मिलते हैं।

जातककथाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस युग का भारत या तो मोक्षार्थी था, अथवा—यक्ष, भूत, पिशाच आदि उपदेवताओं का पूजक, या तो सर्वोच्च आध्यात्मिक स्थिति में पहुँचकर लोग तत्त्व-चिन्तन करते थे, या अज्ञान के सबसे निचले स्तर पर गिरकर प्रेतपूजा करते थे। इसके अतिरिक्त जीवन-स्तर का कोई तीसरा विकल्प था ही नहीं। बौद्ध या जैनों के आचार्य शून्य की ओर देखते थे और जनसाधारण यक्षों और प्रेतों के डर से थर-थर काँपता था। वह युग चमत्कारों का युग था। आकाश में उड़ना, अदृश्य हो जाना, यम या पिशाच के भय से लोगों को डराना जैसे एक सामान्य बात बन गई थीं। पूजा-उत्सव होते थे, मगर यक्षों या प्रेतों की ही पूजा होती थीं।

जातक-युग में यक्षपूजा एक अजीब-सी वस्तु प्रतीत होती है। वेदों में यक्ष नहीं है। रामायण में भी यक्षों का कोई स्थान नहीं है। महाभारत में ये यक्ष नजर आते हैं। पर, जातक-युग में तो मानो इन्होंने अपना साम्राज्य ही स्थापित कर लिया है।

नागपूजा जातक-युग की देन नहीं है—बौद्ध-युग से पहले से ही नागों की प्रधानता स्थापित हो चुकी थी और सहज विश्वासी भारतीय इस भयानक कीड़े की पूजा में लग गये थे। नागराज, नागकन्या, नागलोक, नागदेवता आदि की कमनीय कल्पना लोगों ने की थी। नागमाता कद्रु की कथा प्रसिद्ध है। (द्रष्टव्य— पा० सू० ४।१।७२ एवं श्रीमद्भागवत)

लोगों में चरित्र की कमी नहीं थी। राजा हो या प्रजा प्रायः चरित्र-वान् होते थे। चरित्रवानों की ही समाज में प्रतिष्ठा होती थी। 'उम्मदन्ती' जातक में एक कहानी दी गई है। उम्मदन्ती नामक कोई एक अत्यन्त सुन्दरी लड़की थी। किसी राजा ने अपने पुरोहितों को 'उम्मदन्ती' की वधू-परीक्षा के लिए भेजा था। उम्मदन्ती के घर में ब्राह्मणों का स्वागत हुआ। उन्हें भोजन के लिए पंक्ति में बैठाया गया। जैसे ही उन्होंने हाथ से सुग्रास उठाये, वैसे ही सालंकृता, प्रसाधनों से सुशोभिता उम्मदन्ती उन ब्राह्मणों के सामने आयी। उसे देखते ही उन ब्राह्मणों का संयम टूट गया। वे भूल गये कि भोजन अभी समाप्त नहीं हुआ है। किसी ने अपने हाथ से स्वादिष्ट पक्वान्न सिर पर चढाया, किसी ने शरीर पर गिराया और किसी दूसरे ने पीछे दीवार पर फेंका। सभी मुँह में डालना भूल गये। यह देखकर उम्मदन्ती बोली कि मेरी परीक्षा करने के लिए ये ब्राह्मण सुयोग्य नहीं है। ऐसे लोगों को यहाँ से भगा दो। इसकी प्रतिक्रिया में ब्राह्मणों ने उस सुन्दर युवती की शादी राजा से नहीं होने दी। पर, भाग्यवश उसकी शादी उसी राजा के सचिव के साथ हो गयी। एक दिन राजा की आँख उस पर गई और वहीं टिक गई। राजा मोहित हो गये। किन्तु, धैर्य और धर्माभ्यास ने उन्हें मोह-मुक्त कर कर्त्तव्य-बोध कराया। राजा ने यथाशीघ्र अपने चरित्र की रक्षा कर ली। जातक-युग की ऐसी चारित्रिक विशेषता थी।

चिन्तन और अनुभव की अन्तिम सीमा को छूकर विचारक या चिन्तक कुछ कहता है, तो वह निश्चय ही जनहित के लिए परमौषधि है। जातक-कथाएँ इसी या ऐसे ही सन्दर्भ में अत्यधिक महत्व रखती है। मन, शरीर, संसार, दुःख, आत्मावलम्बन; पुरुषार्थ, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, शील, आदि विषयों के सम्बन्ध में तात्कालिक वातावरण कैसा था ? समाज किन कुरीतियों से घिरा था ? रूढ़ियों ने समाज को किस तरह ग्रस लिया था ? इन बातों की जानकारी हमें इन जातककथाओं में मिलती है।

तत्कालीन भारतीय समाज में बात करने का ढंग कैसा था ? वाद-विवाद उपस्थित होने पर तर्क का सदुपयोग या दुरुपयोग किस तरह किया जाता

था ? इसका उत्तर हमें इन जातककथाओं में मिलता है। उस समय हमारे व्यसन कैसे थे ? राजनीति में कैसे-कैसे दाँव-पेच चलते थे ? आतिथ्य का स्वरूप क्या था ? मानव-समाज में परस्पर परोपकार की प्रवृत्ति कैसी थी ? आदि विषयों के सम्बन्ध में भी ये जातककथाएँ हनें बतलाती हैं। यही कारण है कि कुल ५४७ जातककथाओं मे से मात्र चुनकर ३४ जातककथाओं को विद्वान् लेखक आर्यशूर ने संस्कृत भाषा में अवतरित किया।

किसी भी जाति के महापुरुषों के द्वारा कही गयी गाथाओं की गहराई से छानबीन करने पर उस जाति के विचारों के स्तर का पता साफ-साफ चल जाता है। इस दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ये जातककथाएँ यों भी पठनीय तो हैं ही, मननीय भी हैं। क्योंकि ये हमारे जीवन के प्रत्येक अंश का स्पर्श करती हैं।

यह कहने की आवश्यकता नही कि कोई भी महापुरुष अपने पूर्व अनुभवों की एकदम उपेक्षा कर अपना मत एकदम स्थापित नहीं कर सकता। जिस युग में वह होता है, उस युग के परम्परागत आचारों और विचारों का प्रभाव उसके विचारों पर भी अवश्य पड़ता है। वह उन्हें बिल्कुल छोड़कर बढ नहीं सकता है। ऐसी स्थिति में उसे कुछ तो त्याग करना पड़ता है और कुछ को संशोधित रूप में ग्रहण करना पड़ता है। कुछ विचारों को अपनी ओर से जोड़ता है और तब किसी गाथा के माध्यम से वह अपना मन्तव्य स्पष्ट कर पाता है। इन सारी बातों की संपुष्टि इन जातककथाओं से होती है।

जातकानुक्रमणिका

।। श्रीः ।।

जातकमाला

ॐ नमः श्रीसर्वबुद्धबोधिसत्त्वेभ्यः ।।

श्रीमन्ति सद्गुणपरिग्रहमङ्गलानि कीर्त्यास्पदान्यनवगीतमनोहराणि ।
पूर्वप्रजन्मसु मुनेश्चरिताद्भुतानि भक्त्या स्वकाव्यकुसुमाञ्जलिनार्चयिष्ये ।।१।।

श्लाघ्यैरमीभिरभिलक्षितचिह्नभूतैरादेशितो भवति यत्सुगतत्वमार्गः ।
स्यादेव रूक्षमनसामपि च प्रसादो धर्म्याः कथाश्च रमणीयतरत्वमीयुः ।।२।।

लोकार्थमित्यभिसमीक्ष्य करिष्यतेऽयं श्रुत्यार्षयुक्त्यविगुणेन पथा प्रयत्नः ।
लोकोत्तमस्य चरितातिशयप्रदेशैः स्वं प्रातिभं गमयितुं श्रुतिवल्लभत्वम् ।।३।।

स्वार्थोद्यतैरपि परार्थचरस्य यस्य नैवान्वगम्यत गुणप्रतिपत्तिशोभा ।
सर्वज्ञ इत्यवितथाक्षरदीप्तकीर्तिं मूर्ध्ना नमे तमसमं सहधर्मसङ्घम् ।।४।।

शब्दलोक से उतर हृदय में सीधे कर प्रस्थान,
सावधान हो मन-मन्दिर में करो देवि, संस्थान ।
सानुकम्प वाणी कर मेरी वाणी का संधान,
स्खलित न हो यह विवृति कहीं भी कहीं न हो व्यवधान ।।

सभी बुद्धों और बोधिसत्त्वों को प्रणाम !

आस्था के साथ अपनी काव्य-कुसुमाञ्जलि से मैं सुगत के पूर्वजन्मों के किये गये उन सुकर्मों की पूजा करूँगा जो सद्गुण-सम्पन्न, मंगलमय, ख्यात, प्रशंसनीय, मनोहर एवं अनोखे हैं ।। १ ।।

इन समादरणीय चरित्र-चित्रित संकेतों से बौद्धधर्म का उपदेश अनायास उपलब्ध होता है । इन्हें जानकर मलिन मन वालों को भी प्रसन्नता प्राप्त होती है । इनसे धर्म-कथाओं की रुचिरता और अधिक बढ़ जाती है ।। २ ।।

जनहित के लिए परम्परित एवं शास्त्रविहित उन लोकोत्तम चरितों का वर्णन कर मैं अपनी काव्य-प्रतिभा को कर्णप्रिय बनाने की चेष्टा करूँगा ।। ३ ।।

जिनके लोकोपकारी सुन्दर सदाचरण का अनुकरण कोई स्वार्थलिप्सु व्यक्ति नहीं कर सका, एवं 'सर्वज्ञ' शब्द की अन्वर्थकता में जिनका यश प्रोद्भासित है; धर्म और संघ के साथ उस भगवान् बुद्ध के सामने मैं नतानन हूँ ।। ४ ।।

(१) व्याघ्री-जातकम्

सर्वसत्त्वेष्वकारणपरमवत्सलस्वभावः सर्वभूतात्मभूतः पूर्वजन्मस्वपि स भगवानिति बुद्धे भगवति परः प्रसादः कार्यः ।

तद्यथानुश्रूयते—रत्नत्रयगुरुभिः प्रतिपत्तिगुणाभिराधितगुरुभिर्गुणप्रविचयगुरुभिरस्मद्गुरुभिः परिकीर्त्यमानमिदं भगवतः पूर्वजन्मावदानम् ।

बोधिसत्त्वः किलायं भगवान्भूतः प्रतिज्ञातिशयसदृशैर्दानप्रियवचनार्थचर्याप्रभृतिभिः प्रज्ञापरिग्रहनिरवद्यैः कारुण्यनिस्यन्दैर्लोकमनुगृह्णन् स्वधर्माभिरत्युपनतशुचिवृत्तिन्युदितोदिते महति ब्राह्मणकुले जन्मपरिग्रहं चकार । स कृतसंस्कारक्रमो जातकर्मादिभिरभिवर्धमानः प्रकृतिमेधावित्वात्सानाथ्यविशेषाज्ज्ञानकौतूहलादकौसीद्याच्च नचिरेणैवाष्टादशसु विद्यास्थानेषु स्वकुलक्रमाविरुद्धासु च सकलासु कलास्वाचार्यकं पदमवाप ।

स ब्रह्मवद् ब्रह्मविदां बभूव राजेव राज्ञां बहुमानपात्रम् ।
साक्षात्सहस्राक्ष इव प्रजानां ज्ञानार्थिनामर्थचरः पितेव ॥ ५ ॥

---

१. व्याघ्री-जातक

भगवान् बुद्ध पूर्वजन्मों में भी सभी प्राणियों से अकारण स्नेह करते थे। सभी जीवों में उन्हें आत्मानुभूति होती थी। अतः भगवान् बुद्ध में हमें परम श्रद्धा होनी चाहिए।

तो फिर ऐसा सुना जाता है—

बुद्ध, धर्म और बौद्धसंघ रूपी रत्नत्रय के उपासक, सद्गुणों के संग्रह से गौरवशाली तथा अच्छे कर्मों के निरन्तर अभ्यास के कारण भद्रजनों से पूजित हमारे गुरु-परम्परा से अनुश्रुत भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्मों की कथा कहते थे।

भगवान् बुद्ध जब बोधिसत्त्व की अवस्था में दान, प्रियवचन, उपकार आदि सत्कर्मों के आचरण तथा दया की वृष्टि से संसार पर अनुग्रह कर रहे थे, तब एक बार अपने धर्म के प्रति स्नेह के कारण पवित्र स्वभाव वाले किसी उन्नत और महान् ब्राह्मणकुल में उन्होंने जन्म लिया। यथावसर उनके जातकर्म आदि संस्कार सम्पन्न हुए। स्वभावतः अभ्युदयशील, मेधावी, अनुकूल माता-पिता, आचार्य आदि गुरुजनों की उत्तम सहायता से युक्त, ज्ञानार्जन के लिए उत्सुक एवं आलस्यरहित होने के कारण उन्होंने अल्पकाल में ही अठारहों विद्याओं एवं वंश-परम्परा के अनुरूप सकल कलाओं में आचार्य पद प्राप्त कर लिया।

वे ब्राह्मणों के लिए वेद के समान, क्षत्रियों के लिए समादरणीय राजा की तरह, प्रजा के लिए साक्षात् इन्द्र के समान और विद्यार्थियों के लिए अनुकूल एवं उपकारी पिता के सदृश थे ॥ ५ ॥

तस्य भाग्यगुणातिशयसमावर्जितो महाँल्लाभसत्कारयशोविशेषः प्रादुरभूत्। धर्माभ्यासभावितमतिः कृतप्रव्रज्यापरिचयस्तु बोधिसत्त्वो न तेनाभिरेमे।

स पूर्वचर्यापरिशुद्धबुद्धिः कामेषु दृष्ट्वा बहुदोषजातम्।
गार्हस्थ्यमस्वास्थ्यमिवावधूय कञ्चिद्वनप्रस्थमलञ्चकार॥ ६॥

स तत्र निःसङ्गतया तया (च) प्रज्ञावदातेन शमेन चैव।
प्रत्यादिदेशेव कुकार्यसङ्गाद्विश्लिष्टशिष्टोपशमं नृलोकम्॥ ७॥

मैत्रीमयेन प्रशमेन तस्य विस्यन्दिनेवानुपरीतचित्ताः।
परस्परद्रोहनिवृत्तभावास्तपस्विवद् व्यालमृगा विचेरुः॥ ८॥

आचारशुद्ध्या निभृतेन्द्रियत्वात्सन्तोषयोगात्करुणागुणाच्च।
असंस्तुतस्यापि जनस्य लोके सोऽभूत् प्रियस्तस्य यथैव लोकः॥ ९॥

अल्पेच्छभावात्कुहनानभिज्ञस्त्यक्तस्पृहो लाभयशःसुखेषु।
स देवतानामपि मानसानि प्रसादभक्तिप्रवणानि चक्रे॥ १०॥

श्रुत्वाथ तं प्रव्रजितं मनुष्या गुणैस्तदीयैरवबद्धचित्ताः।
विहाय बन्धूंश्च परिग्रहाँश्च तच्छिष्यतां सिद्धिमिवोपजग्मुः॥ ११॥

अपने सौभाग्य के कारण उन्हें महान् सम्पत्ति, सत्कार और कीर्त्ति प्राप्त हुई। किन्तु धर्माभ्यास से पवित्र बुद्धि एवं प्रव्रज्या से परिचित बोधिसत्त्व को उस लाभ से आनन्द नहीं हुआ।

पहले के पवित्राचरण से उनकी बुद्धि परिशुद्ध हो गई थी। भोगों में अनेक दोष देखकर उन्होंने गृहस्थी को रोग की तरह छोड़ दिया और संन्यासी बनकर किसी वनगिरि को सुशोभित किया॥ ६॥

वहाँ उन्होंने अपनी निर्लिप्तता और प्रज्ञा से पवित्र शान्ति के द्वारा मर्त्यलोक को, जो अपने कुकर्म में तल्लीन रहने के कारण सभ्य-समाज की शान्ति से वंचित था, उसे तिरस्कृत और लज्जित किया॥ ७॥

उन्होंने वहाँ मैत्री से परिपूर्ण शान्तिरस की धारा बहाई, जिससे हिंसक पशु भी आपस के वैर-भाव को भूलकर तपस्वियों की तरह घूमने लगे॥ ८॥

पवित्र आचरण, इन्द्रिय-संयम, संतोष और अपनी दया के कारण वे अपरिचित जनों के बीच भी उतने ही प्रिय हो गये, जितना प्रिय उन्हें सम्पूर्ण जीवलोक था॥९॥

उनकी कामना बहुत थोड़ी थी। वे लोभ एवं दम्भ से मौन या ध्यान करना और पाखण्ड से किसी को ठगना नहीं जानते थे। उन्होंने लाभ, यश और सुख की कामना भी छोड़ दी थी। अतः देवताओं का मन भी उनकी ओर श्रद्धा से झुक गया था॥ १०॥

उनके प्रव्रजित होने का समाचार सुनकर उनके स्वभाव के कारण अनुरक्त

शीले शुचाविन्द्रियभावनायां स्मृत्यप्रमोषे प्रविविक्ततायाम्।
मैत्र्यादिके चैव मनःसमाधौ यथाबलं सोऽनुशशास शिष्यान् ॥ १२ ॥

अथ कदाचित्स महात्मा परिनिष्पन्नभूयिष्ठे पृथूभूते शिष्यगणे प्रतिष्ठापितेऽस्मिन्कल्याणे वर्त्मन्यवतारिते नैष्क्रम्यसत्पथं लोके संवृतेष्विवापायद्वारेषु राजमार्गीकृतेष्विव सुगतिमार्गेषु दृष्टधर्मसुखविहारार्थं तत्कालशिष्येणाजितेनानुगम्यमानो योगानुकूलान् पर्वतदरीनिकुञ्जाननुविचचार।

अथात्र व्याघ्रवनितां ददर्श गिरिगह्वरे।
प्रसूतिक्लेशदोषेण गतां निस्पन्दमन्दताम् ॥ १३ ॥
परिक्षामेक्षणयुगां क्षुधा छाततरोदरीम्।
आहारमिव पश्यन्तीं बालान्स्वतनयानपि ॥ १४ ॥
स्तन्यतर्षादुपसृतान्मातृविस्रम्भनिर्व्यथान् ।
रोरूयितरवैः क्रूरैर्भर्त्सयन्तीं परानिव ॥ १५ ॥
बोधिसत्त्वस्तु तां दृष्ट्वा धीरोऽपि करुणावशात्।
चकम्पे परदुःखेन महीकम्पादिवाद्रिराट् ॥ १६ ॥

अनेकों लोग स्वजन, परिवार और सम्पत्ति को छोड़कर सिद्धि प्राप्ति की तरह उनके शिष्य हो गये ॥ ११ ॥

उन्होंने पवित्र शील, इन्द्रिय-संयम, सतत् जागरूकता, एकान्त सेवन, मैत्री-भावना आदि से युक्त मानसिक समाधि के विषय में अपने शिष्यों को यथाशक्ति उपदेश दिया ॥ १२ ॥

धीरे-धीरे जब उनकी शिष्य-मण्डली बहुत बढ़ गई और संसार में कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो गया, जनसामान्य संसार से विरक्त होकर सन्मार्ग की ओर बढ़ने लगा; जब दुर्गति की राहें बन्द हो गईं, सबके लिए सुगति के राजमार्ग सुलभ हो गए तब एक बार वे महात्मा इसी जन्म में सुखपूर्वक विहार करने के लिए अपने तत्कालीन शिष्य अजित के साथ योगानुकूल पर्वत-कन्दराओं एवं निकुञ्जों में घूमने गये।

तब उन्होंने पर्वत की कन्दरा में प्रसव की वेदना से पीड़ित एवं शिथिल एक युवती बाघिन को देखा ॥ १३ ॥

भूख से उसकी आँखें धँस गईं थीं। पेट पीठ की ओर सट गया था। वह अपने नन्हें बच्चों को भी अपने आहार की तरह देख रही थी ॥ १४ ॥

दूध की प्यास से समीप आये हुए तथा मातृ-विश्वास से निर्भय बने अपने बच्चों पर भी वह अतिनिष्ठुरता से शत्रुओं की तरह बार-बार गरजती हुई गुर्रा रही थी ॥ १५ ॥

बाघिन की उस दशा को देखकर अतिधीर होने पर भी वे करुणा के वशीभूत हो गये और दुःख से ऐसे काँपने लगे जैसे भूकम्प से पर्वतराज काँप रहा हो ॥१६॥

महत्स्वपि स्वदुःखेषु व्यक्तधैर्याः कृपात्मकाः ।
मृदुनाप्यन्यदुःखेन कम्पन्ते यत्तदद्भुतम् ॥ १७ ॥

अथ स बोधिसत्त्वः ससम्भ्रमाम्रेडितपदं स्वभावातिशयव्यञ्जकं करुणा-बलसमाहिताक्षरं शिष्यमुवाच—वत्स वत्स !

पश्य संसारनैर्गुण्यं मृग्येषा स्वसुतानपि ।
लङ्घितस्नेहमर्यादा भोक्तुमन्विच्छति क्षुधा ॥ १८ ॥

अहो बतातिकष्टेयमात्मस्नेहस्य रौद्रता ।
येन मातापि तनयानाहारयितुमिच्छति ॥ १९ ॥

आत्मस्नेहमयं शत्रुं को वर्धयितुमर्हति ।
येन कुर्यात् पदन्यासमीदृशेष्वपि कर्मसु ॥ २० ॥

तच्छीघ्रमन्विष्यतां तावत्कुतश्चिदस्याः क्षुद्दुःखप्रतीकारहेतुर्यावन्न तनया-नात्मानं चोपहन्ति । अहमपि चैनां प्रयतिष्ये साहसादस्मान्निवारयितुम् । स तथेत्यस्मै प्रतिश्रुत्य प्रक्रान्तस्तदाहारान्वेषणपरो बभूव । अथ बोधिसत्त्वस्तं शिष्यं सव्यपदेशमतिवाह्य चिन्तामापेदे—

दयालु व्यक्ति अपने भारी दुःख में भी धीरज नहीं खोते; किन्तु, दूसरों के सामान्य दुःख में भी वे विचलित हो जाते हैं ॥ १७ ॥

इसके बाद बड़ी घबराहट के साथ बार-बार अपने स्वभाव के अनुरूप दया-द्रवित शब्दों में बोधिसत्त्व ने अपने शिष्य से कहा—

हे वत्स ! जरा इस संसार की असारता को तो देखो । इस भूखी बाघिन ने सन्तति-स्नेह की मर्यादा को लाँघकर अपनी सन्तान को ही अपना आहार बनाना चाहती है ॥ १८ ॥

अहो, कितनी कष्टदायक है शरीर-प्रेम की यह क्रूरता, जिसके कारण माँ ही अपनी सन्तान को अपना आहार बनाना चाहती है ॥ १९ ॥

भला कौन इस शरीर-प्रेमरूपी शत्रु को बढ़ाये, जिसके कारण उसे ऐसे (जघन्य) कर्मों में भी पैर बढ़ाना पड़ सकता है ॥ २० ॥

'जब तक भूख की पीड़ा से व्याकुल यह बाघिन अपने सद्यःप्रसूत बच्चों की और अपनी भी हत्या नहीं कर लेती है, तब तक शीघ्र ही कहीं से भी इसकी क्षुधा-शान्ति के लिए कुछ लाओ । मैं भी तब तक इसे इस दुःसाहस से रोकने की चेष्टा करता हूँ ।' 'बहुत अच्छा' कहकर शिष्य जब वहाँ से चल गया और उसकी 'खुराक' की खोज में लग गया तब बोधिसत्त्व ने बहाने से उस शिष्य को वहाँ से दूर हटा कर स्वयं सोचने लगे—

संविद्यमाने सकले शरीरे कस्मात्परस्मान्मृगयामि मांसम्।
यादृच्छिकी तस्य हि लाभसम्पत्कार्यात्ययः स्याच्च तथा ममायम् ।।२१।।

अपि च—

निरात्मके भेदिनि सारहीने दुःखे कृतघ्ने सतताशुचौ च।
देहे परस्मायुपयुज्यमाने न प्रीतिमान्यो न विचक्षणः सः ।। २२ ।।
स्वसौख्यसङ्गेन परस्य दुःखमुपेक्ष्यते शक्तिपरिक्षयाद्वा।
न चान्यदुःखे सति मेऽस्ति सौख्यं सत्यां च शक्तौ किमुपेक्षकः स्याम् ।।२३
सत्यां च शक्तौ मम यद्युपेक्षा स्यादाततायिन्यपि दुःखमग्ने।
कृत्वेव पापं मम तेन चित्तं दह्येत कक्षं महताग्निनेव ।। २४ ।।
तस्मात्करिष्यामि शरीरकेण तटप्रपातोद्गतजीवितेन।
संरक्षणं पुत्रवधाच्च मृग्या मृग्याः सकाशाच्च तदात्मजानाम् ।। २५ ।।

किञ्च भूयः—

सदर्शनं लोकहितोत्सुकानामुत्तेजनं मन्दपराक्रमाणाम्।
संहर्षणं त्यागविशारदानामाकर्षणं सज्जनमानसानाम् ।। २६ ।।

अपनी पूरी देह रहने के बावजूद भला मैं और किस प्राणी का मांस खोजूँ? क्योंकि उस मांस का मिलना तो अनिश्चित है ही, इधर मेरा काम भी बिगड़ सकता है ।। २१ ।।

और भी —

यह देह सदा अपवित्र रहने वाली है। आत्मा इससे भिन्न वस्तु है, यह सारहीन एवं नश्वर है। यह कष्टकर और कृतघ्न है, इसका उपयोग यदि दूसरों के लिए हो, तो मनुष्य को प्रसन्न होना चाहिए। ऐसे काम से जो खुश नहीं होता निश्चय ही वह बुद्धिमान् नहीं है ।। २२ ।।

अपने सुखों के प्रति आसक्ति से अथवा अपनी अशक्तता के कारण भले लोग दूसरों के दुःख की उपेक्षा करते हैं। दूसरों को दुःखी देखकर न तो मुझे सुख ही मिल सकता है और न मुझमें ताकत की ही कमी है, तो फिर शक्ति रहते मैं इसकी उपेक्षा क्यों करूँ? ।। २३ ।।

दुःख में डूबे हुए आततायी की भी उपेक्षा यदि सक्षम होकर भी मैं करूँ, तो समझूँगा कि मैंने कुछ ऐसा पाप किया है, जिस पापरूपी अग्निपुंज में मेरा हृदय तृण की तरह जल जायेगा ।। २४ ।।

अतः बिना किसी सोच-विचार के शीघ्र ही मैं पहाड़ की खड़ी चोटी से गिरकर प्राण छोड़ूँगा तथा इस क्षुद्र शरीर के द्वारा पुत्र-वध के पाप से इस बाघिन को बचाऊँगा ।। २५ ।।

और भी—

इस काम के द्वारा लोकोपकार के लिए उत्सुक रहने वालों का मार्ग प्रशस्त

विषादनं मारमहाचमूनां प्रसादनं बुद्धगुणप्रियाणाम् ।
व्रीडोदयं स्वार्थपरायणानां मात्सर्यलोभोपहतात्मनां च ॥ २७ ॥

श्रद्धापनं यानवराश्रितानां विस्मापनं त्यागकृतस्मयानाम् ।
विशोधनं स्वर्गमहापथस्य त्यागप्रियाणामनुमोदि नृणाम् ॥ २८ ॥

कदा नु गात्रैरपि नाम कुर्यां हितं परेषामिति यश्च मेऽभूत् ।
मनोरथस्तत्सफलीक्रियाश्च सम्बोधिमग्र्यामपि चाविदूरे ॥ २९ ॥

अपि च—

न स्पर्धया नैव यशोऽभिलाषान्न स्वर्गलाभान्न च राज्यहेतोः ।
नात्यन्तिकेऽप्यात्मसुखे यथायं ममादरोऽन्यत्र परार्थसिद्धेः ॥ ३० ॥

तथा ममानेन समानकालं लोकस्य दुःखं च सुखोदयं च ।
हर्तुं च कर्तुं च सदास्तु शक्तिस्तमः प्रकाशं च यथैव भानोः ॥ ३१ ॥

दृष्टे गुणेऽनुस्मृतिमागतो वा स्पृष्टः कथायोगमुपागतो वा ।
सर्वप्रकारं जगतो हितानि कुर्यामजस्रं सुखसंहितानि ॥ ३२ ॥

करूँगा, त्यागी पुरुषों को आनन्दित करूँगा, सज्जनों के हृदय को आकृष्ट करूँगा, आलसी लोगों को पराक्रम के लिए प्रेरित करूँगा ॥ २६ ॥

काम की विशाल सेना को मैं निराश करूँगा, बुद्ध के भक्तों को प्रसन्न करूँगा, स्वार्थी, द्वेषी और लोभी मनुष्यों को लज्जित करूँगा ॥ २७ ॥

श्रेष्ठ बुद्ध या महायान के आश्रितों की श्रद्धा को बढ़ाऊँगा, त्यागियों की खिल्ली उड़ाने वालों को आश्चर्यचकित कर दूँगा, स्वर्ग के राजपथ को प्रशस्त करूँगा जिससे त्यागप्रिय जनों को प्रसन्नता होगी ॥ २८ ॥

अपनी देह देकर भी दूसरों की भलाई कब करूँगा ?—इस तरह की मेरी बहुत दिन से जो अभिलाषा थी, उसे आज पूरा करूँगा तथा निकट भविष्य में ही सम्यक् बोधि प्राप्त करूँगा ॥ २९ ॥

और भी—

मेरे इस परोपकार की भावना या त्याग का कारण स्पर्धा या यश की अभिलाषा नहीं है और न स्वर्गप्राप्ति या राज्यप्राप्ति ही है । जीवलोक के कष्टों का निवारण करना ही एकमात्र मेरा लक्ष्य है ॥ ३० ॥

जैसे भगवान् सूर्य एक साथ अंधकार मिटाकर प्रकाश फैलाते हैं, उसी तरह मुझ में वह शक्ति सर्वदा बनी रहे, जिससे एक ही साथ मैं संसार का दुःख दूर कर उन्हें सुख पहुँचा सकूँ॥ ३१ ॥

जब कभी लोग अच्छे गुणों की चर्चा करें, तो मैं उन्हें याद आ जाऊँ । कथा-प्रसंग में लोग मुझे उदाहृत करें, मैं सदा संसार का हित साधन करता रहूँ और उसे सुख पहुँचाता रहूँ ॥ ३२ ॥

एवं स निश्चित्य परार्थसिद्धयै प्राणात्ययेऽप्यापतितप्रमोदः ।
मनांसि धीराण्यपि देवतानां विस्मापयन्स्वां तनुमुत्ससर्ज ।। ३३ ।।

अथ सा व्याघ्री तेन बोधिसत्त्वस्य शरीरनिपातशब्देन समुत्थापितकौतूहलामर्षा विरम्य स्वतनयवैशसोद्यमात्ततो नयने विचिक्षेप। दृष्ट्वैव च बोधिसत्त्वशरीरमुद्गतप्राणं सहसाभिसृत्य भक्षयितुमुपचक्रमे ।

अथ स तस्य शिष्यो मांसमनासाद्यैव प्रतिनिवृत्तः कुत्रोपाध्याय इति विलोकयंस्तद्बोधिसत्त्वशरीरमुद्गतप्राणं तया व्याघ्रयुवत्या भक्ष्यमाणं ददर्श। स तत्कर्मातिशयविस्मयात्प्रतिव्यूढशोकदुःखावेगस्तद्गुणाश्रयबहुमानमिवोद्गिरन्निदमात्मगतं ब्रुवाणः शोभेत—

अहो दयास्य व्यसनातुरे जने स्वसौख्यनैःसङ्ग्यमहो महात्मनः ।
अहो प्रकर्षं गमिता स्थितिः सतामहो परेषां मृदिता यशःश्रियः ।। ३४ ।।
अहो पराक्रान्तमपेतसाध्वसं गुणाश्रयं प्रेम परं प्रदर्शितम् ।
अहो नमस्कारविशेषपात्रतां प्रसह्य नीतास्य गुणातनुस्तनुः ।। ३५ ।।
निसर्गसौम्यस्य वसुन्धराधृतेरहो परेषां व्यसनेष्वमर्षिता ।
अहो मदीया गमिता प्रकाशतां खटुङ्कता विक्रमसम्पदानया ।। ३६ ।।

इसी कारण परोपकार के लिए प्राण छोड़ने में आनन्दित होते हुए और शान्तचित्त देवताओं को भी चकित करते हुए उन्होंने अपना शरीरोत्सर्ग कर दिया ।।३३।।

तब बोधिसत्त्व के शरीर के गिरने का शब्द सुनकर वह बाघिन क्रोध एवं कुतूहल से पुत्र-वध के प्रयास से रुककर इधर-उधर देखने लगी तथा बोधिसत्त्व के निष्प्राण शरीर को देखते ही शीघ्र वहाँ जाकर उसे खाने लगी।

तब तक उनका शिष्य बिना मांस लिए ही लौट आया तथा 'गुरुदेव कहाँ हैं ?' उन्हें खोजता हुआ बोधिसत्त्व के निर्जीव देह को युवती बाघिन द्वारा खाये जाते हुए देखा। उनके इस महान् कार्य को देखकर वह विस्मय से भर गया। उसके दुःख और शोक का आवेग दब गया। उनके सद्गुणों के प्रति सम्मान होने के कारण ठीक ही अपना श्रद्धोद्गार इस प्रकार प्रकट किया—

अहो, यह महात्मा दुःख से पीड़ित प्राणियों के प्रति कितने दयालु और अपने सुख की ओर से कितने लापरवाह थे। उन्होंने सज्जनों की मर्यादा को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया और असज्जनों की कीर्त्ति को मिट्टी में मिला दिया ।। ३४ ।।

अहो, इन्होंने भयरहित होकर अपना पराक्रम प्रदर्शित किया तथा सभी गुणों के आश्रयभूत उत्कृष्ट प्रेम को प्रकट किया। सद्गुणों से भरा हुआ इनका शरीर अब विशेष रूप से वन्दनीय हो गया है ।। ३५ ।।

अपने स्वभाव से ही शान्तचित्त और धरित्री की तरह धैर्यशाली होने पर भी

अनेन नाथेन सनाथतां गतं न शोचितव्यं खलु साम्प्रतं जगत् ।
पराजयाशङ्कितजातसम्भ्रमो ध्रुवं विनिश्वासपरोऽद्य मन्मथः ।। ३७ ।।

सर्वथा नमोऽस्त्वस्मै महाभागाय सर्वभूतशरण्यायातिविपुलकारुण्यायाप्रमेयसत्त्वाय भूतार्थबोधिसत्त्वाय महासत्त्वायेति । अथ स तमर्थं सब्रह्मचारिभ्यो निवेदयामास ।

तत्कर्मविस्मितमुखैरथ तस्य शिष्यैर्गन्धर्वयक्षभुजगैस्त्रिदशाधिपैश्च ।
माल्याम्बराभरणचन्दनचूर्णवर्षैश्छन्ना तदस्थिवसुधा वसुधा बभूव ।।३८।।

तदेवं सर्वसत्त्वेष्वकारणपरमवत्सलस्वभावः सर्वभूतात्मभूतः पूर्वजन्मस्वपि स भगवानिति बुद्धे भगवति परः प्रसादः कार्यः । जातप्रसादैश्च बुद्धे भगवति परा प्रीतिरुत्पादयितव्या । एवमायतनगतो नः प्रसाद इत्येवमप्युन्नेयम् । तथा सत्कृत्य धर्मः श्रोतव्यः । एवं दुष्करशतसमुदानीतत्वात् करुणावर्णेऽपि वाच्यमेवं स्वभावातिशयस्य निष्पादिका परानुग्रहप्रवृत्तिहेतुः करुणेति ।

इति व्याघ्रीजातकं प्रथमम् ।

वह दूसरों के दुःख को सह ही नहीं सकते थे । उनकी इस वीरता से मेरी कापुरुषता प्रकाश में आ गई है ।। ३६ ।।

इस नाथ को पाकर संसार आज सनाथ हो गया । अब इनके लिए शोक करना उचित नहीं है । अपनी हार के डर से घबड़ाकर मन्मथ आज निश्चय ही लम्बी साँसें ले रहा है ।। ३७ ।।

'सब प्राणियों को शरण देने वाले कारुणिक, अत्यन्त धैर्यशाली, महाभाग्यवान्, लोकोपकारी महापुरुष बोधिसत्त्व को सब प्रकार से प्रणाम है ।' तब उसने यह बात अपने सहपाठियों से निवेदित की ।

इस कार्य से विस्मित होकर उनके शिष्यों, गन्धर्वों, यक्षों, नागों और देवाधिपतियों ने उनकी अस्थिरूपी रत्न-राशि से युक्त उस भूमि को मालाओं, वस्त्रों, आभरणों और चन्दन-चूर्ण की वृष्टि से पाट दिया ।। ३८ ।।

इस प्रकार भगवान् बुद्ध पूर्वजन्मों में भी सभी प्राणियों से अकारण ही अत्यन्त स्नेह किया करते थे और उनके साथ एकात्मभाव को प्राप्त हो गये थे । इसलिए हमें उन भगवान् में श्रद्धा होनी चाहिए तथा वैसा होने पर परम आनन्दित होना चाहिए । इस प्रकार हमारी श्रद्धा स्थिर हो जायेगी, यह निष्कर्ष भी निकालना चाहिए तथा आदरपूर्वक धर्मश्रवण करना चाहिए; क्योंकि अनेकों कष्टों को झेलकर धर्म लाया गया है । दया या करुणा की प्रशंसा करते समय भी हमें इस प्रकार कहना चाहिए—इसी करुणा के कारण हम में सुन्दर शील का निर्माण होता है और दूसरे प्राणियों पर कृपा दिखलाने की प्रवृत्ति होती है ।

पहला व्याघ्रीजातक समाप्त हुआ ।

(२) शिबि-जातकम्

दुष्करशतसमुदानीतोऽयमस्मदर्थं तेन भगवता सद्धर्म इति सत्कृत्य श्रोतव्यः । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वभूतः किलायं भगवानपरिमितकालाभ्यासात्सात्मीभूतोपचित-पुण्यकर्मा कदाचिच्छिबीनां राजा बभूव । स बाल्यात्प्रभृत्येव वृद्धोपासनरति-र्विनयानुरक्तोऽनुरक्तप्रकृतिः प्रकृतिमेधावित्वादनेकविद्याधिगमविपुलतरमति-रुत्साहमन्त्रप्रभावशक्तिदैवसम्पन्नः स्वा इव प्रजाः प्रजाः पालयति स्म ।

तस्मिंस्त्रिवर्गानुगुणा गुणौघाः संहर्षयोगादिव सन्निविष्टाः ।
समस्तरूपा विबभुर्न चासुर्विरोधसङ्क्षोभविपन्नशोभाः ॥ १ ॥
विडम्बनेवाविनयोद्धतानां दुर्मेधसामापदिवातिकष्टा ।
अल्पात्मनां या मदिरेव लक्ष्मीर्बभूव सा तत्र यथार्थनामा ॥ २ ॥
उदारभावात्करुणागुणाच्च वित्ताधिपत्याच्च स राजवर्यः ।
रेमेऽर्थिनामीप्सितसिद्धिहर्षादक्लिष्टशोभानि मुखानि पश्यन् ॥ ३ ॥

---

२. शिबि-जातक

अनेक कठिनाइयों को झेलकर भगवान् बुद्ध ने हमारे लिए जिन अच्छे-अच्छे कामों को किया है, हमें श्रद्धापूर्वक उन्हें सुनना चाहिए। तो फिर ऐसा सुना जाता है—

एक बार भगवान् बुद्ध जन्मान्तर में अभ्यासित एवं अर्जित पुण्य के फलस्वरूप बोधिसत्त्वावस्था में शिबियों के राजा हुए। बचपन से ही वे बड़े-बूढ़ों की सेवा में लगे रहते थे। वे बड़े विनयी थे। स्वभाव से ही अत्यन्त मेधावी थे। कम समय में ही उन्होंने अनेक विद्याएँ सीख लीं। उत्साह, मंत्रणा और संप्रभुता की राजोचित शक्तियाँ उन्हें उपलब्ध थीं। वे दैवी-सम्पत्ति से सम्पन्न थे। वे अपनी सन्तान की तरह प्रजा का पालन करते थे। प्रजा भी उन्हें प्यार करती थी।

धर्म, अर्थ और काम के समनुरूप साधन से प्रसन्न होकर सारे गुण उनमें एक साथ समाहित हो गये थे। परस्पर विरोधी संक्षोभ के कारण भी इनकी शोभा कभी मलिन नहीं हुई ॥ १ ॥

अविनीत अभिमानियों के लिए जो लक्ष्मी विडम्बना की तरह, मूर्खों के लिए कष्टकर विपत्ति की तरह तथा असंयमियों के लिए मदिरा की तरह होती है, वही लक्ष्मी इनके यहाँ अपने नाम के अनुरूप सिद्ध हुई ॥ २ ॥

अपनी उदारता, करुणा और ऐश्वर्य के कारण वे उत्तम राजा अपनी अभिलषित वस्तु की प्राप्ति के आनन्द से याचकों के खिलते हुए चेहरों को देख कर प्रसन्न होते थे ॥ ३ ॥

अथ स राजा दानप्रियत्वात्समन्ततो नगरस्य सर्वोपकरणधनधान्यसमृद्धा दानशालाः कारयित्वा स्वमाहात्म्यानुरूपं यथाभिप्रायसम्पादितं सोपचारं मनोहरमनतिक्रान्तकालसुभगं दानवर्षं कृतयुगमेघ इव ववर्ष। अन्नमन्नार्थिभ्यः, पानं पानार्थिभ्यः, शयनासनवसनभोजनगन्धमाल्यरजतसुवर्णादिकं तत्तदर्थिभ्यः। अथ तस्य राज्ञः प्रदानौदार्यश्रवणाद्विस्मितप्रमुदितहृदया नानादिगभिलक्षितदेशनिवासिनः पुरुषास्तं देशमुपजग्मुः।

परीत्य कृत्स्नं मनसा नृलोकमन्येष्वलब्धप्रणयावकाशाः।
तमर्थिनः प्रीतमुखाः समीयुर्महाह्रदं वन्यगजा यथैव ॥ ४ ॥

अथ स राजा समन्ततः समापततो लाभाशाप्रमुदितमनसः पथिकजननेपथ्यप्रच्छादितशोभस्य वनीपकजनस्य—

विप्रोषितस्येव सुहृज्जनस्य सन्दर्शनात्प्रीतिविजृम्भिताक्षः।
याच्ञां प्रियाख्यानमिवाभ्यनन्दद्दत्त्वा च तुष्ट्यार्थिजनं जिगाय ॥ ५ ॥
दानोद्भवः कीर्तिमयः सुगन्धस्तस्यार्थिनां वागनिलप्रकीर्णः।
मदं जहारान्यनराधिपानां गन्धद्विपस्येव परद्विपानाम् ॥ ६ ॥

उस दानप्रिय राजा ने नगर के चारों ओर धन-धान्यादि सभी उपकरणों से भरपूर दानशालाएँ बनवाईं। अपने माहात्म्य के अनुरूप एवं अपने अभिप्राय के अनुसार उचित समय पर याचकों के बीच विधिवत् दान की झड़ी लगा दी, जिसे देखकर लगता था जैसे कृतयुग का मेघ जल बरसा रहा हो। अन्न चाहने वालों को अन्न, पेय चाहने वालों को पेय, शयन-आसन-वसन-भोजन-सुगन्धि-माला, चाँदी या सोने में से जो कोई जो कुछ चाहता—उसे वही वस्तु मिलती थी। राजा की इस दानशीलता को सुनकर चारों ओर के देशों के लोग विस्मय और आनन्द के साथ उस देश में पहुँचने लगे।

अपने मन-ही-मन सारी दुनियाँ घूमकर दूसरों के यहाँ माँगने का अवसर न पाकर याचकगण इन्हीं के पास ठीक उसी तरह पहुँचने लगे जैसे महासरोवर के पास जंगली हाथी पहुँचते हैं ॥ ४ ॥

चारों ओर से आये झुण्ड के झुण्ड कुछ पाने की आशा से प्रसन्नचित्त बटोहियों की वेष-भूषा में उन याचकों को—

प्रवास से लौटे बन्धुओं की तरह देखकर राजा की आँखें आनन्द से विकसित हो गईं। प्रिय समाचार की तरह याचना के शब्द सुनकर उन्हें आनन्द हुआ और दान देकर उन याचकों से भी अधिक उन्हें सन्तोष हुआ ॥ ५ ॥

राजा के दान से उत्पन्न उसकी कीर्त्तिरूपी सुगन्धि को याचकों की वाणीरूपी हवा ने दूर-दूर तक फैला दिया, जिसने अन्य राजाओं के गर्व को उसी तरह नष्ट कर दिया, जैसे गन्धकुंजर की सुगन्ध गजमद को अपहृत कर लेती है ॥ ६ ॥

अथ कदाचित्स राजा दानशालाः समनुविचरंस्तृप्तत्वादर्थिजनस्य प्रविरलं याचकजनसम्पातमभिसमीक्ष्य दानधर्मस्यानुत्सर्पणान्न तुष्टिमुपजगाम।

तर्षं विनिन्येऽर्थिजनस्तमेत्य न त्वर्थिनः प्राप्य स दानशौण्डः।
न ह्यस्य दानव्यवसायमर्थी याच्ञाप्रमाणेन शशाक जेतुम्॥ ७॥

तस्य बुद्धिरभवत्—अतिसभाग्यास्ते सत्पुरुषविशेषा ये विस्रम्भनिर्यन्त्रणप्रणयमर्थिभिः स्वगात्राण्यपि याच्यन्ते। मम पुनः प्रत्याख्यानरूक्षाक्षरवचनसन्तर्जित इवार्थिजनो धनमात्रकेऽप्रगल्भप्रणयः संवृत्त इति।

अथ क्षितीशस्य तमत्युदारं गात्रेष्वपि स्वेषु निवृत्तसङ्गम्।
विज्ञाय दानाश्रयिणं वितर्कं पतिप्रिया स्त्रीव मही चकम्पे॥ ८॥

अथ शक्रो देवेन्द्रः क्षितितलचलनादकम्पिते विविधरत्नप्रभोद्भासिनि सुमेरौ पर्वतराजे किमिदमिति समुत्पतितवितर्कस्तस्य राज्ञ इमं वितर्कातिशयं धरणीतलचलननिमित्तमवेत्य विस्मयावर्जितहृदयश्चिन्तामापेदे—

दानातिहर्षोद्धतमानसेन वितर्कितं किं स्विदिदं नृपेण।
आबध्य दानव्यवसायकक्ष्यां स्वगात्रदानस्थिरनिश्चयेन॥ ९॥

तन्मीमांसिष्ये तावदेनमिति।

दानशालाओं में घूमते हुए एक बार राजा ने देखा कि याचकों की इच्छाएँ तृप्त होने से उनकी संख्या कम हो गयी है। अतः दान-धर्म में रुकावट पड़ने से राजा को संतोष नहीं हुआ।

उनके समीप पहुँच कर याचकों ने अपनी प्यास को शान्त किया; किन्तु उन याचकों को प्राप्त कर उस दान-वीर की प्यास नहीं बुझी। याचकों ने अपनी अपेक्षित याचना द्वारा दान देने की उनकी अभिलाषा को नहीं जीत सके।

उन्होंने सोचा—वे सज्जन अत्यन्त भाग्यवान् हैं, जिनसे माँगने वाले विश्वस्त भाव से निडर होकर शरीर के अङ्गों की भी माँग करते हैं। किन्तु, मेरे पास तो डाँट-फटकार के डर से केवल धन-सम्पत्ति माँगने का ही साहस जुटा पाते हैं।

अपनी देह से भी आसक्ति हटाकर दान देने के सम्बन्ध में राजा के उस उदार विचार को जानकर पतिप्रिया पत्नी की तरह यह धरती काँप उठी॥ ८॥

धरती के डोलने के कारण विविध रत्नों की प्रभा से आलोकित पर्वतराज सुमेरु को काँपते देखकर देवराज इन्द्र ने कहा—'यह क्या हुआ।' फिर राजा के उस अलौकिक दान विषयक विचार को इस भूकम्प का कारण जानकर उन्होंने विस्मित होकर सोचा—

क्या दान देने के हर्षातिरेक से उदात्तचित्त होकर राजा ने ऐसा विचार किया है? अथवा दान देने के लिए कटिबद्ध होकर उन्होंने अङ्गदान करने का दृढ़ निश्चय किया है॥ ९॥

अच्छा तो मैं उनकी अब परीक्षा करूँगा।

अथ तस्य राज्ञः पर्षदि निषण्णस्यामात्यगणपरिवृतस्य समुचितायां कृतायामर्थिजनस्य कः किमिच्छतीत्याह्वानावघोषणायामुद्घाट्यमानेषु कोशाध्यक्षाधिस्थितेषु मणिकनकरजतधननिचयेषु विश्लेष्यमाणासु पुटासु विविधवसनपरिपूर्णगर्भासु समुपावर्त्यमानेषु विनीतविविधवाहनस्कन्धप्रतिष्ठितयुगेषु विचित्रेषु यानविशेषेषु प्रवृत्तसम्पातेऽर्थिजने शक्रो देवानामिन्द्रो वृद्धमन्धं ब्राह्मणरूपमभिनिर्माय राज्ञश्चक्षुःपथे प्रादुरभवत्। अथ तस्य राज्ञः कारुण्यमैत्रीपरिभावितया धीरप्रसन्नसौम्यया प्रत्युद्गत इव परिष्वक्त इव च दृष्टया केनार्थ इत्युपनिमन्त्र्यमाणः क्षितिपानुचरैर्नृपतिसमीपमुपेत्य जयाशीर्वचनपुरःसरं राजानमित्युवाच—

दूरादपश्यन्स्थविरोऽभ्युपेतस्त्वच्चक्षुषोऽर्थी क्षितिपप्रधानः।
एकक्षणेनापि हि पङ्कजाक्ष गम्येत लोकाधिप लोकयात्रा ॥ १० ॥

अथ स बोधिसत्त्वः समभिलषितमनोरथप्रसिद्धया परं प्रीत्युत्सवमनुभवन् किस्विदिदं सत्यमेवोक्तं ब्राह्मणेन स्यादुत विकल्पाभ्यासान्मयैवमवधारितमिति जातविमर्शश्चक्षुर्याच्ञाप्रियवचनश्रवणतृषितमतिस्तं चक्षुर्याचनकमुवाच—

केनानुशिष्टस्त्वमिहाभ्युपेतो मां याचितुं ब्राह्मणमुख्य चक्षुः।
सुदुस्त्यजं चक्षुरिति प्रवादः सम्भावना कस्य मयि व्यतीता ॥ ११ ॥

अमात्यों से घिरे राजा अपनी सभा में बैठे थे। 'कौन क्या चाहता है?' इसकी घोषणा की जा रही थी। कोषाध्यक्ष के अधीन सोने, चाँदी, रत्न और विभिन्न सम्पदाओं के भण्डार खोले जा रहे थे। भाँति-भाँति के वस्त्रों से भरी पिटारियाँ खुल रही थीं। प्रशिक्षित वाहनों के सुदृढ कन्धों पर जुते जुए वाली चित्र-विचित्र सवारियाँ लाई जाने लगीं। झुण्ड के झुण्ड याचकों की भीड़ जब उमड़ने लगी, तब देवाधिपति शक्र एक वृद्ध एवं अंधे ब्राह्मण का रूप बनाकर राजा के समक्ष प्रकट हुए। राजा ने अपनी दयार्द्र, मैत्रीपूर्ण, धीर, प्रसन्न और सौम्य दृष्टि से उनका स्वागत किया। राजपुरुषों के द्वारा आगमन का कारण पूछे जाने पर राजा के पास पहुँच कर आशीर्वाद देते हुए उन्होंने कहा—

हे राजेन्द्र! दूर देश से आया हूँ, बूढ़ा और अन्धा हूँ। मैं आपकी एक आँख माँगता हूँ। हे कमलनयन! हे राजेन्द्र! एक नेत्र से भी संसार-यात्रा सम्पन्न की जा सकती है ॥ १० ॥

तब अंगदान की अपनी अभिलाषा को पूर्ण होने का उचित अवसर पाकर राजा सोचने लगा—क्या इस ब्राह्मण ने जो कुछ कहा है वह सच है या ऐसी बातों पर लगातार सोचते रहने के कारण केवल मेरे मन का वहम है। इस तरह सोचते हुए राजा ने नेत्र-याचना के प्रिय शब्द सुनने की अभिलाषा से उस याचक से कहा—

हे द्विजश्रेष्ठ! किसने आपको मेरे पास आँख माँगने के लिए भेजा है? किसी को अपनी आँख निकाल कर देना तो बड़ा कठिन काम है; फिर भी मुझसे ऐसी उम्मीद किसने की है ॥ ११ ॥

अथ स ब्राह्मणवेषधारी शक्रो देवेन्द्रस्तस्य राज्ञ आशयं विदित्वोवाच—

शक्रस्य शक्रपतिमानुशिष्टया त्वां याचितुं चक्षुरिहागतोऽस्मि।
सम्भावनां तस्य ममैव चाशां चक्षुःप्रदानात्सफलीकुरुष्व ॥ १२ ॥

अथ स राजा शक्रसङ्कीर्तनान्नूनमस्य ब्राह्मणस्य भवित्री देवतानुभावादनेन विधिना चक्षुःसम्पदिति मत्वा प्रमोदविशदाक्षरमेनमुवाच —

येनाभ्युपेतोऽसि मनोरथेन तमेष ते ब्राह्मण पूरयामि।
आकाङ्क्षमाणाय मदेकमक्षि ददामि चक्षुर्द्वयमप्यहं ते ॥ १३ ॥

स त्वं विबुद्धनयनोत्पलशोभितास्यः
सम्पश्यतो व्रज यथाभिमतं जनस्य।
स्यात् किं सोऽयमुत नेति विचारदोला-
लोलस्य सोऽयमिति चोत्थितविस्मयस्य ॥ १४ ॥

अथ तस्य राज्ञोऽमात्याश्चक्षुःप्रदानावसायमवेत्य ससम्भ्रमावेगविषादव्यथितमनसो राजानमूचुः—

दानातिहर्षादनयमसमीक्ष्याहितोदयम्।
प्रसीद देव मा मैवं न चक्षुर्दातुमर्हसि ॥ १५ ॥

तब ब्राह्मण वेषधारी देवराज इन्द्र ने राजा के पूछने का रहस्य जानकर कहा—

देवराज इन्द्र के देवोचित आदेश से ही मैं आपके पास आँख माँगने के लिए उपस्थित हुआ हूँ। आप अपनी आँख दानकर मेरी आशा और उनकी उम्मीद को सफल बनावेंगे ॥ १२ ॥

तब देवराज इन्द्र का नाम सुनकर राजा को यह निश्चय हो गया कि देवता की कृपा से इस वृद्ध ब्राह्मण को अवश्य ही दृष्टि रूपी सम्पत्ति प्राप्त होगी। फिर उन्होंने खुश होकर स्पष्ट शब्दों में कहा—

हे ब्राह्मण ! आप जिस मनोरथ से मेरे पास आये हैं, उसे मैं अभी पूरा करता हूँ। आप मुझसे केवल एक ही आँख माँग रहे हैं और मैं आपको अपनी दोनों आँखें देता हूँ ॥ १३ ॥

आँख पा जाने के बाद आपके मुख की शोभा बढ़ जायेगी। आप स्वेच्छा से जहाँ चाहें जायँ। आपको देखकर लोग संशय में पड़ जायँ—'क्या आप वहीं हैं या कोई दूसरा है ?' ऐसी सन्दिग्ध मनःस्थिति के बाद आश्चर्यचकित होकर कहें—'अरे, ये तो वही ब्राह्मण हैं' ॥ १४ ॥

इसके बाद राजा के नेत्रदान का निश्चय जानकर सभी सचिव दुःख से व्याकुल होकर घबराते हुए उनसे बोले—

दान के आनन्दातिरेक के कारण इस अनय से उत्पन्न होने वाले अनभल को आप देख नहीं पा रहे हैं। हे राजन ! आप प्रसन्न हों। आप अपनी आँख दान नहीं कर सकते ॥ १५ ॥

एकस्यार्थे द्विजस्यास्य मा नः सर्वान्पराकृथाः ।
अलं शोकाग्निना दग्धुं सुखं संवर्धिताः प्रजाः ॥ १६ ॥

धनानि लक्ष्मीप्रतिबोधनानि श्रीमन्ति रत्नानि पयस्विनीर्गाः ।
रथान् विनीताँश्च युजः प्रयच्छ मदोर्जितश्रीललितान् द्विपान्वा ॥ १७ ॥
समुच्चरन्नूपुरनिस्वनानि शरत्पयोदाभ्यधिकद्युतीनि ।
गृहाणि सर्वर्तुसुखानि देहि मा दाः स्वचक्षुर्जगदेकचक्षुः ॥ १८ ॥

विमृश्यतामपि च तावन्महाराज !

अन्यदीयं कथं नाम चक्षुरन्यत्र योज्यते ।
अथ देवप्रभावोऽयं त्वच्चक्षुः किमपेक्ष्यते ॥ १९ ॥

अपि च देव !

चक्षुषा किं दरिद्रस्य पराभ्युदयसाक्षिणा ।
धनमेव यतो देहि देव मा साहसं कृथाः ॥ २० ॥

अथ स राजा तानमात्यान्सानुनयमधुराक्षरमित्युवाच—

अदाने कुरुते बुद्धिं दास्यामीत्यभिधाय यः ।
स लोभपाशं प्रभ्रष्टमात्मनि प्रतिमुञ्चति ॥ २१ ॥

मात्र एक ब्राह्मण के लिए आप हम सभी की इतनी बड़ी उपेक्षा नहीं कर सकते। सुख में पली हुई प्रजा को आप शोकरूपी आग में जलने से बचा लें ॥ १६ ॥

लक्ष्मी को प्रबुद्ध करने वाले धन, सुन्दर रत्न, दुधारू गायें, अच्छे-अच्छे रथ, प्रशिक्षित घोड़े, सुन्दर, स्वस्थ और मदमत्त हाथी आप जो चाहें, दान करें ॥ १७ ॥

शरद् ऋतु के बादलों से भी अधिक उज्ज्वल, सब ऋतुओं में सुखदायक, सुन्दर रमणियों के नूपुरों से झंकृत आप भव्य-भवन दान कर दें। पर, भगवान् सूर्य की तरह संसार को प्रकाशित करने वाली एकमात्र अपनी आँख आप किसी को न दें ॥

और भी, हे महाराज ! जरा सोचिये तो—

दूसरे व्यक्ति की आँख भला किसी दूसरे व्यक्ति में कैसे लगाई जा सकती है ? मान लिया जाय किसी देवता की परम कृपा से यह सम्भव भी हो जाय, तो भी आखिर आपकी इस तरह अवहेलना कर आपकी ही आँख की ऐसी अपेक्षा क्यों ? ॥ १९ ॥

और भी, हे देव !

किसी गरीब को आँख की इतनी क्या आवश्यकता ? इससे तो दूसरों का अभ्युदय ही देखा जा सकता है। इसलिए अगर आप देना ही चाहें तो यथेच्छ धन दें। आँख देने का दुस्साहस न करें ॥ २० ॥

इतना सुनने के बाद राजा ने मीठी वाणी में अपने सचिवों से सानुनय कहा—

'दूँगा' यह कह कर जो नहीं देने का विचार करता, वह निन्दित लोभपाश में जकड़ता है, जिसे उसने पहले तोड़ डाला था ॥ २१ ॥

दास्यामीति प्रतिज्ञाय योऽन्यथा कुरुते मनः ।
कार्पण्यानिश्चितमतेः कः स्यात्पापतरस्ततः ॥ २२ ॥
स्थिरीकृत्यार्थिनामाशां दास्यामीति प्रतिज्ञया ।
विसंवादनरूक्षस्य वचसो नास्ति निष्कृतिः ॥ २३ ॥

यदपि चेष्टं देवतानुभावादेव चक्षुरस्य किं न सम्भवतीत्यत्र श्रूयताम्–

नैककारणसाध्यत्वं कार्याणां ननु दृश्यते ।
कारणान्तरसापेक्षः स्याद्दैवोऽपि विधिर्यतः ॥ २४ ॥

तन्न मे दानातिशयव्यवसाये विघ्नाय व्यायन्तुमर्हन्ति भवन्त इति ।

अमात्या ऊचुः—धनधान्यरत्नानि देवो दातुमर्हति न स्वचक्षुरिति विज्ञापितमस्माभिः । तन्न देवं वयमतीर्थे प्रतारयामः । राजोवाच—

यदेव याच्येत तदेव दद्यान्नानीप्सितं प्रीणयतीह दत्तम् ।
किमुह्यमानस्य जलेन तोयैः दास्याम्यतः प्रार्थितमर्थमस्मै ॥ २५ ॥

अथ तस्य राज्ञो दृढतरविस्रम्भप्रणयः स्नेहावेगादनपेक्षितोपचारोऽमात्यमुख्यस्तं राजानमित्युवाच—मा तावद् भोः !

अपनी कृपणता के कारण पहले 'दूँगा' कहकर पीछे अपना विचार बदल डालता है, भला उससे बड़ा पापी कौन होगा ? ॥ २२ ॥

किसी याचक को मनोभिलषित वस्तु की आशा दिलाकर जो पीछे हटकर विरोध करता है या उसे फटकारता है उसके लिए संसार से मुक्ति नहीं है ॥ २३ ॥

आप यह कह सकते हैं कि किसी देवता के प्रभाव से ही इसे आँख क्यों नहीं हो जाती, तो इस सम्बन्ध में भी सुन लीजिए—

ऐसा देखा जाता है कि संसार में किसी-न-किसी कारण से ही कार्य की सिद्धि होती है । इसलिए, दैव को भी दूसरे कारण की अपेक्षा होती है ॥ २४ ॥

अतः मेरे महादान के निश्चय में आप बाधा न डालें ।

सचिवों ने इस पर जवाब दिया—हमने तो आपसे इतना ही निवेदन किया है कि आप स्वेच्छा से धन-धान्य, हीरे-मोती जो चाहें, दान करें । केवल अपनी आँख किसी को न दें । अतः हम श्रीमान् को गलत रास्ते की ओर तो नहीं बहका रहे हैं ।

इस पर राजा ने कहा—

अभीप्सित वस्तु ही किसी याचक को देनी चाहिए । अनभिलषित वस्तु देने से प्रसन्नता नहीं होती । जो पानी की बाढ़ में स्वयं बह रहा है, उसे पानी देने से क्या लाभ ! अतः इन्होंने जो माँगा है, मैं इन्हें वही दूँगा ॥ २५ ॥

तब प्रधानमंत्री ने, जिस पर राजा का अटूट विश्वास और अडिग प्रेम था, शिष्टाचार की उपेक्षा करते हुए राजा से कहा—आप ऐसा न करें ।

या नाल्पेन तपःसमाधिविधिना सम्प्राप्यते केनचिद्
यामासाद्य च भूरिभिर्मखशतैः कीर्तिं दिवं चाप्नुयात् ।
सम्प्राप्तामतिपत्य तां नृपतिश्रीं शक्रर्द्धिविस्पर्धिनीं
किं दृष्ट्वा नयने प्रदित्सति भवान्कोऽयं कुतस्त्यो विधिः ॥ २६ ॥

लब्धावकाशस्त्रिदशेषु यज्ञैः कीर्त्या समन्तादवभासमानः ।
नरेन्द्रचूडाद्युतिरञ्जिताङ्घ्रिः किं लिप्समानो नु ददासि चक्षुः ॥ २७ ॥

अथ स राजा तममात्यं सानुनयमित्युवाच—

नायं यत्नः सार्वभौमत्वमाप्तुं नैव स्वर्गं नापवर्गं न कीर्तिम् ।
त्रातुं लोकानित्ययं त्वादरो मे याच्ञाक्लेशो मा च भूदस्य मोघः ॥ २८॥

अथ स राजा नीलोत्पलदलशकलरुचिरकान्तिनयनमेकं वैद्यपरिदृष्टेन विधिना शनकैरक्षतमुत्पाट्य परया प्रीत्या चक्षुर्याचनकाय प्रायच्छत् । अथ शक्रो देवेन्द्रस्तादृशमृद्ध्यभिसंस्कारं चक्रे यथा ददर्श स राजा सपरिजनस्तत्तस्य चक्षुश्चक्षुःस्थाने प्रतिष्ठितम् । अथोन्मिषितैकचक्षुषं चक्षुर्याचनकमभिवीक्ष्य स राजा परमेण प्रहर्षेण समापूर्यमाणहृदयो द्वितीयमप्यस्मै नयनं प्रायच्छत् ।

हे महाराज ! शक्र की समृद्धि से स्पर्धा करने वाली राज्यलक्ष्मी आपको प्राप्त हैं । आज आप उसका अतिक्रमण कर रहे हैं । बड़ी कठोर तपस्या और समाधि के द्वारा लोग जिसे प्राप्त करते हैं, जिस समृद्धि से मनुष्य अनगिनत श्रेष्ठ यज्ञों द्वारा स्वर्ग और कीर्ति प्राप्त कर सकते हैं, वे सारी समृद्धियाँ आपके चरणों में लोटती हैं । फिर आप किस लाभ के लिए अपना नेत्र दान करना चाहते हैं ? यह आपकी कौन-सी रीति है ॥ २६ ॥

आपने विशिष्ट यज्ञों का सम्पादन कर देवताओं के बीच अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है । आपकी कीर्ति से दशों दिशायें प्रोद्भासित हैं । नृपतियों की चूड़ामणियों की कान्ति से आपके चरण अनुरंजित हैं । फिर वह कौन-सी वस्तु है जिसे पाने की इच्छा से आप नेत्रदान कर रहे हैं ॥ २७ ॥

तब राजा ने सानुनय अपने उस सचिव से कहा—

मेरा यह प्रयास सारी धरती का आधिपत्य, स्वर्ग, अपवर्ग या यश प्राप्त करने के लिए नहीं, किन्तु लोकरक्षा के लिए है । अतः मैं चाहता हूँ कि माँगने में इन्हें जो कष्ट हुआ है, वह बेकार न जाय ॥ २८ ॥

इसके बाद नीलकमल की पंखुड़ी के समान कान्तिवाली अपनी आँख को राजा ने चिकित्सक की सहायता से धीरे-धीरे अखण्डित ही उखाड़ कर ब्राह्मण को दे दिया । देवराज इन्द्र ने कुछ ऐसा चमत्कार किया कि परिजन सहित राजा ने अपनी आँख को उस भिखारी की आँख की जगह प्रतिष्ठित देखा । आँख माँगने वाले

ततः स राजा नयने प्रदाय विपद्मपद्माकरतुल्यवक्त्रः ।
पौरैरसाधारणतुष्टिरासीत्समग्रचक्षुर्ददृशे द्विजैश्च ॥ २९ ॥

अन्तःपुरेऽथ मनुजाधिपतेः पुरे च
शोकाश्रुभिर्वसुमती सिषिचे समन्तात् ।
शक्रस्तु विस्मयमवाप परां च तुष्टिं
सम्बोधये नृपमकम्प्यमतिं समीक्ष्य ॥ ३० ॥

शक्रस्य विस्मयावर्जितहृदयस्यैतदभवत्—

अहो धृतिरहो सत्त्वमहो सत्त्वहितैषिता ।
प्रत्यक्षमपि कर्मेदं करोतीव विचारणाम् ॥ ३१ ॥

तन्नायमाश्चर्यसत्त्वश्चिरमिमं परिक्लेशमनुभवितुमर्हति । यतः प्रयतिष्ये चक्षुरस्योपायप्रदर्शनादुत्पादयितुम् ।

अथ तस्य राज्ञः क्रमात्संरूढनयनव्रणस्यावगीतप्रतनूभूतान्तःपुरपौरजानपदशोकस्य प्रविवेककामत्वादुद्यानपुष्करिण्यास्तीरे कुसुमभरावनतरुचिरतरुवरनिचिते मृदुसुरभिशिशिरसुखपवने मधुकरगणोपकूजिते पर्यङ्केण निषण्णस्य शक्रो देवेन्द्रः पुरस्तात्प्रादुरभवत् । क एष इति च राज्ञा पर्यनुयुक्तोऽब्रवीत्—

की एक आँख विकसित हो गयी । यह देखकर राजा का हृदय अत्यन्त खुशी से भर गया और उन्होंने अपनी दूसरी आँख भी निकाल कर उसे दे दी ।

जब राजा ने अपनी दोनों आँखें निकालकर उसे दे दीं, तब राजा का मुख सरोज-शून्य सरोवर की तरह हो गया और उस भिखारी ब्राह्मण की आँखें अखण्ड दिखलाई पड़ने लगीं । इस कृत्य से राजा को जितना आनन्द हुआ, प्रजा और पुरवासियों को उतनी ही पीड़ा हुई ॥ २९ ॥

अंतःपुर और राजधानी में धरती आँसुओं से भींग गई । किन्तु, सम्बोधि-प्राप्ति के लिए राजा का अटल निश्चय देखकर देवराज इन्द्र अत्यन्त विस्मित और प्रसन्न हुए ॥ ३० ॥

इसके बाद विस्मित देवराज सोचने लगे—

आश्चर्य है, राजा का धैर्य, साहस और जनकल्याण की भावना मैंने अपनी आँखों से देखी है । फिर भी, मेरा मन इस पर विश्वास नहीं कर पा रहा है ॥ ३१ ॥

यह महापुरुष इस चक्षुक्लेश को अधिक दिन तक भोगता रहे, यह उचित नहीं । मैं इन्हें कोई उपाय बतलाकर इनकी आँखें लौटाने का प्रयत्न करूँगा ।

क्रम से राजा की आँखों का घाव भर गया । रनिवास और पुरवासियों का शोक भी धीरे-धीरे कम हो गया । एक दिन राजा एकान्त-सेवन की इच्छा से उद्यान-सरोवर के तट पर पलंग पर बैठे थे । सुन्दर और सुगंधित फूलों के भार से किनारे

शक्रोऽहमस्मि देवेन्द्रस्त्वत्समीपमुपागतः ।

राजोवाच—स्वागतम् । आज्ञाप्यतां केनार्थ इति । स उपचारपुरःसरमुक्तो राजानं पुनरुवाच—

वरं वृणीष्व राजर्षे यदिच्छसि तदुच्यताम् ॥ ३२ ॥

अथ स राजा प्रदानसमुचितत्वादनभ्यस्तयाच्ञाकार्पण्यमार्गो विधृत्य विस्मयशौटीर्यमेनमुवाच—

प्रभूतं मे धनं शक्र शक्तिमच्च महद् बलम् ।
अन्धभावात्त्विदानीं मे मृत्युरेवाभिरोचते ॥ ३३ ॥

कृत्वापि पर्याप्तमनोरथानि प्रीतिप्रसादाधिकलोचनानि ।
मुखानि पश्यामि न याचकानां यत्तेन मृत्युर्दयितो ममेन्द्र ॥ ३४ ॥

शक्र उवाच—अलमलमनेन ते व्यवसायेन । सत्पुरुषा एवेदृशान्यनुप्राप्नुवन्ति । अपि च पृच्छामि तावद् भवन्तम् ।

इमामवस्थां गमितस्य याचकैः कथं नु ते सम्प्रति तेषु मानसम् ।
प्रचक्ष्व तत्तावदलं निगूहितुं व्रजेश्च सम्प्रत्यपनीय तां यथा ॥ ३५ ॥

के पेड़ झुके थे । शीतल, मन्द और सुगन्धित हवा बह रही थी । उसी समय देवराज इन्द्र उनके सामने प्रकट हुए । राजा ने पूछा—आप कौन हैं ?

उत्तर मिला—मैं देवराज इन्द्र आपके पास आया हूँ ।

राजा ने कहा—स्वागत ! आप मेरे पास किस उद्देश्य से आये हैं । आज्ञा कीजिए ।

इस तरह नम्रतापूर्वक पूछे जाने पर इन्द्र ने राजा से कहा—हे राजर्षि ! वर माँगिए । आप जो कुछ चाहते हैं, कहिए ॥ ३२ ॥

किन्तु, याचना के कृपण-मार्ग पर चलने में अनभ्यस्त उस महादानी राजा ने अभिमान के साथ कहा—

हे शक्र, मेरे पास बहुत धन है और बलवती विशाल सेना भी है । किन्तु, अन्धा होने के कारण अब मुझे मौत ही पसन्द है ॥ ३३ ॥

मनोरथ पूर्ण होने पर जब प्रसन्नता और संतोष से याचकों की आँखें खिल उठती हैं, उस समय भी मैं उनके मुख को देख नहीं पाता । अतः हे इन्द्र ! मुझे अब अपनी मौत ही प्यारी है ॥ ३४ ॥

देवराज इन्द्र ने कहा—आप इस विचार को छोड़ दें । सत्पुरुषों को ही ऐसी अवस्था प्राप्त होती है । और भी, मैं आप से पूछता हूँ—

माँगने वालों के कारण ही आप इस दशा में कष्ट पा रहे हैं । फिर भी आपका मन उन्हीं में क्यों लगा है ? मुझसे बिना छिपाये आप इसका कारण बतायें और इस कष्टकर स्थिति से मुक्ति पा लें ॥ ३५ ॥

राजोवाच—कोऽयमस्मान् विकत्थयितुमत्रभवतो निर्बन्धः? अपि च देवेन्द्र श्रूयताम्—

तदैव चैतर्हि च याचकानां वचांसि याच्ञानियताक्षराणि।
आशीर्मयाणीव मम प्रियाणि यथा तथोदेतु ममैकमक्षि॥ ३६॥

अथ तस्य राज्ञः सत्याधिष्ठानबलात् पुण्योपचयविशेषाच्च वचनसमनन्तरमेवेन्द्रनीलशकलाक्रान्तमध्यमिव नीलोत्पलदलसदृशमेकं चक्षुः प्रादुरभवत्। प्रादुर्भूते च तस्मिन्नयनाश्चर्ये प्रमुदितमनाः स राजा पुनरपि शक्रमुवाच—

यश्चापि मां चक्षुरयाचतैकं तस्मै मुदा द्वे नयने प्रदाय।
प्रीत्युत्सवैकाग्रमतिर्यथासं द्वितीयमप्यक्षि तथा ममास्तु॥ ३७॥

अथाभिव्याहारसमनन्तरमेव तस्य राज्ञो विस्पर्धमानमिव तेन नयनेन द्वितीयं चक्षुः प्रादुरभवत्।

ततश्चकम्पे सधराधरा धरा व्यतीत्य वेलां प्रससार सागरः।
प्रसक्तगम्भीरमनोज्ञनिस्वनाः प्रसस्वनुर्दुन्दुभयो दिवौकसाम्॥ ३८॥
प्रसादरम्यं ददृशे वपुर्दिशां रराज शुद्धया शरदीव भास्करः।
परिभ्रमच्चन्दनचूर्णरञ्जितं पपात चित्रं कुसुमं नभस्तलात्॥ ३९॥

राजा ने कहा—आप मुझसे आत्म-प्रशंसा करवाने के लिए क्यों हठ कर रहे हैं। अच्छा तो फिर हे देवेन्द्र, सुनें—

पहले और अब भी यदि याचकों की याचना के वचन मुझे आशीर्वाद की तरह प्रिय लगे हैं, तो मेरी एक आँख मुझे मिल जाय॥ ३६॥

यह कहते ही राजा के सत्यबल और पुण्य-प्रताप से नीमकमल की पंखुड़ी के समान एक नेत्र, जिसके निचले भाग में मानो इन्द्रनील नामक मणि का टुकड़ा जड़ा हुआ था, प्रकट हो गया। आश्चर्यजनक इस आँख के मिल जाने पर प्रसन्नचित्त राजा ने शक्र से फिर कहा—

एक आँख माँगने वाले को खुशी से दोनों आँखें देकर यदि मैं प्रसन्न हुआ होऊँ, तो मुझे मेरी दूसरी आँख भी मिल जाय॥ ३७॥

इतना कहते ही राजा की पहली आँख से मानों स्पर्धा करती हुई दूसरी आँख भी प्रकट हो गयी।

उस समय पर्वतों के साथ धरती काँप उठी। तट की मर्यादा तोड़कर सागर में उत्ताल तरंगें उठने लगीं। देवताओं की दुन्दुभियाँ गंभीर और मनोरम धुन में बज उठीं। दिशायें अत्यन्त स्वच्छ और आकर्षक हो गईं। शारदीय सूर्य अपनी ज्योति से आलोकित हो उठा। चन्दन-चूर्ण से रँगे चित्र-विचित्र आकाशीय फूल चक्कर काटते हुए गिरने लगे॥ ३८–३९॥

समाययुर्विस्मयफुल्ललोचना दिवौकसस्तत्र सहाप्सरोगणाः ।
ववौ मनोज्ञात्मगुणः समीरणो मनस्सु हर्षो जगतां व्यजृम्भत ॥ ४० ॥
उदीरिता हर्षपरीतमानसैर्महर्द्धिभिर्भूतगणैः सविस्मयैः ।
नृपस्य कर्मातिशयस्तवाश्रयाः समन्ततः शुश्रुविरे गिरः शुभाः ॥ ४१ ॥
अहो बतौदार्यमहो कृपालुता विशुद्धता पश्य यथास्य चेतसः ।
अहो स्वसौख्येषु निरुत्सुका मतिर्नमोऽस्तु तेऽभ्युद्गतधैर्यविक्रम ॥ ४२ ॥
सनाथतां साधु जगद् गतं त्वया पुनर्विबुद्धेक्षणपङ्कजश्रिया ।
अमोघरूपा बत पुण्यसञ्चयाश्चिरस्य धर्मेण खलूर्जितं जितम् ॥ ४३ ॥

अथ शक्रः साधु साध्वित्येनमभिसंराध्य पुनरुवाच—

न नो न विदितो राजंस्तव शुद्धाशयाशयः ।
एवं नु प्रतिदत्ते ते मयेमे नयने नृप ॥ ४४ ॥
समन्ताद्योजनशतं शैलैरपि तिरस्कृतम् ।
द्रष्टुमव्याहता शक्तिर्भविष्यत्यनयोश्च ते ॥ ४५ ॥

इत्युक्त्वा शक्रस्तत्रैव चान्तर्दधे ।

अथ बोधिसत्त्वो विस्मयपूर्णमनोभिर्मन्दमन्दनिमेषप्रविकसितनयनैरमात्यैरनुयातः पौरैश्चाभिवीक्ष्यमाणो जयाशीर्वचनपुरःसरैश्च ब्राह्मणैरभिनन्द्यमानः

विस्मय-विस्फारित आँखों वाले देवगण अप्सराओं के साथ धरती पर उतर आये । मनोरम हवा बहने लगी । आनन्द की लहरें फैल गईं ॥ ४० ॥

सब ने प्रसन्न होकर राजा के लोकोत्तर कर्म की प्रशंसा में शुभ वचन कहे, जो चारों ओर सुनाई पड़े ॥ ४१ ॥

अहो ! आपका हृदय कितना उदार, कितना दयालु और पवित्र है । आप अपने सुखों की ओर से कितने उदास हैं । आप अत्यन्त धैर्यशाली और पराक्रमी हैं । आपको हमारा प्रणाम ॥ ४२ ॥

आपको फिर से नई आँखों के मिल जाने के कारण यह धरती फिर से सनाथ हो गई । आपके चिरसंचित पुण्य भी सफल हुए । आपने अपने धर्म से महान् विजय प्राप्त की है ॥ ४३ ॥

'साधु-साधु' कहकर इन्द्र ने भी उनकी प्रशंसा की और कहा—

हे पवित्र-हृदय राजन् ! आपका अभिप्राय मुझसे छिपा हुआ नहीं है । इसीलिए बदले में मैंने आपको ये आँखें दी हैं ॥ ४४ ॥

चारों ओर सौ योजन तक पहाड़ों के पार भी देखने की अप्रतिहत शक्ति आपकी इन आँखों की होगी ॥ ४५ ॥

इतना कहकर वे वहीं अन्तर्ध्यान हो गये ।

इसके बाद राजा अपने नगर में पहुँचे । स्वागत के लिए अमात्यों, ब्राह्मणों और

पुरवरमुच्छ्रितध्वजविचित्रपताकं प्रवितन्यमानाभ्युदयशोभमभिगम्य पर्षदि निषण्णः सभाजनार्थमभिगतस्यामात्यप्रमुखस्य ब्राह्मणवृद्धपौरजानपदस्यैवमात्मोपनायिकं धर्मं देशयामास —

को नाम लोके शिथिलादरः स्यात् कर्तुं धनेनार्थिजनप्रियाणि ।
दिव्यप्रभावे नयने ममेमे प्रदानपुण्योपनते समीक्ष्य ॥ ४६ ॥

अनेकशैलान्तरितं योजनानां शतादपि ।
अदूरस्थितविस्पष्टं दृश्यं पश्यामि सर्वतः ॥ ४७ ॥

परानुकम्पाविनयाभिजाताद्दानात्परः कोऽभ्युदयाभ्युपायः ।
यन्मानुषं चक्षुरिहैव दत्त्वा प्राप्तं मयाऽमानुषदिव्यचक्षुः ॥ ४८ ॥

एतद्विदित्वा शिबयः प्रदानैर्भोगेन चार्थान् सफलीकुरुध्वम् ।
लोके परस्मिन्निह चैष पन्थाः कीर्तिप्रधानस्य सुखोदयस्य ॥ ४९ ॥

धनस्य निःसारलघोः स सारो यद्दीयते लोकहितोन्मुखेन ।
निधानतां याति हि दीयमानमदीयमानं निधनैकनिष्ठम् ॥ ५० ॥

नगरवासियों ने उन्हें घेर लिया । सबसे आगे राजा के अमात्यगण विस्मय-विस्फारित आँखों से देख रहे थे । पुरवासी 'जय-जयकार' करने लगे । ब्राह्मणों ने आशीर्वाद देकर राजा को अभिनन्दित किया । रंग-बिरंगी ऊँची-ऊँची ध्वजाएँ फहराई गईं । राजधानी की शोभा बढ़ गई । वहाँ पहुँच कर राजा सभा-मंच पर बैठ गये । स्वागतार्थ समुपस्थित जनसमूह को संबोधित करते हुए स्वानुभूत श्रेयष्कर धर्म का उपदेश राजा ने दिया—

दान के पुण्य से ही मुझे ये दिव्य नेत्र प्राप्त हुए हैं । यह देखकर भी ऐसा कौन व्यक्ति है, जो अपनी सम्पदा से याचकों का उपकार करने की ओर से लापरवाह रहेगा ॥ ४६ ॥

चारों ओर सौ योजन तक का दृश्य पहाड़ों की ओट होने पर भी मुझे साफ-साफ दिखलाई पड़ता है, जैसे वे सारे दृश्य समीपवर्त्ती हों ॥ ४७ ॥

विनय और जीव-दया से उत्पन्न होने वाले दान से बढ़कर अभ्युदय का अन्य उपाय नहीं है । मैंने मानव-चक्षु देकर इस संसार में ही दिव्य-चक्षु प्राप्त किया है ॥ ४८ ॥

अतएव, हे शिबियों ! दान और उपभोग द्वारा अपनी सम्पत्ति को सफल करो । इहलोक और परलोक में सुख और कीर्ति पाने का यही मार्ग है ॥ ४९ ॥

सांसारिक सम्पदा तुच्छ और असार है । इसकी सारता यही है कि वह लोक-हित के लिए दान किया जाता है, क्योंकि जो कुछ दिया जाता है, वह अक्षय निधि हो जाता है । जो नहीं दिया जाता, वह नष्ट हो जाता है ॥ ५० ॥

तदेवं दुष्करशतसमुदानीतोऽयमस्मदर्थं तेन भगवता सद्धर्म इति सत्कृत्य श्रोतव्यः। तथागतमाहात्म्ये पूर्ववच्च करुणावर्णेऽपि वाच्यमिहैव पुण्यफलप्रदर्शने चैवं सत्कृत्योपचितानि पुण्यानीहैव पुष्पमात्रमात्मप्रभावस्य कीर्तिसन्ततिमनोहरं प्रदर्शयन्तीति।

इति शिबिजातकं द्वितीयम्।

इस प्रकार शत-शत दुष्कर कार्यों द्वारा उन भगवान् बुद्ध ने हमारे जिस सद्धर्म को उपस्थित किया है, वह हमें श्रद्धापूर्वक सुनना चाहिए। तथागत का माहात्म्य दिखलाने में और पूर्ववत् करुणा का वर्णन करने में भी तथा इस संसार में ही पुण्यफल की प्राप्ति बतलाने में यह कथा कहनी चाहिए। इस प्रकार आदरपूर्वक संचित पुण्य इहलोक में ही अपनी शक्ति और कीर्ति के सुन्दर फूल उगाते हैं।

शिबिजातक दूसरा समाप्त।

(३) कुल्माषपिण्डी-जातकम्

चित्तप्रसादोद्गतं पात्रातिशयप्रतिपादितं च नाल्पकं नाम दानमस्ति विपाकमहत्त्वात् । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वभूतः किलायं भगवान्कोशलाधिपतिर्बभूव । तस्योत्साहमन्त्रप्रभुशक्तिसम्पत्प्रभृतीनां प्रकर्षिणामपि राजगुणानां विभूतिमतिशिश्ये दैवसम्पद्गुणशोभा ।

गुणास्तस्याधिकं रेजुर्दैवसम्पद्विभूषणाः ।
किरणा इव चन्द्रस्य शरदुन्मीलितश्रियः ।। १ ।।

तत्याज दृप्तानपि तस्य शत्रून् रक्तेव रेमे तदपाश्रितेषु ।
इत्यास तस्यान्यनराधिपेषु कोपप्रसादानुविधायिनी श्रीः ।। २ ।।

धर्मात्मकत्वान्न च नाम तस्य परोपतापाशिवमास चेतः ।
भृत्यानुरागस्तु तथा जजृम्भे द्विषत्सु लक्ष्मीर्न यथास्य रेमे ।। ३ ।।

सोऽनन्तरातीतां स्वजातिमनुसस्मार । तदनुस्मरणाच्च समुपजातसंवेगो विशेषवत्तरं श्रमणब्राह्मणकृपणवनीपकेभ्यः सुखहेतुनिदानं दानमदाच्छीलसंव-

---

३. कुल्माषपिण्डी जातक

आन्तरिक प्रसन्नता के साथ सुयोग्य व्यक्ति को दिया गया दान महाफलदायक होता है । इसे किसी तरह कम नहीं कहा जा सकता । ऐसा सुना जाता है—

एक बार बोधिसत्त्वावस्था में भगवान् बुद्ध कोशलाधिपति हुए । उत्साह मन्त्रणा, प्रभुता प्रभृति राजोचित उत्कृष्ट गुणों के बावजूद वे दैवी सम्पत्तिवान् थे ।

सुधाकर की दिव्य किरणें शरद् ऋतु के सम्पर्क में आकर जैसे और भव्य हो जाती हैं, उसी तरह उनके राजोचित सारे गुण दैवी सम्पत्ति से विभूषित होकर और चमक उठे ।। १ ।।

राज्यलक्ष्मी ने उनके मदोन्मत्त शत्रुओं का भी परित्याग कर दिया और राजा के आश्रितजनों से अनुराग किया । अनुरक्ता प्रियतमा की ही तरह राज्यलक्ष्मी ने अन्य राजाओं के साथ कृपा या कोप किया ।। २ ।।

धार्मिक होने के कारण दूसरों को वे उत्पीड़ित नहीं करते थे । इसीलिए उनका चित्त दूषित नहीं हुआ । भृत्यों के प्रति उनके बढ़ते अनुराग को देखकर उनके शत्रुओं की राज्यलक्ष्मी उनसे सदा के लिए विमुख हो गई ।। ३ ।।

एक बार उन्होंने अपने अन्तिम पूर्वजन्म का स्मरण किया, जिससे उन्हें संवेग हो आया । तब उन्होंने संन्यासियों, ब्राह्मणों, दीन-दुखियों तथा याचकों को प्रचुर दा

रमनवरतं पुपोष पोषधनियमं च पर्वदिवसेषु समाददे। अभीक्ष्णं च राजा पर्षदि स्वस्मिश्चान्तःपुरे पुण्यप्रभावोद्भावनाल्लोकं श्रेयसि नियोक्तुकामः प्रतीतहृदयो गाथाद्वयमिति नियतार्थं बभाषे—

न सुगतपरिचर्या विद्यते स्वल्पिकापि
प्रतनुफलविभूतिर्यच्छ्रुतं केवलं प्राक्।
तदिदमलवणायाः शुष्करूक्षारुणायाः
फलविभवमहत्त्वं पश्य कुल्माषपिण्ड्याः ॥ ४ ॥

रथतुरगविचित्रं मत्तनागेन्द्रनीलं
बलमकृशमिदं मे मेदिनी केवला च।
बहु धनमनुरक्ता श्रीरुदाराश्च दाराः
फलसमुदयशोभां पश्य कुल्माषपिण्ड्याः ॥ ५ ॥

तममात्या ब्राह्मणवृद्धाः पौरमुख्याश्च कौतूहलाघूर्णितमनसोऽपि न प्रसहन्ते स्म पर्यनुयोक्तुं किमभिसमीक्ष्य महाराजो गाथाद्वयमिदमभीक्ष्णं भाषत इति। अथ तस्य राज्ञो वाग्नित्यत्वादव्याहततरप्रणयप्रसरा देवी समुत्पन्नकौतूहला सङ्कथाप्रस्तावागतं पर्षदि पर्यपृच्छदेनम्।

नियतमिति नरेन्द्र भाषसे हृदयगतां मुदमुद्गिरन्निव।
भवति मम कुतूहलाकुलं हृदयमिदं कथितेन तेन ते ॥ ६ ॥

दिया। सदा शील एवं विनय का पालन किया। पर्व के दिनों में उपवास का नियम ग्रहण किया। निरन्तर अपनी सभा एवं अन्तःपुर में लोगों को श्रेय में लगाने की इच्छा से प्रसन्नचित्त होकर उन्होंने निम्नलिखित अर्थ की दो गाथाओं को गाया—

'यदि पुण्यात्माओं की थोड़ी-सी भी सेवा की जाय, तो उसका अनन्य फल होता है'—ऐसा पहले हम केवल सुनते थे। किन्तु, अब रूखी-सूखी लाल अलोनी कुल्माषपिण्डी (कुल्थी की दाल या कुल्फे का साग) की भिक्षा देने का यह महान् फल प्रत्यक्ष देखो ॥ ४ ॥

रथों और घोड़ों से विलक्षण, मतवाली गज-घटाओं से विशाल सेना, सारी धरती, विपुल धनराशि, अनुरक्त लक्ष्मी, उदार पत्नी—ये सब थोड़ी-सी कुल्थी की दाल या कद्दू देने का सुन्दर फल है ॥ ५ ॥

'क्या देखकर महाराज इन दो गाथाओं का लगातार पाठ कर रहे हैं। इस कुतूहल से मंत्रियों, वृद्ध ब्राह्मणों, प्रधान पुरवासियों एवं उनकी प्रिय रानी का भी मन विह्वल हो उठा। एक दिन उनकी रानी ने सभा में ही बातचीत के प्रसंग में अत्यन्त कोमल वाणी में उनसे इसके बारे में पूछ ही दिया—

हे नरेन्द्र, आप लगातार इन गाथाओं को प्रमुदित होकर गा रहे हैं। यह सुनकर मेरा मन आश्चर्यचकित हो रहा है ॥ ६ ॥

तदर्हति श्रोतुमयं जनो यदि प्रचक्ष्व तत्किं न्विति भाषसे नृप ।
रहस्यमेवं च न कीर्त्यते क्वचित्प्रकाशमस्माच्च मयापि पृच्छ्यते ।। ७ ।।

अथ स राजा प्रीत्यभिस्निग्धया दृष्ट्या समभिवीक्ष्य देवीं स्मितप्रविकसितवदन उवाच—

अविभाव्य निमित्तार्थं श्रुत्वोद्‌गारमिमं मम ।
न केवलं तवैवात्र कौतूहलचलं मनः ।। ८ ।।

समन्तमप्येतदमात्यमण्डलं कुतूहलाघूर्णितलोलमानसम् ।
पुरं च सान्तःपुरमत्र तेन मे निशम्यतां येन मयैवमुच्यते ।। ९ ।।

सुप्तप्रबुद्ध इव जातिमनुस्मरामि
यस्यामिहैव नगरे भृतकोऽहमासम् ।
शीलान्वितोऽपि धनमात्रसमुच्छ्रितेभ्यः
कर्माभिराधनसमर्जितदीनवृत्तिः ।। १० ।।

सोऽहं भृतिं परिभवश्रमदैन्यशालां
त्राणाशयात्स्वयमवृत्तिभयाद्विविक्षुः ।
भिक्षार्थिनश्च चतुरः श्रमणानपश्यं
वश्येन्द्रियाननुगतानिव भिक्षुलक्ष्म्या ।। ११ ।।

यदि आप मुझे इसका कारण जानने का पात्र समझते हैं, तो कृपया मुझे बतलाइए। यदि यह कुछ गोपनीय होता, तो निश्चय ही आप इसका इस तरह उच्चारण नहीं करते। यह कहने योग्य है, इसलिए मैंने आपसे पूछने की धृष्टता की है ।। ७ ।।

तब राजा ने प्रेमपूर्णदृष्टि से रानी को देखकर मुस्कुराते हुए कहा—

मेरे इस उदगार का मूलभाव न जान पाने के कारण केवल तुम्हारा ही मन विस्मय-विमुग्ध और आकुल नहीं है। बल्कि सम्पूर्ण मंत्रिमंडल तथा अन्तःपुर सहित सम्पूर्ण पुरवासियों का मन कुतूहल से आकुल और चंचल है। अतः मैं अपनी इस उक्ति का कारण बतलाता हूँ ।। ८-९ ।।

सोकर उठे हुए आदमी की तरह मैं अपने पूर्वजन्म की बात याद कर रहा हूँ। पहले जन्म में मैं इसी नगर में एक मजदूर था। मेरा स्वभाव बड़ा ही कोमल था। अपनी अत्यन्त गरीबी के कारण धनिकों की मजदूरी करता था और बदले में उनसे बहुत कम मजदूरी पाता था ।। १० ।।

अपनी और अपने परिवार की रक्षा के लिए—कहीं मजदूरी छूट न जाय, इस डर से मैं अपमान, थकावट और दुःख का घूंट पीकर मजदूरी के लिए जा ही रहा था कि मैंने चार भिखारी संन्यासियों को आते देखा। वे सभी जितेन्द्रिय थे और लगता था जैसे वैराग्य लक्ष्मी उनके पीछे चल रही हों ।। ११ ।।

तेभ्यः प्रसादमृदुना मनसा प्रणम्य
कुल्माषमात्रकमदां प्रयतः स्वगेहे ।
तस्याङ्कुरोदय इवैष यदन्यराज-
चूडाप्रभाश्चरणरेणुषु मे निषक्ताः ॥ १२ ॥

तदेतदभिसन्धाय मयैवं देवि कथ्यते ।
पुण्येन च लभे तृप्तिमर्हतां दर्शनेन च ॥ १३ ॥

अथ सा देवी प्रहर्षविस्मयविशालाक्षी सबहुमानमुदीक्षमाणा राजानमित्युवाच । उपपन्नरूपः पुण्यानामयमेवंविधो विपाकाभ्युदयविशेषः । पुण्यफलप्रत्यक्षिणश्च महाराजस्य यदयं पुण्येष्वादरः । तदेवमेव पापप्रवृत्तिविमुखः पितेव प्रजानां सम्यक्परिपालनसुमुखः पुण्यगणार्जनाभिमुखः ।

यशःश्रिया दानसमृद्धया ज्वलन्प्रतिष्ठिताज्ञः प्रतिराजमूर्धसु ।
समीरणाकुञ्चितसागराम्बरां चिरं महीं धर्मनयेन पालय ॥ १४ ॥

राजोवाच—किं ह्येतद्देवि न स्यात् ?

सोऽहं तमेव पुनराश्रयितुं यतिष्ये
श्रेयःपथं समभिलक्षितरम्यचिह्नम् ।

मैंने प्रसन्नतापूर्वक विनम्र भाव से उन्हें प्रणाम किया। फिर अपने घर पर उन्हें बुलाकर पवित्रता पूर्वक मैंने उन्हें थोड़ी कुलथी की दाल दी। उसी दान का यह फल है कि मेरे चरणों की धूल में राजाओं की चूड़ामणियों की किरणें पड़ रही हैं ॥

हे देवि ! यही सोचकर मैं निरन्तर इस युगल गाथा का पाठ करता हूँ। मैं पुण्यकार्यों से और पुण्यपुरुषों के दर्शन से काफी संतुष्ट होता हूँ ॥ १३ ॥

तब विस्मय-विस्फारित आँखों वाली उस रानी ने सस्नेह राजा की ओर देखते हुए कहा—शुभ कर्मों का ऐसा सुन्दर फल मिलना ही चाहिए। आपने तो पुण्य कर्मों से प्राप्त होने वाले शुभ फलों का प्रत्यक्ष अनुभव किया है। यही कारण है कि आपके हृदय में पुण्य कर्मों के प्रति गंभीर सम्मान है। पाप-प्रवृत्ति से आपका मन विमुख है। प्रजा-पालन में आप पिता की तरह दत्तचित्त हैं। पुण्य-संचय में सतत् संलग्न हैं।

आपने अनवरत दान देकर जो कीर्त्ति अर्जित की है, उसकी दीप्ति से आप प्रदीप्त हैं। आपके प्रतिस्पर्धी राजा भी आज आपकी आज्ञा मानने को विवश हैं। वायु-प्रकम्पित समुद्र-वसना समग्र धरती का पालन आप अपनी नीति और धर्म से युग-युग तक करते रहें, यही मेरी कामना है ॥ १४ ॥

राजा ने कहा—क्यों नहीं देवि !

मैं फिर उसी कल्याणमार्ग की शरण जाऊँगा, जिसके रमणीय फल का मैंने उपभोग किया है। दान से प्राप्त होने वाले फल की चर्चा सुनकर लोग दान देने की

लोकः प्रदित्सति हि दानफलं निशम्य
दास्याम्यहं किमिति नात्मगतं निशम्य ।। १५ ।।

अथ स राजा देवीं देवीमिव श्रिया ज्वलन्तीमभिस्निग्धमवेक्ष्य श्रीसम्पत्तिहेतुकुतूहलहृदयः पुनरुवाच—

चन्द्रलेखेव ताराणां स्त्रीणां मध्ये विराजसे ।
अकृथाः किं नु कल्याणि ! कर्मातिमधुरोदयम् ।। १६ ।।

देव्युवाच अस्ति देव किञ्चिदहमपि पूर्वजन्मवृत्तिं समनुस्मरामीति। कथय कथयेदानीमिति च सादरं राज्ञा पर्यनुयुक्तोवाच—

बाल्येऽनुभूतमिव तत्समनुस्मरामि
दासी सती यदहमुद्धृतभक्तमेकम् ।
क्षीणास्रवाय मुनये विनयेन दत्त्वा
सुप्तेव तत्र समवापमिह प्रबोधम् ।। १७ ।।

एतत्स्मरामि कुशलं नरदेव ! येन
त्वन्नाथतामुपगतास्मि समं पृथिव्या ।
क्षीणास्रवेषु न कृतं तनु नाम किञ्चि-
दित्युक्तवानसि यथैव मुनिस्तथैव ।। १८ ।।

इच्छा करते हैं, मैं तो उस फल का उपभोग कर चुका हूँ, फिर मैं क्यों न दान करूँ ।। १५ ।।

तब देवी के सदृश कान्ति से प्रोद्भासित रानी को स्नेहपूर्वक देखते हुए उसकी इस कान्ति का कारण जानने की अभिलाषा से राजा ने पुनः कहा—

जैसे ताराओं के बीच चन्द्रमा की कान्ति शोभती है, उसी तरह नारी समूह के बीच तुम शोभती हो । हे कल्याणि ! तुमने पूर्वजन्म में ऐसा कौन-सा सुकर्म किया था, जिसका यह मधुर फल तुम्हें मिला है ।। १६ ।।

रानी ने कहा—'हे देव ! मैं भी पूर्वजन्म की कुछ बात याद कर रही हूँ ।' जब राजा ने सम्मानपूर्वक रानी से अपनी बात कहने का आग्रह किया, तब उसने कहा—

वह बात मुझे उसी तरह स्मृति में आ रही है, जैसे वह मेरे बचपन की कोई घटना हो । लगता है मैं कोई दासी हूँ और अपने आहार से थोड़ा भात निकाल कर किसी 'दुःखानुभूति शून्य' मुनि को देकर वहाँ सो गई और जब जगी तब अपने को इस रूप में पा रही हूँ ।। १७ ।।

हे राजन् ! अपने शुभ कर्मों के सम्बन्ध में मुझे इतनी ही बातें याद आ रही हैं मुझे लगता है, उसी छोटे पुण्य के फलस्वरूप मुझे इस सम्पूर्ण धरती के साथ-साथ आपके जैसे पति की प्राप्ति हुई है, जिसने दुःख का विसर्जन कर दिया है ।। १८ ।।

अथ स राजा पुण्यफलप्रदर्शनात्पुण्येषु समुत्पादितबहुमानामभिप्रसन्नमनसं पर्षदं विस्मयैकाग्रामवेत्य नियतमीदृशं किञ्चित्समनुशशास—

अल्पस्यापि शुभस्य विस्तरमिमं दृष्ट्वा विपाकश्रियः
स्यात्को नाम न दानशीलविधिना पुण्यक्रियातत्परः ।
नैव द्रष्टुमपि क्षमः स पुरुषः पर्याप्तवित्तोऽपि सन्
यः कार्पण्यतमिस्रयावृतमतिर्नाप्नोति दानैर्यशः ।। १९ ।।

त्यक्तव्यं विवशेन यन्न च तथा कस्मैचिदर्थाय यत्
तन्न्यायेन धनं त्यजन्यदि गुणं कञ्चित्समुद्भावयेत् ।
कोऽसौ तत्र भजेत मत्सरपथं जानन्गुणानां रसं
प्रीत्याद्या विविधाश्च कीर्त्यनुसृता दानप्रतिष्ठागुणाः ।। २० ।।

दानं नाम महानिधानमनुगं चौराद्यसाधारणं
दानं मत्सरलोभदोषरजसः प्रक्षालनं चेतसः ।
संसाराध्वपरिश्रमापनयनं दानं सुखं वाहनं
दानं नैकसुखोपधानसुमुखं सन्मित्रमात्यन्तिकम् ।। २१ ।।

ऐसे त्यागी महात्माओं के लिए किया गया थोड़ा भी उपकार महत् फलदायक होता है। अभी जो बात आपने कही है, वही बात उस समय उस मुनि ने भी कही थी।

तब सभा में उपस्थित प्रसन्नचित्त और विस्मित-से एकाग्र हुए सभासदों से, जिन्हें इस पुण्यफल को सुनने के कारण पुण्य-कर्मों के प्रति अत्यन्त श्रद्धा उत्पन्न हो गई थी—राजा ने कहा—

थोड़े भी किये गये शुभकर्म का जब इतना बड़ा पुण्यफल मिल सकता है, तो भला कौन ऐसा पुरुष है, जो दान के द्वारा ऐसा पुण्यफल अर्जित नहीं कर सकता? सम्पन्न होकर भी जो कृपण है, दान करना नहीं चाहता, ऐसा पुरुष देखने योग्य भी नहीं है ।। १९ ।।

अन्त में विवश होकर जिसे छोड़ना पड़े, जो किसी काम की वस्तु न हो—ऐसे धन का त्याग कर गुणों को ग्रहण करना ही उचित है। भला ऐसा वह कौन व्यक्ति है, जो गुणों के रस को जानकर भी पारस्परिक द्वेष की राह पकड़ेगा? कीर्त्ति और प्रसन्नता दान का ही अनुसरण करते हैं ।। २० ।।

दान सदा साथ रहने वाला बहुत बड़ा भण्डार है। चोर, राजा, आग और पानी की पहुँच से बाहर है। दान मानसिक लोभ, जलन और अपराध रूपी धूलि को धोने वाला है। संसार-यात्रा की थकावट दूर कर लक्ष्य तक पहुँचने के लिए दान एक सुखद सवारी है। अनेक प्रकार के सुख पहुँचाने के कारण दान आनन्द-दायक नजदीकी मित्र है ।। २१ ।।

विभवसमुदयं वा दीप्तमाज्ञागुणं वा
त्रिदशपुरनिवासं रूपशोभागुणं वा ।
यदभिलषति सर्वं तत्समाप्नोति दाना-
दिति परिगणितार्थः को न दानानि दद्यात् ।। २२ ।।
सारादानं दानमाहुर्धनानामैश्वर्याणां दानमाहुर्निदानम् ।
दानं श्रीमत्सज्जनत्वावदानं बाल्यप्रज्ञैः पांसुदानं सुदानम् ।। २३ ।।

अथ सा पर्षत्तस्य राज्ञस्तद्ग्राहकं वचनं सबहुमानमभिनन्द्य प्रदानादिप्रतिपत्त्यभिमुखी बभूव ।

तदेवं चित्तप्रसादोद्गतं पात्रातिशयप्रतिपादितं च नाल्पकं नाम दानमस्ति विपाकमहत्त्वादिति प्रसन्नचित्तेनानुत्तरे पुण्यक्षेत्र आर्यसङ्घे दानं ददता परा प्रीतिरुत्पादयितव्या । अदूरे ममाप्येवंविधा अतो विशिष्टतराश्च सम्पत्तय इति ।

इति कुल्माषपिण्डी-जातकं तृतीयम् ।

विभव का विकास, प्रदीप्त प्रशासन, स्वर्ग का निवास और आकर्षक स्वरूप आदि हम जो चाहें, दान से प्राप्त कर सकते हैं । ये लाभ देखकर भी भला कौन ऐसा है, जो दान नहीं देना चाहेगा ।। २२ ।।

दान देना सम्पत्ति का सारग्रहण करना है । यह ऐश्वर्य का पहला कारण है। श्रीमानों की सज्जनता है । यह सुन्दर कर्म है । जो इसके सम्बन्ध में कम जानता है, उसके द्वारा किया गया तुच्छ दान भी सुन्दर दान है ।। २३ ।।

सभासदों ने राजा की इस बात को ससम्मान ग्रहण किया । तब से उनकी भी प्रवृत्ति दान की ओर हुई ।

अतः प्रसन्नतापूर्वक भले लोगों को दिया गया दान महाफलदायक है । इसे थोड़ा नहीं कहा जा सकता । निकटभविष्य में मुझे भी ऐसी ही या इससे भी अधिक सम्पत्ति प्राप्त होगी—ऐसा सोचकर प्रसन्नता के साथ पवित्र आर्यसंघ में, पुण्यक्षेत्र में दान देकर परम आनन्द प्राप्त करना चाहिए ।।

कुल्माषपिण्डीजातक तीसरा समाप्त ।

(४) श्रेष्ठि-जातकम्

अत्ययमप्यविगणय्य दित्सन्ति सत्पुरुषाः । केन नाम स्वस्थेन न दातव्यं स्यात् । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वभूतः किलायं भगवान्भाग्यातिशयगुणादुत्थानसम्पदा चाधिगतविपुलधनसमृद्धिरविषमव्यवहारशीलत्वाल्लोके बहुमाननिकेतभूत उदाराभिजनवाननेकविद्याकलाविकल्पाधिगमविमलतरमतिर्गुणमाहात्म्याद्राज्ञा समुपहृतसम्मानः प्रदानशीलत्वाल्लोकसाधारणविभवः श्रेष्ठी बभूव ।

अर्थिभिः प्रीतहृदयैः कीर्त्यमानमितस्ततः ।
त्यागशौर्योन्नतं नाम तस्य व्याप दशो दिश ॥ १ ॥

दद्यान्न दद्यादिति तत्र नासीद्विचारदोलाचलमानसोऽर्थी ।
ख्यातावदाने हि बभूव तस्मिन्विस्रम्भधृष्टप्रणयोऽर्थिवर्गः ॥ २ ॥

नाऽसौ जुगोपात्मसुखार्थमर्थं न स्पर्धया लोभपराभवाद्वा ।
सत्त्वार्थिदुःखं न शशाक सोढुं नास्तीति वक्तुं च ततो जुगोप ॥ ३ ॥

---

४. श्रेष्ठि-जातक

अपनी विपत्ति की उपेक्षा करके भी भले आदमी दान देने की अभिलाषा रखते हैं, तो फिर जो मनुष्य स्वस्थ है, वह क्यों नहीं दान देगा ? ऐसी अनुश्रुति है—

भगवान् बुद्ध जब बोधिसत्त्वावस्था में थे, तो एकबार उन्होंने किसी उत्तम श्रेष्ठि-वंश में जन्म लिया। अपने सौभाग्य और सत्प्रयत्न से उन्होंने विपुल सम्पत्ति अर्जित की। संसार में सबके साथ वे समान व्यवहार करते थे। फलतः लोग भी उन्हें सम्मान की दृष्टि से देखते थे। उन्होंने अच्छे कुल में जन्म लिया था। उन्होंने अनेक विद्याएँ सीखी थीं। अनेक कलाओं के वे ज्ञाता थे। उनकी बुद्धि निर्मल थी। उनकी अच्छाइयों के कारण राजा भी उनका सम्मान करता था। वे परमदानी थे। उनकी सम्पत्ति सबके लिए उपभोग्य थी।

याचकों ने प्रसन्न होकर जहाँ-तहाँ उनकी दानशीलता की चर्चा की। फलतः त्याग और शौर्य से उन्नत उनका नाम दसों दिशाओं में व्याप्त हो गया ॥ १ ॥

'माँगने पर मिलेगा या नहीं मिलेगा' याचकों का मन इनके सम्बन्ध में इस सन्देह से परे रहता था। इनकी उदारता की बातें चारों ओर फैल चुकी थीं। लोग इनमें विश्वास करते थे। याचक इनसे माँगने में ढीठ हो चुके थे ॥ २ ॥

अपना सुख, अपनी लालसा या अपने लोभ के लिए इन्होंने धन-संग्रह नहीं किया था; बल्कि किसी के कुछ माँगने पर वस्तु रहते उसे ये 'नहीं है' ऐसा कह नहीं सकते थे, क्योंकि ये याचकों का दुःख नहीं सह सकते थे ॥ ३ ॥

अथ कदाचित्तस्य महासत्त्वस्य भोजनकाले स्नातानुलिप्तगात्रस्य कुशलोदारसूदोपकल्पिते समुपस्थिते वर्णगन्धरसस्पर्शादिगुणसमुदिते विचित्रे भक्ष्यभोज्यादिविधौ तत्पुण्यसम्भाराभिवृद्धिकामो ज्ञानाग्निनिर्दग्धसर्वक्लेशेन्धनः प्रत्येकबुद्धस्तद्गृहमभिजगाम भिक्षार्थी। समुपेत्य च द्वारकोष्ठके व्यतिष्ठत।

अशङ्किताचञ्चलधीरसौम्यमवेक्षमाणो युगमात्रमुर्व्याः।
तत्रावतस्थे प्रशमाभिजातः स पात्रसंसक्तकराग्रपद्मः॥ ४॥

अथ मारः पापीयान्बोधिसत्त्वस्य तां दानसम्पदममृष्यमाणस्तद्विघ्नार्थमन्तरा च तं भदन्तमन्तरा च द्वारदेहलीं प्रचलज्वालाकरालोदरमनेकपौरुषमतिगम्भीरं भयानकदर्शनं सप्रतिभयनिर्घोषं नरकमभिनिर्ममे विस्फुरद्भिरनेकैर्जनशतैराचितम्।

अथ बोधिसत्त्वः प्रत्येकबुद्धं भिक्षार्थिनमभिगतमालोक्य पत्नीमुवाच—भद्रे! स्वयमार्याय पर्याप्तं पिण्डपातं देहीति। सा तथेति प्रतिश्रुत्य प्रणीतं भक्ष्यभोज्यमादाय प्रस्थिता। नरकमालोक्य द्वारकोष्ठकसमीपे भयविषादचञ्चलाक्षी सहसा न्यवर्तत। किमेतदिति च भर्त्रा पर्यनुयुक्ता समापतितसाध्वसापिहितकण्ठी तत्कथञ्चित्तस्मै कथयामास।

एक बार स्नान एवं अनुलेपन के बाद उनके भोजन के समय कुशल रसोइयों द्वारा बनाई गई रोचक रंग, आकर्षक गंध और सुस्वादु-रस-स्पर्शयुक्त भोजन-सामग्री परोसी गई। ठीक उसी समय उनकी पुण्यराशि बढ़ाने की इच्छा से एक धीर, शान्त और ज्ञानी भदन्त भिक्षु हाथ में भिक्षा-पात्र लेकर द्वार के समीप उपस्थित हुए। वे बुद्ध थे। उनके कष्टरूपी सारे जलावन ज्ञानरूपी आग में जलकर राख हो गये थे। वहाँ पहुँचकर वे दरवाजे पर चुपचाप खड़े हो गये।

उनकी आकृति बड़ी सौम्य थी। वे शान्त और गंभीर थे। उनका मन शंका रहित था। उनमें चंचलता नहीं थी। उनके हाथ में भिक्षा-पात्र था। वे नीची निगाह से एकटक सामने की धरती को देखते हुए चुपचाप खड़े थे॥ ४॥

तब उस पापी मार ने बोधिसत्त्व की इस उदारता को न सह सकने के कारण विघ्न खड़ा करने के लिए उन भदन्त तथा द्वार देहली के बीच अत्यन्त गहरा और भयानक एक नरक बनाया। इस नरक का भीतरी हिस्सा लपलपाती ज्वालाओं-से विकराल था। उसकी आवाज सुनकर भय होता था। वह देखने में अति डरावना था। दुःख से तड़पते सैकड़ों लोगों से वह भरा था।

भिक्षा के लिए दरवाजे पर उपस्थित भदन्त को देखकर बोधिसत्त्व ने पत्नी से कहा—'भद्रे! स्वयं जाकर आर्य को पर्याप्त भिक्षा दो।' 'बहुत अच्छा' कहकर पत्नी उत्तम भोजन सामग्री लेकर उस भिक्षु की ओर चलीं। द्वार के समीप उस भयानक नरक को देखकर वह भयभीत होकर लौट आईं। 'यह क्या?' ऐसा जब पति

अथ बोधिसत्त्वः कथमयमार्यो मद्गृहादनवाप्तभिक्ष एव प्रतियास्यतीति ससम्भ्रमं तत्तस्याः कथितमनादृत्य स्वयमेव च प्रणीतं भक्ष्यभोज्यमादाय तस्य महात्मनः पिण्डपातं प्रतिपादयितुकामो द्वारकोष्ठकसमीपमभिगतस्तमतिभीषणमन्तरा नरकं ददर्श। तस्य किं स्विदिदमिति समुत्पन्नवितर्कस्य मारः पापीयान्भवनभित्तेर्विनिःसृत्य सन्दृश्यमानदिव्याद्भुतवपुरन्तरिक्षे स्थित्वा हितकाम इव नामाब्रवीत्—गृहपते महारौरवनामायं महानरकः।

अर्थिप्रशंसावचनप्रलुब्धा दित्सन्ति दानव्यसनेन येऽर्थान्।
शरत्सहस्राणि बहूनि तेषामस्मिन्निवासोऽसुलभप्रवासः॥ ५॥
अर्थस्त्रिवर्गस्य विशेषहेतुस्तस्मिन्हते केन हतो न धर्मः।
धर्मं च हत्वार्थनिवर्हणेन कथं नु न स्यान्नरकप्रतिष्ठः॥ ६॥
दानप्रसङ्गेन च धर्ममूलं घ्नता त्वयार्थं यदकारि पापम्।
त्वामत्तुमभ्युद्गतमेतदस्माज्ज्वालाग्रजिह्वं नरकान्तकास्यम्॥ ७॥
तत्साधु दानाद्विनियच्छ बुद्धिमेवं हि सद्यःपतनं न ते स्यात्।
विचेष्टमानैः करुणं रुदद्भिर्मा दातृभिर्गाः समताममीभिः॥ ८॥

पूछा, तब डर से थर-थर काँपती हुई अवरुद्ध कण्ठ से किसी प्रकार उसने यह वृत्तान्त अपने पति से कह सुनाया।

'तो क्या आर्य भदन्त बिना भिक्षा लिए ही हमारे घर से लौट जायेंगे' इस तरह बोधिसत्त्व ने सोचा। फिर पत्नी के कथन की उपेक्षा कर स्वयं भोजन की उत्तम सामग्री लेकर दरवाजे पर पहुँचे। उन्होंने भी द्वार और भदन्त के बीच उस भयंकर नरक को अपनी आँखों से देखा। 'यह क्या है ?' जब यह विचार बोधिसत्त्व के मन में उत्पन्न हुआ, तब उस पापी मार ने घर की दीवार से निकलकर अपनी दिव्य एवं अद्भुत आकृति दिखलाते हुए अन्तरिक्ष में खड़े होकर एक हितैषी व्यक्ति की तरह समझाते हुए कहा—'अरे ओ गृहपति ! यह महारौरव नामक नरक है।'

याचकों की प्रशंसा से मुग्ध होकर जो लोग दान के द्वारा धर्म का नाश करते हैं, वे हजारों वर्ष तक इस रौरव नामक नरक में निवास करते हैं। यहाँ से उनका निकलना कठिन है॥ ५॥

त्रिवर्ग-साधन का मूल कारण अर्थ है। उसका विनाश होने पर भला धर्म का नाश कैसे नहीं होगा ? अर्थ-नाश द्वारा धर्म का नाश करके भला नरक से कैसे छुटकारा मिल सकता है॥ ६॥

दान के प्रति लगाव होने के कारण तुमने धर्म के मूल अर्थ का विनाश किया है। इसी पाप से मुँह से ज्वाला उगलते हुए यह नरकान्तक तुम्हें ही निगलने के लिए तुम्हारे पास आया है॥ ७॥

अतएव दान की ओर से अपने मन को अच्छी तरह रोक लो, जिससे तुम्हारा

प्रतिग्रहीता तु जनोऽभ्युपैति निवृत्तदानापनयः सुरत्वम् ।
तत्स्वर्गमार्गावरणाद्विरम्य दानोद्यमात्संयममाश्रयस्व ।। ९ ।।

अथ बोधिसत्त्वो नूनमस्यैतद्दुरात्मनो मम दानविघ्नाय विचेष्टितमित्य वगम्य सत्त्वावष्टम्भधीरं विनयमधुराविच्छेदं नियतमित्यवोचदेनम्—

अस्मद्धितावेक्षणदक्षिणेन विदर्शितोऽयं भवतार्यमार्गः ।
युक्ता विशेषेण च दैवतेषु परानुकम्पानिपुणा प्रवृत्तिः ।। १० ।।
दोषोदयात्पूर्वमनन्तरं वा युक्तं तु तच्छान्तिपथेन गन्तुम् ।
गते प्रयासं ह्युपचारदोषैर्व्याधौ चिकित्साप्रणयो विघातः ।। ११ ।।
इदं च दानव्यसनं मदीयं शङ्के चिकित्साविषयव्यतीतम् ।
तथा ह्यनादृत्य हितैषितां ते न मे मनः सङ्कुचति प्रदानात् ।। १२
दानादधर्मं च यदूचिवांस्त्वमर्थं च धर्मस्य विशेषहेतुम् ।
तन्मानुषी नेयमवैति बुद्धिर्दानादृते धर्मपथो यथार्थः ।। १३ ।।

अभी पतन न हो। छटपटाते हुए और आर्त्त होकर बिलखते हुए इन दाताओं क ही तरह दुर्गति न प्राप्त करो ।। ८ ।

दान लेने वाला व्यक्ति, दान देने की दुर्गति से बचने के कारण स्वर्ग पाता है इसीलिए कहता हूँ कि स्वर्ग की राह रोकने वाले इस दानकर्म से रुककर संयम क राह पकड़ो ।। ९ ।।

'मेरे दानरूपी पुण्यकर्म में विघ्न डालने के लिए ही इस दुरात्मा ने यह कुचेष्ट की है।' ऐसा सोचकर, सत्त्वगुणी उस बोधिसत्त्व ने बड़े ही विनम्र और मधुर श में अपना निश्चित उत्तर सुना दिया—

आप हमारे परम हितचिन्तक हैं। आपने कृपापूर्वक आर्यों के द्वारा आच राह दिखलाई है। आप देवता हैं और अकारण दूसरों के प्रति दया दिखला आपके लिए उचित ही है ।। १० ।।

रोग हो ही नहीं, इसके लिए रोग होने से पहले ही सावधानी बरतनी चाहि किन्तु, उपचार-दोष से रोग जब असाध्य हो जाय, तब फिर उससे मुक्ति पाने चेष्टा बिलकुल बेकार है ।। ११ ।।

मैं समझता हूँ, जहाँ तक मेरे दान देने के रोग का प्रश्न है, यह तो अब लाइलाज हो चुका है। इस पर आपके 'दान न देने' के हितकर उपदेश का प्रभाव नहीं पड़ रहा है। मेरा मन दान की ओर से हटता ही नहीं ।। १२ ।।

आपने कहा धर्म का मूल धन है और दान में धन का नाश कर दाता अ अर्जित करता है। मनुष्य की मेरी छोटी-सी बुद्धि में यह बात ठीक नहीं जँचती दान से बड़ा भी कोई दूसरा पुण्यकर्म है ।। १३ ।।

निधीयमानः स नु धर्महेतुश्चौरैः प्रसह्याथ विलुप्यमानः ।
ओघोदरान्तर्विनिमग्नमूर्तिर्हुताशनस्याशनतां गतो वा ॥ १४ ॥
यच्चाथ दाता नरकं प्रयाति प्रतिग्रहीता तु सुरेन्द्रलोकम् ।
विवर्धितस्तेन च मे त्वयाऽयं दानोद्यमः संयमयिष्यतापि ॥ १५ ॥
अनन्यथा चास्तु वचस्तवेदं स्वर्गं च मे याचनका व्रजन्तु ।
दानं हि मे लोकहितार्थमिष्टं नेदं स्वसौख्योदयसाधनाय ॥ १६ ॥

अथ स मारः पापीयान्पुनरपि बोधिसत्त्वं हितैषीव धीरहस्तेनोवाच—

हितोक्तिमेतां मम चापलं वा समीक्ष्य येनेच्छसि तेन गच्छ ।
सुखान्वितो वा बहुमानपूर्वं स्मर्तासि मां विप्रतिसारवान्वा ॥ १७ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—मार्ष ! मर्षयतु भवान् ।

कामं पतामि नरकं स्फुरदुग्रवह्नि
ज्वालावलीढशिथिलावनतेन मूर्ध्ना ।
न त्वर्थिना प्रणयदर्शितसौहृदानां
सम्मानकालमवमाननया हरिष्ये ॥ १८ ॥

आपके अनुमार यदि धर्म के मूल धन को जुगा कर भी रखा जाय, तो वह कैसे रहेगा ? उसे चोर चुरा लेंगे, लुटेरे लूट लेंगे, पानी में बह जायेगा अथवा आग उसे जलाकर राख कर देगी ॥ १४ ॥

आपने एक बात और कही है—दान देने वाला नरक और दान लेने वाला स्वर्ग जायेगा' अगर यह सच है, तो आपने मुझे दान देने से रोकने की अपेक्षा और अधिक दान देने की ओर ही प्रेरित किया है ॥ १५ ॥

मैं यही चाहता भी हूँ कि मेरे याचक स्वर्ग जायँ, क्योंकि मेरा दान लोक-कल्याण के लिए है, न कि आत्मसुख के लिए ॥ १६ ॥

तब फिर, उस पापी मार ने बड़े धीरज के साथ बोधिसत्त्व को बहकाना शुरू किया—

तुम्हारे लिए मेरा कहना लाभप्रद है या हानिकर, इसकी विवेचना कर जो उचित सभझ में आये वही करो । पीछे चलकर तुम सुखी होकर या दुःखी होकर मेरी याद ससम्मान करोगे ॥ १७ ॥

बोधिसत्त्व ने कहा—महोदय, आप मुझे क्षमा कर दो ।

मैने अपनी इच्छा से इस नरक में उतरने का निश्चय कर लिया है । चाहे इस लहकती आग की भयङ्कर लपटों में झुलसकर मेरा सिर ही क्यों न लटक जाय, किन्तु, अपनी याचना द्वारा मित्रता प्रकट करने वाले इस भिक्षु का आदर सत्कार करने की अपेक्षा उनका तिरस्कार करने में समय नहीं बिताऊँगा ॥ १८ ॥

इत्युक्त्वा बोधिसत्त्वः स्वभाग्यबलावष्टम्भाज्जानानश्च निरत्ययतां दानस्य निवारणैकरसमवधूय स्वजनपरिजनं साध्वसानभिभूतमतिरभिवृद्धदानाभिलाषो नरकमध्येन प्रायात्।

पुण्यानुभावादथ तस्य तस्मिन्नपङ्कजं पङ्कजमुद्बभूव।
अवज्ञयेवावजहास मारं यच्छुक्लया केशरदन्तपङ्क्त्या ॥ १९ ॥

अथ बोधिसत्त्वः पद्मसङ्क्रमेण स्वपुण्यातिशयनिर्जातेनाभिगम्य प्रत्येकबुद्धं प्रसादसंहर्षापूर्णहृदयः पिण्डपातमस्मै प्रायच्छत्।

मनःप्रसादप्रतिबोधनार्थं तस्याथ भिक्षुर्वियदुत्पपात।
वर्षञ्ज्वलंश्चैव स तत्र रेजे सविद्युदुद्द्योतपयोदलक्ष्म्या ॥ २० ॥

अवमृदितमनोरथस्तु मारो द्युतिपरिमोषमवाप्य वैमनस्यात्।
तमभिमुखमुदीक्षितुं न सेहे सह नरकेण ततस्तिरोबभूव ॥ २१ ॥

तत्किमिदमुपनीतम्। एवमत्ययमप्यविगणय्य दित्सन्ति सत्पुरुषाः। केन नाम स्वस्थेन न दातव्यं स्यात्? न सत्त्ववन्तः शक्यन्ते भयादप्यगतिं गमयितुमित्येवमप्युन्नेयम्।

इति श्रेष्ठिजातकं चतुर्थम्।

इतना कहकर उस बोधिसत्त्व ने अपने भाग्य पर निर्भर करते हुए—'दान का फल कभी बुरा नहीं होता' यह मानकर उस नरक में प्रवेश किया। स्वजन-परिजन उन्हें रोकते रहे, किन्तु दान देने की प्रबल इच्छा के कारण बिना किसी भय के वे आगे बढ़ते गए।

उनके पुण्यकर्म से बिना पानी बिना कीचड़ के उस नरक में बहुत सारे कमल उग आये। लगता था ये कमल अपने सफेद केशरूपी दाँत दिखलाकर मार का मजाक उड़ा रहे हों ॥ १९ ॥

अपने पुण्यकर्म से समुत्पन्न उन कमलों पर पैर रखकर उस भिक्षु के पास पहुँचकर बोधिसत्त्व ने प्रसन्नतापूर्वक उन्हें दान दिया।

अपना आन्तरिक आनन्द प्रकट करने के लिए भिक्षु आकाश में उड़ गये और वहाँ विद्युत्प्रकाशयुक्त बादल की तरह जल बरसाते हुए और प्रज्ज्वलित होते हुए शोभित हुए ॥ २० ॥

इधर मार का मनोरथ चूर्ण हो गया। अपनी उदासी के कारण वह उसी क्षण कान्तिहीन हो गया। बोधिसत्त्व से वह आँख भी नहीं मिला सका। अपने नरक के साथ उसी क्षण वह अन्तर्ध्यान हो गया ॥ २१ ॥

तब इसका सारांश निकला—सज्जन अपनी विपत्ति की भी उपेक्षा कर दान देने की इच्छा रखते हैं तथा भय दिखलाने पर भी कुमार्ग पर नहीं चल सकते। फिर जो समर्थ हैं, उन्हें तो दान देना ही चाहिए।

श्रेष्ठिजातक चौथा समाप्त।

(५) अविषह्यश्रेष्ठि-जातकम्

न विभवक्षयावेक्षया समृद्धयाशया वा प्रदानवैधुर्यमुपयान्ति सत्पुरुषाः। तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वभूतः किलायं भगवांस्त्यागशीलकुलविनयश्रुतज्ञानाविस्मयादि-गुणसमुदितो धनदायमानो विभवसम्पदा सर्वातिथित्वादनुपरतदानसत्रो लोक-हितार्थप्रवृत्तो दायकश्रेष्ठः श्रेष्ठी बभूव। मात्सर्यादिदोषाविषह्योऽविषह्य इति प्रकाशनामा।

इष्टार्थसम्पत्तिविमर्शनाशात् प्रीतिप्रबोधस्य विशेषहेतुः।
यथार्थिनां दर्शनमास तस्य तथार्थिनां दर्शनमास तस्य ॥ १ ॥
देहीति याच्ञानियतार्थमुक्तो नास्तीति नासौ गदितुं शशाक।
हृतावकाशा हि बभूव चित्ते तस्यार्थसक्तिः कृपया महत्या ॥ २ ॥
तस्यार्थिभिर्निर्ह्रियमाणसारे गृहे बभूवाभ्यधिकप्रहर्षः।
विवेद स ह्युग्रघनाननर्थानकारणक्षिप्रविरागिणोऽर्थान् ॥ ३ ॥

---

५. अविषह्यश्रेष्ठि-जातक

धन कम होने की आशंका से या समृद्धि की आशा से भले लोग दान देने में नहीं चूकते। यह बात इस अनुश्रुति से प्रमाणित है—

जब ये भगवान् बुद्ध बोधिसत्त्वावस्था में थे, तब एक बार त्याग, शील, कुल, विनय, विद्या, ज्ञान और नम्रता आदि गुणों से युक्त एक धनसेठ हुए। अपने प्रचुर, ऐश्वर्य के कारण ये कुबेर की तरह लगते थे। ये सदा अतिथि-सत्कार में संलग्न रहते थे। इनका दानकर्म सदैव चलता रहता था। ये दिन रात लोकोपकार में लगे रहते थे। दाताओं में ये सर्वश्रेष्ठ थे। कृपणता आदि दोषों से अजेय होने के कारण वे 'अविषह्य' नाम से विख्यात हुए।

उनके लिए याचकों के दर्शन उतने ही प्रिय थे, जितने प्रिय याचकों के लिए उनके दर्शन थे। इच्छा पूरी होने में किसी तरह का सन्देह न होने के कारण दोनों पक्षों के लिए विशेष रूप से प्रसन्न होने का यह एक उपयुक्त अवसर था ॥ १ ॥

अत्यन्त दयालु होने के कारण उनके हृदय में धन के प्रति कोई आसक्ति नहीं थी। फलतः किसी के कुछ माँगने पर 'नहीं है' ऐसा वे कह नहीं सकते थे ॥ २ ॥

धन को वे विनष्ट होने वाली वस्तु मानते थे। उसे वे बोझ और हर तरह के अनर्थों की जड़ समझते थे। अतः माँगने वाले जैसे-जैसे उनके घर से धन ढोकर ले गये, वैसे ही उनकी खुशी भी बढ़ती ही गई ॥ ३ ॥

भवन्ति लोकस्य हि भूयसार्था लोभाश्रयाद् दुर्गतिमार्गसार्थाः ।
परात्मनोरभ्युदयावहत्वादर्थास्तदीयास्तु बभुर्यथार्थाः ।। ४ ।।

अथ तस्य महासत्त्वस्य यथाभिलषितैरक्लिष्टैः शिष्टोपचारविभूषणैर्विपुलैरर्थविसर्गैर्याचनकजनं समन्ततः सन्तपयतः प्रदानौदार्यश्रवणाद्विस्मयावर्जितमनाः शक्रो देवेन्द्रः प्रदानस्थिरनिश्चयमस्य जिज्ञासमानः प्रत्यहं धनधान्यरत्नपरिच्छदजातं तत्तदन्तर्धापयामास। अपि नामायं विभवपरिक्षयाशङ्कयापि मात्सर्याय प्रतार्येतेति। प्रदानाधिमुक्तस्य तु पुनर्महासत्त्वस्य

यथा यथा तस्य विनेशुरर्थाः सूर्याभिसृष्टा इव तोयलेशाः ।
तथा तथैनान् विपुलैः प्रदानैर्गृहात्प्रदीप्तादिव निर्जहार ।। ५ ।।

अथ शक्रो देवेन्द्रस्त्यागपरायणमेव तं महासत्त्वमवेत्य प्रक्षीयमाणविभवसारमपि विस्मिततरमतिस्तस्यैकरात्रेण सर्वं विभवसारमन्तर्धापयामासान्यत्र रज्जुकुण्डलाद्दात्राच्चैकस्मात्। अथ बोधिसत्त्वः प्रभातायां रजन्यां यथोचितं प्रतिविबुद्धः पश्यति स्म धनधान्यपरिच्छदपरिजनविभवशून्यं निष्कूजदीनं स्वभवनं राक्षसैरिवोद्वासितमनभिरामदर्शनीयं, किमिति च समुत्थितवितर्कः समनुविचरंस्तद्रज्जुकुण्डलकं दात्रं च केवलमत्र ददर्श। तस्य चिन्ता प्रादुर-

---

धन की प्रचुरता मनुष्य को लालची बनाकर उसे दुर्गति की राह पर ले जाती है। किन्तु, इनका धन दूसरों के लिए तथा अपने लिए कल्याणकारी होने के कारण सार्थक था ।। ४ ।।

याचकों को शिष्टाचार और उदारतापूर्वक यथेष्ट धनराशि का दान करने वाले उस महापुरुष की दानशीलता को सुनकर देवराज इन्द्र के मन में विस्मय हुआ। उनके दान देने के निश्चय की स्थिरता का पता लगाने के लिए देवराज प्रतिदिन उनका धन-धान्य और वस्त्राभूषण छिपाने लगे। इन्द्र ने सोचा शायद धन कम हो जाने पर आसानी से इन्हें कंजूसी की ओर बहकाया जा सकता है। किन्तु, ये महापुरुष तो मानों सब कुछ लुटा देने पर तुले थे।

सूर्य की किरण के सम्पर्क में आकर जैसे पानी सूख जाता है, उसी तरह अनवरत दान देने के कारण इनका धन घटता गया। पर, जिस अनुपात में इनका धन घटने लगा उसी अनुपात में और अधिक दान देकर अपने घर से धन को ऐसे बाहर निकालना शुरू किया मानो उसमें आग लग गई हो ।। ५ ।।

किन्तु, धन घटते रहने पर भी जब वे दानपरायण बने ही रहे, तब शक्र ने एक ही रात में उनकी सारी धन-सम्पत्ति छिपा दी। उन्होंने केवल कुण्डलाकार कुछ रस्सी तथा एक हँसिया छोड़ दी। प्रातःकाल जगने पर बोधिसत्त्व ने देखा कि उनका घर धन-धान्य तथा नौकर-चाकर से रहित, निःशब्द, दीन-मलिन और श्रीहीन है। लगता था किसी राक्षस ने उसे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया हो। ऐसा क्यों हुआ ? यह सोंचते हुए उन्होंने परिभ्रमण के क्रम में घर में केवल एक हँसिया और

भवत् । यदि तावत् केनचिद्याचितुमनुचितवचसा स्वविक्रमोपार्जितोपजीविना मद्गृहे प्रणय एवं दर्शितः । सूपयुक्ता एवमर्थाः । अथ त्विदानीं मद्भाग्यदोषादुच्छ्रयमसहमानेन केनचिदनुपयुक्ता एव विद्रुतास्तत्कष्टम् ।

चलं सौहृदमर्थानां विदितं पूर्वमेव मे ।
अर्थिनामेव पीडा तु दहत्यत्र मनो मम ।। ६ ।।

प्रदानसत्कारसुखोचिताश्चिरं विविक्तमर्थैरभिगम्य मद्गृहम् ।
कथं भविष्यन्ति नु ते ममार्थिनः पिपासिताः शुष्कमिवागता ह्रदम् ।।७।।

अथ स बोधिसत्त्वः स्वधैर्यावष्टम्भादनास्वादितविषाददैन्यस्तस्यामप्यवस्थायामनभ्यस्तयाच्ञाक्रमत्वात् परान् याचितुं परिचितानपि न प्रसेहे । एवं दुष्करं याचितुमिति च तस्य भूयसी याचनकेष्वनुकम्पा बभूव । अथ स महात्मा याचनकजनस्वागतादिक्रियावेक्षया स्वयमेव तद्रज्जुकुण्डलकं दात्रं च प्रतिगृह्य प्रत्यहं तृणविक्रयोपलब्धया विभवमात्रयार्थिजनप्रणयसम्माननां चकार । अथ शक्रो देवेन्द्रस्तस्येमामविषादितां परमेऽपि दारिद्र्ये प्रदानाभिमुखतां चावेक्ष्य सविस्मयबहुमानः सन्दृश्यमानदिव्याद्भुतवपुरन्तरिक्षे स्थित्वा दानाद्विच्छन्दयंस्तं महासत्त्वमुवाच—गृहपते !

कुण्डलाकार रस्सी पड़ा पाया । उन्होंने सोचा—यदि अपने पराक्रम से अपनी आजीविका का उपार्जन करने वाले किसी ऐसे व्यक्ति ने जिसे भीख माँगने की आदत नहीं है—मेरे घर पर इस तरह प्रेम प्रकट किया है, तो निश्चय ही मेरे धन का सदुपयोग हुआ है । अथवा यदि मेरे दुर्भाग्य से मेरी उन्नति न देख सकने के कारण किसी ने जानबूझ मेरे घर से धन हटा दिया है, तो यह निश्चय ही दुःख की बात है ।

धन की मित्रता स्थायी नहीं होती, यह बात मुझे पहले ही मालूम थी । किन्तु मेरे पास धन न रहने पर माँगने वालों को तकलीफ होगी—यह सोचकर मेरा हृदय जल रहा है ।। ६ ।।

बहुत दिनों तक याचकों ने मुझसे सत्कार और दान प्राप्त किया है । किन्तु, वे ही याचक अब मेरे घर से उसी तरह लौटेंगे जैसे कोई प्यासा प्राणी सूखे सरोवर से लौट जाता है ।। ७ ।।

किन्तु, अविचल धीरज के कारण बोधिसत्त्व उदास नहीं हुए । दूसरों से माँगने की आदत न रहने के कारण इस घोर गरीबी में भी वे अपने परिचितों के भी आगे हाथ फैलाने का साहस नहीं जुटा पाये । भीख माँगना कितना कठिन काम है—यह जान लेने के बाद याचकों के प्रति अब उनका विचार और दयापूर्ण हो गया । तब याचकों के स्वागत-सत्कार करने के विचार से उस महात्मा ने स्वयं उस रस्सी और हँसिए को हाथ में लेकर रोज घास काट कर लाना शुरू किया और उसे बेचकर जो धन मिलता उससे भिक्षुओं का सत्कार करना शुरू कर दिया । घोर गरीबी में भी वे दान दे ही रहे हैं, यह जानकर देवेन्द्र को जहाँ एक ओर आश्चर्य हुआ वहीं इनके प्रति आदर-भाव भी बढ़ गया । तब अपना दिव्य अद्भुद रूप प्रकट करके

सुहृन्मनस्तापकरीमवस्थामिमामुपेतस्त्वमतिप्रदानैः ।
न दस्युभिर्नैव जलानलाभ्यां न राजभिः संह्रियमाणवित्तः ।। ८ ।।
तत्त्वां हितावेक्षितया ब्रवीमि नियच्छ दाने व्यसनानुरागम् ।
इत्थं गतः सन्नपि चेन्न दद्या यायाः पुनः पूर्वसमृद्धिशोभाम् ।। ९ ।।
शश्वत् कृशेनापि परिव्ययेण कालेन दृष्ट्वा क्षयमर्जनानाम् ।
चयेन वाल्मीकसमुच्छ्रयांश्च वृद्धचर्थिनः संयम एव पन्थाः ।। १० ।।
अथ बोधिसत्त्वः प्रदानाभ्यासमाहात्म्यं विदर्शयञ्छक्रमुवाच—
अनार्यमार्येण सहस्रनेत्र सुदुष्करं सुष्ठ्वपि दुर्गतेन ।
मा चैव तद्भून्मम शक्र वित्तं यत्प्राप्तिहेतोः कृपणाशयः स्याम् ।। ११ ।।
इच्छन्ति याच्ञामरणेन गन्तुं दुःखस्य यस्य प्रतिकारमार्गम् ।
तेनातुरान् कः कुलपुत्रमानी नास्तीति शुष्काशनिनाभिहन्यात् ।। १२ ।।
तन्मद्विधः किं स्विदुपाददीत रत्नं धनं वा दिवि वापि राज्यम् ।
याच्ञाभितापेन विवर्णितानि प्रसादयेन्नार्थिमुखानि येन ।। १३ ।।
मात्सर्यदोषोपचयाय यः स्यान्न त्यागचित्तं परिबृंहयेद्वा ।
स त्यागमेवार्हति मद्विधेभ्यः परिग्रहच्छद्ममयो विघातः ।। १४ ।।

अन्तरिक्ष में खड़े होकर उन्होंने उस महापुरुष को दान देने से रोकते हुए कहा -'हे गृहपति !

अधिक दान करने के कारण ही आपकी यह दुर्गति हुई है। आपकी यह दुर्गति आपके मित्रों को भी संताप पहुँचा रही है। आग, पानी, राजा या डाकुओं में से किसी ने भी आपका धन अपहृत नहीं किया है ।। ८ ।।

आपकी भलाई के लिए ही कहता हूँ कि आप अब भी दान देना बन्द कर दें। अभी भी यदि आप दान देना छोड़ दें, तो निश्चय ही आप पहले की ही तरह फिर समृद्ध हो सकते हैं ।। ९ ।।

थोड़ा-थोड़ा करके भी निरन्तर खर्च करने से उपार्जित धनराशि भी कुछ समय में खत्म हो जाती है। और, संचय करने पर बड़े-बड़े बल्मीक स्तूप बन जाते हैं, यह देखकर उन्नति चाहने वालों के लिए संयम का रास्ता अपनाना ही उचित है ।।१०।।

तब दान का माहात्म्य बतलाते हुए बोधिसत्त्व ने इन्द्र से कहा—

हे देवराज, अनेक कठिनाइयों को झेलकर भी भले लोग कोई नीच काम नहीं करते। मुझे ऐसा कोई धन नहीं चाहिए, जिसे पाने के लिए मुझे कंजूस बनना पड़े।

माँगना ही मौत है और फिर मैं उस मौत का अन्त करना चाहता हूँ, तो फिर आप ही कहिए कौन ऐसा स्वाभिमानी पुरुष होगा, जो किसी के कुछ माँगने पर 'मेरे पास नहीं है' ऐसा कहकर उस दुःखी पर वज्रपात करेगा ।। १२ ।।

जिस धन से किसी संतप्त या उदास याचक के मुख पर मैं प्रसन्नता नहीं ला सकता, वैसे धन, रत्न, स्वर्ग या राज्य की मुझे आवश्यकता नहीं है ।। १३ ।।

जो उदारता की अपेक्षा कंजूसी को बढ़ावा दे, ऐसे धन-संग्रह रूपी विपत्ति का परित्याग कर देना मेरे लिए उचित है ।। १४ ।।

विद्युल्लतानृत्तचले धने च साधारणे नैकविघातहेतौ ।
दाने निदाने च सुखोदयानां मात्सर्यमार्यः क इवाश्रयेत ।। १५ ।।
तद्दर्शिता शक्र मयि स्वतेयं हिताभिधानादनुकम्पितोऽस्मि ।
स्वभ्यस्तहर्षं तु मनः प्रदानैस्तदुत्पथे केन धृतिं लभेत ।। १६ ।।
न चात्र मन्योरनुवृत्तिमार्गे चित्तं भवानर्हति सन्नियोक्तुम् ।
न हि स्वभावस्य विपक्षदुर्गमारोढुमल्पेन बलेन शक्तम् ।। १७ ।।

शक्र उवाच–गृहपते ! पर्याप्तविभवस्य परिपूर्णकोशकोष्ठागारस्य सम्यक्-प्रवृत्तविविधविपुलकर्मान्तस्य विरूढायतेर्लोके वशीकृतैश्वर्यस्यायं क्रमो नेमां दशामभिप्रपन्नस्य । पश्य —

स्वबुद्धिविस्पन्दसमाहितेन वा यशोऽनुकूलेन कुलोचितेन वा ।
समृद्धिमाकृष्य शुभेन कर्मणा सपत्नतेजांस्यभिभूय भानुवत् ।। १८ ।।
जने प्रसङ्गेन वितस्य सद्गतिं प्रबोध्य हर्षं ससुहृत्सु बन्धुषु ।
अवाप्तसम्मानविधिर्नृपादपि श्रिया परिष्वक्त इवाभिकामया ।। १९ ।।

धन तो बिजली की तरह चंचल है, अनेक विपत्तियों का घर है और अति तुच्छ है । किन्तु दान तो अनेक सुखों का कारण है । यह जानकर भी कौन ऐसा सभ्य होगा, जो कंजूस बनना चाहेगा ।। १५ ।।

हे शक्र, आपने तो मुझे नेक सलाह देने की कृपा की है । मेरे प्रति अपनापन प्रकट किया है । फिर भी मेरा मन तो किसी को कुछ देने में ही सुख का अनुभव करता है । फिर मैं इस कुमार्ग पर कैसे टिक सकता हूँ ।। १६ ।।

अतः आप मुझ पर क्रोध न करें । क्योंकि, मैं एक अल्पशक्ति वाला व्यक्ति हूँ और अपने ही स्वभाव के विपरीत इस किले पर आक्रमण करना मेरे वश की बात नहीं है ।। १७ ।।

तब इन्द्र ने कहा—यह तो ठीक है । किन्तु, जिनके पास काफी अन्न, धन और खजाने हैं, जिनके कारोबार बड़े हैं, जिनका भविष्य निश्चित है, ऐश्वर्य जिनके चरणों में लोटता है—ऐसे लोगों के लिए दान देना उचित हो भी सकता है । पर, तुम्हारे जैसे दुर्गत व्यक्ति के लिए यह उचित नहीं है । देखो—

सर्वप्रथम मनुष्य को अपने बल, बुद्धि या परम्परागत कुलोचित कर्मों से यशस्वी एवं समृद्धिशाली बनना चाहिए, ताकि वह सूर्य के सदृश तेजस्वी शत्रुओं को भी पराजित कर सके ।। १८ ।।

फिर यथावसर दान देकर भी लोगों को सुखी करें । ऐसे ही लोगों से मित्र और बन्धु-बान्धव भी प्रसन्न रहते हैं, राजा सम्मान करता है और अभीष्ट लक्ष्मी भी उसका आलिङ्गन करती है ।। १९ ।।

अथ प्रदाने प्रविजृम्भितक्रमः सुखेषु वा नैति जनस्य वाच्यताम् ।
अजातपक्षः खमिवारुरुक्षया विघातभाक्केवलया तु दित्सया ।। २० ।।
यतो धनं संयमनैभृताश्रयादुपार्ज्यतां तावदलं प्रदित्सया ।
अनार्यताप्यत्र च नाम का भवेन्न यत्प्रदद्या विभवेष्वभाविषु ।। २१ ।।
बोधिसत्त्व उवाच – अलमतिनिर्बन्धेनात्रभवतः ।

आत्मार्थः स्याद्यस्य गरीयान् परकार्यात्
तेनापि स्याद्देयमनादृत्य समृद्धिम् ।
नैति प्रीतिं तां हि महत्यापि विभूत्या
दानैस्तुष्टिं लोभजयाद्यामुपभुङ्क्ते ।। २२ ।।
नैति स्वर्गं केवलया यच्च समृद्ध्या
दानेनैव ख्यातिमवाप्नोति च पुण्याम् ।
मात्सर्यादीन्नाभिभवत्येव च दोषां
स्तस्या हेतोर्दानमतः को न भजेत ।। २३ ।।
त्रातुं लोकान्यस्तु जरामृत्युपरीता-
नप्यात्मानं दित्सति कारुण्यवशेन ।
यो नास्वादं वेत्ति सुखानां परदुःखैः
कस्तस्यार्यस्त्वद्गतया स्यादपि लक्ष्म्या ।। २४ ।।

ऐसा सम्पन्नजन यदि दान-कर्म या सुखोपभोग की ओर अपना पाँव फैलाता है तो लोग उसकी निंदा करते हैं । किन्तु, पाँख निकलने के पहले ही उड़ने की चेष्टा करने वाले पखेरू की तरह धनोपार्जन से पहले यदि कोई निर्धन व्यक्ति दान देने की इच्छा करता है, तो वह तो निश्चय ही विपत्ति को बुलाता है ।। २० ।।

इसलिए सर्वप्रथम संयम के द्वारा धनोपार्जन करो । अभी दान देने की इच्छा का त्याग करो । धन के अभाव में यदि तुम किसी को दान नहीं दोगे तो इसमें तुम्हारी अनार्यता कैसी होगी ।। २१ ।।

बोधिसत्त्व ने कहा—इस विषय में आप और हठ न करें तो अच्छा है ।

जिनके लिए परकार्य-सम्पादन से भी अधिक स्वकार्य ही महत्त्वपूर्ण है, ऐसे लोगों के लिए भी धन-संग्रह की अपेक्षा दान देना ही उचित है । क्योंकि विपुल सम्पत्ति के संग्रह से भी उसे वह आनन्द नहीं होगा जो लोभ को जीतकर दान देने से होगा ।। २२ ।।

और, केवल धन से ही न तो किसी को स्वर्ग मिलता है, न ईर्ष्या, द्वेष मिटते हैं । केवल दान से ही तो पवित्र यश मिलता है । फिर कौन इस शुभ कर्म को करना नहीं चाहेगा ।। २३ ।।

जो जरा-मरण के दुःख से घिरे हुए प्राणियों की रक्षा करने के लिए अपने को

अपि च देवेन्द्र !

सम्पत्तिरिव वित्तानामध्रुवा स्थितिरायुषः ।
इति याचनकं लब्ध्वा न समृद्धिरवेक्ष्यते ॥ २५ ॥

एको रथश्च भुवि यद्विदधाति वर्त्म
तेनापरो व्रजति धृष्टतरं तथान्यः ।
कल्याणमाद्यमिममित्यवधूय मार्गं
नासत्पथप्रणयने रमते मनो मे ॥ २६ ॥

अर्थश्च विस्तरमुपैष्यति चेत्पुनर्मे
हर्ता मनांसि नियमेन स याचकानाम् ।
एवंगतेऽपि च यथाविभवं प्रदास्ये
मा चैव दाननियमे प्रमदिष्म शक्र ॥ २७ ॥

इत्युक्ते शक्रो देवेन्द्रः समभिप्रसादितमनाः साधु साध्वित्येनमभिसंराध्य सबहुमानस्निग्धमवेक्षमाण उवाच—

यशःसपत्नैरपि कर्मभिर्जनः समृद्धिमन्विच्छति नीचदारुणैः ।
स्वसौख्यसङ्गादनवेक्षितात्ययः प्रतार्यमाणश्चपलेन चेतसा ॥ २८ ॥
अचिन्तयित्वा तु धनक्षयं त्वया स्वसौख्यहानिं मम च प्रतारणाम् ।
परार्थसम्पादनधीरचेतसा महत्त्वमुद्भावितमात्मसम्पदः ॥२९॥

भी उत्सर्ग कर देना चाहता है, जो दूसरों के दुःखी रहते सुखोपभोग करना नहीं चाहता, उसको आपकी लक्ष्मी की क्या आवश्यकता है ॥ २४ ॥

हे देवेन्द्र ! और भी—

धन और सम्पत्ति की तरह ही यह जीवन भी चंचल है। अतः दरवाजे पर किसी याचक को पाकर समृद्धि का ख्याल नहीं करना चाहिए ॥ २५ ॥

धरती पर पहला रथ जिस राह पर चलता है, उसी से दूसरा रथ भी चलता है और तीसरा रथ तो उसी लोक पर चलता है। अतः इस कल्याणकारी राह को छोड़कर किसी कुमार्ग पर चलना मुझे पसन्द नहीं ॥ २६ ॥

यदि मेरा धन फिर बढ़ जायेगा, तो वह निश्चय ही माँगने वालों के मन को अपनी ओर खींच लेगा। ऐसी स्थिति में भी मैं अपने विभव के अनुसार दान दूँगा। हे देवराज, मैं अपनी दित्सा में प्रमाद नहीं करूँगा ॥ २७ ॥

इस तरह का जवाब सुनकर इन्द्र ने प्रसन्न होकर उनकी प्रशंसा की तथा आदर और स्नेह की दृष्टि से उनकी ओर देखते हुए कहा—

अपने सुख की लालसा से आने वाले अनर्थ की अवहेलना कर तथा अपने चंचल चित्त के कारण लोग अकीर्त्तिकर, नीच और दारुण कर्मों के द्वारा धन की इच्छा करते हैं ॥ २८ ॥

किन्तु, तुमने अपने धननाश, सुखहानि और मेरे बहकावे की चिन्ता छोड़कर

अहो बतौदार्यविशेषभास्वतः प्रमृष्टमात्सर्यतमिस्रता हृदः ।
प्रदानसङ्कोचविरूपतां गतं धने प्रनष्टेऽपि न यत्तदाशया ।। ३० ।।
न चात्र चित्रं परदुःखदुःखिनः कृपावशाल्लोकहितैषिणस्तव ।
हिमावदातः शिखरीव वायुना न यत्प्रदानादसि कम्पितो मया ।। ३१ ।।
यशः समुद्भावयितुं परीक्षया धनं तवेदं तु निगूढवानहम् ।
मणिर्हि शोभानुगतोऽप्यतोऽन्यथा न संस्पृशेद्रत्नयशोमहार्घताम् ।। ३२ ।।
यतः प्रदानैरभिवर्ष याचकान् ह्रदान् महामेघ इवाभिपूरयन् ।
धनक्षयं नाप्स्यसि मत्परिग्रहादिदं क्षमेथाश्च विचेष्टितं मम ।। ३३ ।।

इत्येनमभिसंराध्य शक्रस्तच्चास्य विभवसारमुपसंहृत्य क्षमयित्वा च तत्रैवान्तर्दधे ।।

तदेवं न विभवक्षयावेक्षया समृद्ध्याशया वा प्रदानवैधुर्यमुपयान्ति सत्पुरुषा इति ।।

इत्यविषह्यश्रेष्ठि-जातकं पञ्चमम् ।

परोपकार के लिए दृढ़ संकल्प प्रकट कर अपनी सम्पत्ति का महत्त्व प्रमाणित कर दिया है ।। २९ ।।

धन्य, तुम्हारे हृदय से मात्सर्य रूपी अन्धकार मिट गया है और वह उदारता के प्रकाश से प्रदीप्त हो रहा है । इसीलिए धन विनष्ट हो जाने पर भी धन की आशा से वह कृपणता से मलिन नहीं हुआ है ।। ३० ।।

जैसे हवा हिमधवल हिमालय को हिला नहीं सकती, उसी तरह मैं तुम्हें दित्सा से विरत नहीं कर सका । इसमें कोई आश्चर्य नहीं है । क्योंकि, आप दूसरों के दुःख से दुःखी होते हैं, दयाद्रवित होकर लोकहित में संलग्न हैं ।। ३१ ।।

तुम्हारी कीर्त्ति को फैलाने के लिए ही मैंने तुम्हारा धन छिपा दिया था, क्योंकि मणि सुन्दर होने पर भी, परीक्षा के बिना, रत्न की ख्याति और मूल्य नहीं कर सकता ।। ३२ ।।

सरोवरों को जल से भरते हुए महामेघ की तरह माँगने वालों पर दान की वृष्टि कीजिए । मेरी कृपा से तुम्हारा धन कभी कम होगा ही नहीं । मैंने जो कुछ कहा, उसके लिए मुझे क्षमा कर दो ।। ३३ ।।

इस तरह उनकी प्रशंसा कर इन्द्र ने छिपाई गई उनकी धन-सम्पत्ति लाकर उन्हें दे दी और उनसे क्षमा-याचना कर अन्तर्धान हो गये ।

इस तरह धन के घटने की आशंका से या समृद्धि की आशा से सत्पुरुष अपनी देने की इच्छा से कभी मुकरते नहीं ।

अविषह्यश्रेष्ठिजातक पाँचवाँ समाप्त ।

---

(६) शशजातकम्

तिर्यग्गतानामपि सतां महात्मनां शक्त्यनुरूपा दानप्रवृत्तिर्दृष्टा । केन नाम मनुष्यभूतेन न दातव्यं स्यात् ? तद्यथानुश्रूयते—

कस्मिंश्चिदरण्यायतनप्रदेशे मनोज्ञवीरुत्तृणतरुगहननिचिते पुष्पफलवति वैडूर्यनीलशुचिवाहिन्या सरिता विभूषितपर्यन्ते मृदुशाद्वलास्तरणसुखसंस्पर्श-दर्शनीयधरणीतले तपस्विजनविचरिते बोधिसत्त्वः शशो बभूव ।

स सत्त्वयोगाद्वपुषश्च सम्पदा बलप्रकर्षाद्विपुलेन चौजसा ।
अतर्कितः क्षुद्रमृगैरशङ्कितश्चचार तस्मिन्मृगराजलीलया ।। १ ।।

स्वचर्माजिनसंवीतः स्वतनूरुहवल्कलः ।
मुनिवत्तत्र शुशुभे तुष्टचित्तस्तृणाङ्कुरैः ।। २ ।।

तस्य मैत्र्यवदातेन मनोवाक्कायकर्मणा ।
आसुर्जृम्भितदौरात्म्याः प्रायः शिष्यमुखा मृगाः ।। ३ ।।

तस्य गुणातिशयसम्भृतेन स्नेहगौरवेण विशेषवत्तरमवबद्धहृदयास्तु ये

---

६. शशजातक

पशु-पक्षियों की योनि में जन्म ग्रहण कर भी सन्त-महात्मा दूसरों को दान देते हुए देखे जाते हैं। तो फिर मानव-योनि में जन्म ग्रहण कर ऐसा कौन व्यक्ति होगा जो दान नहीं करेगा। ऐसी अनुश्रुति है—

बोधिसत्त्व की अवस्था में भगवान् बुद्ध एक बार किसी जंगल के पवित्र स्थान में खरगोश की योनि में पैदा हुए। जंगल का वह भाग तृण-तरु-लताओं के झुरमुटों से अतीव मनोहर था। वहाँ के पेड़, फूलों और फलों से लदे थे। वहाँ की सीमान्त भूमि वैदूर्यमणि की तरह नीले और निर्मल जल की धारा से सुशोभित थी। कोमल तृणों की शय्या से वहाँ का धरातल सुखद स्पर्शी एवं दर्शनीय था। ऋषि-मुनियों की वह संचरण भूमि थी।

सत्त्वगुण, रूप सम्पत्ति, अद्‌भुत् शक्ति, विपुल ओज और सन्तोष के कारण किसी क्षुद्र पशु ने उन पर किसी तरह का संदेह नहीं किया। उस जंगल में वे भय-रहित वनराज की तरह विचरण करते थे ।। १ ।।

अपनी चमड़ी ही उनकी मृग छाला थी। अपने रोंए ही वल्कल थे। घासों के अँखुए खाकर संतुष्ट वे वहाँ मुनियों की तरह शोभित थे ।। २ ।।

उनके मैत्रीपूर्ण उज्ज्वल मानसिक, वाचिक और कायिक कर्मों से दुरात्मा पशु भी प्रायः उनके मित्र और शिष्य हो गये थे ।। ३ ।।

अपने सद्‌गुणों से उन्होंने जंगल के अन्य पशुओं का हृदय जीत लिया था। सभी

सहाया बभूवुरुद्रः शृगालो वानरश्च। ते परस्परसम्बन्धनिबद्धस्नेहा इव बान्धवा अन्योन्यप्रणयसम्माननाविरूढसौहार्दा इव च सुहृदः सम्मोदमानास्तत्र विहरन्ति स्म। तिर्यक्स्वभावविमुखाश्च प्राणिषु दयानुवृत्त्या लौल्यप्रशमाद्विस्मृतस्तेयप्रवृत्त्या धर्माविरोधिन्या च यशोऽनुवृत्त्या पटुविज्ञानत्वाद्विनियमधीरया च सज्जनेष्टया चेष्टया देवतानामपि विस्मयनीया बभूवुः।

सुखानुलोमे गुणबाधिनि क्रमे गुणानुकूले च सुखोपरोधिनि।
नरोऽपि तावद्गुणपक्षसंश्रयाद्विराजते किम्वथ तिर्यगाकृतिः॥ ४॥
अभूत्स तेषां तु शशाकृतिः कृती परानुकम्पाप्रतिपद्गुरुर्गरुः।
स्वभावसम्पच्च गुणक्रमानुगा यशो यदेषां सुरलोकमप्यगात्॥ ५॥

अथ कदाचित् स महात्मा सायाह्नसमये धर्मश्रवणार्थमभिगतैः सबहुमानमुपास्यमानस्तैः सहायैः परिपूर्णप्रायमण्डलमादित्यविप्रकर्षाद्व्यवदायमानशोभं रूप्यदर्पणमिव त्सरुविरहितमीषत्पार्श्वापवृत्तबिम्बं शुक्लपक्षचतुर्दशीचन्द्रमसमुदितमभिसमीक्ष्य सहायानुवाच—

पशु इनके स्नेहातिरेक में आबद्ध थे। उनमें इनके विशिष्ट मित्र थे—एक ऊदविलाव, एक सियार और एक वानर। इनका पारस्परिक सम्बन्ध पारिवारिक था, स्नेह मित्रवत् था, वे एक दूसरे की इच्छाओं का आदर करने के लिए बद्धमूल थे। वे एक साथ रहकर आनन्दपूर्वक विहार करते थे। वे सभी वहाँ पशु-पक्षियों के स्वभाव से विमुख होकर प्राणियों पर दया करते थे और धर्मानुसार कीर्त्ति उपार्जन करते थे। अपनी पशु-सुलभ चंचलता को वे छोड़ चुके थे। चोरी करना भूल गये थे। बुद्धिमान होने के कारण धीरज के साथ नियमित जीवन व्यतीत करते थे। शीघ्र ही सज्जनों के अभीष्ट अपने आचरण से उन्होंने देवताओं को भी चकित कर दिया।

सुख की राह धर्म के लिए बाधक है और धर्म की राह सुख के लिए बाधक है। धर्म की राह पर चलकर मनुष्य भी शोभा सम्पन्न होता है फिर इन पशु-पक्षियों का क्या कहना है॥ ४॥

उनकी कीर्त्ति देवलोक तक पहुँच चुकी थी। धर्म की राह पर चलना मानों उनका स्वभाव हो गया था। खरहे के रूप में दूसरों पर दया दिखलाने वाले वे महात्मा उनके गुरु थे॥ ५॥

एक बार सायंकाल में धर्मोपदेश सुनने के लिए आये हुए उन मित्रों से उस महात्मा ने शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी के चन्द्रमा को उगा हुआ देखा। चन्द्रमा का मण्डल पूरा हो चुका था। सूर्य से दूर होने के कारण वह चमक रहा था। वह मूठरहित चाँदी के दर्पण की तरह दीख रहा था। इसका पार्श्वभाग अवश्य ही कुछ क्षीण था। उस चन्द्रमा को देखकर उसने अपने मित्रों से कहा—

असावापूर्णशोभेन मण्डलेन हसन्निव ।
निवेदयति साधूनां चन्द्रमाः पोषधोत्सवम् ।। ६ ।।

तद्व्यक्तं श्वः पञ्चदशी । यतो भवद्भिः पोषधनियममभिसम्पादयद्भिर्न्यायोपलब्धेनाहारविशेषेण कालोपनतमतिथिजनं प्रतिपूज्य प्राणसन्धारणमनुष्ठेयम् । पश्यन्तु भवन्तः ।

यत्सम्प्रयोगा विरहावसानाः समुच्छ्रयाः पातविरूपनिष्ठाः ।
विद्युल्लताभङ्गुरलोलमायुस्तेनैव कार्यो दृढमप्रमादः ।। ७ ।।
दानेन शीलाभरणेन तस्मात् पुण्यानि संवर्धयितुं यतध्वम् ।
विवर्तमानस्य हि जन्मदुर्गे लोकस्य पुण्यानि परा प्रतिष्ठा ।। ८ ।।
तारागणानामभिभूय लक्ष्मीं विभाति यत्कान्तिगुणेन सोमः ।
ज्योतींषि चाक्रम्य सहस्ररश्मिर्यद्दीप्यते पुण्यगुणोच्छ्रयः सः ।। ९ ।।
दृप्तस्वभावाः सचिवा नृपाश्च पुण्यप्रभावात् पृथिवीश्वराणाम् ।
सदश्ववृत्त्या हतसर्वगर्वाः प्रीता इवाज्ञाधुरमुद्वहन्ति ।। १० ।।
पुण्यैर्विहीनाननुयात्यलक्ष्मीर्विस्पन्दमानानपि नीतिमार्गे ।
पुण्याधिकैः सा ह्यवभर्त्स्यमाना पर्येत्यमर्षादिव तद्विपक्षान् ।। ११ ।।
दुःखप्रतिष्ठादयशोऽनुबद्धादपुण्यमार्गादुपरम्य तस्मात् ।
श्रीमत्सु सौख्योदयसाधनेषु पुण्यप्रसङ्गेषु मतिं कुरुध्वम् ।। १२ ।।

मित्रों, देखो, अपने प्रायः परिपूर्ण मण्डल की शोभा से हँसता हुआ यह चाँद मानों साधुओं को पोषध-व्रत की सूचना दे रहा है ।। ६ ।।

स्पष्ट है कि कल पूर्णिमा होगी । अतः आप लोग पोषध-व्रत के नियमों का पालन करते हुए न्यायपूर्वक प्राप्त उत्तम आहार से समय पर पहुँचे हुए अतिथि का सत्कार कर प्राण-रक्षा के लिए भोजन कीजिएगा । देखिये—

संयोग का अन्त वियोग है । उन्नति का अन्त अवनति है । आयु बिजली की तरह चंचल है, क्षणभंगुर है । अतः आप खूब सावधान रहें ।। ७ ।।

निष्ठापूर्वक दानकर पुण्य अर्जित करने की चेष्टा करनी चाहिए । क्योंकि, इस संसार-चक्र में भटकते हुए प्राणियों के लिए पुण्य ही एक बड़ा सहारा है ।। ८ ।।

अपने पुण्य के फलस्वरूप ही ताराओं की कान्ति को मलिन कर चाँद चमकता है । ग्रह-मण्डल को निष्प्रभ कर अकेला सूर्य प्रज्ज्वलित होता है ।। ९ ।।

किसी पृथ्वीपति सम्राट् की आज्ञा रूपी धुरे का वहन घोड़े की तरह प्रसन्नतापूर्वक, अभिमान छोड़कर जो अन्य राजे या मंत्री करते हैं, वह उस सम्राट् के पुण्य का ही फल है ।। १० ।।

पुण्यशील लोगों के पुण्य की अधिकता से तिरस्कृत एवं क्रुद्ध दरिद्रता नीति-पथ पर डगमाते हुए पापियों को ही घेरती है ।। ११ ।।

अतः अपकीर्त्ति और दुःख के निवास-स्थान पाप-पथ से हट कर सुख के साधनभूत पुण्य-कार्य में अपना मन लगाइए ।। १२ ।।

ते तथेत्यस्यानुशासनं प्रतिगृह्याभिवाद्य प्रदक्षिणीकृत्य चैनं स्वान्स्वानालयानभिजग्मुः। अचिरगतेषु च तेषु सहायेषु स महात्मा चिन्तामापेदे।

अतिथेरभ्युपेतस्य सम्मानं येन तेन वा।
विधातुं शक्तिरस्त्येषामत्र शोच्योऽहमेव तु ॥ १३ ॥
अस्मद्दन्ताग्रविच्छिन्नाः परितिक्तास्तृणाङ्कुराः।
शक्या नातिथये दातुं सर्वथा धिगशक्तिताम् ॥ १४ ॥
इत्यसामर्थ्यदीनेन को न्वर्थो जीवितेन मे।
आनन्दः शोकतां यायाद्यस्यैवमतिथिर्मम ॥ १५ ॥

तत्कुत्रेदानीमिदमतिथिपरिचर्यावैगुण्ये निःसारं शरीरकमुत्सृज्यमानं कस्यचिदुपयोगाय स्यादिति विमृशन्स महात्मा स्मृतिं प्रतिलेभे।

अये!

स्वाधीनसुलभमेतन्निरवद्यं विद्यते ममैव खलु।
अतिथिजनप्रतिपूजनसमर्थरूपं शरीरधनम् ॥ १६ ॥

तत्किमहं विषीदामि।

उनकी आज्ञा शिरोधार्य कर तथा प्रदक्षिणा पूर्वक उन्हें प्रणाम कर उनके सभी साथी अपने-अपने घर को चले गये। साथियों को वहाँ से हटते ही उस महात्मा ने सोचा—

हमारे इन साथियों में तो आये हुए अतिथियों का जैसे-तैसे सम्मान करने की कुछ-न-कुछ क्षमता तो है ही। पर, इनमें सबसे अधिक शोचनीय स्थिति तो मेरी ही है ॥ १३ ॥

मैं तो अपने दांतों से केवल घासों की नोंक ही कुतर सकता हूँ। पर, ये तिक्त तृण तो अतिथि को नहीं दिए जा सकते। धिक्कार है मेरी इस कमजोरी को ॥१४॥

यदि किसी अतिथि के आने पर प्रसन्नता की जगह अपनी कमजोरी के कारण मुझे शोक ही मिले, तो फिर ऐसी असमर्थ, दीन-हीन जीवन से ही भला क्या लाभ है ॥ १५ ॥

अतिथि-सत्कार में असमर्थ इस सारहीन क्षुद्र देह को कहाँ छोड़ा जाय जिससे इसका कोई उचित उपयोग हो। इस तरह सोचते हुए उस महात्मा को जैसे कुछ याद आई हो—'अहो!

मेरे पास यह शरीर रूपी धन तो है ही, मेरे अधीन होने के कारण यह सदा-सुलभ एवं निर्दोष है। यह केवल मेरा ही है और अतिथि-सत्कार में यह समर्थ भी है ॥ १६ ॥

मैं दुःखी क्यों होऊँ?

समधिगतमिदं मयातिथेयं हृदय विमुञ्च यतो विषाददैन्यम् ।
समुपनतमनेन सत्करिष्याम्यहमतिथिप्रणयं शरीरकेण ।। १७ ।।

इति विनिश्चित्य स महासत्त्वः परममिव लाभमधिगम्य परमप्रीतमनास्तत्रावतस्थे ।

वितर्कातिशये तस्य हृदये प्रविजृम्भिते ।
आविश्चक्रे प्रसादश्च प्रभावश्च दिवौकसाम् ।। १८ ।।

ततः प्रहर्षादिव साचला चला मही बभूव निभृतार्णवांशुका ।
वितस्तनुः खे सुरदुन्दुभिस्वना दिशः प्रसादाभरणाश्चकाशिरे ।। १९ ।।

प्रसक्तमन्दस्तनिताः प्रहासिनस्तडित्पिनद्धाश्च घनाः समन्ततः ।
परस्पराश्लेषविकीर्णरेणुभिः प्रसक्तमेनं कुसुमैरवाकिरन् ।। २० ।।

समुद्वहन्धीरगतिः समीरणः सुगन्धि नानाद्रुमपुष्पजं रजः ।
मुदा प्रविद्धैरविभक्तभक्तिभिस्तमर्चययामास कृशांशुकैरिव ।। २१ ।।

तदुपलभ्य प्रमुदितविस्मितमनोभिर्देवताभिः समन्ततः परिकीर्त्यमानं तस्य वितर्काद्भुतं शक्रो देवेन्द्रः समापूर्यमाणविस्मयकौतूहलेन मनसा तस्य महासत्त्वस्य भावजिज्ञासया द्वितीयेऽहनि गगनतलमध्यमभिलङ्घमाने पटुतरकिरणप्रभावे सबितरि प्रस्फुलितमरीचिजालवसनासु भास्वरातपविसरावगुण्ठितास्व-

---

अतिथि-सत्कार के लिए तो मेरे पास सुन्दर साधन है ही । रे मन ! तुम विषाद और दैन्य छोड़ दो । मैं अपनी इस क्षुद्र देह से ही समागत अतिथि का सत्कार करूँगा ।।१७।।

इस निश्चय के बाद उस विशिष्ट प्राणी को अति प्रसन्नता हुई । लगता था जैसे उसने जीवन का परम लाभ ही पा लिया हो ।

इस उत्तम विचार से उसका हृदय प्रफुल्लित हो उठा । देवताओं ने भी इससे प्रभावित होकर अपनी प्रसन्नता और प्रभाव को प्रकट किया ।। १८ ।।

विस्फूर्जित-समुद्रवसना धरती पर्वतों के साथ प्रसन्नता के मारे झूम उठी । आकाश में देव-दुंदुभि बजने लगी । दिशाएँ दिव्यालोक से दमक उठीं ।। १९ ।।

मन्द-मन्द गरजते, बिजली की बहारों में विहँसते बादलों ने अपनी बूँदा-बाँदी में फूल बरसाये । उन फूलों की आपसी रगड़ से निकले पराग से दसो दिशाएँ महकने लगीं ।। २० ।।

प्रसन्नता से झूमती हवाओं ने बहुविध सुगन्धित पुष्पों के पराग रूपी रेशमी कपड़े के चँदोवे फैलाकर मानों उस महात्मा की पूजा की ।। २१ ।।

उस महात्मा के इस दिव्य विचार से पुलकित, प्रमुदित एवं विस्मित देवताओं ने उनका गुणगान शुरू किया । इसकी सूचना जब देवराज इन्द्र को मिली तो उनका भी हृदय विस्मय और कौतूहल से भर उठा । उन्होंने इस महासत्त्व की परीक्षा लेनी चाही । दूसरे दिन ग्रीष्म की जलती दुपहरिया में, जिस समय आकाश के मध्य भाग को लाँघता हुआ सूर्य अपनी प्रचण्ड प्रभा को फैला रहा था और उसकी काँपती

नालोकनक्षमासु दिक्षु संक्षिप्यमाणच्छायेष्वभिवृद्धचीरीविरावोन्नादितेषु वना
न्तरेषु विच्छिद्यमानपक्षिसम्पातेषु घर्मक्लमापीतोत्साहेष्वध्वगेषु शक्रो देवाना
मधिपतिर्ब्राह्मणरूपो भूत्वा मार्गप्रनष्ट इव क्षुत्तर्षश्रमविषाददीनकण्ठः सस्व
प्ररुदन्नातिदूरे तेषां विचुक्रोश।

एकं सार्थात्परिभ्रष्टं भ्रमन्तं गहने वने।
क्षुच्छ्रमक्लान्तदेहं मां त्रातुमर्हन्ति साधवः॥ २२॥

मार्गामार्गज्ञाननिश्चेतनं मां दिक्सम्मोहात्क्वापि गच्छन्तमेकम्।
कान्तारेऽस्मिन्घर्मतर्षक्लमार्तं मा भैः शब्दैः को नु मां ह्लादयेत॥ २३

अथ ते महासत्त्वास्तस्य तेन करुणेनाक्रन्दितशब्देन समाकम्पितहृदय
ससम्भ्रमा द्रुततरगतयस्तं देशमभिजग्मुः। मार्गप्रनष्टाध्वगदीनदर्श
चैनमभिसमीक्ष्य समभिगम्योपचारपुरःसरं समाश्वासयन्त ऊचुः—

कान्तारे विप्रनष्टोऽहमित्यलं विभ्रमेण ते।
स्वस्य शिष्यगणस्येव समीपे वर्तसे हि नः॥ २४॥
तदद्य तावदस्माकं परिचर्यापरिग्रहात्।
विधायानुग्रहं सौम्य श्वो गन्तासि यथेप्सितम्॥ २५॥

किरणों की साड़ी पहने, उसके उजले आतप का घूँघट काढ़े दिग्वधूएँ दुर्निरीक्ष्य
रही थीं, झिंगुरों की झंकार से गूँजते जंगल की छाया जब छोटी हो रही थी, ग
चारी पक्षियों का उड़ना जब वन्द हो गया था, गर्मी और थकावट से सा
बटोहियों का भी साहस जब पस्त हो गया था, तब ऐसे विकट समय में देवराज
एक भिखारी ब्राह्मण का रूप बनाकर भूख-प्यास और थकावट से कराहते
राह-भूले बटोही की तरह, उन चारों से कुछ ही दूरी पर, जोर-जोर से रो-रो
चिल्लाने लगे—

अपने साथियोंसे छूटकर इस गहन वनमें मैं अकेला भटक गया हूँ। भूख,
और थकावट के कारण मेरी जान निकल रही है। साधु जीव मेरी रक्षा करें॥२

थकावट के कारण रास्ता किधर है, यह जानने की मेरी क्षमता समाप्त हो
है। मैं कहाँ हूँ, इसका बोध भी मुझे नहीं है। गर्मी, प्यास और थकावट के
मैं अति पीड़ित हूँ। मत डरो, कहकर यहाँ कौन मुझे खुश करेगा॥ २३॥

इस करुण क्रन्दन को सुनकर उन महात्माओं का दिल दहल उठा। वे घ
हुए दौड़कर जहाँ से आवाज आ रही थी वहाँ पहुँच गये। पथभ्रष्ट पथिक की
उसे घबड़ाये हुए देखकर शिष्टाचारपूर्वक उसके पास पहुँचकर सान्त्वना देते
उन्होंने उनसे कहा—

'जंगल में आप भटक गये हैं, इस भय को आप पहले मन से हटा दी
हमारे साथ आप उसी तरह हैं, जैसे कोई अपने शिष्यों के बीच हो॥ २४॥

अतः हे सौम्य! आज आप हमें अपनी परिचर्या का अवसर प्रदान कर अनु
करें। फिर कल आप जहाँ चाहें जा सकते हैं॥ २५॥

अथोद्रस्तस्य तूष्णींभावादनुमतमुपनिमन्त्रणमवेत्य हर्षसम्भ्रमत्वरितगतिः सप्त रोहितमत्स्यान्समुपनीयावोचदेनम्—

मीनारिभिर्विस्मरणोज्झिता वा त्रासोत्प्लुता वा स्थलमभ्युपेताः।
खेदप्रसुप्ता इव सप्त मत्स्या लब्धा मयैतान्निवसेह भुक्त्वा ॥ २६ ॥

अथ श्रृगालोऽप्येनं यथोपलब्धमन्नजातमुपसंहृत्य प्रणामपुरःसरं सादरमित्युवाच—

एका,च गोधा दधिभाजनं च केनापि सन्त्यक्तमिहाध्वगच्छन्।
तन्मे हितावेक्षितयोपयुज्य वनेऽस्तु तेऽस्मिन्गुणवास वासः ॥ २७ ॥

इत्युक्त्वा परमप्रीतमनास्तदस्मै समुपजहार।

अथ वानरः परिपाकगुणादुपजातमार्दवानि मनःशिलाचूर्णरञ्जितानीवातिपिञ्जराण्यतिरक्तबन्धनमूलानि पिण्डीगतान्याम्रफलान्यादाय साञ्जलिप्रग्रहमेनमुवाच—

आम्राणि पक्वान्युदकं मनोज्ञं छाया च सत्सङ्गमसौख्यशीता।
इत्यस्ति मे ब्रह्मविदां वरिष्ठ भुक्त्वैतदत्रैव तवास्तु वासः ॥ २८ ॥

अथ शशः समुपसृत्यैनमुपचारक्रियानन्तरं सबहुमानमुदीक्षमाणः स्वेन शरीरेणोपनिमन्त्रयामास।

उसे चुप देखकर उसकी मौन स्वीकृति समझकर ऊदबिलाव बड़ा खुश हुआ। वह दौड़कर सात रोहू मछली ले आया और कहा—

मछुओं ने भूल से इन्हें छोड़ दिया था अथवा हो सकता है डर के मारे पानी से उछल कर ये स्वयं किनारे की सूखी धरती पर आ गई थीं। वहाँ ये ऐसे पड़ी थीं कि लगता था जैसे सो गई हैं। मैंने इन्हें पाया है। आप इन्हें खाकर यहाँ विश्राम करें ॥ २६ ॥

इसी बीच सियार ने भी जो कुछ भोज्य वस्तु पाई थी उसे लाकर सामने रख दिया और उनसे सादर निवेदन किया—

हे पथिक, किसी यात्री ने भूल से एक गोह और एक दही की हाँड़ी यहाँ छोड़ दी है। हे गुणवान्, आप मुझ पर दया कर इसे खाकर आज यहीं विश्राम करें ॥२७॥

इतना निवेदन कर खुशी-खुशी उसने पूर्वकथित सामग्रियाँ सामने लाकर रख दीं।

इसके बाद उस वानर ने पके हुए पीले-पीले रसीले लाल-लाल ओठ एवं धूसर मूठ वाले आमों के गुच्छे सामने रखकर हाथ जोड़ते हुए कहा—

हे श्रेष्ठ ब्राह्मण, पके हुए आम, स्वच्छ जल और सत्संग-सुख की शीतल छाया मात्र मेरे पास है। कृपया इन्हें स्वीकार कर आप आज यहीं विश्राम करें ॥ २८ ॥

इसके बाद उस खरगोश ने उस अतिथि के सामने उपस्थित होकर अतिविनम्र भाव से कहा—महाशय, आप अपने भोजन के लिए मेरी इस देह को स्वीकार करें।

न सन्ति मुद्गा न तिला न तण्डुला वने विवृद्धस्य शशस्य केचन ।
शरीरमेतत्त्वनलाभिसंस्कृतं ममोपयुज्याद्य तपोवने वस ।। २९।
यदस्ति यस्येप्सितसाधनं धनं स तन्नियुङ्क्तेऽर्थिसमागमोत्सवे ।
न चास्ति देहादधिकं च मे धनं प्रतीच्छ सर्वस्वमिदं यतो मम ।। ३०।

शक्र उवाच—

अन्यस्यापि वधं तावत्कुर्यादस्मद्विधः कथम् ।
इति दर्शितसौहार्दे कथा कैव मद्विधे ।। ३१ ।।

शश उवाच—उपपन्नरूपमिदमासन्नानुक्रोशे ब्राह्मणे । तदिहैव तावद्भ
वानास्तामस्मदनुग्रहापेक्षया यावत्कुतश्चिदात्मानुग्रहोपायमासादयामीति
अथ शक्रो देवानामिन्द्रस्तस्य भावमवेत्य तप्ततपनीयवर्णं स्फुरत्प्रतनुज्वा
विकीर्यमाणविस्फुलिङ्गप्रकरं निर्धूममङ्गारराशिमभिनिर्ममे । अथ श
समन्ततोऽनुविलोकयंस्तमग्निस्कन्धं ददर्श । दृष्ट्वा च प्रीतमनाः शक्रमुवाच-
समधिगतोऽयं मयात्मानुग्रहोपायः । तदस्मच्छरीरोपयोगात्सफलामनुग्रहाशां
कर्तुमर्हसि । पश्य महाब्राह्मण ।

मैं एक खरहा हूँ, जंगल में पाला-पोसा गया हूँ । मेरे पास न मूँग है, न ति
और न तण्डुल ही । है केवल यह क्षुद्र शरीर । आग में इसे पकाकर आप इस
यथेच्छ उपभोग कर, इस तपोवन में आज विश्राम कर हमें सनाथ करें ।। २९ ।।

जिसके पास जो भी उपयोगी धन रहता है, उसी से वह अपने अतिथि
सत्कार करता है । मेरे पास इस तुच्छ देह के सिवा और कुछ नहीं है । अतः आ
मेरे इस सर्वस्व को स्वीकार करें ।। ३० ।।

तब छद्मरूपधारी उस इन्द्र ने कहा—

मुझ जैसा व्यक्ति किसी का वध भी कैसे कर सकता है । और आप तो मु
मित्रता कर रहे हैं । फिर, इसमें कहना ही क्या है ।। ३१ ।।

खरहे ने कहा—एक दयालु ब्राह्मण के लिए यह उचित ही है । आप मुझ
कृपा कर कुछ देर यहीं ठहरें, तब तक मैं अपने अनुग्रह का उपाय कहीं से प्राप्त क
हूँ । उसके कहने का तात्पर्य समझ कर देवराज इन्द्र ने तपे हुए सोने के रंग
धूमरहित अंगारों का ढेर वहाँ जुटा दिया । उन अंगारों से पतली लपटें निकल
थीं और छोटी-छोटी चिनगारियाँ छिटक रही थीं । उस खरगोश ने एक बार
चारों ओर देखा, फिर उस अग्निपुंज पर अपनी आँखें स्थिर कीं । उस आग
देखकर प्रसन्नतापूर्वक उसने देवराज से निवेदन किया—मैंने अपने अनुग्रह का उ
तो पा लिया । कृपया अब मेरी इस क्षुद्र देह का उपयोग करें और मेरी आशा
सफल करें । हे ब्राह्मण, देखिए—

देयं च दित्साप्रवणं च चित्तं भवद्विधेनातिथिना च योगः ।
नावाप्तुमेतद्धि सुखेन शक्यं तत्स्यादमोघं भवदाश्रयान्मे ॥ ३२ ॥

इत्यनुनीय स महात्मा सम्माननादरादतिथिप्रियतया चैनमभिवाद्य ।

ततः स तं वह्निमभिज्वलन्तं निधिं धनार्थी सहसैव दृष्ट्वा ।
परेण हर्षेण समारुरोह तोयं हसत्पद्ममिवैकहंसः ॥ ३३ ॥

तद् दृष्ट्वा परमविस्मयावर्जितमतिर्देवानामधिपतिः स्वमेव वपुरास्थाय दिव्यकुसुमवर्षपुरःसरीभिर्मनःश्रुतिसुखाभिर्वाग्भिरभिपूज्य तं महासत्त्वं कमलपलाशलक्ष्मीसमृद्धाभ्यां भासुराङ्गुलीभूषणालङ्कृताभ्यां पाणिभ्यां स्वयमेव चैनं परिगृह्य त्रिदशेभ्यः सन्दर्शयामास । पश्यन्त्वत्रभवन्तस्त्रिदशालय-निवासिनो देवाः, समनुमोदन्तां चेदमतिविस्मयनीयं कर्मावदानमस्य महा-सत्त्वस्य ।

त्यक्तं बतानेन यथा शरीरं निःशङ्कमद्यातिथिवत्सलेन ।
निर्माल्यमप्येवमकम्पमाना नालं परित्यक्तुमधीरसत्त्वाः ॥ ३४ ॥

जातिः क्वेयं तद्विरोधि क्व चेदं त्यागौदार्यं चेतसः पाटवं च ।
विस्पष्टोऽयं पुण्यमन्दादराणां प्रत्यादेशो देवतानां नृणां च ॥ ३५ ॥

दान देने की वस्तु उपलब्ध हो, दान देने की प्रबल इच्छा हो और आप जैसे अतिथि का सहयोग हो—यह सुयोग अति दुर्लभ है । अतः आप अपने सहयोग से इसे सफल करें ॥ ३२ ॥

इस प्रकार अनुनय-विनय कर उस अतिथि-प्रिय महात्मा ने उसे सादर प्रणाम किया ।

तब, उस जलती आग को देखकर—जैसे धन-लोलुप अचानक धन पाकर खुश होता है, उसी तरह प्रसन्न होकर—वह महात्मा उस आग की ढेर पर उसी तरह आरुढ़ हो गया जैसे राजहंस खिलते हुए कमलों से भरे जलाशय के जल-स्तर पर ॥३३॥

यह देखकर देवराज के मन में बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने अपने असली रूप में प्रकट होकर दिव्य पुष्पों की वर्षा की । फिर उन्होंने उस विशिष्ट प्राणी की स्तुति की । पुनः अंगूठियों से अलंकृत कमल-से कोमल करों में उसे उठाकर देवराज ने देवताओं को दिखाते हुए कहा—हे देवलोकवासी पूज्य देवगण, आप इन्हें देखें और इस महात्मा के इस अद्‌भुद् सुकर्म का अनुमोदन करें ।

जिस प्रकार निडर होकर इस अतिथि-वत्सल ने अपनी देह का परित्याग किया, उस प्रकार अविचल होकर कोई अधीर व्यक्ति निर्माल्य भी नहीं छोड़ सकता ॥३४॥

कहाँ इसकी यह पशुयोनि और कहाँ यह विरोधी त्याग की उदारता और मन की दृढ़ता । स्पष्ट ही इसने पुण्य की ओर से उदासीन मनुष्यों और देवताओं को जीत लिया है ॥ ३५ ॥

अहो बत गुणाभ्यासवासितास्य यथा मतिः ।
अहो सद्वृत्तवात्सल्यं क्रियौदार्येण दर्शितम् ।। ३६ ।।

अथ शक्रस्तत्कर्मातिशयविख्यापनार्थं लोकहितावेक्षी शशबिम्बलक्षणेन वैजयन्तस्य प्रासादवरस्य सुधर्मायाश्च देवसभायाः कूटागारकर्णिके चन्द्रमण्डलं चाभ्यलञ्चकार ।

सम्पूर्णेऽद्यापि तदिदं शशबिम्बं निशाकरे ।
छायामयमिवादर्शे राजते दिवि राजते ।। ३७ ।।
ततः प्रभृति लोकेन कुमुदाकरहासनः ।
क्षणदातिलकश्चन्द्रः शशाङ्क इति कीर्त्यते ।। ३८ ।।

तेऽप्युद्रशृगालवानरास्ततश्च्युत्वा देवलोक उपपन्नाः कल्याणमित्रं समासाद्य ।

तदेवं तिर्यग्गतानामपि महासत्त्वानां शक्त्यनुरूपा दानप्रवृत्तिर्दृष्टा । केन नाम मनुष्यभूतेन न दातव्यं स्यात् । तथा तिर्यग्गता अपि गुणवात्सल्यात सम्पूज्यन्ते सद्भिरिति गुणेष्वादरः कार्य इत्येवमप्युन्नेयम् ।

इति शश-जातकं षष्ठम् ।

अहो, सद्गुणों के सतत् अभ्यास से इसकी बुद्धि पवित्र हो गई है । अपनी उदार क्रिया से इसने सदाचार के प्रति अपना प्रेम प्रकट किया है ।। ३६ ।।

तब इन्द्र ने लोकहित को ध्यान में रखकर उस अद्भुत् कर्म को विख्यात करने के लिए खरहे की आकृति के चिह्न से वैजयन्त प्रासाद और सुधर्मा देवसभा के शिखरों को तथा चन्द्रमण्डल को भी अलंकृत किया ।

आज भी आकाश में पूर्ण चन्द्र-मण्डल के भीतर इस खरहे की आकृति ऐसे शोभती है, जैसे दर्पण में किसी का प्रतिबिम्ब हो ।। ३७ ।।

तब से लोग कुमुदरंजन, रात्रितिलक चन्द्रमा को शशांक कहते हैं ।। ३८ ।।

वे तीनों भी (ऊदबिलाव, सियार और वानर) सन्मित्र को पाकर मर्त्यलोक को छोड़ कर देवलोक में उत्पन्न हुए ।

इस प्रकार पशु-पक्षियों की योनि में उत्पन्न होकर महासत्त्व यथाशक्ति दान में प्रवृत्त देखे जाते हैं । तो फिर मनुष्य होकर कौन दान नहीं करेगा ? पशु-पक्षी भी जब अपने गुणानुराग के कारण सज्जनों से पूजित होते हैं, तो गुणों का आदर सब को करना चाहिए । यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है ।

शशजातक छठा समाप्त ।

(७) अगस्त्य-जातकम्

तपोवनस्थानामप्यलङ्कारस्त्यागशौर्यं प्रागेव गृहस्थानामिति। तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वभूतः किलायं भगवाँल्लोकहितार्थं संसाराध्वनि वर्तमानश्चारित्रगुणविशुद्ध्यभिलक्षितं क्षितितलतिलकभूतमन्यतमं महद् ब्राह्मणकुलं गगनतलमिव शरदमलपरिपूर्णमण्डलश्चन्द्रमाः समुत्पतन्नेवाभ्यलश्चकार। स यथाक्रमं श्रुतिस्मृतिविहितानवाप्य जातकर्मादीन् संस्कारानधीत्य साङ्गान्वेदान्कृत्स्नं च कल्पं व्याप्य विद्यायशसा मनुष्यलोकं गुणप्रियैर्दातृभिरभ्यर्थ्य प्रतिगृह्यमाणविभवत्वात् परां धनसमृद्धिमभिजगाम।

स बन्धुमित्राश्रितदीनवर्गान्सम्माननीयानतिथीन्गुरूंश्च।
प्रह्लादयामास तथा समृद्धया देशान्महामेघ इवाभिवर्षन्॥ १॥
विद्वत्तया तस्य यशःप्रकाशं तत्त्यागशौर्यादधिकं चकाशे।
निशाकरस्येव शरद्विशुद्धं समग्रशोभाधिककान्ति बिम्बम्॥ २॥

अथ स महात्मा कुकार्यव्यासङ्गदोषसम्बाधं प्रमादास्पदभूतं धनार्जनरक्षण-

---

७. अगस्त्य-जातक

तपोवन में निवास करने वालों के लिए भी त्याग आभूषण है; फिर गृहस्थों का कहना ही क्या ? ऐसा सुना जाता है—

एकबार भगवान् बुद्ध जब बोधिसत्त्वावस्था में थे, तब किसी महान् ब्राह्मणवंश में उन्होंने जन्म लिया। वह कुल अपने पवित्र आचरण के लिए जितना अधिक विख्यात था वैसा ही इस धरती के लिए तिलकस्वरूप था। उस कुल में इनका जन्म लेना ऐसा ही लगता था जैसे शरद के निरभ्र आकाश में पूर्णचन्द्र का उदय हुआ हो। श्रुतिस्मृतिविहित जातकर्मादि संस्कारों से सम्पन्न इन्होंने क्रमशः शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छंद, ज्योतिष और व्याकरण के साथ वेदों का अध्ययन किया। उनकी विद्वत्ता सम्पूर्ण संसार में फैल गई। गुणग्राही दाताओं ने विपुल धनराशि देकर इन्हें अपार सम्पत्ति का स्वामी बना दिया।

उन्होंने दीन-दुखियों, असहायों, आश्रितों, मान्य अतिथियों, मित्रों तथा बन्धु-बान्धवों एवं समादरणीय गुरुओं को अपनी सम्पत्ति से उसी तरह संतुष्ट किया जैसे महामेघ अपनी जलवृष्टि से धरती को आह्लादित कर देता है॥ १॥

विद्वत्ता के कारण उनकी जो ख्याति हुई, उससे उनकी उदारता और भी चमक उठी, जैसे समग्र शोभा-सम्पन्न चन्द्रमण्डल शरद के निर्मल आकाश को पाकर और शोभा-सम्पन्न हो उठता है॥ २॥

इसके बाद उस महात्मा ने गृहस्थी को धनोपार्जन और संरक्षण की आसक्ति से

प्रसङ्गव्याकुलमुपशमविरोधिव्यसनशरशतलक्ष्यभूतमपर्यन्तकर्मान्तानुष्ठानपरिग्रहश्रममतृप्तिजनकं कृशास्वादं गार्हस्थ्यमवेत्य तद्दोषविविक्तसुखां च धर्मप्रतिपत्त्यनुकूलां मोक्षधर्मारम्भाधिष्ठानभूतां प्रव्रज्यामनुपश्यन् महतीमपि तां धनसमृद्धिमपरिक्लेशाधिगतां लोकसन्नतिमनोहरां तृणवदपास्य तापसप्रव्रज्याविनयनियमपरो वभूव। प्रव्रजितमपि तं महासत्त्वं यशःप्रकाशत्वात् पूर्वसंस्तवानुस्मरणात् सम्भावितगुणत्वात् प्रशमाभिलक्षितत्वाच्च श्रेयोऽर्थी जनस्तद्गुणगणावर्जितमतिस्तथैवाभिजगाम। स तं गृहिजनसंसर्गं प्रविवेकसुखप्रमाथिनं व्यासङ्गविक्षेपान्तरायकरमबहुमन्यमानः प्रविवेकाभिरामतया दक्षिणसमुद्रमध्यावगाढमिन्द्रनीलभेदाभिनीलवर्णैरनिलबलाकलितैरूर्मिमालाविलासैराच्छुरितपर्यन्तं सितसिकतास्तीर्णभूमिभागं पुष्पफलपल्लवालङ्कृतविटपैर्नानातरुभिरुपशोभितं विमलसलिलाशयप्रतीरं काराद्वीपमध्यासनादाश्रमपदश्रिया संयोजयामास।

सुतनुस्तपसा तत्र स रेजे तपसा तनुः।
नवचन्द्र इव व्योम्नि कान्तत्वेनाकृशः कृशः॥ ३॥

प्रशमनिभृतचेष्टितेन्द्रियो व्रतनियमैकरसो वने वसन्।
मुनिरिति तनुबुद्धिशक्तिभिर्मृगविहगैरपि सोऽन्वगम्यत॥ ४॥

ग्रसित, अनेक कुकर्मों का घर, प्रमाद का स्थान, शान्ति का संहारक, शत-सहस्र विपदाओं के तीरों का लक्ष्य-स्थान, अनन्त अपकर्मों से आक्रान्त, अल्पसुखद एवं अतृप्तिजनक मानकर प्रव्रज्या के नियम पालन करने में लीन हो गये। प्रव्रज्या को उन्होंने उक्त दोषों से मुक्त, सुखमय, धर्माचरण के अनुकूल और मोक्षधर्म का साधक माना। लोक-सम्मान का साधन, अनायास उपलब्ध उस सांसारिक मनोहर सुख का तृणवत् परित्याग कर तापसोचित प्रव्रज्या के विनय और नियम के पालन में तत्पर हुए। यद्यपि उस महासत्त्व ने संन्यास ग्रहण कर लिया, फिर भी अपनी शान्ति, कीर्ति और गुणग्राहकता के कारण लोगों के आकर्षण का केन्द्र बने रहे। इनके सद्गुणों से आकृष्ट होकर लोग उनके पास उसी तरह आते रहे। किन्तु इन्होंने गृहस्थों के सम्पर्क को आसक्ति मिटाने के मार्ग का बाधक और ध्यान-सुख में विघ्नकर समझ कर दक्षिण समुद्र के बीच में स्थित कारा-द्वीप में—जहाँ इन्द्रनीलमणि की तरह तरंगे अठखेलियाँ करती हैं, फल-फूलों से भूखण्ड आच्छादित हैं, किनारे पर जलाशय हैं, सफेद बालू से भू-भाग व्याप्त हैं—अधिवास लिया।

कठोर तप के कारण उनकी देह तो दुबली हो गई, पर उनका तेज अक्षुण्ण बना रहा। आकाश में नवोदित चन्द्रमा की तरह क्षीण होकर भी वे कान्तिमान् थे॥ ३॥

उस शान्त तपस्वी की इन्द्रियाँ निर्विकार थीं। वे उस वन में व्रतों और नियमों

अथ च महात्मा प्रदानोचितत्वात्तपोवनेऽपि निवसन् कालोपनतमतिथि-जनं यथासन्निहितेन मूलफलेन शुचिना सलिलेन हृद्याभिश्च स्वागताशीर्वाद-पेशलाभिस्तपस्विजनयोग्याभिर्वाग्भिः सम्पूजयति स्म। अतिथिजनोपयुक्त-शेषेण च यात्रामात्रार्थमभ्यवहृतेन तेन वन्येनाहारेण वर्तयामास। तस्य तपः-प्रकर्षात् प्रविसृतेन यशसा समावर्जितहृदयः शक्रो देवेन्द्रः स्थैर्यजिज्ञासया तस्य महासत्त्वस्य तस्मिन्नरण्यायतने तापसजनोपभोगयोग्यं मूलफलमनुपूर्वेण सर्व-मन्तर्धापयामास। बोधिसत्त्वोऽपि ध्यानप्रसृतमानसतया सन्तोषपरिचयादनधि-मूर्च्छितत्वादाहारे स्वशरीरे चानभिष्वङ्गान्न तमन्तर्धानहेतुं मनसि चकार। स तरुणानि तरुपर्णान्यधिश्राय तैराहारप्रयोजनमभिनिष्पाद्यातृष्यमाण आहार-विशेषानुत्सुकः स्वस्थमतिस्तथैव विजहार।

न क्वचिद् दुर्लभा वृत्तिः सन्तोषनियतात्मनाम्।
कुत्र नाम न विद्यन्ते तृणपर्णजलाशयाः ॥ ५ ॥

विस्मिततरमनास्तु शक्रो देवेन्द्रस्तस्य तेनावस्थानेन स्थिरतरगुणसम्भा-वनस्तत्परीक्षानिमित्तं तस्मिन्नरण्यवनप्रदेशे निदाघकालानिलवत्समग्रं वीरु-

---

के पालन में तत्पर थे। अल्पचिन्तन-शक्ति वाले पशु-पक्षियों ने भी उन्हें मुनि समझ कर उनका अनुकरण करना प्रारंभ कर दिया ॥ ४ ॥

तपोवन में निवास करते हुए भी वे अतिथि-सत्कार में संलग्न थे। दानकर्म में अभ्यस्त होने के कारण जंगल में भी फल, मूल या स्वच्छ जलादि जो कुछ भी उन्हें उपलब्ध थे, उनसे अतिथि-सत्कार करते, तापसोचित मनोहर, कोमल, स्वागतपूर्ण आशीर्वचनों से उनका सम्मान करते थे। उनके उपयोग से जो फल-मूलादि शेष बच जाते उन्हें खाकर शरीर धारण किये थे। इनकी तपश्चर्या दिग्दिगन्त में फैल गई। इनकी ख्याति सुनकर देवराज इन्द्र भी विचलित हो उठे। उन्होंने इनके धैर्य की परीक्षा-हेतु उस जंगल से तपस्वियों के उपभोग के योग्य सारे-के-सारे फल-मूलादि को लुप्त कर दिया। सन्तुष्ट बोधिसत्त्व को न तो अपने आहार में आसक्ति थी और न अपनी देह में आकर्षण। वे हमेशा अपने ध्यान में लीन रहते थे। इसलिए इन उप-योगी वस्तुओं के लुप्त होने का उन्हें आभास भी नहीं हो सका। पेड़-पौधों की नई टहनियाँ और कोपलें खाकर ही वे संतुष्ट थे। भोजन-विशेष की उन्होंने कभी कामना ही नहीं की। स्वस्थ और प्रसन्न रहकर वे अपने तप में पूर्ववत् अविचल बने रहे।

आत्मतुष्ट व्यक्ति के लिए कहीं भी भोजन पा लेना कठिन नहीं है। घास-पात या जलाशय भला कहाँ नहीं मिलते ॥ ५ ॥

उनकी स्थिरता देखकर देवराज इन्द्र विस्मित हुए। ग्रीष्म की जलती दुपहरिया की तरह उस वन के सारे तृण-तरुओं और लताओं को पत्र-पुष्प से रहित कर

तृणतरुगणं पर्णसमृद्धया वियोजयामास। अथ बोधिसत्त्वः प्रत्यार्द्रतराणि शीर्णपर्णानि समाहृत्य तैरुदकस्विन्नैरनुत्कण्ठितमतिर्वर्तमानो ध्यानसुखप्रीणितमनास्तत्रामृततृप्त इव विजहार:।

अविस्मयः श्रुतवतां समृद्धानाममत्सरः।
सन्तोषश्च वनस्थानां गुणशोभाविधिः परः॥ ६॥

अथ शक्रस्तेन तस्याद्भुतरूपेण सन्तोषस्थैर्येण समभिवृद्धविस्मयः सामर्ष इव तस्य महासत्त्वस्य व्रतकाले हुताग्निहोत्रस्य परिसमाप्तजप्यस्यातिथिजनदिदृक्षया व्यवलोकयतो ब्राह्मणरूपमास्थायातिथिरिव नाम भूत्वा पुरस्तात्प्रादुरभूत्। स प्रीतमनाः समभिगम्य चैनं बोधिसत्त्वः स्वागतादिप्रियवचनपुरःसरेणाहारकालनिवेदनेनोपनिमन्त्रयामास। तूष्णींभावात्तु तस्याभिमतमुपनिमन्त्रणमवेत्य स महात्मा।

दित्साप्रहर्षविकसन्नयनास्यशोभः
स्निग्धैर्मनःश्रुतिसुखैरभिनन्द्य वाक्यैः।
कृच्छ्रोपलब्धमपि तच्छ्रपणं समस्तं
तस्मै ददौ स्वयमभूच्च मुदेव तृप्तः॥ ७॥

दिया। तब बोधिसत्त्व ने पेड़ से ताजे झड़े पत्तों को उबालकर खाना शुरू किया। इन्हें खाकर वे लगते थे जैसे अमृतपान कर सन्तुष्ट हुए हैं। वे ध्यान-सुख में लीन रह कर सदैव प्रसन्न रहते थे।

पढ़े-लिखे लोगों में अभिमान न हो, धनवानों में द्वेष न हो और वनवासियों में अगर सन्तोष हो तो फिर इनके गुणों की शोभा में चार-चाँद लग जाते हैं॥ ६॥

उस महात्मा की आत्मतोषजन्य दृढ़ता को देखकर इन्द्र अत्यधिक विस्मित हुए। अपना हवन और जप समाप्त कर जब उस तपस्वी ने अतिथि-दर्शन की अभिलाषा से अपनी आँखें चारों ओर घुमाईं, तो सामने एक ब्राह्मण अतिथि को देखा। उनके व्रत-नियम से अत्यन्त क्रुद्ध देवराज इन्द्र स्वयं इस अतिथि के छद्मरूप में प्रकट हुए थे। प्रसन्नवदन बोधिसत्त्व ने उस अतिथि के सम्मुख उपस्थित होकर स्वागत-सत्कार के बाद भोजन के लिए उन्हें आमन्त्रित किया। उन्हें चुप देख अपना निमंत्रण स्वीकार समझकर—

दान देने के आनन्द से उनकी आँखें चमक उठीं तथा मुख की शोभा बढ़ गई। उन्होंने मनोमुग्धकारी एवं श्रुति-सुखद वचनों से अतिथि का सम्मान किया। अत्यधिक कष्ट से प्राप्त, उबाले गये उन समस्त पत्ते रूपी आहार को उस अतिथि के सम्मुख लाकर रख दिया और स्वयं उस दानजन्य आनन्द से ही संतुष्ट हो गये॥

स तथैव प्रविश्य ध्यानागारं तेनैव प्रीतिप्रामोद्येन तमहोरात्रमतिनामयामास। अथ शक्रस्तस्य द्वितीये तृतीये चतुर्थे पञ्चमेऽपि चाहनि तथैव व्रतकाले पुरतः प्रादुरभूत्। सोऽपि चैनं प्रमुदिततरमनास्तथैव प्रतिपूजयामास।

दानाभिलाषः साधूनां कृपाभ्यासविवर्धितः।
नैति सङ्कोचदीनत्वं दुःखैः प्राणान्तिकैरपि ॥ ८ ॥

अथ शक्रः परमविस्मयाविष्टहृदयस्तपःप्रकर्षादस्य प्रार्थनामात्रापेक्षं त्रिदशपतिलक्ष्मीसम्पर्कमवगम्य समुत्पतितभयाशङ्कः स्वमेव वपुर्दिव्याद्भुतशोभमभिप्रपद्य तपःप्रयोजनमेनं पर्यपृच्छत्—

बन्धून्प्रियानश्रुमुखान्विहाय परिग्रहान्सौख्यपरिग्रहांश्च।
आशाङ्कुशं नु व्यवसृज्य कुत्र तपःपरिक्लेशमिमं श्रितोऽसि ॥ ९ ॥
सुखोपपन्नान्परिभूय भोगाँच्छोकाकुलं बन्धुजनं च हित्वा।
न हेतुनाल्पेन हि यान्ति धीराः सुखोपरोधीनि तपोवनानि ॥ १० ॥
वक्तव्यमेतन्मयि मन्यसे चेत्कौतूहलं नोऽर्हसि तद्विनेतुम्।
किं नाम तद्यस्य गुणप्रवेशवशीकृतैवं भवतोऽपि बुद्धिः ॥ ११ ॥

अतिथि-सत्कार के बाद बिना स्वयं कुछ खाये-पीये प्रसन्नचित्त ध्यान में लीन होकर उन्होंने व्रत में ही दिन-रात बिता दिए। तब दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवें दिन भी उसी प्रकार व्रतकाल में ही ब्राह्मण के भेष में देवराज इन्द्र उनके सामने प्रकट होते रहे और बोधिसत्त्व भी खुशी-खुशी उसी प्रकार उनका स्वागत करते रहे।

प्राणान्तक कष्ट में भी अपनी दयालुता के कारण ही किसी को कुछ देने की सज्जनों की अभिलाषा नहीं घटती ॥ ८ ॥

बोधिसत्त्व के इस आचरण से देवराज विस्मय-विमुग्ध हुए बिना नहीं रह सके। उन्होंने सोचा—इनके कठोर तप से प्रभावित देवराज इन्द्र की लक्ष्मी भी हाथ बाँधकर इनके सामने मुँह खोलते ही उपस्थित हो जायेगी। यह ध्यान आते ही देवराज भय-विह्वल हो उठे। अपने दिव्यरूप में उनके सामने प्रकट होकर उन्होंने बोधिसत्त्व से इस उग्रतप का प्रयोजन पूछ ही लिया—

मान्यवर, वह कैसी अनन्य उपलब्धि है, जिसके लिए आपने सांसारिक सुखों का त्यागकर, रोते-बिलखते बन्धु-बान्धवों एवं परिजनों का परित्याग कर इस कठोर व्रत में लीन हुए हैं ॥ ९ ॥

क्योंकि अनायास प्राप्त सांसारिक सुखों को ठुकराकर, शोकाकुल परिजनों को छोड़कर कोई भी धीर पुरुष किसी सामान्य कारण से सुख के बाधक तपोवन में यों ही तो प्रवेश नहीं करता ॥ १० ॥

यदि आप मुझे यह सब सुनने का उचित पात्र समझते हैं, तो अपना मन्तव्य मुझे बतलाकर मेरा कौतूहल शान्त करें। वह कौन-सा पदार्थ है, जिसके गुण ने आपमें प्रविष्ट होकर आपकी बुद्धि को इस तरह अपने नियंत्रण में कर लिया है ॥ ११ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—श्रूयतां मार्ष यन्निमित्तोऽयं मम प्रयत्नः ।

पुनः पुनर्जातिरतीव दुःखं जराविपद्व्याधिविरूपताश्च ।
मर्तव्यमित्याकुलता च बुद्धेर्लोकानतस्त्रातुमिति स्थितोऽस्मि ।। १२ ।।

अथ शक्रो देवेन्द्रो नायमस्मद्गतां श्रियमभिकामयत इति समाश्वासितहृदयः सुभाषितेन तेन चाभिप्रसादितमतिर्युक्तमित्यभिपूज्य तदस्य वचनं वरप्रदानेन बोधिसत्त्वमुपनिमन्त्रयामास—

अत्र ते तापसजनप्रतिरूपे सुभाषिते ।
ददामि काश्यप वरं तद्वृणीष्व यदिच्छसि ।। १३ ।।

अथ बोधिसत्त्वो भवभोगसुखेष्वनास्थः प्रार्थनामेव दुःखमवगच्छन्सात्मीभूतसन्तोषः शक्रमुवाच—

दातुमिच्छसि चेन्मह्यमनुग्रहकरं वरम् ।
वृणे तस्मादहमिमं देवानां प्रवरं वरम् ।। १४ ।।

दारान्मनोऽभिलषितांस्तनयान्प्रभुत्व-
मर्थानभीप्सितविशालतरांश्च लब्ध्वा ।
येनाभितप्तमतिरेति न जातु तृप्ति
लोभानलः स हृदयं मम नाभ्युपेयात् ।। १५ ।।

इस पर बोधिसत्त्व ने कहा—महाशय, आप यदि सुनना ही चाहते हैं, तो सुनें। मेरे इस प्रयत्न का क्या प्रयोजन है ?

बार-बार जन्म लेना अति दुःखदायक है। रूप को कुरूप में बदलने वाली वृद्धावस्था, रोग और मौत उससे भी अधिक दुखदायी हैं। 'मरना पड़ेगा' यह सोचकर ही बुद्धि व्याकुल हो जाती है। अतः इनसे प्राणियों की रक्षा करने हेतु मेरा यह प्रयास है ।। १२ ।।

यह हमारी राज्यलक्ष्मी की कामना नहीं रखता—यह जानकर देवराज इन्द्र का हृदय पूर्ण आश्वस्त हो गया। फिर उनकी विलक्षण बातों को सुनकर इनका हृदय गद्गद हो गया। उन्होंने इनके सुन्दर विचारों की प्रशंसा की और इन्हें वरदान माँगने को कहा—

हे तपस्वी काश्यप ! आपने सदुक्तिपूर्ण जो कुछ कहा है, मैं उससे काफी प्रभावित होकर आपको वरदान देना चाहता हूँ। आप स्वेच्छा से जो चाहें मुझसे माँग लें ।।

सांसारिक सुखोपलब्धि के प्रति अनासक्त उस संतोषी बोधिसत्त्व ने किसी से कुछ माँगने को दुख समझकर देवराज से कहा—

हे देवराज ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न होकर वरदान देना ही चाहते हैं, तो कृपया यह वर दीजिए ।। १४ ।।

मनचाहे पुत्र, पत्नी, प्रभुता और विपुल वैभव को पाकर भी जिस लोभ रूपी आग में संसार का दिल जलता रहता है, उस लोभ को मेरे पास न फटकने दें ।। १५ ।।

अथ शक्रस्तया तस्य सन्तोषप्रवणमानसतया सुभाषिताभिव्यञ्जितया भूयस्या मात्रया सम्प्रसादितमतिः पुनर्बोधिसत्त्वं साधु साध्विति प्रशस्य वरेणोपच्छन्दयामास—

अत्रापि ते मुनिजनप्रतिरूपे सुभाषिते।
प्रतिप्राभृतवत्प्रीत्या प्रयच्छाम्यपरं वरम् ॥ १६ ॥

अथ बोधिसत्त्वः क्लेशवियोगस्यैव दुर्लभतामस्य प्रदर्शयन्वरयाच्ञापदेशेन पुनरप्यस्मै धर्मं देशयामास—

ददासि मे यदि वरं सद्गुणावास वासव।
वृणे तेनेममपरं देवेन्द्रानवरं वरम् ॥ १७ ॥
अर्थादपि भ्रंशमवाप्नुवन्ति वर्णप्रसादाद्यशसः सुखाच्च।
येनाभिभूता द्विषतेव सत्त्वाः स द्वेषवह्निर्मम दूरतः स्यात् ॥ १८ ॥

तच्छ्रुत्वा शक्रो देवानामधिपतिर्विस्मयवशात् साधु साध्वित्येनमभिप्रशस्य पुनरुवाच—

स्थाने प्रव्रजितान्कीर्तिरनुरक्तेव सेवते।
तद्वरं प्रतिगृह्णीष्व मदत्रापि सुभाषिते ॥ १९ ॥

अथ बोधिसत्त्वः क्लेशप्रातिकूल्यात् क्लिष्टसत्त्वसम्पर्कविगर्हां व्रतिसम्प्रतिग्रहापदेशेन कुर्वन्नित्युवाच—

उनके कथन से संतोष की ओर उनका झुकाव जानकर देवराज इन्द्र ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की तथा पुनः वर माँगने के लिए उनसे आग्रह किया—

तपस्वियों के अनुरूप आपके इस सुवचन से प्रभावित होकर मैं प्रति-उपहार के रूप में आपको दूसरा वरदान देता हूँ ॥ १६ ॥

ईर्ष्या-द्वेष-प्रभृति कष्टों से मुक्त होना बड़ा कठिन है—यह दिखलाते हुए बोधिसत्त्व ने इन्द्र को पुनः उपदिष्ट किया—

हे सद्गुणों के भण्डार देवराज इन्द्र ! आप यदि मुझ पर अनुग्रह करना ही चाहते हैं, तो मुझे यह दूसरा वरदान दीजिए ॥ १७ ॥

शत्रु की तरह जिस द्वेष रूपी आग में जलकर जन-सामान्य अपने धन, सुख, कान्ति और कीर्त्ति से भ्रष्ट हो जाते हैं, वह द्वेषाग्नि सदैव मुझसे दूर रहे ॥१८॥

यह सुनकर देवताओं के अधिपति इन्द्र को पर्याप्त विस्मय हुआ। उन्होंने 'साधु साधु' कहकर उनकी प्रशंसा की और उनसे फिर कहा—

कीर्त्ति प्रव्रजितों की सेवा अनुरक्ता पत्नी की तरह करती है—यह ठीक ही कहा गया है। अतः अपने इस सुभाषित के लिए मुझसे फिर वर लीजिए ॥ १९ ॥

तब बोधिसत्त्व ने क्लेशों की प्रतिकूलता के कारण क्लेशों में आकण्ठ डूबे प्राणियों के सम्पर्क की निन्दा करते हुए वर माँगने के बहाने यह कहा—

शृणुयामपि नैव जातु बालं न च वीक्षेय न चैनमालपेयम् ।
न च तेन निवासखेददुःखं समुपेयां वरमित्यहं वृणे त्वाम् ।। २० ।।

शक्र उवाच—

अनुकम्प्यो विशेषेण सतामापद्गतो ननु ।
आपदां मूलभूतत्वाद् बाल्यं चाधममिष्यते ।। २१ ।।
करुणाश्रयभूतस्य बालस्यास्य विशेषतः ।
कृपालुरपि सन्कस्मान्न दर्शनमपीच्छसि ।। २२ ।।

बोधिसत्त्व उवाच - अगत्या मार्ष ! पश्यत्वत्रभवान् ।

कथञ्चिदपि शक्येत यदि बालश्चिकित्सितुम् ।
तद्धितोद्योगनिर्यत्नः कथं स्यादिति मद्विधः ।। २३ ।।

इत्थं चैष चिकित्साप्रयोगस्यापात्रमिति गृह्यताम् ।
सुनयवदनयं नयत्ययं परमपि चात्र नियोक्तुमिच्छति ।
अनुचितविनयार्जवक्रमो हितमपि चाभिहितः प्रकुप्यति ।। २४ ।।
इति पण्डितमानमोहदग्धे हितवादिष्वपि रोषरूक्षभावे ।
रभसे विनयाभियोगमान्द्याद्वद कस्तत्र हितार्पणाभ्युपायः ।। २५ ।।

मैं मूर्खों की बातें न सुनूं, मूर्खों को न देखूं, उनके साथ मुझे न बातचीत करना पड़े और न मुझे कभी उनके सम्पर्क में आना पड़े, आप यही वर दें ।। २० ।।

इस पर इन्द्र ने कहा—

विपदग्रस्त व्यक्ति भले लोगों की अनुकम्पा का विशेष रूप से पात्र है और मूर्खता विपत्तियों का मूल कारण है । अतः मूर्खता निकृष्ट कोटि की वस्तु है ।।२१।।

अतः मूर्खजन तो भले लोगों की अनुकम्पा के विशेष पात्र हैं । आप तो अत्यन्त दयालु पुरुष हैं, फिर आपको मूर्खों से इतना परहेज क्यों है ? ।। २२ ।।

इस पर बोधिसत्त्व ने उत्तर दिया —केवल असाध्य होने के कारण । आप देखें—

किसी भी प्रकार से यदि मूर्खों का इलाज संभव होता तो मेरे जैसे लोग उनकी भलाई के लिए कैसे नहीं तत्पर होते ।। २३ ।।

आप विश्वास करें, मूर्खजन लाइलाज होते हैं—

वह अन्याय को ही न्याय समझता है, उसी राह पर चलता है और अपने सम्पर्क में आने वाले लोगों को भी उसी राह पर चलाना चाहता है ।

शिष्टता और सरलता से अनजान रहने के कारण ऐसे लोग हितकर बातों से भी क्रुद्ध होते हैं ।। २४ ।।

वह सदैव अपने को बुद्धिमान समझने के भ्रम में रहता है । जो उसे हितकर बातें कहेगा उसी पर वह क्रुद्ध होगा । शिष्टता को नहीं समझने के कारण वह सदैव अशिष्ट बना रहता है । आप ही कहें—उसकी भलाई का क्या उपाय है ? ।। २५ ।।

इत्यगतया सुरश्रेष्ठ करुणाप्रवणैरपि ।
बालस्याद्रव्यभूतस्य न दर्शनमपीष्यते ।। २६ ।।

तच्छ्रुत्वा शक्रः साधु साध्वित्येनमभिनन्द्य सुभाषिताभिप्रसादितमतिः पुनरुवाच—

न सुभाषितरत्नानामर्घः कश्चन विद्यते ।
कुसुमाञ्जलिवत्प्रीत्या ददाम्यत्रापि ते वरम् ।। २७ ।।

अथ बोधिसत्त्वः सर्वावस्थासुखतां सज्जनस्य प्रदर्शयञ्छक्रमुवाच—

वीक्षेय धीरं शृणुयां च धीरं स्यान्मे निवासः सह तेन शक्र ।
सम्भाषणं तेन सहैव भूयादेतं वरं देववर प्रयच्छ ।। २८ ।।

शक्र उवाच—अतिपक्षपात इव खलु ते धीरं प्रति । तदुच्यतां तावत् ।

किं नु धीरस्तवाकार्षीद्वद काश्यप कारणम् ।
अधीर इव येनासि धीरदर्शनलालसः ।। २९ ।।

अथ बोधिसत्त्वः सज्जनमाहात्म्यमस्य प्रदर्शयन्नुवाच—श्रूयतां मार्ष ! येन मे धीरदर्शनमेवाभिलषते मतिः ।

व्रजति गुणपथेन च स्वयं नयति परानपि तेन वर्त्मना ।
वचनमपि न रूक्षमक्षमां जनयति तस्य हितोपसंहितम् ।। ३० ।।

हे देवेन्द्र ! लाइलाज होने के कारण ही दयालुजन भी मूर्खों के सम्पर्क से कतराते हैं ।। २६ ।।

यह सुनकर देवेन्द्र ने उन्हें साधुवाद दिया तथा उनके सुवचनों से प्रसन्न होकर, उनसे कहा—

सूक्तिरूपी रत्न तो अमूल्य होते ही हैं । इनके लिए भी आनन्द-विभोर होकर मैं आपको वरदान देना चाहता हूँ ।। २७ ।।

सज्जन प्रत्येक स्थिति में सुखदायक है । यह प्रमाणित करते हुए बोधिसत्त्व ने इन्द्र से कहा—

हे शक्र ! मैं सदैव धीर पुरुष की बातें सूनूँ, उनके साथ रहूँ, उनके साथ बातचीत करूँ, उन्हें ही भर आँख देखूँ—मुझे यही वर दीजिए ।। २८ ।।

इस पर इन्द्र ने कहा—धीर पुरुषों के प्रति आपका पक्षपात स्पष्ट है । आप बतलावें—

धीरपुरुष ने आपकी क्या भलाई की है ? हे कश्यप ! कृपया आप स्पष्ट कहें कि धीर के दर्शन की लालसा से आप इतना अधीर क्यों हो रहे हैं ? ।। २९ ।।

बोधिसत्त्व ने सज्जनों की महिमा का गुण-गान करते हुए कहा—हे देवेन्द्र ! मेरा मन धीरपुरुषों के दर्शन के लिए क्यों अधीर है, यह आप सुनें—

वे स्वयं तो सुमार्ग पर चलते ही हैं, दूसरों को भी उसी राह पर चलने की सतत् प्रेरणा देते हैं । हितकर कड़वी बातें सुनकर भी वे विचलित नहीं होते ।।३०।।

अशठविनयभूषणः सदा हितमिति लम्भयितुं स शक्यते ।
इति मम गुणपक्षपातिनी नमति मतिर्गुणपक्षपातिनि ।। ३१ ।।

अथैनं शक्रः साधूपपन्नरूपमिदमिति चाभिनन्द्य समभिवृद्धप्रसादः पुनर्वरेणोपनिमन्त्रयामास—

कामं सन्तोषसात्मत्वात्सर्वत्र कृतमेव ते ।
मदनुग्रहबुद्ध्या तु ग्रहीतुं वरमर्हसि ।। ३२ ।।
उपकाराशया भक्त्या शक्त्या चैव समस्तया ।
प्रयुक्तस्यातिदुःखो हि प्रणयस्याप्रतिग्रहः ।। ३३ ।।

अथ तस्य परामुपकर्तुकामतामवेक्ष्य बोधिसत्त्वस्तत्प्रियहितकामतया प्रदानानुतर्षप्राबल्यमस्मै प्रकाशयन्नुवाच—

त्वदीयमन्नं क्षयदोषवर्जितं मनश्च दित्साप्रतिपत्तिपेशलम् ।
विशुद्धशीलाभरणाश्च याचका मम स्युरेतां वरसम्पदं वृणे ।। ३४ ।।

शक्र उवाच—सुभाषितरत्नाकरः खल्वत्रभवान् । अपि च—

यदभिप्रार्थितं सर्वं तत्तथैव भविष्यति ।
ददामि च पुनस्तुभ्यं वरमस्मिन्सुभाषिते ।। ३५ ।।

ऐसे लोग सदैव सज्जनोचित शिष्टता से सुशोभित रहते हैं । उन्हें हितकर बातें समझाई जा सकती हैं । यही कारण है कि मेरा गुणग्राही मन गुणज्ञधीर की ओर आकृष्ट होता है ।। ३१ ।।

ठीक है आपका कहना युक्तिसंगत है—यह कहते हुए परम प्रसन्न होकर इन्द्र ने वर माँगने की पुनः प्रार्थना की—

आप सन्तुष्ट संत हैं । आपने अपने कर्मों से निश्चय ही सब कुछ पा लिया है। फिर भी मुझ पर अनुग्रह करने के विचार से आप मेरा वर स्वीकार करें ।। ३२ ।।

उपकार करने की दृष्टि से यदि कोई सभक्ति यथाशक्ति किसी को कुछ उपहार देना चाहे और वह स्वीकार नहीं किया जाय तो देने वाले को इससे बड़ा कष्ट होता है ।। ३३ ।।

तब बोधिसत्त्व ने उसका हित करने की कामना से दान देने की उत्कट इच्छा प्रकट करते हुए कहा—

मुझे कभी क्षीण न होने वाला आपका अन्न हो, दान देने के लिए कोमल मन हो, सदाचारी याचक हो—मैं आपसे यही वर माँगता हूँ ।। ३४ ।।

तब इन्द्र के कहा—आप परमपूज्य हैं, सुभाषितों के सागर हैं । और भी—

आपने जो कुछ माँगा है, सब वैसे ही होंगे । आपके इस सुवचन के लिए मैं आपको पुनः वर देता हूँ ।। ३५ ।।

बोधिसत्त्व उवाच—

वरं ममानुग्रहसम्पदाकरं ददासि चेत्सर्वदिवौकसां वर।
न माभ्युपेयाः पुनरित्यभिज्वलन्निमं वरं दैन्यनिसूदनं वृणे ॥ ३६ ॥

अथ शक्रः सामर्षवदेनमतिविस्मयमान उवाच—मा तावद्भोः!

जपव्रतेज्याविधिना तपःश्रमैर्जनोऽयमन्विच्छति दर्शनं मम।
भवान्पुनर्नेच्छति केन हेतुना वरप्रदित्साभिगतस्य मे सतः ॥ ३७ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—अलं ते मन्युप्रणयेन। समनुनेष्याम्यहमत्रभवन्तं देवराज! न ह्यसावदाक्षिण्यानुवृत्तिर्न चाप्यबहुमानविचेष्टितमसमवधानकाम्यता वा भवति भवताम्। किं तु—

निरीक्ष्य ते रूपममानुषाद्भुतं प्रसन्नकान्ति ज्वलितं च तेजसा।
भवेत्प्रमादस्तपसीति मे भयं प्रसादसौम्यादपि दर्शनात्तव ॥ ३८ ॥

अथ शक्रः प्रणम्य प्रदक्षिणीकृत्य चैनं तत्रैवान्तर्दधे। प्रभातायां च रजन्यां बोधिसत्त्वः शक्रप्रभावोपहृतं प्रभूतं दिव्यमन्नपानं ददर्श। शक्रोपनिमन्त्रणाहूतानि चानेकानि प्रत्येकबुद्धशतानि व्यायताबद्धपरिकरांश्च परिवेषणसज्जाननेकांश्च देवकुमारान्।

तब बोधिसत्त्व ने कहा—

हे देवेन्द्र! यदि वस्तुतः आप मुझ पर कृपालु हैं और मुझे वर देना चाहते हैं, तो कृपया अब आगे आप मुझे इस दीप्तरूप में दर्शन कभी न दें। हे दैत्य निषूदन! मैं आपसे यही वरदान माँगता हूँ ॥ ३६ ॥

तब इन्द्र ने कुपित एवं विस्मित होते हुए कहा—'आप ऐसा न कहें।' लोग जप, तप, व्रत और यज्ञ के द्वारा मेरे दर्शन के लिए लालायित रहते हैं। मैं स्वयं वर देने के लिए आपके पास आया हूँ और आप मेरे दर्शन से भी बचना चाहते हैं! ऐसा क्यों? ॥ ३७ ॥

बोधिसत्त्व ने कहा—हे देवराज! आप क्रोध न करें। आप परमपूज्य हैं, मैं आपसे अनुनय करूँगा। मुझ में शिष्टाचार की कमी नहीं है। मैं न तो आपका तिरस्कार ही करता हूँ और न आपकी यह उपेक्षा ही है। किन्तु—

आपके इस अद्भुत् दिव्य एवं विमल रूप को देखकर कहीं मेरी तपस्या स्खलित न हो जाय, इसीलिए आपके इस सौम्य रूप के दर्शन से भी मुझे भय लगता है; और कुछ नहीं ॥ ३८ ॥

तब देवराज उन्हें प्रणाम और उनकी प्रदक्षिणा कर वहीं अन्तर्ध्यान हो गये। रात बीतने पर प्रभात बेला में बोधिसत्त्व ने शक्र के प्रभाव से लाये गये प्रचुर दिव्य अन्न, प्रत्येक बुद्धों तथा भोजन परोसने के लिए उद्यत अनेक देवकुमारों को देखा।

तेनान्नपानविधिना स मुनिर्महर्षीन्
सन्तर्पयन्मुदमुदारतरामवाप ।
वृत्त्या च तापसजनोचितयाभिरेमे
ध्यानाप्रमाणनियमेन शमेन चैव ।। ३९ ।।

तदेवं तपोवनस्थानामप्यलङ्कारस्त्यागशौर्यं प्रागेव गृहस्थानामिति त्याग शौर्येणालङ्कर्तव्य एवात्मा सत्पुरुषेणेति । दानपतिसम्प्रहर्षणायामप्युन्ने लोभद्वेषमोहबाल्यविगर्हायां कल्याणमित्रसम्पर्कगुणे सन्तोषकथायां तथाग माहात्म्ये च । एवं पूर्वजन्मस्वपि सुभाषितरत्नातिशयाकरः स भगवान् प्रागे सम्बुद्ध इति ।

इत्यगस्त्य-जातकं समाप्तम् ।

उनके द्वारा महर्षियों को तृप्तकर वे मुनि अत्यन्त आनन्दित हुए तथा स्व तपस्वियों के योग्य आहार, ध्यान नियम और शान्ति से ही प्रसन्न रहे ।। ३९ ।।

इस प्रकार की त्याग-वीरता तपोवन में रहने वालों के लिए भी अलंकार गृहस्थों के लिए तो पहले से है ही । दान-वीरत्व की प्रशंसा में, लोभ, द्वेष, मोह औ मूर्खता की निन्दा करने में, कल्याणमित्र की संगति का गुणगान करने में, संतोष की कथाकहने में और तथागत का माहात्म्य बतलाने में दृष्टान्त उपस्थित करन चाहिए । इस तरह हम देखते हैं कि अपने पूर्वजन्मों में भी भगवान् बुद्ध सुभाषित रत्नाकर थे, फिर जब वे बुद्ध हुए तब का कहना ही क्या है ?

अगस्त्य-जातक सातवाँ समाप्त ।

(८) मैत्रीबल-जातकम्

न परदुःखातुराः स्वसुखमवेक्षन्ते महाकारुणिकाः । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किल स्वमाहात्म्यकारुण्याभिप्रपन्नो जगत्परित्राणाध्याशयः, प्रदानदमनियमसौरत्यादिभिर्लोकानुग्रहानुकूलैर्गुणातिशयैरभिवर्धमानः सर्वसत्त्वमैत्रमना मैत्रबलो नाम राजा बभूव ।

दुःखं सुखं वा यदभूत्प्रजानां तस्यापि राज्ञस्तदभूत्तथैव ।
अतः प्रजारक्षणदक्षिणोऽसौ शस्त्रं च शास्त्रं च परामम‍र्श ।। १ ।।
नरेन्द्रचूडाधृतशासनस्य तस्य त्वलङ्कारवदास शस्त्रम् ।
विस्पष्टरूपं ददृशे च शास्त्रं नयेषु लोकस्य हितोदयेषु ।। २ ।।
विनिग्रहप्रग्रहयोः प्रवृत्तिर्धर्मोपरोधं न चकार तस्य ।
हिताशयत्वान्नयनैपुणाच्च परीक्षकस्येव पितुः प्रजासु ।। ३ ।।

तस्यैवं धर्मेण प्रजाः पालयतः सत्यत्यागोपशमप्रज्ञादिभिश्च परहितपरिणामनात्सविशेषोदात्तक्रमैर्बोधिसम्भारविधिभिरभिवर्धमानस्य कदाचित्कस्मिंश्चिदपराधे यक्षाणामधिपतिना स्वविषयात्प्रव्राजिता ओजोहाराः पञ्च यक्षाः

---

८. मैत्रीबल जातक

दूसरों के दुःख से दुःखी होने वाले अत्यधिक दयालु पुरुष अपने दुःख की चिन्ता नहीं करते । तब जैसी अनुश्रुति है—

बोधिसत्त्व एकबार मैत्रीबल नामक राजा हुए । सब प्राणियों के प्रति उनके मन में मित्रता की भावना थी । वे परम दयालु एवं महात्मा थे । लोक-कल्याण में वे सदैव दत्तचित्त थे । दान एवं धर्मादिक लोकोपकारी सद्गुणों से दिन-दूनी-रात चौगुनी उनकी उन्नति हो रही थी ।

प्रजा को जो कुछ सुख या दुःख होता था, उसकी उसी रूप में राजा को अनुभूति होती थी । प्रजा-पालक इस राजा ने शस्त्र एवं शास्त्र दोनों पर समान रूप से ही दृष्टिपात किया ।। १ ।।

दूसरे राजा मुकुट झुकाकर इनकी आज्ञा का पालन करते थे । इनका शस्त्र शरीर की शोभा के लिए ही था । पर, शास्त्र का चिन्तन ये सदैव लोकोपकारी कार्यों के लिए करते थे ।। २ ।।

किसी को दण्ड देने की या किसी पर कृपा करने की इनकी प्रवृत्ति से इनके धार्मिक अनुष्ठानों में किसी तरह की बाधा नहीं पहुँचती थी । क्योंकि, अपनी लोक-कल्याणकारी भावना तथा नीति-निपुणता के कारण, गुण-दोषों के परीक्षक अपने पिता के समान ही वे प्रजा के साथ समुचित व्यवहार करते थे ।। ३ ।।

जब वे इस प्रकार धर्मानुसार प्रजा का पालन कर रहे थे । सत्य, त्याग, शान्ति और अपनी प्रज्ञा से जनहित में लगे थे और बुद्धत्व प्राप्ति के लिए आवश्यक पुण्य

परबधदक्षास्तद्विषयमभिजग्मुः । व्यपगतसर्वोपद्रवत्वाच्च नित्यप्रवृत्तविविध
त्सवं परया सम्पदा समुपेतरूपं प्रमुदिततुष्टपुष्टजनमभिसमीक्ष्य तद्विषयं तनि
वासिनां पुरुषाणामोजांस्यपहर्तुं तेषामभिलाषो बभूव ।

ते परेणापि यत्नेन सम्प्रवृत्ताः स्वकर्मणि ।
नैव तद्विषयस्थानां हर्तुमोजः प्रसेहिरे ॥ ४ ॥

तस्य प्रभावातिशयान्नृपस्य ममेति यत्रैव बभूव बुद्धिः ।
सैवास्य रक्षा परमास तस्मादोजांसि हर्तुं न विषेहिरे ते ॥ ५ ॥

यदा च परमपि प्रयत्नं कुर्वन्तो नैव शक्नुवन्ति स्म कस्यचिद्विषयनिवा
सिनो जनस्यौजोऽपहर्तुमथ तेषां परस्परमवेक्ष्यैतदभूत् । किं नु खल्विदं मार्षा

अस्मत्प्रभावप्रतिघातयोग्या विद्यातपःसिद्धिमया विशेषाः ।
न सन्ति चैषामथ चाद्य सर्वे व्यर्थाभिधानत्वमुपागताः स्मः ॥ ६ ॥

अथ ते यक्षा ब्राह्मणवर्णमात्मानमभिनिर्माय समनुचरन्तो ददृशुः प्रत
रण्यचरमन्यतमं गोपालकं सशाद्वले छायाद्रुममूले सोपानत्कं सन्निषण्णं सपल्ल
वैर्वनतरुकुसुमैर्विरचितां मालामुद्वहन्तं दक्षिणतो विन्यस्तदण्डपरशुमेकाकि

संचय में जुटे थे, तब एक दिन किसी अपराध में यक्षपति कुबेर ने पाँच यक्ष-कुमारों
को अपने देश से निर्वासित कर दिया । वे अपने देश से निष्कासित होकर मैत्रीब
के राज्य में आ बसे । वे प्राणियों का तेज-हरण करने में तथा दूसरों का बध कर
में निपुण थे । उन्होंने देखा कि यह राज्य हर प्रकार के उपद्रवों से रहित एवं अ
समृद्ध है । यहाँ के निवासी हृष्ट-पुष्ट हैं तथा नित नूतन उत्सव होते रहते हैं । अ
उन्होंने यहाँ के निवासियों का ओज-हरण करना चाहा ।

आते-आते ही वे अपने कार्य में लग गये । किन्तु, उस देश के लोगों का ओज
हर नहीं सके ॥ ४ ॥

उस पुण्यात्मा राजा के पुण्य-प्रताप से उस देश के किसी भी आदमी का
ओज नहीं हर सके ॥ ५ ॥

जब बहुत यत्न करके भी वे वहाँ के निवासियों का कुछ नुकसान नहीं कर पा
तब एक दूसरे को देखते हुए उनके मन में यह प्रश्न उठा—'आखिर ऐसा ह
क्यों है ?

हमारे प्रभाव में रुकावट डालने योग्य सामान्य लोगों में न तो विद्या होती
सिद्धि का उत्कर्ष ही । फिर आज हमारा 'ओजोहार' नाम निरर्थक कैसे
गया ॥ ६ ॥

तब ब्राह्मण का रूप बनाकर विचरते हुए उन यक्षों ने एक वनचारी ग्वाले
देखा । वह छाँहदार पेड़ की जड़ में हरी दूब पर बैठा था । अपनी दाईं ओर
एक लाठी रक्खे था, बगल में एक कुल्हाड़ी रखकर वह अकेले रस्सी बाँट रहा

रज्जुवर्तनव्यापृतं प्रक्ष्वेडितविलासेन गायन्तमासीनं समुपेत्य चैनमूचुः—थथथ-ददकाकाकाका। भो गवां संरक्षाधिकृत ! एवं विविक्ते निर्जनसम्पातेऽस्मिन्नरण्ये विचरन्नेवमेकाकी कथं न बिभेषीति। स तानालोक्याब्रवीत्—कुतो वा भेतव्यमिति। यक्षा ऊचुः—किं त्वया न श्रुतपूर्वा यक्षराक्षसानां पिशाचानां वा निसर्गरौद्रा प्रकृतिरिति ?

सहायमध्येऽपि हि वर्तमानो विद्यातपःस्वस्त्ययनैरुपेतः।
येभ्यः कथञ्चित्परिमोक्षमेति शौर्यादवज्ञातभयोऽपि लोकः॥ ७॥
तेभ्यो नृमेदःपिशिताशनेभ्यः कथं भयं तेऽस्ति न राक्षसेभ्यः।
विविक्तगम्भीरभयानकेषु सहायहीनस्य वनान्तरेषु॥ ८॥

इत्युक्ते स गोपालकः प्रहस्यैतानुवाच—

जनः स्वस्त्ययनेनायं महता परिपाल्यते।
देवेन्द्रेणाप्यशक्योऽयं किं पुनः पिशिताशनैः॥ ९॥
तेन गेह इवारण्ये रात्रावपि यथा दिवा।
जनान्त इव चैकोऽपि निर्भयो विचराम्यहम्॥ १०॥

अथैनं ते यक्षाः कुतूहलप्राबल्यात्सादरमुत्साहयन्त इवोचुः—

उसके गले में जंगली फूलों की एक माला थी और पैरों में वह जूते पहने था। वह गीत गा रहा था और उसकी आवाज थरथरा रही थी। यक्षों ने उसके पास जाकर कहा—'थ थ थ द द का का का का'। अरे चरवाहे इस जंगल में इस तरह अकेले विचरते हुए तुम्हें डर क्यों नहीं लगता। उसने उन लोगों को देखकर कहा—किससे डरूँ ? यक्षों ने कहा—क्या तुमने सुना नहीं है कि यक्षों, राक्षसों और पिशाचों की प्रकृति बड़ी क्रूर होती है ?

जो लोग अपने सहायकों के बीच रहते हैं, जो अपनी विधा, तपस्या और स्वस्त्ययनों से संरक्षित हैं, जो अपनी वीरता के कारण भय की कभी परवाह भी नहीं करते—ऐसे लोग भी मनुष्यों की चर्बी और मांस चबाने वाले इन राक्षसों से मुश्किल से ही बच पाते हैं, तो फिर तुम इस एकान्त, गहन एवं भयानक जंगल में अकेले घूमते हुए भी भयभीत क्यों नहीं होते ? वह भी तब जब तुम बिल्कुल असहाय हो॥ ७–८॥

यह सुनकर उस चरवाहे ने हँसते हुए कहा—इस देश के लोग महास्वस्त्ययन अर्थात् महान् रक्षक के द्वारा संरक्षित हैं। इसलिए इन्द्र का भी उन पर कुछ बस नहीं चल सकता, फिर मांसभक्षी इन राक्षसों का क्या कहना ?॥ ९॥

इसलिए इस जंगल में भी घर की तरह, रात में भी दिन की तरह, अकेले रह कर भी समूह में स्थित की भाँति निर्भय विचरण करता हूँ॥ १०॥

तब उन यक्षों ने अति उत्सुकतावश उसे उत्साहित करते हुए सादर पूछा—

तत्कथय कथय तावद्भद्र कीदृशोऽयं युष्माकं स्वस्त्ययनविशेष इति। स तान्प्रहसन्नुवाच—श्रूयतां यादृशोऽयमस्माकमत्यद्भुतः स्वस्त्ययनविशेषः।

कनकगिरिशिलाविशालवक्षाः शरदमलेन्दुमनोज्ञवक्त्रशोभः।
कनकपरिघपीनलम्बबाहुर्वृषभनिभेक्षणविक्रमो नरेन्द्रः ॥ ११ ॥

ईदृशोऽस्माकं स्वस्त्ययनविशेषः। इत्युक्त्वा सामर्षविस्मयस्तान् यक्षानवेक्षमाणः पुनरुवाच—आश्चर्यं बतेदम्।

एवं प्रकाशो नृपतिप्रभावः कथं नु वः श्रोत्रपथं न यातः।
अत्यद्भुतत्वादथवा श्रुतोऽपि भवत्सु विप्रत्ययतो न रूढः ॥ १२ ॥
शङ्के गुणान्वेषणविक्लवो वा देशी जनोऽसावकुतूहलो वा।
विवर्जितो भाग्यपरिक्षयाद्वा कीर्त्या नरेन्द्रस्य यतोऽभ्युपैति ॥ १३ ॥

तदस्ति वो भाग्यशेषं यत्तादृशाद्देशकान्तारादिहागताः स्थ। यक्षा ऊचुः-भद्रमुख ! कथय किङ्कृतोऽयमस्य राज्ञः प्रभावो यदस्यामानुषा न प्रसहन्ते विषयवासिनं जनं हिंसितुमिति। गोपालक उवाच—स्वमाहात्म्याधिगतप्रभावोऽयमस्माकं महाराजस्य। पश्यत महाब्राह्मणाः !

हे भद्र, बतलाओ तुम्हारा विशिष्ट रक्षक यह कौन है ? उस चरवाहे ने तब हँसते हुए कहा—सुनिए ! हमारा विशिष्ट रक्षक कैसा है ?

ये हैं हमारे राजा, जिनकी छाती विशाल स्वर्णगिरि शिला की तरह चौड़ी है शरदृतु के विमल चन्द्र की आभा की तरह जिनकी मुख-कान्ति है, स्वर्ण-दण्ड की तरह स्थूल एवं लम्बी जिनकी बाँहें हैं, साँड़ की-सी जिनकी दृष्टि एवं शक्ति है ॥११

ऐसे हैं हमारे विशिष्ट संरक्षक। इतना कहकर क्रोध एवं विस्मय के साथ उ यक्षों को देखते हुए उसने पुनः कहा—क्यों आश्चर्य लगता है न तुम्हें ?

हमारे राजा का प्रभाव इतना स्पष्ट है और आपने सुना ही नहीं ! यह कै संभव हो सकता ? अथवा, हो सकता है, सुनने के बाद भी अति अद्भुत होने कारण आपको इस पर विश्वास ही न हुआ हो ॥ १२ ॥

मुझे लगता है, आप जिस देश से आये हैं, वहाँ के लोग सद्गुणों की खोज क में या तो असमर्थ हैं या फिर उनमें ऐसी वस्तु जानने की उत्सुकता ही मर गई अथवा पुण्यक्षीण होने के कारण राजा की कीर्त्ति सुनने से वंचित हैं ॥ १३ ॥

मुझे लगता है कि आपके कुछ पुण्य शेष हैं, जिनके कारण ऐसे जंगली देश आप यहाँ तक आये हैं। इस पर यक्षों ने फिर पूछा—भद्रमुख, यह तो बतला राजा का इतना प्रभाव किस कारण से है ? राक्षस या यक्ष उनके राज्य में हि क्यों नहीं कर पाते ? इस पर उस चरवाहे ने जबाव दिया—हमारे महाराज ने अ माहात्म्य से यह प्रभाव पाया है। हे ब्राह्मणों ! देखो—

मैत्री तस्य बलं ध्वजाग्रशबलं त्वाचारमात्रं बलं
नाऽसौ वेत्ति रुषं न चाऽऽह परुषं सम्यक् च गां रक्षति ।
धर्मस्तस्य नयो न नीतिनिकृतिः पूजार्थमर्थः सता-
मित्याश्चर्यमयोऽपि दुर्जनधनं गर्वं च नालम्बते ॥ १४ ॥

एवमादिगुणशतसमुदितोऽयमस्माकं स्वामी । तेनास्य न प्रसहन्ते विषयनिवासिनं जनं हिंसितुमुपद्रवाः । अपि च । कियदहं वः शक्ष्यामि वक्तुम् । नृपतिगुणश्रवणकौतूहलैस्तु भवद्भिर्नगरमेव युक्तं प्रवेष्टुं स्यात् । तत्र हि भवन्तः स्वधर्मानुरागाद्व्यवस्थितार्यमर्यादं नित्यक्षेमसुभिक्षत्वात्प्रमुदितसमृद्धमनुद्धतोदात्तवेषमभ्यागतातिथिजनविशेषवत्सलं नृपतिगुणाक्षिप्तहृदयं तत्कीर्त्याश्रयाः स्तुतीर्मङ्गलमिव स्वस्त्ययनमिव च प्रहर्षादभ्यस्यन्तं जनं दृष्ट्वा राज्ञो गुणविस्तरमनुमास्यन्ते । सत्यां च गुणबहुमानोद्भावनायां तद्दिदृक्षया यूयमवश्यं तद्गुणप्रत्यक्षिणो भविष्यथेति । अथ ते यक्षाः स्वप्रभावप्रतिघातात्तस्मिन्राजनि सामर्षहृदया भावप्रयुक्तयापि युक्तया तया तद्गुणकथया नैव मार्दवमुपजग्मुः ।

मैत्री ही उनका बल है, केवल आचार की रक्षा के लिए उनका सैन्य-संगठन है । उनमें न तो क्रोध है और न वे कभी कठोर वचन बोलते हैं । वे पृथ्वी की रक्षा में सदैव तत्पर हैं । कुटिल राजनीति नहीं, धर्म ही उनका नेता है । उनका धन सज्जनों की परिचर्या पर व्यय होता है, फिर भी न तो वे किसी दुष्ट की सम्पत्ति लेते हैं और न अभिमान ही करते हैं । वे अपने आप में अद्भुत् हैं ॥ १४ ॥

ऐसे प्रशस्त गुणों से युक्त हमारे राजा हैं । यही कारण है कि हमारे राज्य में हिंसक तथा उपद्रवकारी यक्ष या राक्षसों का कुछ वश नहीं चलता । मैं अबोध भला आपको इससे अधिक क्या बतला सकता हूँ ? यदि इस सम्बन्ध में आपको कुछ और जानने की उत्सुकता हो, तो नगर में जाकर पता कीजिए । वहाँ आप देखेंगे कि वहाँ की धर्मानुरागी जनता आर्य-मर्यादा की रक्षा में सदैव तत्पर रहती है । अन्न की प्रचुरता के कारण वे प्रसन्न एवं समृद्ध हैं । यहाँ के लोग विनत हैं, कुशली है, अतिथि-सेवी हैं, उत्तम वेशभूषा धारण करते हैं । अपने राजा के गुणों से मुग्ध रहते हैं । आनन्द-विभोर होकर राजा की यशोगाथा का वर्णन करते हैं । लगता है वे किसी वस्तु का मंगलाचरण अथवा स्वस्ति-वाचन कर रहे हैं । यह सब देखकर आप हमारे राजा के गुणों का अनुमान कर सकते हैं । यदि आपके मन में उनके प्रति सम्मान की भावना होगी, दर्शन की अभिलाषा जगेगी, तो निश्चय ही आपको अपनी आँखों से सब कुछ देखने का अवसर भी मिलेगा । अपने प्रभाव में बाधा के कारण राजा के प्रति उन्हें क्रोध तो था ही, यह सब सुनकर भी उनके मन की निष्ठुरता दूर नहीं हुई ।

प्रायेण खलु मन्दानाममर्षज्वलितं मनः ।
यस्मिन्वस्तुनि तत्कीर्त्या तद्विशेषेण दह्यते ।। १५ ।।

प्रदानप्रियतां तु समभिवीक्ष्य तस्य राज्ञस्ते यक्षास्तदपकारचिकीर्षव समभिगम्य राजानं सन्दर्शनकाले भोजनमयाचन्त । अथ स राजा प्रमुदित मनास्तदधिकृतान्पुरुषान्समादिदेश – क्षिप्रमभिरुचितं भोजनं ब्राह्मणेभ्य दीयतामिति । अथ ते यक्षाः समुपहृतं राजार्हमपि भोजनं हरिततृणमि व्याघ्रा नैव प्रत्यगृह्णन्नैवंविधं भोजनं वयमश्नीम इति । तच्छ्रुत्वा स राज समभिगम्यैनानब्रवीत् – अथ कीदृशं भोजनं युष्माकमुपशेते ? यावत्तादृश मन्विष्यतामिति । यक्षा ऊचुः—

प्रत्यग्रोष्माणि मांसानि नराणां रुधिराणि च ।
इत्यन्नपानं पद्माक्ष ! यक्षाणामक्षतव्रत ।। १६ ।।

इत्युक्त्वा दंष्ट्राकरालवदनानि दीप्त-पिङ्गल-केकर-रौद्रनयनानि स्फुटित चिपिटविरूपघोणानि ज्वलदनलकपलिकेशश्मश्रूणि सजलजलधरान्धकारा विकृतभीषणानि स्वान्येव वपूंषि प्रत्यपद्यन्त । समभिवीक्ष्य चैनान्स राजा पिशाचाः खल्विमे न मानुषास्तेनास्मदीयमन्नपानं नाभिलषन्तीति निश्च मुपजगाम ।

ऐसा देखा जाता है कि जिन वस्तुओं के प्रति मूर्खों के मन में क्रोध होता है उनकी कीर्त्तिगाथा सुनकर वे सहसा जल उठते हैं ।। १५ ।।

राजा की दान-प्रियता जैसे गुणों को सुनकर, उनका अपकार करने की इच्छा यक्षों ने दर्शनकाल में उनके समीप जाकर भोजन माँगा । प्रसन्न होकर राजा ने उन भोजन हेतु अधिकारी पुरुषों को आदेश दिया—'इन ब्राह्मणों को स्वादि भोजन दीजिए ।' राजभोग के अनुकूल उस भोजन को पाकर भी उन यक्षों ने उ ग्रहण नहीं किया । जैसे बाघ हरी घास नहीं खाता, वैसे ही यक्षों ने राजा से कहा हम ऐसे भोजन नहीं करते । तब राजा ने उनके पास जाकर विनम्र भाव से कहा तब आपके अनुकूल किस प्रकार का भोजन है, कृपया आप बतला दें, जिससे कि उसकी व्यवस्था कर सकूँ । इस पर यक्षों ने कहा—

हे कमलनयन ! हे अखण्डव्रत ! मनुष्य का ताजा मांस और गर्म लहू—यही यक्षों का खाना और पीना है ।। १६ ।।

इतना कहने के बाद उन्होंने अपना विकृत और भयंकर रूप धारण कर लि उनके विकराल मुख में बड़े-बड़े दाँत निकल आए । उनकी आँखें लाल, पीली टेढ़ी थीं, वे भयंकर प्रतीत होती थीं । उनकी नाकें भद्दी, चिपटी एवं चौड़ी थ उनकी मूँछ, दाढ़ी और केश आग की लपटों की तरह भूरे थे । उनकी देह स बादल की तरह काली थी । उनका विकृत रूप देखकर ही राजा को निश्चय हो कि ये मनुष्य नहीं पिशाच हैं । इसीलिए हमारा भोजन इन्हें नहीं रुचता ।

अथ तस्य नरेन्द्रस्य प्रकृत्या करुणात्मनः ।
भूयसी करुणा तेषु समभूच्छुद्धचेतसः ॥ १७ ॥

करुणैकतानहृदयश्च तान्यक्षाननुशोचन्नियतमीदृशमर्थं चिन्तयामास ।

दयावतस्तावदिदमन्नपानं सुदुर्लभम् ।
प्रत्यहं च तदन्वेष्यं किन्नु दुःखमतः परम् ॥ १८ ॥
निर्दयस्याप्यशक्तस्य विघातैकरसः श्रमः ।
शक्तस्याप्यहिताभ्यासात् किंस्वित्कष्टतरं ततः ॥ १९ ॥

एवंविधाहारपरायणानां कारुण्यशून्याशिवमानसानाम् ।
प्रत्याहमेषां दहतां स्वमर्थं दुःखानि यास्यन्ति कदा नु नाशम् ॥ २० ॥

तत्कथमिदानीमहमेषामीदृशाहारसम्पादनादेकाहमपि तावत्परहिंसा-प्राणविघातं कुर्याम् ।

न हि स्मराम्यर्थितयागतानामाशाविपर्यासहतप्रभाणि ।
हिमानिलम्लापितपङ्कजानां समानदैन्यानि मुखानि कर्तुम् ॥ २१ ॥

भवतु । दृष्टम् ।

यह देखकर स्वभाव से ही दयालु राजा के निर्मल मन में उनके प्रति बड़ी दया आई ॥ १७ ॥

तब उस दयालु राजा ने उन यक्षों के लिए सोचना शुरू किया—

जो भी व्यक्ति दयावान् हैं, उन्हें इनके उपयुक्त भोजन और पेय जुटाना तो कठिन है। प्रतिदिन इनकी खोज करनी पड़ेगी, इससे बढ़कर और दुःख क्या हो सकता है? ॥ १८ ॥

जो निर्दय हैं और इनके लायक अन्नपान जुटाने में असमर्थ हैं, उनका परिश्रम यों भी बेकार हैं और यदि वे समर्थ हैं तो उन्हें इनके भोजन जुटाने के लिए बार-बार ऐसा ही कुकर्म करना पड़ेगा। इससे बढ़कर भला और दुष्कर्म क्या हो सकता है ॥ १९ ॥

इस प्रकार के भोजन में आसक्त क्रूरकर्मी एवं दुष्ट हृदय वाले ये यक्ष अपने सुख की हानि स्वयं कर रहे हैं। क्या जीवन में कभी इनके दुःख का अन्त संभव है?

इन्हें इस प्रकार का आहार देने के निमित्त मैं क्यों एक दिन के लिए भी पर हिंसा और प्राणि-बध जैसा पाप करूँ?

मुझे याद नहीं आती कि कभी मैंने अपने दरवाजे से किसी याचक को निराश लौटाया है। उनके मुखों को उदास या ठंढी हवा से कुम्हलाये कमलों की तरह दीन या मलिन किया है ॥ २१ ॥

जो हो, मैंने इन्हें अब जान लिया है—

स्वतः शरीरात्स्थिरपीवराणि दास्यामि मांसानि सशोणितानि ।
अतोऽन्यथा को हि मम क्रमः स्यादित्यागतेष्वर्थिषु युक्तरूपः ।। २२ ।।
स्वयंमृतानां हि निरूष्मकाणि भवन्ति मांसानि विशोणितानि ।
प्रियाणि चैषां न हि तानि सम्यग् बुभुक्षया पीडितविग्रहाणाम् ।। २३ ।।

जीवतोऽपि च कुतोऽहमन्यस्मान्मांसमादास्ये मामभिगम्य चैते तथैव क्षुत्तर्षपरिक्षामनयनवदना निष्फलाशाप्रणयत्वादधिकतरविघातातुरमनसः कथं नाम प्रतियास्यन्ति ? तदिदमत्र प्राप्तकालम् ।

दुष्टव्रणस्येव सदातुरस्य कडेवरस्यास्य रुजाकरस्य ।
करोमि कार्यातिशयोपयोगादत्यर्थरम्यं प्रतिकारखेदम् ।। २४ ।।

इति विनिश्चित्य स महात्मा प्रहर्षोद्गमस्फीतीकृतनयनवदनशोभः स्वं शरीरमुपदर्शयंस्तान्यक्षानुवाच—

अमूनि मांसानि सशोणितानि धृतानि लोकस्य हितार्थमेव ।
यद्यातिथेयत्वमुपेयुरद्य महोदयः सोऽभ्युदयो मम स्यात् ।। २५ ।।

अथ ते यक्षा जानन्तोऽपि तस्य राज्ञस्तमध्याशयमत्यद्भुतत्वादश्रद्दधाना राजानमूचुः—

अतः अपनी ही देह से लहू सने सुपुष्ट मांस काटकर इन्हें खाने को दूँगा । इसके अतिरिक्त आये हुए याचकों का सत्कार करने के लिए मेरे पास और है ही क्या ?

मृत-प्राणियों का मांस तो ठंढा एवं शोणित रहित होता है । वह तो इन्हें रुचेगा नहीं । लगता है इन्हें जोरों की भूख लगी है और ये भूख से व्यग्र हैं ।। २३ ।।

तो फिर अन्य जीवित प्राणी का मांस कहाँ पाऊँ ? और इन्हें निराश, निष्फल और दुःखी होकर कैसे लौट जाने दूँ । भूख और प्यास से इनकी आँखें धँस गई हैं और प्यास से ओठ सूख गये हैं । अतः मेरा जो कर्त्तव्य है, उसे पूरा करने का समय आ गया है ।

दुःखों का खजाना, सदा पीड़ा देने वाला, हमेशा टहकते रहने वाले फफोले की तरह यह शरीर अति दुःखदायी है । निश्चय ही अत्यन्त उपयोगी काम में इसे लगाकर मैं इस पीड़ा का प्रतिकार करूँगा ।। २४ ।।

ऐसा निश्चय करते ही खुशी के मारे उनकी आँखें विकसित हो उठीं, चेहरे खिल उठे । उस महात्मा ने अपनी देह दिखलाते हुए उन यक्षों से कहा—

मैंने मांस और लहू दूसरों के हित के लिए ही तो धारण किया है । यदि आप इसका उपयोग अतिथि-सत्कार के लिए हो, तो यह मेरा सौभाग्य ही होगा ।।२५।।

राजा की आन्तरिक इच्छा जानकर भी उन यक्षों को उस पर विश्वास नहीं हुआ, क्योंकि, उनके लिए ऐसा काम आश्चर्यजनक था । उन्होंने राजा से कहा—

अर्थिनात्मगते दुःखे याच्ञादैन्येन दर्शिते।
ज्ञातुमर्हति दातैव प्राप्तकालमतः परम्॥ २६॥

अथ राजाऽनुमतमिदमेषामिति प्रमुदितमनाः सिरामोक्षणार्थं वैद्या आज्ञाप्यन्तामिति समादिदेश। अथ तस्य राज्ञोऽमात्याः स्वमांसशोणितप्रदानव्यवसायमवेत्य सम्भ्रमामर्षव्याकुलहृदया व्यक्तमीदृशं कञ्चिदर्थं स्नेहवशादूचुः—नार्हति देवः प्रदानहर्षातिशयादनुरक्तानां प्रजानां हिताहितक्रममनवेक्षितुम्। न चैतदविदितं देवस्य। यथा—

यद्यत्प्रजानामहितोदयाय तत्तत्प्रियं मानद! राक्षसानाम्।
परोपरोधार्जितवृत्तितुष्टिरेवंस्वभावानघ जातिरेषाम्॥ २७॥
सुखेष्वसक्तश्च बिभर्षि देव! राज्यश्रमं लोकहितार्थमेव।
स्वमांसदानव्यवसायमस्मात्स्वनिश्चयोन्मार्गमिमं विमुञ्च॥ २८॥
असंशयं न प्रसहन्त एते त्वद्वीर्यगुप्तं नरदेव लोकम्।
अनर्थपाण्डित्यहतास्तथा हि नयेन वाञ्छन्त्यनयं प्रजानाम्॥ २९॥
मेदोवसाद्यैस्त्रिदशा मखेषु प्रीतिं हुताशाभिहुतैर्व्रजन्ति।
सत्कारपूतं भवदीयमन्नं सम्पन्नमेषां किल नैव रुच्यम्॥ ३०॥

कोई याचक तो दीनतापूर्वक याचना ही कर सकता है। पर, याचना सुनकर दाता का कर्त्तव्य क्या है? यह तो दाता ही जानता है॥ २६॥

उनके इस कथन से राजा ने समझा कि यक्षों ने मेरे निश्चय का अनुमोदन किया है। अतः उन्होंने अपने अनुचरों से कहा—रक्त की धमनियाँ खोलने के लिए चिकित्सकों को आदेश दिया जाय। राजा ने अपना रक्त एवं मांस देने का निर्णय किया है—यह जानकर उनके सचिवों को अपार वेदना हुई। वे घबड़ाहट और क्रोध के मारे व्याकुल हो गये। स्नेह के वशीभूत होकर स्पष्ट शब्दों में राजा से कहा—श्रीमान्, आपके लिए क्या यह उचित है कि दान देने के हर्षातिरेक में आप अपनी अनुरक्त प्रजा के हित-अहित की भी उपेक्षा कर दें। क्या आपसे यह छिपा है—

मान्यवर! जिन बातों से आपकी प्रजा का अहित होगा, क्या वे ही इन राक्षसों को प्रिय नहीं है? हे निष्कलंक! दूसरों की हिंसा कर अपनी आजीविका का उपार्जन करने में क्या इन्हें सन्तोष की अनुभूति नहीं होती? यह तो इनका जातीय स्वभाव है॥ २७॥

हे देव! आपने सदैव अपने सुखों में अनासक्त रहकर जनहित के लिए ही राज्य-भार वहन किया है। अतः अपनी देह का मांस इन्हें देने का आपका निर्णय निश्चय ही गलत है। कृपया आप इस गलत रास्ते पर चलने का निश्चय छोड़ दें॥ २८॥

हे राजन्! आपके प्रभाव से संरक्षित आपकी प्रजा पर निश्चय ही इनका कुछ वश नहीं चलता। अतः अनर्थकारी बुद्धि से प्रेरित होकर ये यक्ष इस उपाय से आपकी प्रजा का अहित चाहते हैं॥ २९॥

यज्ञ के अवसर पर आग में चर्बी से भी हवन करने पर देवगण प्रसन्न होते हैं, किन्तु आपके द्वारा सादर समर्पित सम्पन्न भोजन भी इन्हें अच्छा नहीं लगता॥३०॥

कामं नास्मद्विधजनाधेयबुद्धयो देवपादाः। स्वकार्यानुरागस्त्वयमस्मानेव-मुपचारपथाद् भ्रंशयति। पञ्चानाममीषामर्थे सकलं जगदनर्थीकर्तव्यमिति कोऽयं धर्ममार्गो देवस्य। अपि च। किंकृतेयमस्मास्वेवं निष्प्रणयता, केन वास्माकं स्वाम्यर्थे विनियोज्यमानानि विनिगूढपूर्वाणि मांसशोणितानि यद-परिक्षीणेष्वेवामीषु स्वानि देवो दातुमिच्छतीति। अथ स राजा तानमात्यानु-वाच—

संविद्यमानं नास्तीति ब्रूयादस्मद्विधः कथम्।
न दास्यामीत्यसत्यं वा विस्पष्टमपि याचितः॥ ३१॥

धर्मव्यवस्थासु पुरःसरः सन् स्वयं व्रजेयं यदि कापथेन।
अस्मद्गताचारपथानुगानां भवेदवस्था मम का प्रजानाम्॥ ३२॥

यतः प्रजा एव समीक्षमाणः सारं शरीरादहमुद्धरिष्ये।
कश्च प्रभावो जगदर्थसाधुर्मात्सर्यहार्याल्पहृदो मम स्यात्॥ ३३॥

यदपि चास्मत्प्रेमबहुमानावर्चितं प्रणयविस्रम्भगर्भमभिधीयते भवद्भिः— किङ्कृतेयमस्मास्वेवं निष्प्रणयता यदपरिक्षीणेष्वेव नो मांसशोणितेषु स्वानि

हम अच्छी तरह जानते हैं कि हमारे जैसे लोगों के सामने आप अपना मन्तव्य प्रकट करने के लिए बाध्य नहीं हैं। फिर भी हमें अपने कर्त्तव्य का अनुराग आपसे इस तरह पूछने को विचलित कर रहा है। केवल इन पाँचों के लिए आपने अखिल विश्व का अहित करने का निश्चय किया है। यह आपका कैसा धर्ममार्ग है? और भी—पता नहीं किस कारण से आप हम पर इतना अधिक नाराज हैं? अथवा पूर्व जन्म में आपको जरूरत पड़ने पर भी हमने अपना मांस या लहू आपसे छिपाया है यह इसलिए कि पर्याप्त मात्रा में इसकी उपलब्धि के बावजूद आपने अपना मांस और लहू देने का निर्णय किया है। तब राजा ने उन सचिवों से कहा—

वस्तु के मौजूद रहने पर, कोई यदि साफ शब्दों में उसकी मांग करे तो मे जैसा आदमी 'नहीं है' या 'नहीं दूँगा' कैसे कह सकता है?॥ ३१॥

आपका अगुआ होकर भी किसी धार्मिक काम में मैं पीछे हट जाऊँ तो भ मेरे इस आचरण का मेरी प्रजा पर कैसा प्रभाव पड़ेगा?॥ ३२॥

अतः प्रजा के हित को ध्यान में रखकर ही मैं अपनी देह से सार निकालक इन्हें देना चाहता हूँ। ऐसे अवसर पर कृपणता के कारण यदि मैं अपने हृदय छोटा कर लूँ तो आप ही बतलायें मेरी प्रजा पर इसका क्या प्रभाव होगा?॥३३

प्रेम और सम्मान के वशीभूत होकर, स्नेह और विश्वासपूर्वक आप लोगों कहा है—किस कारण से आप हमसे इतना रुष्ट हैं कि पर्याप्त मात्रा में मांस औ शोणित के रहते हुए भी आप अपना मांस और शोणित दे रहे हैं? इस सम्बन्ध आपसे मेरा यही अनुरोध है कि विश्वास के अभाव से मेरा स्नेह मार्ग अवरुद्ध

देवो दातुमिच्छतीति । अत्र वोऽनुनेष्यामि । न खलु मे युष्मासु प्रतिहतविषयः प्रणयमार्गो विस्रम्भविरहात्परिशङ्कागहनदुरवगाहो वा । किन्तु—

धने तनुत्वं क्रमशो गते वा भाग्यानुवृत्त्या क्षयमागते वा ।
विजृम्भमाणप्रणयः सुहृत्सु शोभेत न स्फीतधनः कृशेषु ॥ ३४ ॥

विवर्धितेऽर्थिजनार्थमेव संविद्यमानेषु च मे बृहत्सु ।
गात्रेषु मांसोपचयोन्नतेषु युष्मास्वपि स्यात्प्रणयो विरूपः ॥ ३५ ॥

असंस्तुतानामपि न क्षमेय पीडां कथं कैव कथा भवत्सु ।
स्वान्येव मांसानि यतोऽस्मि दित्सुर्मां चैव याचन्त इमे न युष्मान् ॥३६॥

तदलमस्मदतिस्नेहाद्धर्मविघ्ननिःसाध्वसतया । अनुचितः खल्वयमत्र भवतामस्मदर्थिषु समुदाचारः । मीमांसितव्यमपि च तावदेतत्स्यात् ।

स्वार्थमन्नादि दित्सन्तं कथं स्यात्प्रतिषेधयन् ।
साधुवृत्तिरसाधुर्वा प्रागेवैवंविधं विधिम् ॥ ३७ ॥

तदलमनेनात्र वो निर्बन्धेन न्यायोपपरीक्षया क्रियतामस्मत्साचिव्यसदृशमुन्मार्गावरणं मनसः । अनुमोदनानुगुणवचसः खल्वत्रभवन्तः शोभेरन्नेवमधीरनयनाः । कुतः—

गया हो अथवा शंका के कारण बीहड़ या दुर्गम हो गया हो, ऐसी कोई बात नहीं है । किन्तु—

क्रमशः सम्पत्ति घट जाने पर या भाग्य के फेर से नष्ट हो जाने पर यदि मित्रों के ऊपर प्रेम प्रकट किया जाय तो यह उचित हो सकता है, किन्तु, अपने पास विपुल सम्पत्ति रहते हुए भी मित्रों की सहायता स्वीकार्य हो यह अनुचित है ॥३४॥

मांस की वृद्धि से पल-पल करते ये हमारे अङ्ग याचकों के लिए ही तो पोसे गये हैं । इन अंगों के रहते आपकी सहायता ग्रहण करना अनुचित होगा ॥ ३५ ॥

मैं अपरिचितों की भी पीड़ा सह नहीं कर सकता; फिर आप लोगों की बात ही क्या है ? इसीलिए मैं अपना ही मांस देना चाहता हूँ । ये मुझसे माँगते हैं, आपसे नहीं ॥ ३६ ॥

मेरे प्रति अत्यधिक स्नेह होने के कारण ही आप लोग मेरे इस धार्मिक अनुष्ठान में विघ्न डाल रहे हैं । इसे छोड़िए । मेरे याचकों के सम्बन्ध में आपका यह आचरण अनुचित है । आपको इस बात पर भी विचार करना चाहिए—

आत्महित के लिए अन्नादि दाता को रोकने वालों को क्या कहा जाय ? दुर्जन या सज्जन ? फिर इतने बड़े दानकर्म को रोकने वाले को क्या कहा जाय ॥ ३७ ॥

अतः इस सन्दर्भ में आपको यह हठ छोड़ देना चाहिए । मेरे कथन को समझिए । आप मेरे सचिव हैं । तदनुसार आपको अपना आचरण करना चाहिए । आप अपने मानसिक अन्धकार का परित्याग करें । मेरे समर्थन में ही आपकी शोभा है, न कि अपनी आँखों को कातर बनाने में ।

नैकोपयोगस्य धनस्य तावन्न प्रत्यहं याचनका भवन्ति ।
एवंविधस्त्वर्थिजनोऽधिगन्तुं न देवताराधनयापि शक्यः ।। ३८ ।।

एवंविधे चार्थिजनेऽभ्युपेते देहे विनाशिन्यसुखास्पदे च ।
विमर्शमार्गोऽप्यनुदात्तता स्यान्मात्सर्यदैन्यं तु परा तमिस्रा ।। ३९ ।।

तन्न मा वारयतुमर्हन्त्यत्रभवन्त इत्यनुनीय स राजा स्वां पर्षदमाहूय वैद्यान्पञ्च सिराः स्वशरीरे मोक्षयित्वा तान्यक्षानुवाच –

धर्मकर्मणि साचिव्यं प्रीतिं च परमां मम ।
भवन्तः कर्तुमर्हन्ति देयस्यास्य प्रतिग्रहात् ।। ४० ।।

ते तथेत्युक्त्वाञ्जलिपुटैरेव राज्ञो रक्तचन्दनरसाभिताम्रं रुधिरं पातुमुपचक्रमिरे ।

स पीयमानक्षतजः क्षितीशः क्षपाचरैर्हेमवपुश्चकाशे ।
सन्ध्यानुरक्तैर्जलभारनम्रैः पयोधरैर्मेरुरिवोपगूढः ।। ४१ ।।

प्रीतिप्रकर्षाद्धृतिसम्पदा च वपुर्गुणादेव च तस्य राज्ञः ।
मम्लौ न गात्रं न मुमूर्छ चेतः सञ्चिक्षिपे न क्षतजं क्षरद्वा ।। ४२ ।।

विनीततर्षक्लमास्तु ते यक्षाः पर्याप्तमनेनेति राजानमूचुः—

केवल पेट भरने जैसी माँग को लेकर तो प्रतिदिन याचक आते ही है, किन्तु इस प्रकार के याचक तो देवताओं की आराधना करने पर भी प्राप्त नहीं हो सकते।

ऐसे याचक मेरे सामने खड़े हैं और मैं यह जानता हूँ कि यह देह बिल्कुल नाशवान् है, पीड़ाओं का घर है। ऐसी स्थिति में कुछ सोचना भी नीचता है और कृपणता या दयनीयता तो निश्चय ही बौद्धिक दिवालियापन है ।। ३९ ।।

इसलिए आगे अब मुझे रोकना आपके लिए उचित नहीं है। इस तरह सचिवों से अनुनय-विनय कर राजा ने अपनी परिषद् को बुलाया और उनके सामने ही अपनी देह की पाँच धमनियों को वैद्य से खुलवाया तथा यक्षों से कहा—

मेरे इस दान को कबूल कीजिए और मेरे इस धार्मिक कृत्य में साथ देकर मुझे आह्लादित कीजिए ।। ४० ।।

'बहुत अच्छा' कहकर उन पाँचों ने राजा के लाल-लाल रक्तचन्दन के रस की तरह ताँबे के रंग के गाढ़े खून को अपनी अंजलिपुटों से ही पीने लगे।

जिस समय झुककर वे राजा का रक्त पी रहे थे, उस समय ऐसा लगता था जैसे सान्ध्य बेला की रक्तिमा में डूबे सुनहले सुमेरु पर्वत को सजल नीरद श्यामवर्ण बादल ने आलिङ्गित किया हो ।। ४१ ।।

आनन्दातिरेक में मस्त उस धैर्यवान् उत्तमचरित राजा का न तो शरीर मुरझाया, न मन मलिन हुआ और न खून का झरना ही बन्द हुआ ।। ४२ ।।

प्यास और थकावट दूर हो जाने पर उन यक्षों ने राजा से कहा—बस आज इतना ही काफी है।

अनेकदुःखायतने शरीरे सदा कृतघ्नेऽपि नराधिपस्य ।
गतेऽर्थिसम्माननसाधनत्वं हर्षानुकूलं ग्रहणं बभूव ॥ ४३ ॥

अथ स राजा हर्षप्रबोधादधिकतरनयनवदनप्रसादो नीलोत्पलदलनील-विमलपत्रं रत्नप्रभोद्भासुररुचिरत्सरुं निशितं निस्त्रिंशमादाय स्वमांसानि-च्छित्त्वा तेभ्यः प्रायच्छत् ।

ह्रियमाणवकाशं तु दानप्रीत्या पुनः पुनः ।
न प्रसेहे मनस्तस्य च्छेददुःखं विगाहितुम् ॥ ४४ ॥

आकृष्यमाणं शितशस्त्रपातैः प्रीत्या पुनर्दूरमपास्यमानम् ।
खेदालसत्वादिव तस्य दुःखं मनःसमुत्सर्पणमन्दमासीत् ॥ ४५ ॥

स प्रीतिमानेव निशाचरांस्तान्सन्तर्पयन्स्वैः पिशितैस्तथासीत् ।
क्रूराणि तेषामपि मानसानि येनासुराविष्कृतमार्दवानि ॥ ४६ ॥

धर्मप्रियत्वात्करुणावशाद्वा त्यजन् परार्थे प्रियमात्मदेहम् ।
द्वेषाग्निदग्धान्यपि मानसानि प्रसादसौवर्ण्यनवानि कुर्यात् ॥ ४७ ॥

अथ ते यक्षास्तं राजानं स्वमांसोत्कर्तनपरं तथैवास्खलितवदनप्रसादम-विकम्प्यमानं मांसच्छेदवेदनाभिरभिवीक्ष्य परं प्रसादं विस्मयञ्चोपजग्मुः ।

यद्यपि यह देह बड़ा कृतघ्न है । अनेक कष्टों का घर है, फिर भी आज यह हमारे अतिथि-सत्कार का साधन बना, यह सोचकर ही राजा की खुशी का ठिकाना न था ॥ ४३ ॥

आनन्द की अनुभूति से राजा की आँखें विकसित हो गईं और मुख खिल गया । नील कमल की पंखुड़ियों के समान नीले मूठ वाली तलवार से अपनी देह से मांस काट-काटकर राजा ने यक्षों को खिलाना प्रारंभ कर दिया ।

दान देने की खुशी से उनका मन इस तरह भर गया कि देह से मांस कटने की पीड़ा को उसमें घुसने की जगह ही नहीं रह गई ॥ ४४ ॥

कष्ट तो उनके पास फटकने ही नहीं पा रहा था क्योंकि तलवार की चोट से कभी उसे ये पास खींच लेते थे और कभी प्रीति से दूर हटा देते थे । मानो थककर वह चकनाचूर हो गया था और मन्दगति से इनके मन के समीप पहुँच पाता था ॥ ४५ ॥

अपने मांस से उन राक्षसों को संतुष्ट करते हुए वे इतने प्रसन्न थे कि उन दैत्यों के कठोर मन भी कोमल बन गये ॥ ४६ ॥

धर्मानुराग अथवा करुणा के वशीभूत होकर दूसरों के लिए अपनी देह तक का जो त्याग कर देते हैं ऐसे लोग इर्ष्या की आग में जलते हुए चित्त को भी प्रसन्न, निर्मल एवं अभिनव बना देते हैं ॥ ४७ ॥

मांस काटने की पीड़ा में भी अविचल, स्थिर एवं प्रसन्नवदन राजा को मांस काढने में लीन देखकर उन यक्षों को इनके प्रति बड़ी श्रद्धा और विस्मय हुआ ।

आश्चर्यमद्भुतमहो बत किंस्विदेतत्
सत्यं न वेति समुदीर्णविचारहर्षाः ।
राजन्यमर्षमपमृज्य मनःप्रसादं
तत्संस्तुतिप्रणतिभिः प्रथयाम्बभूवुः ॥ ४८ ॥

अलमलं देव ! विरम्यतां स्वशरीरपीडाप्रसङ्गात् । सन्तर्पिताः स्मस्तवानयाद्भुतया याचनकजनमनोहरया प्रतिपत्त्येति ससम्भ्रमाः सप्रणामं विनिवार्य राजानं प्रसादाश्रुपरिषिक्तवदनाः सबहुमानमुदीक्षमाणाः पुनरूचुः—

स्थाने भक्तिवशेन गच्छति जनस्त्वत्कीर्तिवाचालतां
स्थाने श्रीः परिभूय पङ्कजवनं त्वत्संश्रयश्लाघिनी ।
व्यक्तं शक्रसनाथतामपि गता त्वद्वीर्यगुप्तामिमां
द्यौः पश्यत्युदितस्पृहा वसुमतीं नो चेदहो वञ्च्यते ॥ ४९ ॥

किं बहुना । एवंविधजनाभ्युपपन्नः सभाग्यः खलु मनुष्यलोकः । युष्मदायासाभ्यनुमोदनात्तु वयमेवात्र दग्धाः । भवद्विधजनापश्रयाच्छक्यमित्थङ्गतैरप्यात्मानं समुद्धर्तुमिति स्वदुष्करप्रतीघाताशया भवन्तं पृच्छामः ।

अद्भुत है, आश्चर्यजनक है, सच या असत्य है—समझ में कुछ नहीं आता । यह सोच-सोचकर उन यक्षों का मन प्रसन्नता से भर गया । राजा के प्रति उनके मन का सारा विकार मिट गया । उनकी स्तुति कर तथा उन्हें प्रणाम कर उन यक्षों ने राजा के प्रति अपनी आन्तरिक श्रद्धा अभिव्यक्त की ॥ ४८ ॥

देव, अब बस करें । अपनी देह को अब अधिक यातना न दें । याचकों के मन को मुग्ध करने वाले आपके इस शालीन व्यवहार से हम संतुष्ट हैं । इस तरह घबड़ाहट में आकर उन यक्षों ने विनम्र होकर राजा को रोका । उनके चेहरे पर पवित्रता के आँसू छलक आये । राजा की ओर ससम्मान देखते हुए उनसे कहा—

लोग भक्ति के वशीभूत होकर आपकी कीर्त्ति का बखान करते हैं—यह उचित ही है । लक्ष्मी अपने पद्मालय को छोड़कर आपकी छाया में रहना पसन्द करती है यह भी उचित ही है । इन्द्र तुल्य स्वामी को पाकर भी यह दित्यभूमि आपके पराक्रम से संरक्षित होकर भी इस धरती को इर्ष्या से न देखें तो निश्चय वह अभागिन है ॥ ४९ ॥

अधिक क्या ? आपके जैसे महापुरुष को पाकर आज यह मनुष्य लोक भाग्यशाली है । आपके कष्ट का अनुमोदन कर हम स्वयं आज जल रहे हैं । आप तरह महापुरुषों की छाया में हमारे समान क्षुद्र जीव भी अपना उद्धार कर स हैं । अपने पाप को मिटाने की आशा से हम आपसे पूछते हैं ।

अनादृत्य सुखप्राप्तामनुरक्तां नृपश्रियम् ।
किं तदत्यद्भुतं स्थानं पथानेन यदीप्ससि ॥ ५० ॥
सर्वक्षितिपतित्वं नु धनेशत्वमथेन्द्रताम् ।
ब्रह्मभूयं विमोक्षं वा तपसानेन वाञ्छसि ॥ ५१ ॥
अस्य हि व्यवसायस्य न दूरतरमीप्सितम् ।
श्रोतव्यं चैतदस्माभिर्वक्तुमर्हति नो भवान् ॥ ५२ ॥

राजोवाच—श्रूयतां यदर्थोऽयं ममाभ्युद्यमः ।

प्रयत्नलभ्या यदयत्ननाशिनी न तृप्तिसौख्याय कुतः प्रशान्तये ।
भवाश्रया सम्पदतो न कामये सुरेन्द्रलक्ष्मीमपि किम्वथेतराम् ॥ ५३ ॥
न चात्मदुःखक्षयमात्रकेण मे प्रयाति सन्तोषपथेन मानसम् ।
अमूननाथानभिवीक्ष्य देहिनः प्रसक्ततीव्रव्यसनश्रमातुरान् ॥ ५४ ॥
अनेन पुण्येन तु सर्वदर्शितामवाप्य निर्जित्य च दोषविद्विषः ।
जरा-रुजा-मृत्युमहोर्मिसङ्कुलात्समुद्धरेयं भवसागराज्जगत् ॥ ५५ ॥

अथ ते यक्षाः प्रसादसंहर्षिततनुरुहाः प्रणम्य राजानमूचुः—उपपन्नरूपमेवंविधस्य व्यवसायातिशयस्येदं कर्म । तन्न दूरे भवद्विधानामभिप्रायसम्पद इति निश्चितमनसो विज्ञापयामः –

बिना परिश्रम के प्राप्त अनुरक्त इस राज्य-लक्ष्मी का अनादर करके तथा इस मार्ग पर चलकर आप कौन-सा अद्भुत् स्थान पाना चाहते हैं ? ॥ ५० ॥

इस तपस्या के द्वारा आप सम्पूर्ण वसुन्धरा का आधिपत्य, इन्द्रत्व, कुबेर का पद या ब्रह्मसायुज्य अथवा मोक्ष—क्या पाना चाहते हैं ॥ ५१ ॥

इस संकल्प और प्रयत्न का लक्ष्य निश्चय ही दूर नहीं हो सकता । यदि आप हमें सुनने योग्य समझें, तो कृपया हमें अपना लक्ष्य बतला दें ॥ ५२ ॥

राजा ने कहा— सुनिए, मेरे इस प्रयास का उद्देश्य क्या है ?

सायास प्राप्त होने वाली और अनायास नष्ट होने वाली जब इस सांसारिक सम्पत्ति से संतोष नहीं होता तो फिर इससे शान्ति कहाँ से मिलेगी ? अतः मैं देवराज इन्द्र की लक्ष्मी की भी कामना नहीं करता, दूसरों की बात ही क्या ? ॥५३॥

जब तक मैं इन अनाथ देहधारियों को घोर विपत्ति में देखता हूँ, तब तक केवल अपने ही दुःख का नाश होने से मेरे मन को संतोष नहीं होता ॥ ५४ ॥

इस पुण्य के द्वारा बुद्धत्व प्राप्त कर और राग-द्वेष तथा मोहरूपी शत्रुओं को जीतकर मैं जरा, व्याधि एवं मृत्युरूपी महातरंगों से युक्त भव-सागर से संतप्त प्राणियों का उद्धार करना चाहता हूँ ॥ ५५ ॥

तब आनन्द से रोमांचित हो उन यक्षों ने राजा को प्रणाम करके कहा—इस महानिश्चय के अनुरूप ही आपका यह अनुष्ठान भी है । इसलिए हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि आप सरीखे महापुरुषों का अभीष्ट दूर नहीं है ।

कामं लोकहितायैव तव सर्वोऽयमुद्यमः ।
स्वहितात्यादरं त्वेषां स्मर्तुमर्हसि नस्तदा ।। ५६ ।।
अज्ञानाच्च यदस्माभिरेवमायासितो भवान् ।
स्वमप्यर्थमपश्यद्भिर्मृष्यतामेव तच्च नः ।। ५७ ।।
आज्ञामपि च तावन्नस्त्वमनुग्रहपद्धतिम् ।
सचिवानामिव स्वेषां विस्रब्धं दातुमर्हसि ।। ५८ ।।

अथ स राजा प्रसादमृदूकृतहृदयान्मत्त्वैनानुवाच—उपकारः खलु नायासो ममेत्यलमत्र वोऽक्षमाशङ्कया । अपि च—

एवंविधे धर्मपथे सहायान्कि विस्मरिष्याम्यधिगम्य बोधिम् ।
युष्माकमेव प्रथमं करिष्ये विमोक्षधर्मामृतसंविभागम् ।। ५९ ।।
अस्मत्प्रियं चाभिसमीक्षमाणैर्हिंसा भवद्भिर्विषवद्विवर्ज्या ।
लोभः परद्रव्यपरिग्रहेषु वाग्गर्हिता मद्यमयश्च पाप्मा ।। ६० ।।

अथ ते यक्षास्तथेत्यस्मै प्रतिश्रुत्य प्रणम्य प्रदक्षिणीकृत्य चैनं तत्रैवान्तर्दधिरे । स्वमांसशोणितप्रदाननिश्चयसमकालमेव तु तस्य महासत्त्वस्य ।

आपका यह सम्पूर्ण उद्योग ही लोकहित के लिए है । अतः इस लक्ष्य की प्राप्ति के समय हम स्वार्थी को भी आप स्मरण रखियेगा ।। ५६ ।।

अज्ञान के कारण अपने ही हित को न देखते हुए हमने आपको जो कष्ट दिया है, कृपया इसके लिए आप हमें क्षमा कर दें ।। ५७ ।।

हमारे ऊपर अनुग्रह करते हुए अपने सचिवों की भाँति हमें भी विश्वासपूर्वक आदेश दीजिए ।। ५८ ।।

भक्ति से इनके हृदय भी अब कोमल हो गये हैं, ऐसा सोचकर राजा ने कहा—आपने तो मेरा यह उपकार ही किया है, न कि मुझे कुछ कष्ट दिया है। इसलिए इस सम्बन्ध में आप अनुचित आशंका न करें । और भी—

ऐसे कठिन राह पर चलने में सहायता करने वालों को बोधि प्राप्त करने के बाद कैसे भूलूंगा ? पहले-पहल आप लोगों को ही मोक्षधर्मरूपी अमृत बाटूंगा ।

यदि आप मेरा प्रिय करना चाहते हैं तो प्राणि-हिंसा, दूसरों के द्रव्य और ग्रहण करने का लोभ, निन्दित वचन और मद्यरूपी पाप को विष समझकर दीजिए ।। ६० ।।

तब उन यक्षों ने 'बहुत अच्छा' कहकर पापकर्म न करने की उनसे प्रति और राजा को प्रणाम कर तथा उनकी प्रदक्षिणा कर वे वहीं अन्तर्ध्यान हो गये। समय बोधिसत्त्व ने अपना मांस और लहू देने का निश्चय किया था, उसी सम

विकम्पमाना बहुधा वसुन्धरा विघूर्णयामास सुवर्णपर्वतम् ।
प्रसस्वनुर्दुन्दुभयश्च तद्गता द्रुमाश्च पुष्पं ससृजुर्विकम्पनात् ॥ ६१ ॥
तदभ्रवद्व्योमनि मारुतेरितं पतत्रिसेनेव वितानवत्क्वचित् ।
विसृत्य माला ग्रथितेव कुत्रचित्समं समन्तान्नृपतेर्व्यकीर्यत ॥ ६२ ॥
निवारयिष्यन्निव मेदिनीपतिं समुद्धतावेगतया महार्णवः ।
जलैः प्रकृत्यभ्यधिकक्रमस्वनैः प्रयाणसौजस्कवपुर्व्यरोचत ॥ ६३ ॥
किमेतदित्यागतसम्भ्रमस्ततः सुराधिपस्तत्र विचिन्त्य कारणम् ।
नृपात्ययाशङ्किततूर्णमाययौ नृपालयं शोकभयाकुलाकुलम् ॥ ६४ ॥
तथागतस्यापि तु तस्य भूपतेर्मुखप्रसादात्सविशेषविस्मयः ।
उपेत्य तत्कर्म मनोज्ञया गिरा प्रसादसंहर्षवशेन तुष्टुवे ॥ ६५ ॥
अहो प्रकर्षो बत सज्जनस्थितेरहो गुणाभ्यासनिधेरुदारता ।
अहो परानुग्रहपेशला मतिस्त्वदर्पणान्नाथवती बत क्षितिः ॥ ६६ ॥

इत्यभिप्रशस्यैनं शक्रो देवेन्द्रः सद्यः क्षतरोहणसमर्थैर्दिव्यैर्मानुष्यकैरोषधिविशेषैर्निर्वेदनं यथापौराणं शरीरं कृत्वा दाक्षिण्यविनयोपचारमधुरं प्रतिपूजितस्तेन राज्ञा स्वमावासं प्रतिजगाम ।

बार-बार काँपती हुई धरती ने सुवर्ण पर्वत को कँपा दिया था, वहाँ की देव दुन्दुभियाँ स्वयं बजने लगी थीं और हिलते हुए वृक्षों ने फूल बरसाये थे ॥ ६१ ॥

हवा में उड़ते वे फूल आकाश में कहीं बादल की तरह और कहीं पक्षियों के झुंड की तरह, कहीं चन्दोवे के समान, कहीं गूँथी हुई विशाल माला के समान दिखाई पड़े और एक ही साथ उस राजा के चारों ओर बिखर गये ॥ ६२ ॥

लगता था जैसे महासागर अत्यन्त क्षुब्ध होकर राजा को रोक रहा हो । उसकी उत्ताल तरंगें, वेग और गर्जन अस्वाभाविक था । उसका ओजस्वीरूप प्रस्थानकालीन राजा की तरह सुशोभित था ॥ ६३ ॥

देवलोक घबड़ा उठा । इन्द्र घबड़ाहट में 'कारण' जानने को अति उत्सुक हो उठे । राज-विनाश की आशंका से वे राजभवन पहुँचे । वहाँ पहले से ही लोग शोक और भय से विह्वल बने थे ॥ ६४ ॥

राजा को उस स्थिति में भी प्रसन्नवदन देखकर वे विस्मय-विमुग्ध हो गये । उनके पास जाकर अत्यन्त विनम्र भाषा में उनके कर्म की उन्होंने प्रशंसा की ॥६५॥

आपको पाकर आज निश्चय ही यह धरती सनाथ है । आप सज्जनता की पराकाष्ठा हैं । आप गुणों के आगार हैं । आपका हृदय अत्यन्त उदार है । आप अति कोमल हैं । दूसरों का उपकार आपका स्वभाव है ॥ ६६ ॥

इस तरह इनकी प्रशंसा कर देवराज ने मानवोचित औषधियों के उपचार से इनका घाव शीघ्र भर दिया । इसके बाद राजा से सम्मानित होकर देवलोक लौट गये ।

तदेवं परदुःखातुरा नात्मसुखमवेक्षन्ते महाकारुणिका इति। को नाम धनमात्रकेऽप्यपेक्षां नोत्स्रष्टुमर्हतीति दायकजनसमुत्तेजनायां वाच्यम्। करुणा-वर्णेऽपि तथागतमाहात्म्ये सत्कृत्य धर्मश्रवणे च।

यच्चोक्तं भगवता 'बहुकराः खल्वेते पञ्चका भिक्षवः' इति स्यादेतत्स-न्धाय। तेन हि समयेन ते पञ्च यक्षा बभूवुः। तेषां भगवता यथाप्रतिज्ञातमे-प्रथमं धर्मामृतसंविभागः कृत इति।

इति मैत्रीबल-जातकमष्टमम्।

इस तरह दूसरों की पीड़ा से पीड़ित होने वाले परम दयालु कभी अपने क-की चिन्ता नहीं करते। तो फिर ऐसा कौन अधम व्यक्ति होगा जो तुच्छ सांसारि-धन से अपनी आसक्ति नहीं छोड़ेगा? दाताओं को उत्तेजित करने में, करुणा क-वर्णन करने में, तथागत का माहात्म्य दिखलाने में और धर्मोपदेश देने में इस क-का वर्णन करना चाहिए।

भगवान् ने जो कहा—'हे भिक्षुओं! इन पाँचों ने बहुत कुछ किया है।' वह इ-कहानी को याद कर कहा है। उस समय के ये पाँच यक्ष थे। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार भगवान् ने पहले इन्हीं पाँचों को धर्मामृत वितरण किया।

मैत्रीबल जातक आठवाँ समाप्त।

---

(९) विश्वन्तर-जातकम्

न बोधिसत्त्वचरितं सुखमनुमोदितुमप्यल्पसत्त्वैः प्रागेवाचरितुम् । तद्यथानुश्रूयते—

सात्मीभूतेन्द्रियजयः पराक्रमनयविनयसम्पदा समधिगतविजयश्रीर्वृद्धोपासननियमात् त्रय्यान्वीक्षिक्योरुपलब्धार्थतत्त्वः स्वधर्मकर्मानुरक्ताभिरनुद्विग्नसुखोचिताभिरनुरक्ताभिः प्रकृतिभिः प्रकाश्यमानदण्डनीतिशोभः सम्यक्प्रवृत्तवार्त्ताविधिः सञ्जयो नाम शिबीनां राजा बभूव ।

गुणोदयैर्यस्य निबद्धभावा कुलाङ्गनेवास नराधिपश्रीः ।
अतर्कणीयान्यमहीपतीनां सिंहाभिगुप्तेव गुहा मृगाणाम् ।। १ ।।
तपस्सु विद्यासु कलासु चैव कृतश्रमा यस्य सदाभ्युपेताः ।
विशेषयुक्तं बहुमानमीयुः पूजाभिराविष्क्रियमाणसाराः ।। २ ।।

तस्य राज्ञः प्रतिपत्त्यनन्तरं प्रथितगुणगणनिरन्तरो विश्वन्तरो नाम पुत्रो युवराजो बभूव । (अयमेव भगवाञ्छाक्यमुनिस्तेन समयेन ।)

युवापि वृद्धोपशमाभिरामस्तेजस्व्यपि क्षान्तिसुखस्वभावः ।
विद्वानपि ज्ञानमदानभिज्ञः श्रिया समृद्धोऽप्यवलेपशून्यः ।। ३ ।।

---

९. विश्वन्तर जातक

क्षुद्र प्राणियों के लिए बोधिसत्त्व के चरित्र पर जहाँ विश्वास करना भी कठिन है, वहाँ उनके अनुसरण करने की बात ही क्या ? तो जैसाकि सुना जाता है—

एक बार शिवियों के राजा संजय हुए । वे जितेन्द्रिय एवं पराक्रमी थे । उन्होंने अपनी नीति और विनय के द्वारा विजय-लक्ष्मी को प्राप्त किया था । गुरुजनों की उपासना कर उन्होंने वेद, तर्क और अध्यात्म-विद्या प्राप्त की थी । उनकी प्रजा धर्म-कर्म में निरत, निर्भय, सुखी और अनुरक्त थी । उनकी शासन-प्रणाली व्यवस्थित थी । उनके राज्य में लोगों के लिए आजीविका हेतु उत्तम प्रबन्ध था ।

राजा के गुणों के कारण राज्यलक्ष्मी कुलाङ्गना की तरह उसमें अनुरक्त थी । अन्य राजा उनकी लक्ष्मी के सम्बन्ध में सोच भी नहीं सकते थे । सिंह के द्वारा रक्षित गुफा के सम्बन्ध में जैसे कोई अन्य पशु सोच भी नहीं सकता ।। १ ।।

उन्होंने तप, विद्या और कला के अर्जन में श्रम किया था । अतः उन विषयों के विशेषज्ञ उनके पास आकर, अपनी विशिष्टता का परिचय देकर, उनसे सम्मान पाते थे ।। २ ।।

उस राज संचय के विश्वन्तर नामक पुत्र हुए । प्रतिष्ठा में युवराज राजा के बाद थे । किन्तु, गुणों की ख्याति में राजा से भी अधिक थे ।

युवा होकर भी वे वृद्धोचित शान्ति से युक्त, तेजस्वी होकर भी क्षमाशील,

दृष्टप्रयाणासु च दिक्षु तस्य व्याप्ते च लोकत्रितये यशोभिः ।
बभूव नैवान्ययशोलवानां प्रसर्तुमुत्साह इवावकाशः ।। ४ ।।

अमृष्यमाणः स जगद्गतानां दुःखोदयानां प्रसृतावलेपम् ।
दानेषुवर्षी करुणोरुचापस्तैर्युद्धसंरम्भमिवाजगाम ।। ५ ।।

स प्रत्यहमभिगतमर्थिजनमभिलषिताधिकैरक्लिष्टैरर्थविसर्गैः प्रियवचनोपचारमनोहरैरतीव प्रह्लादयामास । पर्वदिवसेषु च पोषधनियमप्रशमविभूषणः शिरःस्नातः शुक्लक्षौमवासा हिमगिरिशिखरसन्निकाशं मदलेखाभ्यलङ्कृतमुखं लक्षणविनयजवसम्पन्नं गन्धहस्तिनं समाज्ञातमौपवाह्यं द्विरदवरमभिरुह्य समन्ततो नगरस्याभिनिविष्टान्यर्थिजननिपानभूतानि स्वानि सत्त्रागाराणि प्रत्यवेक्षते स्म । तथा च प्रीतिविशेषमधिजगाम ।

नहि तां कुरुते प्रीतिं विभूतिर्भवनाश्रिता ।
सङ्क्रम्यमाणार्थिजने सैव दानप्रियस्य याम् ।। ६ ।।

अथ कदाचित्तस्यैवंविधं दानप्रसङ्गं प्रमुदितहृदयैरर्थिभिः समन्ततो विकीर्यमाणमुपलभ्यान्यतमो भूम्यनन्तरस्तस्य राजा शक्यमयमभिसन्धातुं

विद्वान् होकर भी ज्ञानमद से अनभिज्ञ तथा लक्ष्मीपात्र होकर भी अभिमान से रहित थे ।। ३ ।।

दिशाओं ने उनकी दिग्विजय देखी थी । तीनों लोकों में उनका यश व्याप्त था। अतः दूसरे लोगों की छोटी-मोटी कीर्त्ति को फैलने का न तो कोई उत्साह था और न तो अवकाश ही ।। ४ ।।

वे दूसरों के दुखों का अनुचित प्रसार सह नहीं सकते थे । अतः दया का धनुष लेकर दान रूपी तीरों की वर्षा करते हुए उन्होंने मानों उनके साथ घोर युद्ध किया।

युवराज होकर भी वे प्रतिदिन आये हुए याचकों को प्रियवचन और शिष्टाचार के साथ मनोरथ से भी अधिक दान देकर आनन्दित करते थे । पर्व-त्यौहारों के अवसर पर व्रतोपवास के नियमों का पालन करते हुए स्नानोपरान्त श्वेत चीनाम्बर पहन कर शान्तभाव से वे अपने हिम-शिखर की तरह धवल, विशाल, सुलक्षणवान गजेन्द्र जिसके गण्डस्थल से सदैव मदजल चूता रहता था, जो अत्यन्त विनम्र, वेगवान बलवान्, विख्यात तथा सवारी योग्य था—उस पर सवार होकर, नगर के चारों ओर याचकों के लिए जलाशय तुल्य बनाये गये दान-गृहों को देखते थे तथा उन्हें देखकर प्रसन्न भी होते थे ।

दानप्रिय व्यक्ति को घर में रखी विपुल सम्पत्ति से उतनी प्रसन्नता नहीं होती जितनी उसे याचकों को दे देने में ।। ६ ।।

जब याचकगण प्रसन्न होकर इनके दानानुराग की चर्चा घूम-घूमकर कर रहे तब किसी राजा ने दानानुराग के कारण इनको ठगने की बात सोची । उस निकटवर्ती

दानानुरागवशगत्वादिति प्रतर्क्य द्विरदवरापहरणार्थं ब्राह्मणांस्तत्र प्रणिदधे। अथ ते ब्राह्मणा विश्वन्तरस्य स्वानि सत्त्रागाराणि प्रत्यवेक्षमाणस्य प्रमोदादधिकतरनयनवदनशोभस्य जयाशीर्वादमुखराः समुच्छ्रिताभिप्रसारितदक्षिणाग्रपाणयः पुरस्तात् समतिष्ठन्त। स ततो विनिगृह्य द्विरदवरमुपचारपुरःसरमभिगमनप्रयोजनमेनान् पर्यपृच्छदाज्ञाप्यतां केनार्थ इति। ब्राह्मणा ऊचुः—

अमुष्य तव नागस्य गतिलीलाविलम्बिनः।
गुणैरर्थित्वमायाता दानशौर्याच्च ते वयम् ॥ ७ ॥
कैलासशिखराभस्य प्रदानादस्य दन्तिनः।
कुरुष्व तावल्लोकानां विस्मयैकरसं मनः ॥ ८ ॥

इत्युक्ते बोधिसत्त्वः प्रीत्या समापूर्यमाणहृदयश्चिन्तामापेदे। चिरस्य खलूदारप्रणयसुमुखमर्थिजनं पश्यामि। कः पुनरर्थ एवंविधेन द्विरदपतिनैषां ब्राह्मणानाम्? व्यक्तमयं लोभेर्ष्याद्वेषपर्याकुलमनसः कस्यापि राज्ञः कार्पण्यप्रयोगः।

आशाविघातदीनत्वं तन्मा भूत्तस्य भूपतेः।
अनादृत्य यशोधर्मौ योऽस्मद्धित इवोद्यतः ॥ ९ ॥

इति विनिश्चित्य स महात्मा त्वरितमवतीर्य द्विरदवरात् प्रतिगृह्यतामिति समुद्यतकाञ्चनभृङ्गारस्तेषां पुरस्तादवतस्थे।

राजा ने उनके सुलक्षण गजेन्द्र को दान द्वारा अपहरण करने की इच्छा से ब्राह्मणों को उनके समीप भेजा। जब अपनी दानशाला को देखकर विश्वन्तर अत्यधिक प्रसन्न हो रहे थे, तभी सहसा वे ब्राह्मण अपने दाहिने हाथों को ऊपर की ओर उठाकर जयघोष करते हुए आशीर्वचनों के साथ सामने उपस्थित हुए। राजा ने अपने उस विशाल गजराज को रोकवा कर उन ब्राह्मणों से शिष्टाचारपूर्वक उनसे आने का प्रयोजन पूछा—'देव आज्ञा करें, आपको क्या चाहिए।' ब्राह्मणों ने कहा—

आपकी दान-वीरता से तथा सुन्दर चाल वाले इस गजेन्द्र के गुणों से आकृष्ट होकर ही हम यहाँ तक आए हैं ॥ ७ ॥

अतः कैलास-शिखर की तरह धवल एवं विशाल इस गजराज को दान में देकर आप जनता को विस्मित कर दें ॥ ८ ॥

यह सुनते ही बोधिसत्त्व का हृदय आनन्द से भर गया। उन्होंने सोचा—बहुत दिन के बाद ऐसे ऊँचे दिल वाले माँगने वालों से भेंट हुई है। किन्तु भला इस गजराज से इन भिखारी ब्राह्मणों को क्या प्रयोजन? स्पष्टतः ईर्ष्या-द्वेष से आकुल किसी राजा की यह चाल है।

जो अपने यश और धर्म की उपेक्षा कर हमारे उपकार हेतु इस तरह प्रयत्नशील है, उस राजा को निराश नहीं करना चाहिए ॥ ९ ॥

इतना निश्चय करते ही उस महात्मा ने हाथी से शीघ्र ही उतरकर उनसे

ततः स विद्वानपि राजशास्त्रमर्थानुवृत्त्या गतधर्ममार्गम् ।
धर्मानुरागेण ददौ गजेन्द्रं नीतिव्यलीकेन न सञ्चकम्पे ॥ १० ॥

तं हेमजालरुचिराभरणं गजेन्द्रं
विद्युत्पिनद्धमिव शारदमभ्रराशिम् ।
दत्त्वा परां मुदमवाप नरेन्द्रसूनुः
सञ्चुक्षुभे च नगरं नयपक्षपातात् ॥ ११ ॥

अथ द्विरदपतिप्रदानश्रवणात् समुदीर्णक्रोधसंरम्भाः शिबयो ब्राह्मणवृद्धा मन्त्रिणो योधाः पौरमुख्याश्च कोलाहलमुपजनयन्तः सञ्जयं राजानमभिगम्य ससम्भ्रमामर्षसंरम्भात् परिशिथिलोपचारयन्त्रणमूचुः—किमियं देव राज्यश्रीर्विलुप्यमानैवमुपेक्ष्यते । नार्हति देवः स्वराज्योपप्लवमेवमभिवर्धमानमुपेक्षितुम् किमेतदिति च सावेगमुक्ता राज्ञा पुनरेवमूचुः—कस्माद् देवो न जानीते ।

निषेव्य मत्तभ्रमरोपगीतं यस्याननं दानसुगन्धि वायुः ।
मदावलेपं परवारणानामायासदुःखेन विना प्रमार्ष्टि ॥ १२ ॥
यत्तेजसाक्रान्तबलप्रभावा संसुप्तदर्पा इव विद्विषस्ते ।
विश्वन्तरेणैष गजः स दत्तो रूपी जयस्ते ह्रियतेऽन्यदेशम् ॥ १३ ॥

कहा—'लीजिए इसे स्वीकार कीजिए ।' फिर स्वर्णकलश के साथ उन ब्राह्मणों के आगे खड़ा हो गया ।

अर्थपरक धर्मविहीन राजनीति को ठीक से समझते हुए भी अपने धर्मानुराग के कारण, नीति के अतिक्रमण से विचलित हुए बिना विश्वन्तर ने सानन्द उस गजरा[ज] को दान कर दिया ॥ १० ॥

विद्युत् गर्भ हेमवर्ण शरद की घटा की तरह सुन्दर आभूषणों से सुशोभित उ[स] गजेन्द्र को दान कर जहाँ राजकुमार की खुशी का ठिकाना न रहा, वहीं इस बा[त] को जानकर नीति-निपुण नागरिक अत्यन्त क्षुब्ध हो उठे ॥ ११ ॥

इस वृत्तान्त को सुनकर शिविदेश के लोग—वृद्ध, ब्राह्मण, मंत्रिगण, सैनिक औ[र] मुख्य नागरिक—अत्यन्त क्रुद्ध होकर कोलाहल करते हुए राजा संजय के पास पहुँ[च] कर घबड़ाहट और आवेश में सामान्य शिष्टाचार के नियम का उल्लंघन कर बोले— 'देव ! यह हाथी नहीं राज्यलक्ष्मी जा रही है; इसकी उपेक्षा आप क्यों कर रहे हैं महाराज, आप अपने राज्य की ऐसी उपेक्षा इस तरह नहीं सकते । राजा ने आवेग में आकर ही पूछा—क्या हुआ ? तब उन्होंने कहा—क्या देव सचमुच न[हीं] जानते—

मदमाते भौंरों की झंकार और मदजल से सुगन्धित जिस हाथी के मुखमंडल [का] स्पर्श कर पवन दूसरे हाथियों के मदलेप को अनायास ही पोंछता रहा है, जि[स] हाथी के तेज से आपके दुश्मनों का बल और प्रभाव क्षीण होता रहा है, उस[का] अभिमान विलीन होता रहा है, उसी हाथी को युवराज विश्वन्तर ने दान कर दि[या]

गावः सुवर्णं वसनानि भोज्यमिति द्विजेभ्यो नृप देयरूपम् ।
यस्मिञ्जयश्रीर्नियता द्विपेन्द्रे देयः स नामेत्यतिदानशौर्यम् ॥ १४ ॥
नयोत्पथेनैनमिति व्रजन्तं कथं समन्वेष्यति राजलक्ष्मीः ।
नोपेक्षणं देव तवात्र युक्तं पुरायमानन्दयति द्विषस्ते ॥ १५ ॥

तच्छ्रुत्वा स राजा पुत्रप्रियत्वात् किंचित्तानेव प्रत्यप्रीतमनाः कार्यानुरोधात् सावेगवदेवमित्युक्त्वा समनुनेष्यञ्छिबीनुवाच—जाने दानप्रसङ्गव्यसनितां नीतिक्रमानपेक्षां विश्वन्तरस्य न चैष क्रमो राज्यधुरि सन्नियुक्तस्य । दत्तं त्वनेन स्वं हस्तिनं वान्तकल्पं कः प्रत्याहरिष्यति । अपि तु तथाहमेव करिष्ये यथा दाने मात्रां ज्ञास्यति विश्वन्तरः । तदलमत्र वः संरम्भेणेति ।

शिबय ऊचुः—न खलु महाराज परिभाषामात्रसाध्योऽस्मिन्नर्थे विश्वन्तर इति । सञ्जय उवाच—अथ किमन्यदत्र मया शक्यं कर्तुम् ।

दोषप्रवृत्तेर्विमुखस्य यस्य गुणप्रसङ्गा व्यसनीक्रियन्ते ।
बन्धो वधो वात्मसुतस्य तस्य किं निष्क्रयः स्याद् द्विरदस्य तस्य ॥ १६ ॥

है । आपकी मूर्त्तिमन्त विजयलक्ष्मी ही मानों आपकी आँखों के सामने ही देशान्तर जा रही है ॥ १२–१३ ॥

गौ, सुवर्ण, वस्त्र और भोजन ही तो ब्राह्मणों के लिए देय है । किन्तु श्रेष्ठ हाथी में तो राज्य की विजयलक्ष्मी ही प्रतिष्ठित रहती है । उसका दान करना तो प्रत्यक्षतः दानवीरता का अतिक्रमण है ॥ १४ ॥

नीतिमार्ग को छोड़कर चलने वाले इस युवराज के साथ भला राज्यलक्ष्मी कैसे रह सकती है । आपके शत्रुओं को यह आनन्दित करे, इसके पूर्व ही देव, आप इस पर विचार करें । इसकी उपेक्षा किसी भी स्थिति में उचित नहीं है ॥ १५ ॥

पुत्र-प्रिय राजा संजय शिवियों के आक्षेप से क्रुद्ध तो अवश्य हुए, किन्तु कर्त्तव्य-निष्ठा के कारण मानों आवेग में आकर उनके कथन का अनुमोदन किया तथा कहा—मैं जानता हूँ दान करने की अपनी आसक्ति के कारण विश्वन्तर निश्चय ही नीति का उल्लंघन कर देता है । राज्य-भार वहन करने वालों के लिए यह रास्ता उचित नहीं है । इसने तो हाथी को दान कर ही दिया है, तो फिर उसे लौटाना उगले हुए थूक को चाटने की तरह है । किन्तु मैं ऐसा करूँगा कि विश्वन्तर के दान देने की मात्रा स्वयं कम हो जायेगी । अतः आप अब अधिक क्रोध न करें ।

शिवियों ने कहा—हे महाराज, इस विषय में कुछ समझा-बुझाकर ही कुमार विश्वन्तर को ठीक रास्ते पर नहीं लाया जा सकता है ।

तब राजा संजय ने कहा—इससे अधिक और किया ही क्या जा सकता है ।

वह दुराचार से दूर रहता है और धार्मिक कृत्य ही उसका व्यसन है । ऐसी स्थिति में आप लोग ही बतलायें कि इस हाथी-दान के मूल्य में मैं अपने बेटे को वध का दण्ड दूँ या कारागार में बन्द कर दूँ ॥ १६ ॥

तदलमत्र वः संरम्भेण । निवारयिष्याम्यहमतो विश्वन्तरमिति ।

अथ शिबयः समुदीर्णमन्यवो राजानमूचुः—

को वा वधं बन्धनताडनं वा सुतस्य ते रोचयते नरेन्द्र ।
धर्मात्मकस्त्वेष न राज्यभारक्षोभस्य सोढा करुणामृदुत्वात् ।। १७ ।।
सिंहासनं तेजसि लब्धशब्दास्त्रिवर्गसेवानिपुणा भजन्ते ।
धर्मानुरागान्नयनिर्व्यपेक्षस्तपोवनाध्यासनयोग्य एषः ।। १८ ।।
फलन्ति कामं वसुधाधिपानां दुर्नीतिदोषास्तदुपाश्रितेषु ।
सह्यास्त एषां तु तथापि दृष्टा मूलोपरोधान्न तु पार्थिवानाम् ।। १९ ।।
किमत्र वा बह्वभिधाय निश्चयस्त्वयं शिबीनां त्वदभूत्यमर्षिणाम् ।
प्रयातु वङ्कं तपसोऽभिवृद्धये नृपात्मजः सिद्धनिषेवितं गिरिम् ।।२०।।

अथ स राजा स्नेहप्रणयविस्रम्भवशादनयापायदर्शिना हितोद्यतेन तेन जनेन परिनिष्ठुरमित्यभिधीयमानः प्रकृतिकोपाद् व्रीडावनतवदनः पुत्रवियोग-चिन्तापरिगतहृदयः सायासमभिनिश्वस्य शिबीनुवाच—यद्येष भवतां निर्बन्ध-

---

अतः इस विषय में आप लोगों का और अधिक क्रुद्ध होना उचित नहीं है । मैं आगे से विश्वन्तर को बरज दूंगा ।

पर, इससे शिवियों का क्रोध शान्त नहीं हुआ—उन्होंने राजा से कहा—

हे राजन् ! आपके बेटे को मारा जाय, पीटा जाय या जेल में बन्द कर दिया जाय—यह बात भला किसे अच्छी लगेगी । किन्तु, इतनी बात तो निश्चित है कि वह अपने दयालु एवं कोमल स्वभाव के कारण राज्य-भार वहन करने में बिल्कुल ही असमर्थ है ।। १७ ।।

धर्म, अर्थ और काम के सेवन में जो सुदक्ष हैं, ख्याति-प्राप्त तथा पराक्रमी हैं—ऐसे ही लोग राज-सिंहासन के सच्चे अधिकारी होते हैं । ये राजकुमार तो धर्म के प्रति जितना अधिक आसक्त हैं, उतना ही अधिक नीति से उदासीन हैं । अतः इन्हें तो तपोवन में ही रहना चाहिए ।। १८ ।।

यदि राजा कुमार्गगामी होगा तो इसका दुष्परिणाम प्रजा को भोगना पड़ेगा । यदि कोई प्रजा कुमार्ग पर चले, तो उतनी हानि नहीं, किन्तु, यदि राजा कुमार्ग पर चले, तो इसका प्रभाव समस्त प्रजा पर पड़ सकता है । क्योंकि इसमें समूल विनाश की आशंका होती है ।। १९ ।।

इस पर और अधिक बकवास से क्या लाभ ? शिवि आपका अमङ्गल नहीं देख सकते । अतः शिवियों का यह निर्णय है कि राजकुमार विश्वन्तर सिद्धसेवित वङ्क-पर्वत पर तपस्या करने जायँ ।। २० ।।

राजा में प्रजा की अटूट आस्था थी । प्रेम, स्नेह और विश्वास था । केवल विश्वन्तर के अनीति-जन्य अनिष्ट की आशंका से ही उन्होंने राजा से ऐसी कठोर बातें कही थीं । राजा ने भी अपनी क्रुद्ध प्रजा को इस रूप में देखकर लज्जा से

स्तदेकमप्यहोरात्रमस्य मृष्यताम् । प्रभातायां रजन्यामभिप्रेतं वोऽनुष्ठाता विश्वन्तर इति ।

एवमस्त्विवति च प्रतिगृहीतानुनयः शिबिभिः स राजा क्षत्तारमुवाच—गच्छेमं वृत्तान्तं विश्वन्तराय निवेदयेति । स तथेति प्रतिश्रुत्य शोकाश्रुपरिषिक्तवदनो विश्वन्तरं स्वभवनगतमुपेत्य शोकदुःखावेगात् सस्वरं रुदन् पादयोरस्य न्यपतत् । अपि कुशलं राजकुलस्येति च ससम्भ्रमं विश्वन्तरेणानुयुक्तः समवसीदन्नविशदपदाक्षरमेनमुवाच – कुशलं राजकुलस्येति । अथ कस्मादेवमधीरोऽसीति च पुनरनुयुक्तो विश्वन्तरेण क्षत्ता बाष्पवेगोपरुध्यमानगद्गदकण्ठः श्वासविस्खलितलुलिताक्षरं शनैरित्युवाच—

सान्त्वगर्भामनादृत्य नृपाज्ञामप्यदक्षिणाः ।
राष्ट्रात्प्रव्राजयन्ति त्वां कुपिताः शिबयो नृप ॥ २१ ॥

विश्वन्तर उवाच – मां शिबयः प्रव्राजयन्ति कुपिता इति कः सम्बन्धः ?

रेमे न विनयोन्मार्गे द्वेष्मि चाहं प्रमादिताम् ।
कुत्र मे शिबयः क्रुद्धा यन्न पश्यामि दुष्कृतम् ॥ २२ ॥

अपना सिर झुका लिया । पुत्र-वियोग की चिन्ता से संतप्त उस राजा ने उसाँसे लेते हुए उन शिवियों से कहा—यदि आप लोगों की यही इच्छा है, तो सिर्फ एक दिन और एक रात का समय दीजिए । कल सबेरे कुमार विश्वन्तर आप सब की इच्छा पूरी कर देंगे ।

राजा के अनुरोध का अनुमोदन कर जब शिविगण चले गये, तब राजा ने अपने द्वारपाल से कहा—'जाकर विश्वन्तर से सारी बातें बता दो । रोता-बिलखता द्वारपाल कुमार विश्वन्तर के पास गया । उस समय कुमार विश्वन्तर घर में ही थे । उनके पास पहुँच कर उन्हें देखते ही उनके पैरों पर गिरकर वह द्वारपाल फूट-फूटकर रोने लगा । विश्वन्तर ने उसे इस स्थिति में देखकर घबड़ाते हुए पूछा—क्यों राजकुल का कुशल तो है न ? उसने बिलखते हुए अस्फुट वाणी में कहा—'हाँ, कुमार ! राजकुल का कुशल तो है ।' 'तो फिर तुम इस तरह अधीर क्यों हो रहे हो ?'—कुमार विश्वन्तर के बार-बार पूछने पर बिलखते हुए द्वारपाल ने सिसकियों के कारण रुक-रुककर बतलाया—

हे राजकुमार ! क्रुद्ध शिवियों ने राजा के लाख समझाने-बुझाने के बावजूद बड़ी हृदयहीनता के साथ आपको निर्वासित कर दिया है ॥ २१ ॥

इस पर विश्वन्तर ने पूछा—शिवियों के क्रोध का कारण क्या है ? आखिर वे मुझे अपने देश से क्यों निकालना चाहते हैं ?

मैं अशिष्टता की राह पर तो कभी चलता नहीं, अनवधानता से भी दूर रहता हूँ, अपना कोई कसूर तो मुझे दीखता ही नहीं तो फिर ये शिवि मुझ पर इतना क्यों बिगड़े हैं ॥ २२ ॥

क्षत्तोवाच—अत्युदारतायाम् ।

अलोभशुभ्रा त्वयि तुष्टिरासील्लोभाकुला याचकमानसेषु ।
दत्ते त्वया मानद वारणेन्द्रे धैर्याणि कोपस्त्वहरच्छिबीनाम् ।। २३ ।।
इत्यतीताः स्वमर्यादां रभसाः शिबयस्त्वयि ।
येन प्रव्राजिता यान्ति पथा तेन किल व्रज ।। २४ ।।

अथ बोधिसत्त्वः कृपाभ्यासरूढां याचनकजनवत्सलतां धैर्यातिशयसम्पदं च स्वामुद्भावयन्नुवाच—चपलस्वभावाः खलु शिबयोऽनभिज्ञा इव चास्मत्स्वभावस्य ।

द्रव्येषु बाह्येषु क एव वादो दद्यामहं स्वे नयने शिरो वा ।
इमं हि लोकार्थमहं बिभर्मि समुच्छ्रयं किम्वथ वस्त्रवाह्यम् ।। २५ ।।
यस्य स्वगात्रैरपि याचकानां वचांसि सम्पूजयितुं मनीषा ।
भयान्न दद्यात्स इति प्रतर्कः प्रकाशना बालिशचापलस्य ।। २६ ।।
कामं मां शिबयः सर्वे घ्नन्तु प्रव्राजयन्तु वा ।
न त्वेवाहं न दास्यामि गच्छाम्येष तपोवनम् ।। २७ ।।

द्वारपाल ने कहा—आपकी अत्यधिक उदारता के कारण ।

हे दूसरों को सम्मान देने वाले कुमार ! आपने तो बड़े निःस्वार्थ भाव से हाथी दान किया । दान करके आपकी प्रसन्नता बड़ी पवित्र और निर्दोष थी । किन्तु, माँगने वाले के मन में छिपे पाप के कारण आपका अकलुष हाथी-दान भी शिवियों को क्रुद्ध एवं अधीर बना डाला है ।। २३ ।।

यही कारण है कि अपनी मर्यादा का अतिक्रमण कर ये अशिष्ट शिवि आपको राज्य से संन्यास लेने को कह रहे हैं ।। २४ ।।

माँगने वालों पर अनुग्रह करने की आदत से उत्पन्न उनके प्रति स्नेह की एवं अपने प्रति अटूट धैर्य की कल्पना कर बोधिसत्त्व ने कहा—ये शिवि चंचल हैं । इन्हें मेरे स्वभाव का पता नहीं है ।

बाहरी वस्तुओं को कौन पूछता है ? जरूरत समझने पर मैं अपनी आँखें निकाल कर किसी को दे सकता हूँ । अपना सिर कटवाकर दे सकता हूँ । फिर वस्त्र या वाहन की क्या बिसात ? मैंने तो अपनी देह को ही परोपकार के लिए धारण किया है ।

जो अपने अंग-प्रत्यंगों को भी दान कर याचकों को सम्मानित करना चाहता है, वह डरकर दान-कर्म से मुकर जाय—ऐसा अपनी चंचलता के कारण कोई मूर्ख ही तो सोच सकता है ।। २६ ।।

भले ही शिविगण मिलकर मुझे मार डालें अथवा देश निकाला दें, मैं दान देना बन्द कर दूँ, यह संभव नहीं है । लो यह राज, मैं चला तपोवन की ओर ।। २७ ।।

अथ बोधिसत्त्वो विप्रियश्रवणविक्लवमुखीं पत्नीमुवाच—श्रुतोऽत्रभवत्या शिबीनां निश्चयः।

मद्र्युवाच—श्रुतोऽयं देव !

विश्वन्तर उवाच—

तद्यदस्ति धनं किञ्चिदस्मत्तोऽधिगतं त्वया।
निधेहि तदनिन्द्याक्षि यच्च ते पैत्रिकं धनम् ॥ २८ ॥

मद्र्युवाच—कुत्रैतद्देव ! निदधामीति।

विश्वन्तर उवाच—

शीलवद्भ्यः सदा दद्या दानं सत्कारशोभरम्।
तथा हि निहितं द्रव्यमहार्यमनुगामि च ॥ २९ ॥
प्रियं श्वशुरयोः कुर्याः पुत्रयोः परिपालनम्।
धर्ममेवाप्रमादं च शोकं मद्विरहात्तु मा ॥ ३० ॥

तच्छ्रुत्वा मद्री सन्तप्तहृदयापि भर्तुरधृतिपरिहारार्थमनादृत्य शोकदैन्यमित्युवाच—

नैष धर्मो महाराज यद्यायाया वनमेककः।
तेनाहमपि यास्यामि येन क्षत्रिय यास्यसि ॥ ३१ ॥

इस निर्मम समाचार से उदास बैठी पत्नी से बोधिसत्त्व ने पूछा—क्या आपने शिवियों का निश्चय सुना है ?

पत्नी मद्री ने कहा—हाँ, हे देव ! मैंने सुना है।

तब विश्वन्तर ने कहा—

अतः, हे सुनयने ! तुम्हें हमसे या अपने माता-पिता से जो कुछ भी मिला है, उसे दान कर दो ॥ २८ ॥

मद्री ने पूछा—देव ! इन्हें किसको दूं ?

विश्वन्तर ने कहा—

शीलवान् व्यक्तियों को खोज कर उन्हें दान में दे डालो; क्योंकि इस तरह किया गया दान कभी नष्ट नहीं होता। यहाँ तक कि मरने के बाद भी ये धन ही साथ जाते है ॥ २९ ॥

सास-ससुर की सेवा, बेटे-बेटी की उचित देख-रेख, निरलस भाव से धर्माचरण में लीन रहकर मेरे वियोग में दुःखी मत होना ॥ ३० ॥

यह सुनकर मद्री ने अपने पति के धैर्य की रक्षा के लिए शोक-संतप्त अपने हृदय की उपेक्षाकर उनसे कहा—

हे महाराज ! आप क्षत्रिय हैं, आप अकेले जंगल जायें यह धर्म नहीं है। अतः आप जहाँ कहीं भी जायेंगे, मैं आपके साथ ही जाऊँगी ॥ ३१ ॥

त्वदङ्गपरिवर्तिन्या मृत्युरुत्सव एव मे ।
मृत्योर्दुःखतरं तत्स्याज्जीवेयं यत्त्वया विना ॥ ३२ ॥

नैव च खलु मे देव वनवासो दुःख इति प्रतिभाति । तथा हि—

निर्दुर्जनान्यनुपभुक्तसरित्तरूणि
नानाविहङ्गविरुतानि मृगाकुलानि ।
वैडूर्यकुट्टिममनोहरशाद्वलानि
क्रीडावनाधिकसुखानि तपोवनानि ॥ ३३ ॥

अपि च देव !

अलङ्कृताविमौ पश्यन्कुमारौ मालभारिणौ ।
क्रीडन्तौ वनगुल्मेषु न राज्यस्य स्मरिष्यसि ॥ ३४ ॥
ऋतुप्रयत्नरचिता वनशोभा नवा नवाः ।
वने त्वां रमयिष्यन्ति सरित्कुञ्जाश्च सोदकाः ॥ ३५ ॥
चित्रं विरुतवादित्रं पक्षिणां रतिकाङ्क्षिणाम् ।
मदाचार्योपदिष्टानि नृत्तानि च शिखण्डिनाम् ॥ ३६ ॥
माधुर्यानवगीतं च गीतं मधुपयोषिताम् ।
वनेषु कृतसङ्गीतं हर्षयिष्यति ते मनः ॥ ३७ ॥

आपकी परिचर्या में आपके सामने यदि मेरी मृत्यु भी हो जाय, तो मेरे लिए वह महोत्सव होगा । किन्तु, आपके वियोग में तड़पते हुए जीवित रहना भी मृत्यु से अधिक दुःखदायी है ॥ ३२ ॥

और भी, हे देव ! बनवास तो मुझे थोड़ा भी दुःखद प्रतीत नहीं होता । क्योंकि—वहाँ निर्मल नदियाँ होंगी, पवित्र पेड़ों की शीतल छाया होगी, दुष्टों का अभाव होगा, पक्षियों के कलरव होंगे । हिरनों की भाग-दौड़ होगी, वैदूर्यमणिखचित फर्श की तरह मनोहर दूबों से आच्छादित धरती वाला तपोवन राजमहल के कृत्रिम उद्यान की अपेक्षा अधिक सुखद होगा ॥ ३३ ॥

और भी, हे देव !

आप जब अपने दोनों बच्चों को जंगली फूल-पत्तियों की माला से अलंकृत झाड़ियों में खेलते देखियेगा तो निश्चय ही राज्य-सुख भी भूल जाइएगा ॥ ३४ ॥

भिन्न-भिन्न ऋतुओं में जंगल की नई-नई छटाएँ, लता, निकुंज और जल से भरी नदियाँ आपको प्रसन्नता देंगी ॥ ३५ ॥

कामातुर पक्षियों के चित्र-विचित्र कूजनरूपी बाजे, उमंग में आकर नाचने वाले मोरों के नाच और भौंरों के स्वाभाविक मधुर गीत—ये तीनों मिलकर वहाँ भी आपको संगीत का आनन्द देंगे ॥ ३६–३७ ॥

आस्तीर्यमाणानि च शर्वरीषु ज्योत्स्नादुकूलेन शिलातलानि ।
संवाहमानो वनमारुतश्च लब्धाधिवासः कुसुमद्रुमेभ्यः ॥ ३८ ॥
चलोपलप्रस्खलितोदकानां कला विरावाश्च सरिद्वधूनाम् ।
विभूषणानामिव सन्निनादाः प्रमोदयिष्यन्ति वने मनस्ते ॥ ३९ ॥

इत्यनुनीयमानः स दयितया वनप्रयाणपर्युत्सुकमतिरर्थिजनापेक्षया महाप्रदानं दातुमुपचक्रमे ।

अथेमां विश्वन्तरप्रव्राजनप्रवृत्तिमुपलभ्य राजकुले तुमुल आक्रन्दशब्दः प्रादुरभूत् । शोकदुःखावेगान्मूर्च्छापरीत इवार्थिजनो मत्तोन्मत्त इव च तत्तद्बहुविधं विललाप ।

छायातरोः स्वादुफलप्रदस्य च्छेदार्थमागूर्णपरश्वधानाम् ।
धात्री न लज्जां यदुपैति भूमिर्व्यक्तं तदस्या हतचेतनत्वम् ॥ ४० ॥
शीतामलस्वादुजलं निपानं बिभित्सतामस्ति न चेन्निषेद्धा ।
व्यर्थाभिधाना बत लोकपाला विप्रोषिता वा श्रुतिमात्रकं वा ॥ ४१ ॥
अधर्मो बत जागर्ति धर्मः सुप्तोऽथवा मृतः ।
यत्र विश्वन्तरो राजा स्वस्माद्राज्यान्निरस्यते ॥ ४२ ॥

रात में शिलाखण्ड पर चाँदनी की चादर बिछेगी, फूलों के पेड़ों से सुगन्ध लेकर जंगली हवा आपका अंग-मर्दन करेगी । पत्थरों के ऊपर गिरने वाली जल-धारा की मधुर ध्वनि, सरितारूपी बधुओं के आभूषणों की झंकार बनकर जंगल में भी आपके मन को मुदित करती रहेगी ॥ ३८–३९ ॥

पत्नी की प्रार्थना से प्रभावित होकर वन में जाने के लिए समुत्सुक बोधिसत्त्व ने याचकों का विचारकर महादान देना शुरू कर दिया ।

कुमार विश्वन्तर के देश निकाला का समाचार सुनकर राजकुल में जोर-जोर से रोने की आवाज फूट पड़ी । शोक और दुःख के आवेग से पागल बने याचकों ने उन्मत्त विलाप करना शुरू किया—

शीतल छाया और स्वादिष्ट फल देने वाले इस वृक्ष को काटने के लिए जिन्होंने कुठार उठाया है, उनके कुकर्म से लज्जित इस धरती की छाती यदि फट नहीं गई तो निश्चय ही इससे यह सिद्ध होता है कि यह सचमुच चेतनाशून्य एवं जड़ है ॥४०॥

शीतल, विमल और मधुर जल के कुएँ को जिन्होंने तोड़ना चाहा है, उन्हें यदि कोई रोकने वाला नहीं रह गया है, तो निश्चय ही लोकपालों का नाम निरर्थक है, अथवा वे अब कहीं नहीं हैं या हैं भी तो नाममात्र के लिए ही ॥ ४१ ॥

जिस राज्य में विश्वन्तर जैसे राजकुमार को देश निकाला हो, उस राज्य में अधर्म का बोलबाला है और धर्म मर गया है या सोया है ॥ ४२ ॥

कोऽनर्थपटुसामर्थ्यो याच्ञानूर्जितवृत्तिषु ।
अस्मास्वनपराधेषु वधाभ्युद्यमनिष्ठुरः ।। ४३ ।।

अथ बोधिसत्त्वो नैकशतसहस्रसङ्ख्यं मणिकनकरजतपरिपूर्णकोशं विविधधनधान्यनिचयवन्ति कोशकोष्ठागाराणि दासीदासयानवाहनवसनपरिच्छदादि च सर्वमर्थिभ्यो यथार्हमतिसृज्य, शोकदुःखाभिभूतधैर्ययोर्मातापित्रोश्चरणावभिप्रणम्य सपुत्रदारः स्यन्दनवरमभिरुह्य पुण्याहघोषेणैव महतो जनकायस्याक्रन्दितशब्देन पुरवरान्निरगच्छत् । अनुरागवशगमनुयायिनं च जनं शोकाश्रुपरिक्लिन्नवदनं प्रयत्नाद्विनिवर्त्य स्वयमेव रथप्रग्रहान् प्रतिगृह्य येन वङ्कः पर्वतस्तेन प्रायात् । व्यतीत्य चाविक्लवमतिरुद्यानवनरुचिरमालिनं पुरवरोपचारमनुपूर्वेण प्रविरलच्छायाद्रुमं विच्छिद्यमानजनसम्पातं प्रविचरितमृगगणसम्बाधदिगालोकं चीरीविरावोन्नादितमरण्यं प्रत्यपद्यत । अथैनं यदृच्छयाभिगता ब्राह्मणा रथवाहाँस्तुरगानयाचन्त ।

स वर्तमानोऽध्वनि नैकयोजने सहायहीनोऽपि कलत्रवानपि ।
प्रदानहर्षादनपेक्षितायतिर्ददौ द्विजेभ्यश्चतुरस्तुरङ्गमान् ।। ४४ ।।

इस अनर्थ को सार्थकता देने में समर्थ वह कौन व्यक्ति है, जिसने हम निरपराध भिखारियों को भूखों मरने को विवश कर दिया है ।। ४३ ।।

इसके बाद बोधिसत्त्व ने लाखों के सोना-चाँदी और मणियों से भरा भंडार अनेक प्रकार की सम्पदाओं का खजाना, हर तरह के अन्नों का भंडार, दास-दासी, गाड़ी-सवारी, वस्त्र और आभूषण याचकों को यथायोग्य देकर, शोक और दुःख से जिन्होंने अपना धीरज खो दिया था ऐसे माँ-बाप के चरणों में प्रणाम कर, अपने बेटे-बेटी तथा पत्नी को साथ लेकर उत्तम रथ पर सवार होकर प्रस्थान किया । उनके पीछे रोता-बिलखता विशाल जन-समूह उमड़ पड़ा । पुण्य-दिवस की घोषणा करते हुए वे नगर से बाहर आ गये । प्रेम के वशीभूत होकर रोते-बिलखते पीछे लगे लोगों को समझा-बुझाकर उन्होंने लौटा दिया और स्वयं रथ में जुते घोड़े की रास थामकर बंकपर्वत की ओर प्रस्थान किया । नगर के समीपवर्त्ती उद्यानों और उपवनों की शृंखलाओं को बड़े शान्तभाव से उन्होंने पार किया । अब धीरे-धीरे छायावृक्ष विरल हो गये । मनुष्यों का आवागमन कम हो गया । वन्य पशुओं की भाग-दौड़ से दिशाएँ धूमिल हो उठीं, झींगुरों की झनकार से जंगल गूँजने लगा । तब अचानक ही सामने आकर कुछ ब्राह्मणों ने उनके रथ में जुते घोड़े की माँग कर दी ।

अपने राज्य से वे कोशों दूर थे । वन का बीहड़ मार्ग था । पत्नी के साथ अकेले थे । संग में न कोई सेवक था और न कोई अंगरक्षक, फिर भी दान देने के सुख से भविष्य की उपेक्षा कर उन्होंने चारों घोड़े उन ब्राह्मणों को दे दिए ।। ४४ ।।

अथ बोधिसत्त्वस्य स्वयमेव रथधुर्यतामुपगन्तुकामस्य गाढतरं परिकरमभिसंयच्छमानस्य रोहितमृगरूपिणश्चत्वारो यक्षकुमाराः सुविनीता इव सदश्वाः स्वयमेव रथयुगं स्कन्धप्रदेशैः प्रत्यपद्यन्त। तांस्तु दृष्ट्वा हर्षविस्मयविशालतराक्षीं मद्रीं बोधिसत्त्व उवाच—

तपोधनाध्यासनसत्कृतानां पश्य प्रभावातिशयं वनानाम्।
यत्रैवमभ्यागतवत्सलत्वं संरूढमूलं मृगपुङ्गवेषु॥ ४५॥

मद्र्युवाच—

तवैवाहमिमं मन्ये प्रभावमतिमानुषम्।
रूढोऽपि हि गुणाभ्यासः सर्वत्र न समः सताम्॥ ४६॥

तोयेषु ताराप्रतिबिम्बशोभा विशेष्यते यत्कुमुदप्रहासैः।
कौतूहलाभिप्रसृता इवेन्दोर्हेतुत्वमत्राग्रकराः प्रयान्ति॥ ४७॥

इति तयोरन्योन्यानुकूल्यात्परस्परं प्रियं वदतोरध्वानं गच्छतोरथापरो ब्राह्मणः समभिगम्य बोधिसत्त्वं रथवरमयाचत।

ततः स्वसुखनिःसङ्गो याचकप्रियबान्धवः।
पूरयामास विप्रस्य स रथेन मनोरथम्॥ ४८॥

अब बोधिसत्त्व स्वयं ही रथ खींचने की तैयारी कर ही रहे थे कि सहसा रोहित मृग के रूप में चार यक्षकुमार उपस्थित हुए। उन्होंने प्रशिक्षित घोड़े की तरह स्वयं रथ के जुए को अपने कंधों पर रख लिया। यह सब देखकर खुशी और विस्मय से विस्फारित आँखों वाली मद्री से बोधिसत्त्व ने कहा—

तापसों के निवास से सत्कृत तपोवन के इस विशिष्ट प्रभाव को देखो, जहाँ के पशुओं में भी अतिथि-सत्कार बद्धमूल है॥ ४५॥

मद्री ने कहा—

मेरी दृष्टि में तो यह आपका ही अलौकिक प्रभाव है। क्योंकि सज्जन और सद्गुणी होकर भी अपने गुणों को सब जगह समान रूप से कभी प्रकाशित नहीं किया है॥ ४६॥

विकसित कुमुदों की शोभा पानी के सतहों पर प्रतिबिंबित तारों की शोभा को मातकर देती है। इसका एकमात्र कारण चाँद की किरणें हैं, जो अपने कौतूहल से कुमुदों तक पहुँच जाती हैं॥ ४७॥

जब वे दोनों पति-पत्नी एक दूसरे के मनोनुकूल परस्पर वार्त्तालाप करते आगे की ओर बढ़ते जा रहे थे कि अचानक ही एक ब्राह्मण ने सामने आकर उनसे उनके रथ की याचना की।

तब अपने व्यक्तिगत सुख से उदासीन, याचकों के प्रिय बन्धु उस बोधिसत्त्व ने उस ब्राह्मण का मनोरथ पूरा कर दिया॥ ४८॥

अथ बोधिसत्त्वः प्रीतमना रथादवतार्य स्वजनान्निर्यात्य रथवरं ब्राह्मणाय जालिनं कुमारमङ्केनादाय पद्भ्यामेवाध्वानं प्रत्यपद्यत। अविमनस्कैव च मद्री कृष्णाजिनां कुमारीमङ्केनादाय पृष्ठतोऽन्वगच्छदेनम्।

निमन्त्रयामासुरिव द्रुमास्तं हृद्यैः फलैरानमिताग्रशाखाः।
पुण्यानुभावादभिवीक्षमाणाः शिष्याविनीता इव च प्रणेमुः॥ ४९॥
हंसांसविक्षोभितपङ्कजानि किञ्जल्करेणुस्फुटपिञ्जराणि।
प्रादुर्बभूवुश्च सरांसि तस्य तत्रैव यत्राभिचकाङ्क्ष वारि॥ ५०॥
वितानशोभां दधिरे पयोदाः सुखः सुगन्धिः प्रववौ नभस्वान्।
परिश्रमक्लेशममृष्यमाणा यक्षाश्च सञ्चिक्षिपुरस्य मार्गम्॥ ५१॥

इति बोधिसत्त्व उद्यानगत इव पादचारविनोदनसुखमनुभवन्मार्गपरिखेद रसमनास्वाद्य सपुत्रदारः प्रान्त एव तु वङ्कपर्वतमपश्यत्। तत्र च पुष्पफल पल्लवालङ्कृतस्निग्धविविधरुचिरतरुवरनिचितं मदमुदितविहङ्गबहुविधरुत विनदं प्रवृत्तनृत्तबर्हिगणोपशोभितं प्रविचरितनैकमृगकुलं कृतपरिकरमि विमलनीलसलिलया सरिता कुसुमरजोऽरुणसुखपवनं तपोवनं वनचरकादेशित

बोधिसत्त्व ने खुशी-खुशी पत्नी और बेटी को रथ से उतार लिया और छो कुमार 'जाली' को गोद में लेकर राह पकड़ी। मद्री ने भी अपनी बेटी कुमा कृष्णाजिना को गोद में उठाकर उनका अनुसरण किया।

वृक्षों ने अपनी डाली झूकाकर अपने स्वादिष्ट फलों के लिए उन्हें आमं किया। पुण्य के प्रभाव से उनके दर्शन पाकर उन वृक्षों ने विनीत शिष्यों की त झुक-झुककर उन्हें प्रणाम किए॥ ४९॥

जहाँ कहीं भी उन्होंने पानी की अभिलाषा की वहीं सुन्दर सरोवर प्रकट गये। इन सरोवरों में खिले कमल हंसों की पाँख से प्रकम्पित हो रहे थे और उ झरते परागों से पानी लाल-पीला हो रहा था॥ ५०॥

उनकी थकावट की पीड़ा को सहन न करने वाले यक्षों ने बंकपर्वत की छोटी कर दी, बादलों ने चँदोवा तान दिया, सुखद सुगन्धित हवा बहने लगी॥५

इस तरह बेटा-बेटी और पत्नी के साथ उन्हें राह की थकावट महसूस ही हुई। उन्हें लगा जैसे वे किसी उद्यान में मात्र भ्रमण किया है। सामने उन्होंने पर्वत को देखा। और किसी वनचारी के बतलाये रास्ते से चलकर वे वहाँ गये। अनेक फल-फूलों से वह स्थान भरा था। नयी कोपलों वाले अनेक वृक्ष सुशो थे। सारा वन-प्रान्तर अनेक पक्षियों के कलरव से अनुगुंजित था। कहीं मयूर दीख रहे थे तो कहीं अनेक तरह के हिरन विचरण कर रहे थे। कहीं नीलाभ जल वाली नदी प्रवाहित थी तो कहीं फूलों की सुगन्ध से भरी मन्द-मन्द चल रही थी। वहाँ पहले से ही देवराज इन्द्र के आदेश से शान्त, एकान्त और

मार्गः प्रविश्य विश्वकर्मणा शक्रसन्देशात् स्वयमभिनिर्मितां मनोज्ञदर्शनां सर्वर्तु-सुखां तत्र प्रविविक्तां पर्णशालामध्यावसत् ।

तस्मिन्वने दयितया परिचर्यमाणः
श्रृण्वन्नयत्नमधुरांश्च सुतप्रलापान् ।
उद्यानसंस्थ इव विस्मृतराज्यचिन्तः
संवत्सरार्धमधिकं स तपश्चचार ॥ ५२ ॥

अथ कदाचिन्मूलफलार्थं गतायां राजपुत्र्यां पुत्रयोः परिपालननिमित्तमाश्रमपदमशून्यं कुर्वाणे राजपुत्रे मार्गरेणुपरुषीकृतचरणप्रजङ्घः परिश्रमक्षामनयनवदनो दण्डकाष्ठावबद्धस्कन्धावसक्तकमण्डलुर्ब्राह्मणः पत्न्या परिचारकानयनार्थं समर्पितदृढसन्देशस्तं देशमुपजगाम । अथ बोधिसत्त्वश्चिरस्यार्थिजनं दृष्ट्वाऽभिगतं मनःप्रहर्षात् समुपजायमाननयनवदनप्रसादः प्रत्युद्गम्य स्वागतादिप्रियवचनपुरःसरं प्रवेश्य चैनमाश्रमपदं कृतातिथिसत्कारमागमनप्रयोजनमपृच्छत् । अथ स ब्राह्मणो भार्यानुरागादुत्सारितधैर्यलज्जः प्रतिग्रहमात्रसज्जो नियतमर्थमीदृशमुवाच —

आलोको भवति यतः समश्च मार्गो
लोकोऽयं व्रजति ततो न दुर्गमेण ।
प्रायोऽस्मिञ्जगति तु मत्सरान्धकारे-
णान्ये न प्रणयपदानि मे वहन्ति ॥ ५३ ॥

स्थान में एक मनोरम कुटी का निर्माण कर दिया गया था । सब ऋतुओं में समान रूप से सुखदायक उस कुटीर में बोधिसत्त्व सपरिवार रहने लगे ।

अपनी पत्नी की सुखद परिचर्या पाते हुए तथा अपनी सन्तति की स्वाभाविक मीठी बातों को सुनते हुए इन्होंने तपोवन में भी राजोद्यान में निवास की-सी अनुभूति के साथ, राजकीय चिन्ताओं से मुक्त रहकर, छः महीने तक कठोर तपस्या की ॥५२॥

एकबार कुमार विश्वन्तर के पास उस आश्रम में एक ब्राह्मण आया । उस समय बच्चों की देख-रेख के लिए वे वहाँ अकेले थे और मद्री फल-फूल लाने कहीं बाहर गई थीं । वह ब्राह्मण थक कर चूर-चूर था । उसकी आँखें भीतर धँस गई थीं । टाँगें अकड़ गई थीं । मुख मलिन था, देह धूलि-धूसरित थी । उसकी पत्नी ने उसे कहीं से नौकर ले आने का कठोर आदेश देकर भेजा था । उसके कँधे पर एक लाठी थी जिसमें उसका कमण्डलु लटक रहा था । बहुत दिनों के बाद अपने दरवाजे पर किसी याचक को देखकर विश्वन्तर का मन प्रसन्नता से खिल उठा । उसने आगे बढ़कर उसका स्वागत कर उसे भीतर लाकर आने का प्रयोजन पूछा । पत्नी-प्रेम के कारण उस भिखारी ने सामान्य औपचारिकता और लाज को छोड़कर अपने आने का प्रयोजन इस तरह कहा—

जहाँ प्रकाश है और भूमि समतल है, वहाँ लोगों का चलना सुगम है, किन्तु

प्रदानशौर्योदितया यशःश्रिया गतं च गन्तव्यमशेषतस्तव ।
अतोऽस्मि याच्ञाश्रममभ्युपेयिवान्प्रयच्छ तन्मे परिचारकौ सुतौ ॥ ५४ ॥

इत्युक्ते बोधिसत्त्वो महासत्त्वः—

दानप्रीतौ कृताभ्यासः प्रत्याख्यातुमशिक्षितः ।
ददामीत्यवदद् धृष्टं दयितौ तनयावपि ॥ ५५ ॥

स्वस्त्यस्तु, तत्किमिदानीमास्यत इति च ब्राह्मणेनाभिहितः स महासत्त्वः प्रदानकथाश्रवणोत्पतितविषादविप्लुताक्षयोः सुतयोः स्नेहावेगादवलम्बमानः बोधिसत्त्व उवाच—

दत्तावेतौ मया तुभ्यं किं तु मातानयोर्गता ।
वनं मूलफलस्यार्थे सायमद्यागमिष्यति ॥ ५६ ॥
तया दृष्टावुपाघ्रातौ मालिनावभ्यलङ्कृतौ ।
इहैकरात्रं विश्रम्य श्वो नेतासि सुतौ मम ॥ ५७ ॥

ब्राह्मण उवाच—अलमनेनात्रभवतो निर्बन्धेन ।

गौणमेतद्धि नारीणां नाम वामा इति स्थितम् ।
स्याच्चैव दानविघ्नस्ते तेन वासं न रोचये ॥ ५८ ॥

अपने स्वार्थ में डूबे रहने के कारण आपके सिवा इस संसार में कोई माँग कबूल नह कर सकते ॥ ५३ ॥

आपकी दान-वीरता से उत्पन्न आपके यश से दिग्दिगन्त प्रोद्भासित है । अत मैंने भी आपसे ही माँगने का निश्चय किया है । अतः आप अपने दोनों बच्चों मेरी सेवा के लिए दे दें ॥ ५४ ॥

इतना सुनने पर महान् बोधिसत्त्व ने—

जिन्होंने जीवन में किसी से 'नहीं' कहना सीखा ही नहीं था, माँगने पर कि को प्रसन्नतापूर्वक कुछ भी दे देने का अभ्यास आजीवन जिसने किया था—साह पूर्वक कहा—'मैं अपने ये दोनों प्यारे बच्चे आपको दे दूँगा' ॥ ५५ ॥

'आपका कल्याण हो, तो फिर दे क्यों नहीं देते ?' बच्चों को देने की बात सु कर सन्तति-स्नेह के कारण आँखों में उमड़ते आँसुओं को रोककर दुःखी-हृदय बो सत्त्व ने कहा—

ये दोनों बच्चे मैंने आपको दे दिये । किन्तु, इन्हें ले जाने से पूर्व एक-रात यहाँ ठहर जायँ । क्योंकि, इनकी माँ फल-फूल लाने जंगल में गई हैं, शाम त निश्चय ही लौट आयेंगी, फिर माला और आभूषणों से सुसज्जित बच्चों को लगाकर तथा सूँघकर आपको सौंप देंगी । आप इन्हें कल ले जायँ ॥ ५६–५७ ॥

ब्राह्मण ने कहा—महाराज आप इसके लिए हठ न करें ।

औरतों को उनके गुण के कारण ही 'वामा' कहा जाता है । आपके दा विघ्न न हो, अतः यहाँ मेरा रुकना ठीक नहीं होगा ॥ ५८ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—अलं दानविघ्नशङ्कया । सहधर्मचारिणी मम सा । यथा वात्रभवते रोचते । अपि च महाब्राह्मण—

सुकुमारतया बाल्यात्परिचर्यास्वकौशलात् ।
कीदृशीं नाम कुर्यातां दासप्रीतिमिमौ तव ॥ ५९ ॥
दृष्ट्वा त्वित्थङ्गतावेतौ शिबिराजः पितामहः ।
अद्धा दद्याद्यदिष्टं ते धनं निष्क्रयमेतयोः ॥ ६० ॥
यतस्तद्विषयं साधु त्वमिमौ नेतुमर्हसि ।
एवं ह्यर्थेन महता धर्मेण च समेष्यसि ॥ ६१ ॥

(ब्राह्मण उवाच) न शक्ष्याम्यहमाशीविषदुरासदं विप्रियोपायनेन राजानमभिगन्तुम् ।

आच्छिन्द्यान्मदिमौ राजा दण्डं वा प्रणयेन्मयि ।
यतो नेष्याम्यहमिमौ ब्राह्मण्याः परिचारकौ ॥ ६२ ॥

अथ बोधिसत्त्वो यथेष्टमिदानीमित्यपरिसमाप्तार्थमुक्त्वा सानुनयमनुशिष्य तनयौ परिचर्यानुकूल्ये प्रतिग्रहार्थमभिप्रसारिते ब्राह्मणस्य पाणौ कमण्डलुमावर्जयामास ।

तस्य यत्नानुरोधेन पपाताम्बु कमण्डलोः ।
पद्मपत्राभिताम्राभ्यां नेत्राभ्यां स्वयमेव तु ॥ ६३ ॥

बोधिसत्त्व ने कहा—दान में विघ्न होने वाली आपकी आशंका बेकार है । वह मेरी सहधर्मिणी है । अथवा आपको जैसा अच्छा लगे । और भी—हे महाब्राह्मण—

सेवा में अनजान ये कोमल बालक भला अपनी सेवा से आपको कहाँ तक संतुष्ट करेंगे । इस स्थिति में अपने पोते को पाकर इनके पितामह इन्हें इस दासता से मुक्त कराने के लिए निश्चय ही आपको यथेच्छ धन देंगे । अतः इन्हें लेकर आप शिविराज की राजधानी पहुँचिए । इस तरह वहाँ पहुँचने पर आपको धन और धर्म दोनों एक साथ मिलेंगे ॥ ५९-६१ ॥

(ब्राह्मण ने कहा—) इस अप्रिय उपहार को लेकर उस दुर्गम विषधर राजा के पास मैं न जा सकूँगा ।

वह राजा इन बच्चों को देखते ही मुझसे छीन लेगा और ऊपर से दण्ड भी देगा । अतः इन सेवकों को मैं सीधे अपनी ब्राह्मणी के पास ही ले जाऊँगा ॥ ६२ ॥

तब बोधिसत्त्व ने अधूरे वाक्य 'आपकी जैसी इच्छा' कहकर ब्राह्मण की सेवा में प्रयुक्त होने के लिए अनुनय पूर्वक उपदेश देकर, दान लेने के लिए फैलाये गये ब्राह्मण के हाथों पर अपना कमण्डलु झुका दिया ।

सायास कमण्डलु से जल गिराने के क्रम में ताँबे के रंग वाली उनकी आँखों से अश्रुजल भी टपक पड़े ॥ ६३ ॥

अथ स ब्राह्मणो लाभातिहर्षात् सम्भ्रमाकुलितमतिर्बोधिसत्त्वतनयापहरणत्वरया सङ्क्षिप्तपदमाशीर्वचनमुक्त्वा निर्गम्यतामित्याज्ञाकर्कशेन वचसा कुमारावाश्रमपदान्निष्क्रामयितुमारेभे। अथ कुमारौ वियोगदुःखातिभारव्यथितहृदयौ पितरमभिप्रणम्य बाष्पोपरुध्यमाननयनावूचतुः—

अम्बा च तात निष्क्रान्ता त्वं च नौ दातुमिच्छसि।
यावत्तामपि पश्यावस्ततो दास्यति नौ भवान् ॥ ६४ ॥

अथ स ब्राह्मणः पुरा मातानयोरागच्छति, अस्य वा पुत्रस्नेहात् पश्चात्तापः सम्भवतीति विचिन्त्य पद्मकलापमिवानयोर्हस्तानाबद्धच लतया सन्तर्जयन्विचेष्टमानौ पितरं प्रति व्यावर्तितवदनौ प्रकृतिसुकुमारौ कुमारौ प्रचकर्ष।

अथ कृष्णाजिना कुमार्यपूर्वदुःखोपनिपातात् सस्वरं रुदती पितरमुवाच—

अयं मां ब्राह्मणस्तात लतया हन्ति निर्दयः।
न चायं ब्राह्मणो व्यक्तं धार्मिका ब्राह्मणाः किल ॥ ६५ ॥

यक्षोऽयं ब्राह्मणच्छद्मा नूनं हरति खादितुम्।
नीयमानौ पिशाचेन तात किं नावुपेक्षसे ॥ ६६ ॥

तब उस ब्राह्मण ने लाभजन्य आनन्द के अतिरेक में घबड़ाकर, व्याकुल हृदय से बच्चों को आश्रम से निकालने की चेष्टा की। संक्षेप में बोधिसत्त्व को आशीर्वाद देकर बच्चों को कुटिया से बाहर शीघ्र निकलने का कठोर आदेश दिया। पिता-माता के वियोग से बच्चों के हृदय में काफी पीड़ा हुई। दुःख से उनका हृदय भर आया। आँसुओं से उनकी आँखें भर आईं। तब उन्होंने पिता को प्रणाम कर कहा—

पिताजी, माँ तो बाहर गई हैं और उनकी अनुपस्थिति में आप मुझे दान करना चाहते हैं। हमें उनके दर्शन तो कर लेने दें। फिर आप चाहें तो दान कर दें ॥६४॥

तब उस ब्राह्मण ने सोचा—कहीं इसी बीच इनकी माँ आ जाय या बोधिसत्त्व के मन में ही स्नेहवश कोई दूसरी भावना जग जाय तो बना-बनाया काम बिगड़ जायेगा। यह सोचते ही उस ब्राह्मण ने कमल गुच्छे की तरह कोमल बच्चों के हाथों को लता से बाँध दिया। इस स्थिति में अपने पिता की ओर देखते हुए वे बच्चे बुरी तरह छटपटाने लगे। फिर भी वह कठोर ब्राह्मण उन बच्चों को डरा-धमका कर अपनी ओर शीघ्रता से खींचने लगा।

इस बेजोड़ विपत्ति में पड़कर कुमारी कृष्णाजिना फूट-फूटकर रोती हुई पिता से कहने लगी—

पिताजी, यह निष्ठुर ब्राह्मण मुझे लता से पीट रहा है। निश्चय ही यह ब्राह्मण नहीं है, क्योंकि ब्राह्मण तो दयालु होते हैं ॥ ६५ ॥

ब्राह्मण के कपट वेष में निश्चय ही यह कोई यक्ष है और हमें मारकर खाने के लिए ही हमारा अपहरण कर रहा है। पिताजी, यह पिशाच हमें लिए जा रहा है आप हमारी उपेक्षा क्यों कर रहे हैं? ॥ ६६ ॥

अथ जाली कुमारो मातरमनुशोचन्नुवाच—

नैवेदं मे तथा दुःखं यदयं हन्ति मां द्विजः।
नापश्यमम्बां यत्त्वद्य तद्विदारयतीव माम् ॥ ६७ ॥
रोदिष्यति चिरं नूनमम्बा शून्ये तपोवने।
पुत्रशोकेन कृपणा हतशावेव चातकी ॥ ६८ ॥
अस्मदर्थे समाहृत्य वनान्मूलफलं बहु।
भविष्यति कथं न्वम्बा दृष्ट्वा शून्यं तपोवनम् ॥ ६९ ॥
इमे नावश्वकास्तात हस्तिका रथकाश्च ये।
अतोऽर्धं देयमम्बायै शोकं तेन विनेष्यति ॥ ७० ॥
वन्द्यास्मद्वचनादम्बा वार्या शोकाच्च सर्वथा।
दुर्लभं हि पुनस्तात तव तस्याश्च दर्शनम् ॥ ७१ ॥
एहि कृष्णे मरिष्यावः को न्वर्थो जीवितेन नौ।
दत्तावावां नरेन्द्रेण ब्राह्मणाय धनैषिणे ॥ ७२ ॥

इत्युक्त्वा जग्मतुः। अथ बोधिसत्त्वस्तेनातिकरुणेन तनयप्रलापेनाकम्पित-मतिरपि क इदानीं दत्त्वानुतापं करिष्यतीति निष्प्रतीकारेण शोकाग्निना विनि-

---

कुमार जाली ने भी माँ के लिए शोक प्रकट करते हुए कहा—

यह ब्राह्मण मुझे लता से पीट रहा है, इससे मुझे उतना कष्ट नहीं, जितना कष्ट आज अपनी माँ को बिना देखे मुझे हो रहा है। लगता है दुःख के मारे मेरा हृदय फट जायेगा ॥ ६७ ॥

इस सूने तपोवन में अपने बच्चों के पीटे जाने से शोकाकुल मेरी माँ बहुत दिनों तक पपीहे की तरह रोती रहेगी ॥ ६८ ॥

हमारे लिए जंगल से बहुत सारे फल-मूल बटोर कर जब वह लौटेगी और इस कुटिया को खाली देखेगी तो भला उस पर क्या बीतेगा ? ॥ ६९ ॥

हे तात, हमारे खिलौने के ये हाथी, घोड़े और रथों का आधा भाग आप उन्हें सौंप देंगे ताकि इन्हें पाकर वे अपना दुःख भूल सकेंगी ॥ ७० ॥

हमारी माँ को हमारा अन्तिम प्रणाम आप अवश्य निवेदित कर दें। साथ ही वे इस दुःख को भूल जायँ, इसके लिए भी आप प्रयत्न करेंगे। हाय, हमारे लिए तो अब आप दोनों के दर्शन भी दुर्लभ होंगे ॥ ७१ ॥

आओ कृष्णे, अब हम दोनों मृत्यु का वरण करें, क्योंकि अब जीने से क्या लाभ ? राजा ने तो हम दोनों को इस धनलोभी ब्राह्मण के हाथ में सौंप ही दिए है ॥ ७२ ॥

दोनों भाई-बहन इतना कहकर चले गये। बच्चों के हृदय-विदारक उस करुण-विलाप को सुनकर भी यद्यपि बोधिसत्त्व का निश्चय अविचल रहा, फिर भी 'देकर कौन पछताये' यह सोचते हुए भी उनका हृदय शोकरूपी आग में जलने लगा। विष

दंह्यमानहृदयो विषवेगमूर्च्छापरिगत इव समुपरुध्यमानचेतास्तत्रैव निषसाद। शीतलानिलव्यजनप्रतिलब्धसञ्ज्ञश्च निष्कूजमिवाश्रमपदं तनयशून्यमभिवीक्ष्य बाष्पगद्गदसन्निरुद्धकण्ठ इत्यात्मगतमुवाच—

पुत्राभिधाने हृदये समक्षं प्रहरन्मम।
नाशङ्कत कथं नाम धिगलज्जो बत द्विजः॥ ७३॥
पत्तिकावनुपानत्कौ सौकुमार्यात्क्लमासहौ।
यास्यतः कथमध्वानं तस्य च प्रेष्यतां गतौ॥ ७४॥
मार्गश्रमपरिम्लानौ कोऽद्य विश्रामयिष्यति।
क्षुत्तर्षदुःखाभिहतौ याचिष्येते कमेत्य वा॥ ७५॥
मम तावदिदं दुःखं धीरतां कर्तुमिच्छतः।
का त्ववस्था मम तयोः सुतयोः सुखवृद्धयोः॥ ७६॥
अहो पुत्रवियोगाग्निर्निर्दहत्येव मे मनः।
सतां तु धर्मं संस्मृत्य कोऽनुतापं करिष्यति॥ ७७॥

अथ मद्री विप्रियोपनिपातशंसिभिरनिष्टैर्निमित्तैरुपजनितवैमनस्या मूलफलान्यादाय क्षिप्रतरमागन्तुकामापि व्यालमृगोपरुध्यमानमार्गा चिरतरेणाश्रमपदमुपजगाम। उचितायां च प्रत्युद्गमनभूमावाक्रीडास्थाने च तनयावपश्यन्ती भृशतरमरतिवशमगात्।

के वेग से मूर्छित मनुष्य की तरह चेतनाशून्य होकर वे वहीं बैठे रहे। पंखा झलने की तरह ठंढी हवा के स्पर्श से जब उनकी चेतना लौटी तो शिशु-शून्य आश्रम को निःशब्द एवं नीरव देखकर उनका हृदय मुँह को आ गया। फिर अश्रुपूर्ण एवं गद्गद कंठ से उन्होंने अपने आपसे कहना शुरू किया—

सन्ततिरूप मेरी छाती पर आमने-सामने खड़ा होकर प्रहार करने में उस निर्लज्ज ब्राह्मण को कुछ भी संकोच क्यों नहीं हुआ? धिक्कार है उन्हें॥ ७३॥

ये बच्चे तो अत्यधिक सुकुमार हैं। राह की थकावट सहने में असमर्थ हैं। पैदल चलने की आदत नहीं है, फिर उनका दास बनकर जूते के बिना कैसे चलते होंगे॥

राह चलते थककर मुरझाये मुँह वाले उन बच्चों को भला विश्राम कौन करायेगा अथवा भूख-प्यास से दुःखी होकर अब वे किसके पास जायेंगे? किससे कुछ माँगेंगे?॥ ७५॥

मेरे जैसे धीर-व्यक्ति को भी जब उनके लिए इतना कष्ट है, तो भला उन सुकुमार बच्चों पर क्या बीतता होगा?॥ ७६॥

मैं जानता हूँ सन्तति-वियोग की आग से मेरा हृदय जल रहा है, फिर भी सज्जनों के धर्म की याद कर इसके लिये क्यों पछतायें?॥ ७७॥

उधर वन में विपत्ति-सूचक अनेक अपशकुनों को देखकर मद्री घबड़ा रही थी। वह फल-मूल लेकर अतिशीघ्र लौट जाना चाहती थी। पर, सर्प एवं हिंसक पशु

अनीप्सिताशङ्कितजातसम्भ्रमा ततः सुतान्वेषणचञ्चलेक्षणा ।
प्रसक्तमाह्वानमसम्परिग्रहं तयोर्विदित्वा व्यलपच्छुचातुरा ॥ ७८ ॥
समाजवद्यत्प्रतिभाति मे पुरा सुतप्रलापप्रतिनादितं वनम् ।
अदर्शनादद्य तयोस्तदेव मे प्रयाति कान्तारमिवाशरण्यताम् ॥ ७९ ॥
किं नु खलु तौ कुमारौ —
क्रीडाप्रसङ्गश्रमजातनिद्रौ सुप्तौ नु नष्टौ गहने वने वा ।
चिरान्मदभ्यागमनादतुष्टौ स्यातां क्वचिद् बालतया निलीनौ ॥ ८० ॥
रुवन्ति कस्माच्च न पक्षिणोऽप्यमी समाकुलास्तद्वधसाक्षिणो यदि ।
तरङ्गभङ्गैरविनीतकोपया हृतौ नु किं निम्नगयातिवेगया ॥ ८१ ॥

अपीदानीं मे वितथा मिथ्याविकल्पा भवेयुः । अपि राजपुत्राय सपुत्राय स्वस्ति स्यात् । अप्यनिष्टनिवेदिनां निमित्तानां मच्छरीर एव विपाको भवेत् । किं नु खल्विदमनिमित्तापवृत्तप्रहर्षमरतितमिस्रयावच्छाद्यमानं विद्रवतीव हृदयम् । विस्रस्यन्त इव मे गात्राणि । व्याकुल इव दिग्विभागाः । भ्रमतीव चेदं परिध्वस्तलक्ष्मीकं वनमिति ।

से उसकी राह रोक ली थी । अतः वह देर से घर पहुँची । पर, यह क्या घर के समीप बच्चों को खेलने की जगह खाली देखकर वह दंग रह गई ।

किसी अनिष्ट की आशंका से वह बुरी तरह घबड़ा गई । उसकी चंचल आँखें चारों ओर बच्चों को खोज रही थीं । वह बार-बार नाम लेकर उन्हें बुला रही थी । पर, उनसे उत्तर न पाकर, वह घबड़ा कर रोने लगी ॥ ७८ ॥

हाय, बच्चों की मीठी-मीठी बातों से अनुगूँजित यह वन भी मुझे घर की तरह लगता था । उनके अभाव में वही जंगल बीहड़ वन की तरह मानों आज काट रहा है ॥ ७९ ॥

क्या ये बच्चे—

खेलते-खेलते थककर कहीं सो तो नहीं गये ? अथवा किसी सघन वन में कहीं खो तो नहीं गये ? या मुझे आज लौटने में कुछ देर हो गई है, अतः बचपन के कारण रूठकर कहीं छिप तो नहीं गये हैं ॥ ८० ॥

आखिर ये चिड़ियाँ क्यों नहीं चहचहा रही हैं ? मेरे बच्चों पर आये संकट देखकर कहीं ये भी तो नहीं घबड़ा गई हैं ? नीचे तेज धारा वाली नदी गरज रही है । कहीं इनकी क्रुद्ध तरंगे उन्हें अपने साथ बहा तो नहीं ले गई ? ॥ ८१ ॥

इस समय मेरे मन में उठने वाले सारे संदेह निरर्थक और मिथ्या हों । अपनी सन्तति के साथ राजकुमार का कल्याण हो । अनिष्ट सूचक कुलक्षणों का परिणाम मेरी देह पर ही घटित हो । पता नहीं किसी अनिष्ट की आशंका से मेरा दिल क्यों बैठा जा रहा है ? मन में उचाट क्यों हो रहा है ? मोह से घिरकर मानों मेरा मन

अथानुप्रविश्याश्रमपदमेकान्ते निक्षिप्य मूलफलं यथोपचारपुरःसरं भर्तारमभिगम्य क्व दारकाविति पप्रच्छ। अथ बोधिसत्त्वो जानानः स्नेहदुर्बलतां मातृहृदयस्य दुर्निवेद्यत्वाच्च विप्रियस्य नैनां किञ्चिद्वक्तुं शशाक।

जनस्य हि प्रियार्हस्य विप्रियाख्यानवह्निना।
उपेत्य मनसस्तापः सघृणेन सुदुष्करः॥ ८२॥

अथ मद्री व्यक्तमकुशलं मे पुत्रयोः यदयमेवं तूष्णींभूतः शोकदैन्यानुवृत्त्यैवेत्यवधार्य समन्ततः क्षिप्तचित्तेव विलोक्याश्रमपदं तनयावपश्यन्ती सबाष्पगद्गदं पुनरुवाच—

दारकौ च न पश्यामि त्वं च मां नाभिभाषसे।
हता खल्वहं कृपणा विप्रियं हि न कथ्यते॥ ८३॥

इत्युक्त्वा शोकाग्निना परिगतहृदया छिन्नमूलेव लता निपपात। पतन्तीमेव चैनां परिगृह्य बोधिसत्त्वस्तृणशयनमानीय शीताभिरद्भिः परिषिच्य प्रत्यागतप्राणां समाश्वासयन्नुवाच—

सहसैव न ते मद्रि दुःखमाख्यातवानहम्।
न हि सम्भाव्यते धैर्यं मनसि स्नेहदुर्बले॥ ८४॥

ही गल रहा है। देह शिथिल हो रही है। दिशाएँ व्याकुल प्रतीत होती हैं। श्रीहीन होकर यह जंगल आँखों के सामने चक्कर काटते नजर आ रहा है।

आश्रम में पहुँचकर फल-मूल एक ओर रखकर, विनम्र भाव से पति के पास जाकर उसने पूछा—'बच्चे कहाँ हैं ?' माँ का हृदय अति कोमल होता है तथा किसी अप्रिय समाचार की सूचना देना भी कठिन है, यह सोचकर बोधिसत्त्व चुप ही रहे।

जो व्यक्ति अपने प्रियजनों के सुखद संवाद सुनने योग्य हैं उन्हें अप्रिय संवाद रूपी आग में जलाना किसी दयालु व्यक्ति के वश की बात नहीं है॥ ८२॥

उनके मौन से मद्री ने सोचा—'निश्चय ही मेरे बच्चों पर कोई विपत्ति आई है तभी तो ये चुप हैं, शोक से अभिभूत हैं।' शोक-संतप्त आँखों से आश्रम में कहीं भी बच्चों को न देखकर अश्रुगदगद् कण्ठ से उसने पुनः बोधिसत्त्व से पूछा—

मैं अपने बच्चों को कहीं देखती नहीं, आप कुछ बतलाते ही नहीं तो क्या मैं समझ लूँ कि अप्रिय की आशंका से आप चुप है और यह अभागिन निःसंदेह विपत्ति में है॥ ८३॥

इतना कहते ही शोक रूपी आग में उसका दिल जलने लगा। वह उखड़ी लता की तरह गिर गई। गिरते हुए उसे बोधिसत्त्व ने थामकर घास के बिछावन पर लिटा दिया। शीतल जल के छींटे से होश में लाकर सान्त्वना भरे शब्दों में उनसे कहा—

मद्री, मैंने जान बूझकर यह दुःखद संवाद तुम्हें नहीं सुनाया। क्योंकि मैं जानता

जरादारिद्र्यदुःखार्तो ब्राह्मणो मामुपागमत् ।
तस्मै दत्तौ मया पुत्रौ समाश्वसिहि मा शुचः ॥ ८५ ॥
मां पश्य मद्रि मा पुत्रौ परिदेवीश्च देवि मा ।
पुत्रशोकसशल्ये मे प्रहार्षीरिव मा हृदि ॥ ८६ ॥
याचितेन कथं शक्यं न दातुमपि जीवितम् ।
अनुमोदस्व तद् भद्रे पुत्रदानमिदं मम ॥ ८७ ॥

तच्छ्रुत्वा मद्री पुत्रविनाशशङ्काव्यथितहृदया पुत्रयोर्जीवितप्रवृत्तिश्रवणात् प्रतनूभूतशोकक्लमा भर्तुरधृतिपरिहारार्थं प्रमृज्य नयने सविस्मयमुदीक्षमाणा भर्तारमुवाच—आश्चर्यम् ! किं बहुना !

नूनं विस्मयवक्तव्यचेतसोऽपि दिवौकसः ।
यदित्यलब्धप्रसरस्तव चेतसि मत्सरः ॥ ८८ ॥

तथा हि दिक्षु प्रसृतप्रतिस्वनैः समन्ततो दैवतदुन्दुभिस्वनैः ।
प्रसक्तविस्पष्टपदाक्षरं नभस्तवैव कीर्तिग्रथनादरादभूत् ॥ ८९ ॥
प्रकम्पिशैलेन्द्रपयोधरा धरा मदादिवाभूदभिवृद्धवेपथुः ।
दिवः पतद्भिः कुसुमैश्च काञ्चनैः सविद्युदुद्योतमिवाभवन्नभः ॥ ९० ॥

हूँ तुम्हारा मन कितना कोमल है । बच्चों के प्रति अतिस्नेह के कारण धीरज रखना तुम्हारे वश की बात नहीं है ॥ ८४ ॥

बुढ़ापे और गरीबी से पीड़ित एक दीन ब्राह्मण मेरे पास आया और मैंने उसे बच्चे दे दिए । तुम अब शान्त हो जाओ । उनके लिए अब अधिक शोक मत करो ॥

मद्री, मेरी ओर देखो, बच्चों को भूल जाओ । रोओ मत । सन्तति-शोकरूपी बाण से विद्ध मेरे हृदय को अब और अधिक चोट न पहुँचाओ ॥ ८६ ॥

मद्री, माँगने पर मैं किसी को अपनी जान भी दे सकता हूँ, तो फिर मेरे इस सन्तति-दान का तुम अनुमोदन तो करो ॥ ८७ ॥

बच्चों के मरने की आशंका से आकुल-हृदय मद्री ने जब उनके जीवित रहने का समाचार सुना तो उसकी शोकजन्य क्लान्ति कुछ कम हुई । पति के धीरज की रक्षा के लिए उसने अपनी आँखें पोंछकर विस्यम-विस्फारित आँखों से उनकी ओर देखते हुए कहा—'आश्चर्य', इसके सिवा और क्या कहूँ ?

आपके मन में कभी मत्सर का भाव आया ही नहीं, यह देखकर निश्चय ही देवताओं के मन भी विस्मय-विमुग्ध हैं ॥ ८८ ॥

लगता है इसीलिए देवताओं की दुन्दुभियों से दिशाएँ गूँज रही हैं । आपकी यशोगाथा की पद-रचना के स्पष्ट अक्षरों की ध्वनि से आकाश भी निरन्तर अनुगूँजित है ॥ ८९ ॥

धरती प्रसन्नता से मानों पुलकित हो रही है । उसके पर्वतरूपी पीन पयोधर,

तदलं शोकदैन्येन दत्त्वा चित्तं प्रसादय।
निपानभूतो लोकानां दातैव च पुनर्भव ॥ ९१ ॥

अथ शक्रो देवेन्द्रः क्षितितलचलनादाकम्पिते विविधरत्नप्रभोद्भासिनि सुमेरौ पर्वतराजे किमिदमिति समुत्पन्नविमर्शो विस्मयोत्फुल्लनयनेभ्यो लोकपालेभ्यः पृथिवीकम्पकारण विश्वन्तरपुत्रदानमुपलभ्य प्रहर्षविस्मयाघूर्णितमनाः प्रभातायां तस्यां रजन्यां ब्राह्मणरूपी विश्वन्तरमर्थिवदभ्यगच्छत्। कृतातिथिसत्कारश्च बोधिसत्त्वेन केनार्थ इत्युपनिमन्त्रितो भार्यामिनमयाचत–

महाह्रदेष्वम्भ इवोपशोषं न दानधर्मः समुपैति सत्सु।
याचे मतस्त्वां सुरसन्निभा या भार्यामिमामर्हसि तत्प्रदातुम् ॥९२॥

अविमना एव तु बोधिसत्त्वस्तथेत्यस्मै प्रतिशुश्राव।

ततः स वामेन करेण मद्रीमादाय सव्येन कमण्डलुं च।
न्यपातयत्तस्य जलं कराग्रे मनोभुवश्चेतसि शोकवह्निम् ॥ ९३ ॥
चुकोप मद्री न तु नो रुरोद विवेद सा तस्य हि त स्वभावम्।
अपूर्वदुःखातिभरातुरा तु तं प्रेक्षमाणा लिखितेव तस्थौ ॥ ९४ ॥

प्रकम्पित हैं। स्वर्ग सुनहले फूलों की वर्षा कर रहा है। लगता है, आकाश बिजली के आलोक से भर गया हो ॥ ९० ॥

अतः आप अब शोक न करें। दान देकर अपने मन को प्रसन्न रक्खें। और, लोगों को दान देकर इसी तरह प्याऊ की तरह प्यास बुझाते रहें ॥ ९१ ॥

अनेक रत्नों की प्रभा से प्रोद्भासित सुमेरु पर्वत को अचानक काँपते देखकर विस्मय-विमुग्ध शक्र ने विस्मित लोकपालों से इसका कारण जानना चाहा। उन्होंने शक्र से निवेदित किया—देव, इसका कारण 'विश्वन्तर का पुत्र-दान' है। शक्र का हृदय यह जानकर आनन्द और आश्चर्य से भर गया। दूसरे दिन प्रभात बेला में एक भिखारी ब्राह्मण के रूप में इन्द्र स्वयं विश्वन्तर के सामने उपस्थित हुए। कुमार विश्वन्तर ने सर्वप्रथम उनका अतिथि सत्कार कर, आने का कारण पूछा। ब्राह्मण ने सीधे उनसे उनकी पत्नी माँगी—

जैसे बड़े-बड़े जलाशयों का जल कभी नहीं सूखता? उसी तरह सज्जनों का दानधर्म भी कभी नहीं रुकता। अतः देवी सदृश अपनी पत्नी को आप मुझे दे दें ॥

बिना किसी तरह उदास हुए बोधिसत्त्व ने 'बहुत अच्छा' कहकर उन्हें वाग्दान दे दिया।

तब उन्होंने बायें हाथ से मद्री को पकड़कर दाहिने हाथ में कमण्डलु लेकर उस ब्राह्मण के हाथ में स्वस्ति जल गिराया। साथ ही कामदेव के मन में भी उन्होंने शोकरूपी आग प्रज्ज्वलित कर दी ॥ ९३ ॥

अपने पति के स्वभाव से परिचित होने के कारण मद्री न तो क्रुद्ध हुई और न

तद् दृष्ट्वा परमविस्मयाक्रान्तहृदयः शक्रो देवानामिन्द्रस्तं महासत्त्वमभिष्टुवन्नुवाच—

अहो विक्रुष्टान्तरता सदसद्धर्मयोर्यथा।
श्रद्धातुमपि कर्मेदं का शक्तिरकृतात्मनाम् ॥ ९५ ॥
अवीतरागेण सता पुत्रदारमतिप्रियम्।
निःसङ्गमिति दातव्यं का नामेयमुदात्तता ॥ ९६ ॥
असंशयं त्वद्गुणरक्तसङ्कथैः प्रकीर्यमाणेषु यशस्सु दिक्षु ते।
तिरोभविष्यन्त्यपरा यशःश्रियः पतङ्गतेजस्सु यथान्यदीप्तयः ॥ ९७ ॥
तस्य तेऽभ्यनुमोदन्ते कर्मेदमतिमानुषम्।
यक्षगन्धर्वभुजगास्त्रिदशाश्च सवासवाः ॥ ९८ ॥

इत्युक्त्वा शक्रः स्वमेव वपुरभिज्वलदास्थाय शक्रोऽहमस्मीति च निवेद्यात्मानं बोधिसत्त्वमुवाच—

तुभ्यमेव प्रयच्छामि मद्रीं भार्यामिमामहम्।
व्यतीत्य न हि शीतांशु चन्द्रिका स्थातुमर्हति ॥ ९९ ॥
तन्मा चिन्तां पुत्रयोर्विप्रयोगाद्राज्यभ्रंशान्मा च सन्तापमागाः।
सार्धं ताभ्यामभ्युपेतः पिता ते कर्ता राज्यं त्वत्सनाथं सनाथम् ॥१००॥

रोई चिल्लाई ही। किन्तु, अतिदुःख से दुःखी होकर अपलक अपने पति को निहारती खड़ी रही ॥ ९४ ॥

यह देखकर देवराज का हृदय विस्मय से भर गया। उन्होंने बोधिसत्त्व की स्तुति करते हुए कहा—

अहो ! सज्जनों और दुर्जनों के धर्म में महान् अन्तर है। जो धर्मात्मा नहीं हैं, उनके लिए इस दिव्य कर्म पर विश्वास करना भी संभव नहीं है ॥ ९५ ॥

अपने परिवार के प्रति अनन्य अनुराग रखते हुए भी जो व्यक्ति अपने प्यारे बच्चे और पत्नी को भी दान कर दे—इससे बड़ी उदारता और क्या हो सकती है ?

निश्चय ही आपके गुणों के प्रति अनुराग रखने वाले कथक जब आपकी यशोगाथा दशोदिशाओं में फैलायेंगे तब दूसरों की उज्ज्वल कीर्ति उसी तरह लुप्त हो जायेगी जैसे सूर्य के उगने पर उडगन का प्रकाश मन्द पड़ जाता है ॥ ९७ ॥

ये यक्ष, गन्धर्व, नाग तथा इन्द्र सहित सारे देवगण आपके इस अलौकिक कर्म का अनुमोदन कर रहे हैं ॥ ९८ ॥

'मैं शक्र हूँ' यह कहते हुए शक्र ने अपना दिव्य रूप धारण कर उनसे कहा—

मैं आपकी पत्नी मद्री को आपके पास ही पुनः लौटा रहा हूँ। चन्द्रमा को छोड़ कर चाँदनी और कहाँ रह सकती है ? ॥ ९९ ॥

अब आप बेटे से बिछुड़ने की चिन्ता भी छोड़ दें। राज्य-च्युत होने का शोक

इत्युक्त्वा शक्रस्तत्रैवान्तर्दधे। शक्रानुभावाच्च स ब्राह्मणो बोधिसत्त्वतनयौ शिबिविषयमेव सम्प्रापयामास। अथ शिबयः सञ्जयश्च शिबिराजस्तदतिकरुणमतिदुष्करं च बोधिसत्त्वस्य कर्म श्रुत्वा समाक्लेदितहृदया ब्राह्मणहस्तान्निष्क्रीयबोधिसत्त्वतनयौ प्रसाद्यानीय च विश्वन्तरं राज्य एव प्रतिष्ठापयामासुः।

तदेवमत्यद्भुता बोधिसत्त्वचर्येति तदुन्मुखेषु सत्त्वविशेषेषु नावज्ञा प्रतीघातो वा करणीयः। तथागतवर्णे सत्कृत्य धर्मश्रवणे चोपनेयम्।

इति विश्वन्तर-जातकं नवमम्।

भी न करें। आपके पिता शीघ्र ही आपके दोनों बच्चों के साथ यहाँ आ रहे है और आपको राजतिलक देकर राज्य को सनाथ बनाने जा रहे हैं॥ १००॥

इतना कहकर शक्र वहीं अदृश्य हो गये। और, शक्र के प्रभाव से उस ब्राह्मण ने दोनों बच्चों को शिवियों के राज्य में पहुँचा दिया। जब शिवियों के साथ राजा संजय ने बोधिसत्त्व के इस दुष्कर और अतिकरुण कर्म को सुना तब उनके हृदय भी पिघल उठे। ब्राह्मण के पंजे से उन बच्चों को छुड़ाकर सीधे तपोवन में आये और बोधिसत्त्व को मनाकर उन्हें राजसिंहासन पर बैठा दिए।

बोधिसत्त्व का यह चरित्र इतना अद्भुद है कि यह देखकर, उनकी राह पर चलने वाले प्राणियों का न तो अपमान करना चाहिए और न उनके कर्म में विघ्न ही पहुँचाना चाहिए। तथागत का वर्णन करने में और सावधानी के साथ धर्मोपदेश सुनने में इस कथा का अवश्य उल्लेख करना चाहिए।

विश्वन्तरजातक नौवाँ समाप्त।

(१०) यज्ञ-जातकम्

न कल्याणाशयाः पापप्रतारणामनुविधीयन्त इत्याशयशुद्धौ प्रयतितव्यम्। तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किल स्वपुण्यप्रभावोपनतामानतसर्वसामन्तां प्रशान्तस्वपर-चक्राद्युपद्रवत्वादकण्टकामसपत्नामेकातपत्रां दायाद्यक्रमागतां पृथिवीं पालयामास।

नाथः पृथिव्याः स जितेन्द्रियारिर्भुक्तावगीतेषु फलेष्वसक्तः।
प्रजाहितेष्वाहितसर्वभावो धर्मैककार्यो मुनिवद् बभूव ॥ १ ॥
विवेद लोकस्य हि स स्वभाव प्रधानचर्यानुकृतिप्रधानम्।
श्रेयः समाधित्सुरतः प्रजासु विशेषतो धर्मविधौ ससञ्जे ॥ २ ॥
ददौ धनं शीलविधिं समाददे क्षमां निषेवे जगदर्थमैहत।
प्रजाहिताध्याशयसौम्यदर्शनः स मूर्तिमान्धर्म इव व्यरोचत ॥ ३ ॥

अथ कदाचित्तद्भुजाभिगुप्तमपि तं विषयं सत्त्वानां कर्मवैगुण्यात्प्रमाद-

---

१०. यज्ञ-जातक

कल्याणकर्मी व्यक्ति कभी पाप से प्रतारित नहीं होते, अतः सदैव आशय शुद्धि के व्यक्ति को प्रयत्न करना चाहिए। इस बात की सम्पुष्टि इस कथा से भी प्रमाणित होती है—

एक बार बोधिसत्त्व वंश-परम्परा से प्राप्त इस धरती पर एकछत्र साम्राज्य करते थे। उन्होंने अपने पुण्य-प्रभाव से सभी सामन्तों को वशवर्त्ती बना लिया था। उनके स्वराष्ट्र एवं परराष्ट्र सम्बन्धी सभी तरह के उपद्रव स्वतः शान्त हो गये थे। उनका राज्य अकण्टक एवं शत्रु रहित था।

वे जितेन्द्रिय और सम्पूर्ण धरती के स्वामी थे। अरिभुक्त एवं निन्दित भोगों के प्रति उनकी कोई आसक्ति नहीं थी। धर्म का सदैव आचरण करना ही उनका पवित्र कर्म था। उनकी वृत्ति मुनियों की तरह थी। वे प्रजाहित के कार्यों में दत्तचित्त थे।

वे इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि राजा के आचरण का प्रजा पर गहरा प्रभाव पड़ता है। अतः जनहित के लिए जानबूझकर विशेषरूप से धर्माचार में लीन हुए ॥२॥

उन्होंने धन का दान किया, शील का आश्रय लिया, क्षमा का सेवन किया, संसार के कल्याण की कामना की। वे प्रजा के शुभचिन्तक थे। वे देखने में अति सुन्दर थे। धर्म के तो मानों वे प्रतिमूर्ति ही थे ॥ ३ ॥

उनके बाहुबल से संरक्षित रहने के बावजूद, उनकी प्रजा के अपकर्म से अथवा

वशगत्वाच्च वर्षकर्माधिकृतानां देवपुत्राणां दुर्वृष्टिपर्याकुलता क्वचित्क्वचिद-भिदुद्राव। अथ स राजा व्यक्तमयं मम प्रजानां वा धर्मापचारात्समुपनतोऽनर्थं इति निश्चितमति संरूढहिताध्याशयत्वात्प्रजासु तद्दुःखममृष्यमाणो धर्मतत्त्वज्ञ-सम्मतान्पुरोहितप्रमुखान्ब्राह्मवृद्धान्मतिसचिवांश्च तदुद्धरणोपायं पप्रच्छ। अथ ते वेदविहितमनेकप्राणिशतवधारम्भभीषणं यज्ञविधिं सुवृष्टिहेतु मन्य-मानास्तस्मै संवर्णयामासुः। विदितवृत्तान्तस्तु स राजा यज्ञविहितानां प्राणि-वैशसानां करुणात्मकत्वान्न तेषां तद्वचनं भावेनाभ्यनन्दत्। विनयानुवृत्त्या चैनान्प्रत्याख्यानरूक्षाक्षरमनुक्त्वा प्रस्तावान्तरेणैषां तां कथां तिरश्चकार। ते पुनरपि तं राजानं धर्मसकथाप्रस्तावलब्धावसरा गाम्भीर्यविगूढं तस्य भाव-मजानाना यज्ञप्रवृत्तये समनुशशासुः।

कार्याणि राज्ञां नियतानि यानि लाभे पृथिव्याः परिपालने च।
नात्येति कालस्तव तानि नित्यं तेषां क्रमो धर्मसुखानि यद्वत् ॥४॥
त्रिवर्गसेवानिपुणस्य तस्य प्रजाहितार्थं धृतकार्मुकस्य।
यज्ञाभिधाने सुरलोकसेतौ प्रमादतन्द्रेव कथं मतिस्ते ॥ ५ ॥
भृत्यैरिवाज्ञा बहु मन्यते ते साक्षादियं सिद्धिरिति क्षितीशैः।
श्रेयांसि कीर्तिज्वलितानि चेतुं यज्ञैरयं ते रिपुकाल कालः ॥ ६ ॥

वर्षा के अधिकारी देवदूत की असावधानी से उनके राज्य में कहीं-कहीं अनावृष्टि के कारण आकुलता छा गई। प्रजा-वल्लभ होने के कारण प्रजा का यह दुःख उनसे देखा नहीं गया। उन्होंने सोचा—मेरे या मेरी प्रजा के अधर्माचरण से ही अनर्थ उपस्थित हुआ है। ऐसा निश्चय करते ही उन्होंने धर्म के तत्त्व जानने वाले सम्मानित कुल-पुरोहितों, वृद्ध ब्राह्मणों एवं बुद्धिमान् मंत्रियों से इसके निवारण का उपाय पूछा। उन लोगों ने वेद-विहित यज्ञ-विधि को वृष्टि का कारण बतलाया। साथ ही यज्ञ की विधि का भी वर्णन किया जो सैकड़ों प्राणियों की हिंसा के कारण भयंकर है। यज्ञ-विहित प्राणि-हिंसा का मन-ही-मन उन्होंने अपनी दयालुता के कारण अनुमोदन नहीं किया। अपनी विनम्रता के कारण इसका कटुविरोध न कर, केवल बातचित का विषय बदल कर इसकी उपेक्षा कर दी। राजा के गूढ़ एवं गंभीर भाव को बिना समझे उन लोगों ने धर्मविषयक चर्चा का अवसर पाकर उन्हें पुनः उपदेश दिया।

राज्य की प्राप्ति और पालन में एक राजा के जो आवश्यक कर्त्तव्य हैं, उनका पालन आप नित्य नियमित रूप से करते हैं। यज्ञानुष्ठान सम्बन्धी आपका यह कार्य-क्रम भी धर्म सम्भव ही है ॥ ४ ॥

जब आप प्रजाहित के लिए इतना तत्पर हैं और, धर्म, अर्थ और काम के सेवन में भी निपुण हैं, जनहित के लिए ही धनुष धारण किए हैं तो फिर स्वर्गसोपान भूत इस यज्ञ के प्रति इतना उदास ऐसी अवहेलना क्यों ? ॥ ५ ॥

राजन्य वर्ग आपकी आज्ञा को साक्षात् सिद्धि समझ कर ही शिरोधार्य करते हैं।

कामं सदा दीक्षित एव च त्वं दानप्रसङ्गान्नियमादराच्च ।
वेदप्रसिद्धैः क्रतुभिस्तथापि युक्तं भवेन्मोक्तुमृणं सुराणाम् ॥ ७ ॥
स्विष्टयाभितुष्टानि हि दैवतानि भूतानि वृष्ट्या प्रतिमानयन्ति ।
इति प्रजानां हितमात्मनश्च यशस्करं यज्ञविधिं जुषस्व ॥ ८ ॥

तस्य चिन्ता प्रादुरभवत्—अतिदुर्न्यस्तो बतायं परप्रत्ययहार्यपेलवमतिरमीमांसको धर्मप्रियः श्रद्दधानो जनो यत्र हि नाम—

य एव लोकेषु शरण्यसम्मतास्त एव हिंसामपि धर्मतो गताः ।
विवर्तते कष्टमपायसङ्कटे जनस्तदादेशितकापथानुगः ॥ ९ ॥
को हि नामाभिसम्बन्धो धर्मस्य पशुहिंसया ।
सुरलोकाधिवासस्य दैवतप्रीणनस्य वा ॥ १० ॥
विशस्यमानः किल मन्त्रशक्तिभिः पशुर्दिवं गच्छति तेन तद्वधः ।
उपैति धर्मत्वमितीदमप्यसत्परैः कृतं को हि परत्र लप्स्यते ॥ ११ ॥
असत्प्रवृत्तेरनिवृत्तमानसः शुभेषु कर्मस्वविरूढनिश्चयः ।
पशुर्दिवं यास्यति तेन हेतुना हतोऽपि यज्ञे स्वकृताश्रयाद्विना ॥ १२ ॥

हे शत्रु संहारक, आपका यह समय तो श्रेय अर्जित करने का है । इसी से आपको उज्ज्वल कीर्त्ति की प्राप्ति होगी ॥ ६ ॥

यों आप अपनी दान-प्रियता एवं संयमित जीवन के कारण सदैव यज-विधि में दीक्षित तो हैं ही, फिर भी वेद-विहित यज्ञों का अनुष्ठान कर आपको देवऋण से मुक्त होना चाहिए ॥ ७ ॥

देवगण वर्षा के द्वारा प्राणियों को तभी प्रसन्न करते हैं जब वे अच्छी तरह सम्पादित, दोषरहित यज्ञ से स्वयं संतुष्ट होते हैं । अतः अपनी और प्रजा की भलाई के लिए वेद-विहित यज्ञ का सेवन कीजिए, यशस्वी बनिए ॥ ८ ॥

उन्होंने सोचा जो दुर्बल बुद्धि के हैं, दूसरों के विचारों पर आश्रित हैं, स्वयं विचार नहीं कर सकते, जो अधर्म-प्रिय और अन्धविश्वासी हैं—ऐसे लोगों के बीच तो मेरे जैसा व्यक्ति निश्चय ही असहाय एवं अरक्षित है ।

जन-सामान्य के बीच जो लोग दूसरों को शरण देने वाले हैं, सम्मानित हैं, वे ही धर्म के नाम पर हिंसा करते हैं । उनके आदेशानुसार जो चलते हैं, निश्चय ही दुर्गति में पड़ते हैं ॥ ९ ॥

भला इस पशु-हिंसा से धर्म का, स्वर्ग-प्राप्ति का या देवता की प्राप्ति का क्या सम्बन्ध हो सकता है ॥ १० ॥

मंत्रोच्चार पूर्वक मारा गया पशु स्वर्ग जाता है, अतः उसकी हिंसा पुण्यकर्म है—यह कहना भी बिल्कुल असत्य है । दूसरों के कर्म-फल को कोई दूसरा स्वर्ग में कैसे पायेगा ? ॥ ११ ॥

जिसका चित्त असत् से विमुख नहीं हुआ, जिसने शुभ कर्म करने का निश्चय

हतश्च यज्ञे त्रिदिवं यदि व्रजेन्ननु व्रजेयुः पशुतां स्वयं द्विजाः ।
यतस्तु नायं विधिरीक्ष्यते क्वचिद्वचस्तदेषां क इव ग्रहीष्यति ॥ १३ ॥
अतुल्यगन्धर्द्धिरसौजसं शुभां सुधां किलोत्सृज्य वराप्सरोधधृताम् ।
मुदं प्रयास्यन्ति वपादिकारणाद्वधेन शोच्यस्य पशोर्दिवौकसः ॥ १४ ॥

तदिदमत्र प्राप्तकालमिति विनिश्चित्य स राजा यज्ञारम्भसमुत्सुक इव नाम तत्तेषां वचनं प्रतिगृह्यावोचदेनान्—सनाथः खल्वहमनुग्रहवांश्च यदेवं मे हितावहितमनसोऽत्रभवन्तः । तदिच्छामि पुरुषमेधसहस्रेण यष्टुम् । अन्विष्यतां तदुपयोग्यसम्भारसमुदानयनार्थं यथाधिकारममात्यैः । परीक्ष्यतां सत्रागारनिवेशनयोग्यो भूमिप्रदेशस्तदनुगुणश्च तिथि-करण-मुहूर्त-नक्षत्र-योग इति । अथैनं पुरोहित उवाच—ईप्सितार्थसिद्धये स्नातु तावन्महाराज एकस्य यज्ञस्य समाप्ताववभृथे । अथोत्तरेषामारम्भः करिष्यते क्रमेण । युगपत्पुरुषपशवः सहस्रशो हि परिगृह्यमाणा व्यक्तमुद्वेगदोषाय प्रजानां ते स्युरिति । अस्त्येतदिति ब्राह्मणैरुक्तः स राजा तानुवाच—अलमत्रभवतां प्रकृतिकोपाशङ्कया । तथा हि सविधास्ये यथोद्वेगं मे प्रजा न यास्यन्तीति ।

नहीं किया है, वह पशु-यज्ञ में मारा जाने पर अपने कर्मरूप आश्रय के बिना कैसे स्वर्ग जायेगा ॥ १२ ॥

यज्ञ में मारे जाने पर यदि वह स्वर्ग जाता, तो ये ब्राह्मण स्वयं ही पशु बन जाते, किन्तु ऐसा तो कहीं भी देखा नहीं जाता । अतः कौन समझदार व्यक्ति उनकी बात मानेगा ॥ १३ ॥

अपरूप अप्सरायें जिनके लिए अनुपम सुगन्धि, स्वाद और ओज से युक्त सुन्दर सुधा लिए खड़ी रहती हैं, वे देवगण उसे छोड़कर क्या चर्बी आदि के लिए बेचारे पशु की हत्या से प्रमुदित होंगे ? ॥ १४ ॥

'अब कुछ कहने का समय आ गया है'—ऐसा मन-ही-मन निश्चय करने के बाद मानों उनकी सलाह मानकर वेद-विहित यज्ञ करने को तैयार की तरह राजा ने उनसे कहा—आप लोग जब मेरे हित का इतना ध्यान रखते हैं तो फिर मैं अनुगृहीत ही नहीं सुरक्षित भी हूँ । मैं 'सहस्रनरमेध यज्ञ' करना चाहता हूँ । हमारे आप सचिवगण अपने-अपने अधिकारों के अनुसार यज्ञ में काम आने वाली वस्तुओं की व्यवस्था करें । सर्वप्रथम यज्ञ-मण्डप के योग्य भूमि की परीक्षा की जाये, फिर यज्ञ के लिए उपयुक्त तिथि, नक्षत्र, करण, मुहूर्त्त और योग की जाँच की जाये । यह सुनकर पुरोहितों ने उनसे कहा—महाराज, सर्वप्रथम अभीष्ट सिद्धि के लिए अवभृथ स्नान करें । फिर यज्ञ का दूसरा आयोजन आरंभ किया जायेगी । क्योंकि एक साथ एक हजार नर-पशुओं को पकड़ने से प्रजा में घबराहट फैल जायेगी । ब्राह्मणों ने भी इस कथन का अनुमोदन किया । तब राजा ने कहा—प्रजा के घबराने की चिन्ता आप

अथ स राजा पौरजानपदान्सन्निपात्याब्रवीत् —इच्छामि पुरुषमेधसहस्रेण यष्टुम्। न च मयार्हः कश्चिदकामः पुरुषः पशुत्वे नियोक्तुमुद्दिष्टः। तद्यं यमतः प्रभृति वो द्रक्ष्यामि व्यवधूतप्रमादनिद्रेण विमलेन चारचक्षुषा शील-मर्यादातिवर्तिनमस्मदाज्ञां परिभवन्तं तं तं स्वकुलपांसनं देशकण्टकमहं यज्ञ-पशुनिमित्तमादास्य इत्येतद्वो विदितमस्त्विति। अथ तेषां मुख्यतमाः प्राञ्जलयो भूत्वैनमूचुः—

सर्वाः क्रियास्तव हितप्रवणाः प्रजानां
तत्रावमाननविधेर्नरदेव कोऽर्थः।
ब्रह्मापि ते चरितमभ्यनुमन्तुमर्हः
साधुप्रमाण परमत्र भवान्प्रमाणम्॥ १५॥

प्रियं यदेव देवस्य तदस्माकमपि प्रियम्।
अस्मत्प्रियहितादन्यद् दृश्यते नहि ते प्रियम्॥ १६॥

इति प्रतिगृहीतवचनः पौरजानपदैः स राजा जनप्रकाशेनाडम्बरेण प्रत्य-यितानमात्यान्पापजनोपग्रहणार्थं जनपदं नगराणि च प्रेषयामास समन्ततश्च प्रत्यहमिति घोषणाः कारयामास।

लोगों को नहीं करनी चाहिए। मैं कुछ ऐसा प्रबन्ध करूँगा कि मेरी प्रजा को क्षोभ नहीं होगा।

तब राजा ने पुरवासियों और ग्रामीणों को इकट्ठा कर उनसे कहा—मैं 'सहस्र नरमेध यज्ञ' करना चाहता हूँ। किन्तु, किसी भी निष्पाप पुरुष को बलि-पशु की जगह नियुक्त मैं नहीं करना चाहता। अतः आप लोगों को जानना चाहिए कि आज से निर्मल, प्रमादरहित, सतत जागरूक अपने गुप्तचर रूपी आँखों से मैं आपके बीच जिस किसी को शील-मर्यादा का उल्लंघन करते, राजाज्ञा की अवहेलना करते देखूंगा उस कुलाङ्गार एवं देश-कण्टक को यज्ञ-पशु के निमित्त ग्रहण करूँगा।

तब उनके मुखिया ने उनसे हाथ जोड़कर कहा—

आपके सारे कार्य तो प्रजाहित के लिए ही होते हैं। अतः हे नरदेव, आपके किसी भी काम का विरोध करके किसको क्या लाभ होगा? आपके चरित्र का अनु-मोदन करना तो ब्रह्मा के लिए भी उचित है। हे साधुश्रेष्ठ, इसके बारे में आप स्वयं प्रमाण हैं॥ १५॥

आपको जो कुछ अच्छा लगता है, वही हमारे लिए भी प्रिय है। हमारे हित और प्रिय के अतिरिक्त आपको और कुछ भी प्रिय नहीं है॥ १६॥

जब नगर निवासियों और ग्रामीणों ने राजा की आज्ञा मान ली, तब उन्होंने पापियों को पकड़ने के लिए विश्वासी सचिवों को सर्वत्र नियुक्त कर दिया और यह ढिंढोरा पिटवा दिया—

अभयमभयदो ददाति राजा स्थिरशुचिशीलधनाय सज्जनाय ।
अविनयनिरतैः प्रजाहितार्थं नरपशुभिस्तु सहस्रशो यियक्षुः ।। १७ ।।

तद्यः कश्चिदतः प्रभृत्यविनयश्लाघानुवृत्त्युद्भवात्
सामन्तक्षितिपार्चितामपि नृपस्याज्ञामवज्ञास्यति ।
स स्वैरेव विषह्य यज्ञपशुतामापादितः कर्मभि-
र्यूपाबद्धतनुर्विषादकृपणः शुष्यञ्जनैर्द्रक्ष्यते ।। १८ ।।

अथ तद्विषयनिवासिनः पुरुषा यज्ञपशुनिमित्तं दुःशीलपुरुषान्वेषणादरं तमन्ववेक्ष्य राज्ञस्तां च घोषणामतिभीषणां प्रत्यहमुपश्रृण्वन्तः पापजनोपग्रहावहितांश्च राजपुरुषान्समन्ततः समापततोऽभिवीक्ष्य त्यक्तदौःशील्यानुरागा शीलसंवरसमादानपरा वैरप्रसङ्गपराङ्मुखाः परस्परप्रेमगौरवसुमुखाः प्रशान्त विग्रहविवादा गुरुजनवचनानुवर्तिनः संविभागविशारदाः प्रियातिथय विनयनैभृत्यश्लाघिनः कृत इव युगे बभूवुः ।

भयेन मृत्योः परलोकचिन्तया कुलाभिमानेन यशोऽनुरक्षया ।
सुशुक्लभावाच्च विरूढया ह्रिया जनः स शीलामलभूषणोऽभवत् ।।१९
यथा यथा धर्मपरोऽभवज्जनस्तथा तथा रक्षिजनो विशेषतः ।
चकार दुःशीलजनाभिमार्गणामतश्च धर्मान्न चचाल कश्चन ।। २० ।।

जो सज्जन हैं, जिनकी शीलरूपी सम्पत्ति अचल है, जो पवित्र हैं, उन्हें रा अभयदान देते हैं। किन्तु, जो दुर्विनीत और दुराचारी हैं, ऐसे नर-पशुओं को हजा की संख्या में पकड़कर राजा प्रजाहित का सम्पादन करना चाहते हैं ।। १७ ।।

यह आदेश सामन्त नरेशों के लिए भी समान रूप से शिरोधार्य होगा । अतः अ से जो कोई अपनी अविनयशीलता के कारण राजाज्ञा का उल्लंघन करेगा, वह अ ही कर्मों से यज्ञ-पशु की तरह खंभे में बंधकर दुःख से कातर लोगों से देखे जायेंगे

दुराचारी पुरुषों की खोज में राजा की रुचि देखकर, उनकी भयंकर घो को सुनकर, पापियों को पकड़ने के लिए गुप्तचरों को चारों ओर विचरते देख सारे देशवासी दुराचार के प्रति अपनी आसक्ति छोड़कर सदाचारी बन ग परस्पर वैर-विरोध, विग्रह-विवाद छोड़कर प्रेम, सम्मान और गुरुजनों की आज्ञ रहने लगे । सभी उदार, अतिथि-सेवी, विनयी और विनम्र बन गये । जान प था वे कृतयुग में रहते हों ।

मृत्यु के भय से, परलोक की चिन्ता से, कुल के अभिमान से, यश की र बिचार से, पवित्र भाव और लज्जा उत्पन्न होने से लोग शीलरूपी पवित्र अलंका अलंकृत हुए ।। १९ ।।

लोग जैसे-जैसे धर्मपरायण होते गये, राजपुरुष भी उसी अनुपात में पापि खोज में तत्पर होते गये । फिर, एक व्यक्ति भी अपने धर्म-पथ में विचलित नहीं पड़ा ।। २० ।।

स्वदेशवृत्तान्तमथोपशुश्रुवानिमं नृपः प्रीतिविशेषभूषणः ।
चरान्प्रियाख्यानकदानविस्तरैः सन्तर्पयित्वा सचिवान्समन्वशात् ॥ २१ ॥
परा मनीषा मम रक्षितुं प्रजा गताश्च ताः सम्प्रति दक्षिणीयताम् ।
इदं च यज्ञाय धनं प्रतर्कित यियक्षुरस्मीति यथा प्रतर्कितम् ॥२२॥
यदीप्सितं यस्य सुखेन्धनं धनं प्रकाममाप्नोतु स तन्मदन्तिकात् ।
इतीयमस्मद्विषयोपतापिनी दरिद्रता निर्विषया यथा भवेत् ॥ २३ ॥
मयि प्रजारक्षणनिश्चयस्थिते सहायसम्पत्परिवृद्धसाधने ।
इयं जनार्तिर्मदमर्षदीपनी मुहुर्मुहुर्मे ज्वलतीव चेतसि ॥ २४ ॥

अथ ते तस्य राज्ञः सचिवाः परममिति प्रतिगृह्य तद्वचनं सर्वेषु ग्रामनगरनिगमेषु मार्गविश्रामप्रदेशेषु च दानशालाः कारयित्वा यथासन्दिष्टं राज्ञा प्रत्यहमर्थिजनमभिलषितैरर्थविसर्गैः सन्तर्पयामासुः ।

अथ विहाय जनः स दरिद्रतां सममवाप्तवसुर्वसुधाधिपात् ।
विविधचित्रपरिच्छदभूषणः प्रविततोत्सवशोभ इवाभवत् ॥ २५ ॥

जब राजा को अपने देश का यह समाचार मिला तो उन्हें बहुत प्रसन्नता हुई । ऐसा प्रिय समाचार सुनाने के लिए उन्होंने गुप्तचरों को पर्याप्त पुरस्कार देकर प्रसन्न किया और मंत्रियों को आदेश दिया ॥ २१ ॥

अब मैं अपनी प्रजा की रक्षा करने को तत्पर हूँ । वह अब दक्षिणा पाने योग्य हो गई है । मैंने अपने धन का संचय यज्ञ-सम्पादन के लिए ही किया है । अतः अपने संकल्प के अनुसार यज्ञ करना चाहता हूँ ॥ २२ ॥

जो कोई भी सुख पाने के लिए धन की कामना करता हो, वह राजकोष से यथेच्छ धन प्राप्त करे । मेरे राज्य को संताप देने वाली यह दरिद्रता यहाँ से अब दूर हो जाय ॥ २३ ॥

प्रजा की रक्षा के संकल्प में यद्यपि मैं दृढ़ हूँ । मेरे पास पर्याप्त साधन हैं और आपकी तरह सुयोग्य सहायक हैं, फिर भी मेरे अभिमान और क्रोध को प्रज्ज्वलित करने वाली जनता की यह पीड़ारूपी आग मेरे हृदय में प्रज्ज्वलित हो रही है ॥२ ॥

'बहुत अच्छा' कहकर राजा की आज्ञा को सचिवों ने शिरोधार्य किया तथा सभी ग्रामों, नगरों, निगमों और राहों के विश्राम-स्थलों में दानशालाएँ बनवा दी गईं । राजा के आदेशानुसार प्रतिदिन याचकों को वांछित धन देकर संतुष्ट किया जाने लगा ।

एक ही समय राजकोष से बहुत-सा धन पाकर लोगों की दरिद्रता दूर हो गई । बहुरंगे वस्त्राभूषण पहन कर मानो महोत्सव की शोभा उन्होंने वहाँ उपस्थित कर दी ॥ २५ ॥

प्रमुदितार्थिजनस्तुतिसञ्चितं प्रविततान नृपस्य दिशो यशः ।
तनुतरङ्गविवर्धितविस्तरं सर इवाम्बुजकेशरजं रजः ॥ २६ ॥
इति नृपस्य सुनीतिगुणाश्रयात्सुचरिताभिमुखे निखिले जने ।
समभिभूतबलाः कुशलोच्छ्रयैर्विलयमीयुरसङ्गमुपद्रवाः ॥ २७ ॥
अविषमत्वसुखा ऋतवोऽभवन्नवनृपा इव धर्मपरायणाः ।
विविधसस्यधरा च वसुन्धरा सकमलामलनीलजलाशयाः ॥ २८ ॥
न जनमभ्यरुजन्प्रबला रुजः पटुतरं गुणमोषधयो दधुः ।
ऋतुवशेन ववौ नियतोऽनिलः परिययुश्च शुभेन पथा ग्रहाः ॥ २९ ॥
न परचक्रकृतं समभूद्भयं न च परस्परजं न च दैविकम् ।
नियमधर्मपरे निभृते जने कृतमिवात्र युगं समपद्यत ॥ ३० ॥

अथैवं प्रवृत्तेन धर्मयज्ञेन राज्ञा प्रशमितेष्वर्थिजनदुःखेषु सार्धमुपद्रवैः प्रमुदितजनसम्बाधायामभ्युदयरम्यदर्शनायां वसुन्धरायां नृपतेराशीर्वचनाध्ययनसव्यापारे लोके वितन्यमाने समन्ततो राजयशसि प्रसादावर्जितमतिः कश्चिदमात्यमुख्यो राजानमित्युवाच—

संतुष्ट याचकों के द्वारा की गई स्तुतियों से राजा की यशःराशि चारों ओर फैल गई। ठीक उसी तरह जैसे छोटी-छोटी तरंगों द्वारा पद्मपराग सरोवर में अधिकाधिक व्याप्त हो जाता है ॥ २६ ॥

राजा की सुनीति के सफल होने से जब सभी लोग सत्कर्मों में संलग्न हो गए तब पुण्य के उदय से अनावृष्टि-जन्य उपद्रव स्वतः शान्त हो गए ॥ २७ ॥

धर्मपरायण राजा की तरह सारी ऋतुएँ अपनी-अपनी प्रकृत्ति में रहकर विषमताओं से दूर हटकर सबके लिए सुखद बन गईं। धरती अनेक तरह के सस्यों से भरपूर हो उठी तथा जलाशय निर्मल जल और कमलों से भर गये ॥ २८ ॥

असाध्य रोगों से कोई पीड़ित नहीं हुआ। औषधियाँ पहले की अपेक्षा और अधिक गुणकारी बन गईं। हवा ऋतु के अनुसार बहने लगी। ग्रह-गण अपने शुभ-मार्ग पर चलने लगे ॥ २९ ॥

परराष्ट्र से किसी तरह का भय समाप्त हो गया। आपसी डर या दैवीभय भी नहीं रहा। लोग संयमी, धार्मिक और विनम्र हो गये। लगता था कि सम्पूर्ण राज्य में कृतयुग छा गया ॥ ३० ॥

इस तरह सम्पादित धर्म-यज्ञ के द्वारा राजा ने दैवी उपद्रवों के साथ-साथ याचकों का दुःख भी दूर कर दिया। धरती पर जीवन खुशहाल था। धरणी समृद्ध और रमणीय बन गई। राजा की कल्याण-कामना में संलग्न जनजीवन ने उनका यश चारों ओर फैलाया। तब श्रद्धावनत होकर किसी अमात्य ने राजा से निवेदन किया—

सुष्ठु खल्विदमुच्यते—

उत्तमाधममध्यानां कार्याणां नित्यदर्शनात् ।
उपर्युपरि बुद्धीनां चरन्तीश्वरबुद्धयः ॥ ३१ ॥ इति ।

देवेन हि पशुवैशसवाच्यदोषविरहितेन धर्मयज्ञेन प्रजानामुभयलोकहितं सम्पादितमुपद्रवाश्च प्रशमं नीता दारिद्र्यदु:खानि च शीले प्रतिष्ठापितानाम् । किं बहुना ? सभाग्यास्ताः प्रजाः ।

लक्ष्मेव क्षणदाकरस्य विततं गात्रे न कृष्णाजिनं
दीक्षायन्त्रणया निसर्गललिता चेष्टा न मन्दोद्यमा ।
मूर्ध्नश्छत्रनिभस्य केशरचना शोभा तथैवाथ च
त्यागैस्ते शतयज्वनोऽप्यपहृतः कीर्त्याश्रयो विस्मयः ॥ ३२ ॥

हिंसाविषक्तः कृपणः फलेप्सोः प्रायेण लोकस्य नयज्ञ यज्ञः ।
यज्ञस्तु कीर्त्याभरणः समस्ते शीलस्य निर्दोषमनोहरस्य ॥ ३३ ॥

अहो प्रजानां भाग्यानि यासां गोपायिता भवान् ।
प्रजानामपि हि व्यक्तं नैवं स्याद् गोपिता पिता ॥ ३४ ॥

यह ठीक ही कहा है—

उत्तम, मध्यम और अधम कोटि के मनुष्यों के काम का दिन प्रतिदिन परीक्षण करने से राजा की बुद्धि दूसरों की बुद्धि की अपेक्षा ऊपर रहती है ॥ ३१ ॥

आपने पशु-हिंसा से निन्दित यज्ञ को छोड़कर धर्म-यज्ञ के द्वारा जनजीवन का तीनों लोक सुधारने के लिए उन्हें शील में स्थापित किया । हर तरह के उपद्रवों को शान्त किया । जनता की गरीबी दूर की । अधिक क्या ? आपकी ये प्रजा बड़ी भाग्यशालिनी है ।

शशाङ्क के सदृश काले मृगचर्म को आपने अपनी देह में नहीं लपेटा । यज्ञ-दीक्षा से होनेवाली यंत्रणाओं के द्वारा आपने अपनी स्वभाव-सुन्दर चेष्टाओं में कोई कमी नहीं की । आपके छत्र-तुल्य-मस्तक के केश-विन्यास की शोभा जैसी-की-तैसी बनी रही । किन्तु, आपने केवल अपने त्याग के द्वारा सौ यज्ञ करने वाले इन्द्र की भी कीर्त्ति को मात किया और उसके अभिमान को चूर्ण किया ॥ ३२ ॥

हे नीति-निपुण ! फलाभिलाषी लोगों का यज्ञ तो हिंसा से भरा हुआ और ... लिए अत्यधिक चिन्तनीय होता है । किन्तु, आपने जो यह त्यागरूपी यज्ञ किया यह तो दिनानुदिन आपके यश को दिग्दिगन्त में फैलाने वाला है । यह यज्ञ तो आपके स्वभाव के ही अनुसार निर्दोष एवं मनोहर है ॥ ३३ ॥

निश्चय ही यह प्रजा भाग्यशालिनी है जिसके आप रक्षक हैं । अपनी संतान के लिए भी कोई पिता ऐसा सुयोग्य रक्षक नहीं हो सकता ॥ ३४ ॥

अपर उवाच—

दानं नाम धनोदये सति जनो दत्ते तदाशावशः
स्याच्छीलेऽपि च लोकपङ्क्त्यभिमुखः स्वर्गे च जातस्पृहः ।
या त्वेषा परकार्यदक्षिणतया तद्वत्प्रवृत्तिस्तयो-
र्नाविद्वत्सु न सत्त्वयोगविधुरेष्वेषा समलक्ष्यते ॥ ३५ ॥

तदेवं कल्याणाशया न पापप्रतारणामनुविधीयन्त इत्याशयशुद्धौ प्रयतितव्यम् ।

इति प्रजाहितोद्योगः श्रेयः कीर्तिसुखावहः ।
यन्नृपाणामतो नालं तमनादृत्य वर्तितुम् ॥ ३६ ॥

एवं राजापवादेऽपि वाच्यम् । धर्माभ्यासः प्रजानां भूतिमावहतीति भूतिकामेन धर्मानुवर्तिना भवितव्यमित्येवमप्युन्नेयम् । न पशुहिंसा कदाचिदभ्युदयाय दानदमसंयमादयस्त्वभ्युदयायेति तदर्थिना दानादिपरेण भवितव्यमित्येवमपि वाच्यम् । लोकार्थचर्याप्रवणमतिरेवं पूर्वजन्मस्वपि भगवानीति तथागतवर्णेऽपि वाच्यम् ॥

इति यज्ञ-जातकं दशमम् ।

और अधिक धन पाने की आशा से ही लोग धन का दान करते हैं । समाज के बीच सम्मानित होने की अभिलाषा और स्वर्ग-प्राप्ति की कामना से लोग चरित्रवान् बनते हैं । किन्तु, दान और परोपकार की जो आप में निस्वार्थ स्वाभाविक प्रवृत्ति है, यह अज्ञानियों और असात्त्विकों में कदापि नहीं पायी जा सकती ॥ ३५ ॥

इस तरह हम देखते हैं कि जिनका अन्तःकरण पवित्र है वे पापियों के भुलावे में कभी नहीं आते । अतः अन्तःकरण की पवित्रता के लिए ही हमें यत्न करना चाहिए ।

प्रजा की भलाई के लिए किया जाने वाला उद्योग ही श्रेयस्कर एवं कीर्तिप्र है । यही सुखदायक है । अतः राजा को अपने इस कर्त्तव्य की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए ॥ ३६ ॥

किसी राजा को उपदेश देने के क्रम में यह कहानी कहनी चाहिए । इस कथा का यह निष्कर्ष भी निकालना चाहिए कि राजा के धर्माचरण से ही प्रजा की भलाई होती है । अतः कल्याण चाहने वाले को धर्म का अनुसरण करना चाहिए । यह भी बतलाना चाहिए कि पशु-हिंसा से कदापि अभ्युदय नहीं हो सकता । दान, दम और संयम से ही किसी का अभ्युदय संभव है । अतः जो अभ्युदय की कामना करते हैं उन्हें दान अवश्य करना चाहिए । तथागत के वर्णन प्रसंग भी कहना चाहिए कि भगवान् बुद्ध अपने पूर्वजन्मों में भी लोकोपकारी थे ।

यज्ञ-जातक दसवाँ समाप्त ।

---

(११) शक्र-जातकम्

आपदपि महात्मनामैश्वर्यसम्पद्वा सत्त्वेष्वनुकम्पां न शिथिलीकरोति। तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किलानल्पकालस्वभ्यस्तपुण्यकर्मा सात्मीभूतप्रदानदमसंयमकरुणः परहित नियतक्रियातिशयः कदाचिच्छक्रो देवानामिन्द्रो बभूव।

सुरेन्द्रलक्ष्मीरधिकं रराज तत्संश्रयात्स्फीततरप्रभावा।
हर्म्ये सुधासेकनवाङ्गरागे निषक्तरूपा शशिनः प्रभेव ॥ १ ॥

यस्याः कृते दितिसुता रभसागतानि
दिङ्नागदन्तमुसलान्युरसाभिजग्मुः।
सौभाग्यविस्तरसुखोपनतापि तस्य
लक्ष्मीर्न दर्पमलिनं हृदयं चकार ॥ २ ॥

तस्य दिवस्पृथिव्योः सम्यक्परिपालनोपार्जितां सर्वलोकानुव्यापिनीं कीर्तिसम्पदं तां च लक्ष्मीमत्यद्भुताममृष्यमाणा दैत्यगणाः कल्पनाटोपभीषणतरद्विरदरथतुरगपदातिना क्षुभितसागरघोरनिर्घोषेण जाज्वल्यमानविविधप्रहरणावरणदुर्निरीक्ष्येण महता बलकायेन युद्धायैनमभिजग्मुः।

---

११. शक्रजातक

किसी की सम्पन्नता या विपन्नता के कारण महात्माओं की दया में कमी-वेशी नहीं होती। जैसा कि इस कथा से प्रमाणित है—

बोधिसत्त्व ने अनेक जन्मों में चिरकाल तक पुण्य का संचय किया। दान, दम-संयम और करुणा को आत्मसात् किया। परोपकार को अपने जीवन का जब नियम बना लिया। तब एक बार वे देवों के अधिपति इन्द्र हुए।

उनके अधीन रहकर देवेन्द्र की लक्ष्मी और भी तेजस्विनी बन गई। अतिभव्य महल पर चमकती हुई चाँदनी की तरह अत्यन्त सुशोभित हुई ॥ १ ॥

जिस लक्ष्मी को पाने के लिए दैत्यों ने दिग्गजों के मुसलरूपी दाँतों के सामने सीना तान दिया था, सौभाग्य से अनायास उसी लक्ष्मी को पाकर भी इनका हृदय अभिमान से मलिन नहीं हुआ ॥ २ ॥

स्वर्ग और धरती का अच्छी तरह संरक्षण करने के कारण उन्हें त्रिभुवनव्यापिनी कीर्त्ति मिली। उनके त्रिभुवनव्यापी यश और अद्भुत् लक्ष्मी को दैत्य सह नहीं सके। अतः उन्होंने चतुरंगिणी सेना सजा कर उन पर धावा बोल दिया। व्यूहरचना के कारण यह सेना बड़ी भयंकर लगती थी तथा क्रुद्ध सागर की तरह गरज रही थी। चमचमाते रंग-बिरंगे हथियारों के कारण इन पर आँखें टिक नहीं पाती थीं।

धर्मात्मनोऽपि तु स तस्य परावलेपः
क्रीडाविघातविरसं च भयं जनस्य।
तेजस्विता नयपथोपनतः क्रमश्च
युद्धोद्धवाभिमुखतां हृदयस्य चक्रुः॥ ३॥

अथ स महासत्त्वस्तुरगवरसहस्रयुक्तमभ्युच्छ्रितार्हद्वसनचिह्नरुचिरध्वजं विविधमणिरत्नदीप्तिव्यवभासितमतिज्वलद्वपुषं कल्पनाविभागोपनियत-निशितज्वलितविविधायुधविराजितोभयपार्श्वं पाण्डुकम्बलिनं हैमं रथवरम-भिरुह्य महता हस्त्यश्वरथपदातिविचित्रेण देवानीकेन परिवृतस्तत्सुरसैन्यं समुद्रतीरान्त एव प्रत्युज्जगाम।

अथ प्रववृते तत्र भीरूणां धृतिदारुणः।
अन्योन्यायुधनिष्पेषजर्जरावरणो रणः॥ ४॥
तिष्ठ नैवमितः पश्य क्वेदानीं मन्न मोक्ष्यते।
प्रहरायं न भवसीत्येवं तेऽन्योन्यमार्दयन्॥ ५॥
ततः प्रवृत्ते तुमुले स्फूर्जत्प्रहरणे रणे।
पटहध्वनिनोत्क्रुष्टैः स्फुटतीव नभस्तलम्॥ ६॥

यद्यपि हृदय से वे अत्यन्त शान्त एवं धर्मात्मा थे फिर भी, दुश्मनों के गर्व ने, जनता की सुख-शान्ति में बाधा की आशंका ने, उनकी तेजस्विता ने, राजनीति के नियम ने युद्ध की अशान्ति की ओर उन्हें खींच लिया॥ ३॥

तब वह महासत्त्व अपनी चतुरंगिणी देव-सेना को लेकर समुद्र तट पर दैत्य सेना से जा टकराया। उनके रथ में एक हजार उत्तम कोटि के घोड़े जुते थे। उमके ऊपर देवलोक के चिह्न से सुशोभित ऊँचा झंडा लहरा रहा था। बहुमूल्य रत्नों और मणियों से जड़ा हुआ रथ चमचमा रहा था। उसके दोनों ओर सजाकर रक्खे गये तेज और उत्तमकोटि के हथियार दमक रहे थे। कहीं उनके साथ श्वेत वस्त्रों से सुशोभित सुवर्ण निर्मित उज्ज्वल और उत्तम रथ पर सवार देव-सेना चल रही थी तो कहीं, मदमत्त विशाल हाथियों का दल बढ़ रहा था। अश्वारोहियों, रथारोहियों और चित्र-विचित्र पदाति देव-सेना उनके साथ-साथ वहाँ तक पहुँच गई।

इसके बाद कायरों का दिल दहला देने वाला युद्ध प्रारंभ हुआ। इस युद्ध में योद्धाओं के कवच एक दूसरे के हथियारों की चोट से चरमरा उठे॥ ४॥

खड़ा रह, ऐसा मत कर, इधर देख, अब तू बचकर मुझसे छूट नहीं सकता, मार, लें तुम अब मर—इस तरह कोलाहल करते हुए वे एक दूसरे को मार रहे थे।

इस तुमुल युद्ध में हथियारों की टंकार एवं नगाड़ों की प्रतिध्वनि से आकाश मानों फटने लगा॥ ६॥

दानगन्धोद्धतामर्षेष्वापत्सु परस्परम् ।
युगान्तवाताकलितशैलभीमेषु दन्तिषु ॥ ७ ॥
विद्युल्लोलपताकेषु प्रसृतेषु समन्ततः ।
रथेषु पटुनिर्घोषेषूत्पाताम्बुधरेष्विव ॥ ८ ॥
पात्यमानध्वजच्छत्रशस्त्रावरणमौलिषु ।
देवदानववीरेषु शितैरन्योन्यसायकैः ॥ ९ ॥

अथ प्रतप्तासुरशस्त्रसायकैर्भयात्प्रदुद्राव सुरेन्द्रवाहिनी ।
रथेन विष्टभ्य बलं तु विद्विषां सुरेन्द्र एकः समरे व्यतिष्ठत ॥१०॥

अभ्युदीर्णं त्वासुरं बलमतिहर्षात्पटुतरोत्कुष्टक्ष्वेडितसिंहनादमभिपतितमभिसमीक्ष्य मातलिर्देवेन्द्रसारथिः स्वं च बलं पलायनपरमवेत्यापयानमत्र प्राप्तकालमिति मत्वा देवाधिपतेः स्यन्दनमावर्तयामास । अथ शक्रो देवेन्द्रः समुत्पततो रथस्याग्राभिमुखान्यभिघातपथागतानि शाल्मलीवृक्षे गरुडनीडान्यपश्यत् । दृष्ट्वैव च करुणया समालम्ब्यमानहृदयो मातलिं सङ्ग्राहकमित्युवाच—

अजातपक्षद्विजपोतसङ्कुला द्विजालयाः शाल्मलिपादपाश्रयाः ।
अमी पतेयुर्न यथा रथेषया विचूर्णिता वाहय मे रथं तथा ॥ ११ ॥

प्रलयकालीन वायु द्वारा उखाड़ कर फेंके गये विशाल पर्वतों की तरह भयंकर दन्तार हाथी मदजल की गंध से क्रुद्ध होकर एक दूसरे पर झपट पड़े ॥ ७ ॥

उपद्रवकारी बादलों और बिजली की तरह काँपती पताका वाले रथ घोर गर्जन करते हुए चारों ओर फैल गये ॥ ८ ॥

देवों और दानवों के वीर सैनिक एक दूसरे के झंडे, छत्र, हथियार, कवच और मस्तक अपने तीरों से काट-काटकर गिराने लगे ॥ ९ ॥

राक्षसों के तीव्र तीर और तलवारों से डरकर जब देव-सेना भाग चली तब अकेले देवेन्द्र ने उनका डटकर मुकाबला किया ॥ १० ।

हर्षोल्लास में सिंह की तरह गरजती राक्षसों की विशाल सेना को समीप आते देखकर तथा देव-सेना को भागते जानकर, 'यहाँ से हटने में ही अब कल्याण है' ऐसा सोचकर देवेन्द्र के सारथी ने रथ को पीछे की ओर घुमाया। उड़ते हुए रथ पर सवार शक्र ने सामने एक विशाल सेमल का पेड़ देखा। उस पर गरुड़ पक्षी के अनेक घोंसले थे। रथ से घोंसले के टकराने की संभावना से दुःखी दयार्द्रचित्त शक्र ने मातलि से कहा—

इस सेमल पर सामने के घोंसलों में पक्षिशावक भरे हैं। अभी इनकी देह पर पाँख भी नहीं उगे हैं। रथ से टकराकर ये घोंसले नीचे गिरने न पायें—ऐसे मोड़कर रथ हाँको ॥ ११ ॥

मातलिरुवाच—अमी तावन्मार्ष समभियान्ति नो दैत्यसंघा इति। शक्र उवाच—ततः किम्, परिहरैतानि सम्यग्गरुडनीडानीति। अथैनं मातलिः पुनरुवाच—

निवर्तनादस्य रथस्य केवलं शिवं भवेदम्बुरुहाक्ष पक्षिणाम्।
चिरस्य लब्धप्रसरा सुरेष्वसावभिद्रवत्येव तु नो द्विषच्चमूः॥ १२॥

अथ शक्रो देवेन्द्रः स्वमध्याशयातिशयं सत्त्वविशेषं च कारुण्यविशेषात् प्रकाशयन्नुवाच—

तस्मान्निवर्तय रथं वरमेव मृत्यु-
दैत्याधिपप्रहितभीमगदाभिघातैः।
धिग्वाददग्धयशसो न तु जीवितं मे
सत्त्वान्यमूनि भयदीनमुखानि हत्वा॥ १३॥

अथ मातलिस्तथेति प्रतिश्रुत्य तुरगसहस्रयुक्तं स्यन्दनमस्य निवर्तयामास।

दृष्टावदाना रिपवस्तु तस्य युद्धे समालोक्य रथं निवृत्तम्।
भयद्रुताः प्रस्खलिताः प्रणेमुर्वाताभिनुन्ना इव कालमेघाः॥ १४॥
भग्ने स्वसैन्ये विनिवर्तमानः पन्थानमावृत्य रिपुध्वजिन्याः।
सङ्कोचयत्येव मदावलेपमेकोऽप्यसम्भाव्यपराक्रमत्वात्॥ १५॥

मातलि ने कहा—स्वामिन्! इतनी देर में तो दैत्य-सेना हमें घेर लेगी। शक्र ने कहा—इससे क्या होता है। पहले इन घोंसलों को तो बचाओ। तब मातलि ने फिर समझाया—

हे कमलनयन, माना रथ घुमा लेने पर इन पक्षियों का तो कल्याण होगा। बहुत प्रयत्न के बाद देव-सेना पर विजय पाने वाली यह शत्रु-सेना हमारा पीछा करते हुए जो पास ही पहुँचना चाह रही है, (उसका क्या होगा?)॥ १२॥

तब देवताओं के राजा इन्द्र ने अत्यधिक दया से द्रवित होकर अपना उच्चकोटि का आशय एवं अत्युत्कृष्ट धैर्य प्रकट करते हुए उनसे कहा—

भय से कातर बने इन निरीह प्राणियों की हत्याकर अपयश के टीके सिर पर लगा कर जीवित रहने की अपेक्षा दैत्याधिपति की गदा की चोट खाकर मर जाना अच्छा है। इसलिए अब देर न करो, रथ को लौटाओ॥ १३॥

'जैसी आज्ञा' कहकर मातलि ने हजार घोड़ों वाले उस रथ को लौटा लिया।

जिन राक्षसों ने युद्ध में देवराज का पराक्रम देखा था—उनके रथ को फिर पीछे लौटते देखकर, हवा में उड़ाये गये बादल की तरह भयाक्रान्त होकर गिरते पड़ते भागे॥ १४॥

अपनी सेना के पैर उखड़ जाने पर यदि कोई योद्धा लौटकर अकेले ही शत्रु

निरीक्ष्य भग्नं तु तदासुरं बलं सुरेन्द्रसेनाप्यथ सा न्यवर्तत ।
बभूव नैव प्रणयः सुरद्विषां भयद्रुतानां विनिवर्तितुं यतः ॥ १६ ॥
सहर्षलज्जैस्त्रिदशः सुराधिपः सभाज्यमानोऽथ रणाजिराच्छनैः ।
अभिज्वलच्चारुवपुर्जयश्रिया समुत्सुकान्तःपुरमागमत् पुरम् ॥ १७ ॥

एवं स एव तस्य सङ्ग्रामस्य विजयो बभूव । तस्मादुच्यते—

पापं समाचरति वीतघृणो जघन्यः
प्राप्यापदं सघृण एव तु मध्यबुद्धिः ।
प्राणात्ययेऽपि तु न साधुजनः स्ववृत्तिं
वेलां समुद्र इव लङ्घयितुं समर्थः ॥ १८ ॥

तदेवं देवराज्यं प्राणानपि परित्यज्य दीर्घरात्रं परिपालितानि भगवता सत्त्वानि । तेष्विह प्राज्ञस्याघातो न युक्तरूपः प्रागेव विप्रतिपत्तिरिति प्राणिषु दयायत्तेनार्येण भवितव्यम् । तथा हि धर्मो ह वै रक्षति धर्मचारिणमित्यत्राप्युन्नेयम् । तथागतवर्णे संस्कृत्य धर्मश्रवणे चेति ॥

इति शक्र-जातकमेकादशम् ।

सेना की राह रोक ले तो इस अप्रत्याशित पराक्रम के कारण निश्चय ही वह शत्रु दल पर भारी पड़ जाता है ॥ १५ ॥

भागती आसुरी सेना को देखकर देवराज की सेना फिर लौट गई । उन्हें देखकर भयाक्रान्त शत्रुओं की हिम्मत जबाव दे गई ॥ १६ ॥

प्रसन्न किन्तु, लज्जित देवताओं से सम्मानित देवराज जिनकी भव्यमूर्त्ति विजयलक्ष्मी से बिहँस रही थी, धीरे-धीरे अपने नगर एवं उत्सुक अन्तःपुर में प्रवेश किया ॥ १७ ॥

इस प्रकार देवराज को युद्ध में विजय प्राप्त हुई । इसलिए कहा जाता है—

नीच व्यक्ति अपनी क्रूरता के ही कारण प्राणियों का बध करता है । मध्यम व्यक्ति विपत्ति आने पर ही कदाचित् कदाचार में संलग्न होता है । किन्तु, साधु पुरुष तो प्राण-संकट झेलकर भी सदाचार का उल्लंघन नहीं करते ॥ १८ ॥

बहुत दिन हुए, इस तरह देवराज ने अपने प्राणों का मोह छोड़कर उन जीवों की रक्षा की । तब फिर इस युग में बुद्धिमान् लोगों को उन्हें चोट पहुँचाना शोभा नहीं देता । उनके प्रति पापाचरण करना तो भयंकर भूल ही है । ऐसा सोचकर भद्र लोगों को प्राणियों के प्रति दयालु होना चाहिए । धर्म ही धार्मिकों की रक्षा करता है—यह निष्कर्ष यहाँ भी निकालना चाहिए । तथागत का वर्णन करने में और सावधान होकर धर्म-श्रवण करने में यह कथा कहनी चाहिए ।

शक्रजातक ग्यारहवाँ समाप्त ।

(१२) ब्राह्मण-जातकम्

आत्मलज्जयैव सत्पुरुषा नाचारवेलां लङ्घयन्ति । तद्यथानुश्रूयते —

बोधिसत्त्वः किल कस्मिंश्चिदनुपक्रुष्टगोत्रचरित्रे स्वधर्मानुवृत्तिप्रकाशयशसि विनयाचारश्लाघिनि महति ब्राह्मणकुले जन्मपरिग्रहं चकार । स यथाक्रमं गर्भाधानपुंसवनसीमन्तोन्नयनजातकर्मादिभिः कृतसंस्कारक्रमो वेदाध्ययननिमित्तं श्रुताभिजनाचारसम्पन्ने गुरौ प्रतिवसति स्म ।

तस्य श्रुतग्रहणधारणपाटवं च
भक्त्यन्वयश्च सततं स्वकुलप्रसिद्धः ।
पूर्वे वयस्यपि शमाभरणा स्थितिश्च
प्रेमप्रसादसुमुखं गुरुमस्य चक्रुः ।। १ ।।

वशीकरणमन्त्रा हि नित्यमव्याहता गुणाः ।
अपि द्वेषाग्नितप्तानां किं पुनः स्वस्थचेतसाम् ।। २ ।।

अथ तस्याध्यापकः सर्वेषामेव शिष्याणां शीलपरीक्षानिमित्तं स्वाध्यायविश्रामकालेष्वात्मनो दारिद्र्यदुःखान्यभीक्ष्णमुपवर्णयामास ।

स्वजनेऽपि निराक्रन्दमुत्सवेऽपि हतानन्दम् ।
धिक्प्रदानकथामन्दं दारिद्र्यमफलच्छन्दम् ।। ३ ।।

---

१२. ब्राह्मणजातक

आत्मलज्जा के ही कारण सदाचारी पुरुष आचार का उल्लंघन नहीं करते । जैसा कहा जाता है—

एक बार बोधिसत्त्व ने एक महान् ब्राह्मणकुल में जन्म लिया । यह कुल अपने गोत्र और चरित्र के लिए विख्यात था । स्वधर्म के पालन में यह कुल प्रशस्त, यशस्वी, विनयी और आचारनिष्ठ था । गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन और जातकर्मादि संस्कारों से सुसंस्कृत होने के बाद वेद पढ़ने के लिए कुलीन, विद्वान् और सदाचारी गुरु के समीप रहने लगे ।

पठित शास्त्र को हृदयङ्गम करने की उनकी योग्यता ने, परम्परागत उनकी स्थिर गुरुभक्ति ने, बचपन में भी उनके शान्त स्वभाव ने, उनके गुरु को प्रेम और प्रसन्नता से भर दिया ।। १ ।।

अनश्वर और अव्याहत सद्गुण, ईर्ष्या की आग में जलने वालों के लिए भी वशीकरण हैं । फिर शान्तचित्त का क्या कहना ।। २ ।।

उनके अध्यापक शिष्यों के शील की परीक्षा हेतु अध्यापन के पश्चात् उन्हें अपनी गरीबी का कष्ट सुनाने लगे ।

ऐसी गरीबी को धिक्कार है जिसके कारण लोग स्वजनों के प्रति उदासीन,

परिभवभवनं श्रमास्पदं सुखपरिवर्जितमत्यनूर्जितम् ।
व्यसनमिव सदैव शोचनं धनविकलत्वमतीव दारुणम् ॥ ४ ॥

अथ ते तस्य शिष्याः प्रतोदसञ्चोदिता इव सदश्वा गुरुस्नेहात्समुपजातसंवेगाः सम्पन्नतरं प्रभूततरं च भैक्षमुपसंहरन्ति स्म । स तानुवाच—

अलमनेनात्र भवतां परिश्रमेण । न भैक्षोपहाराः कस्याचिद्दारिद्रचक्षामतां क्षपयन्ति । अस्मत्परिक्लेशामर्षिभिस्तु भवद्भिरयमेव यत्नो धनाहरणं प्रति युक्तः कर्त्तुं स्यात् । कुतः ?

क्षुधमन्नं जलं तर्षं मन्त्रवाक्सागदा गदान् ।
हन्ति दारिद्रचदुःखं तु सन्तत्याराधनं धनम् ॥ ५ ॥

शिष्या ऊचुः—किं करिष्यामो मन्दभाग्या वयं यदेतावान्नः शक्तिप्रयामः । अपि च—

भैक्षवद्यति लभ्येरन्नुपाध्याय धनान्यपि ।
नेदं दारिद्रचदुःखं ते वयमेवं सहेमहि ॥ ६ ॥
प्रतिग्रहकृशोपायं विप्राणां हि धनार्जनम् ।
अप्रदाता जनश्चायमित्यगत्या हता वयम् ॥ ७ ॥

उत्सव में आनन्द रहित, दान में अशक्त और दूसरों की अभिलाषा पूरी करने में असफल रहते हैं ॥ ३ ॥

दरिद्रता दारुण है । वह अपमान का घर, थकावट का स्थान, सुखविहीन और शक्तिहीन है । विपत्ति की तरह दुःखद है ॥ ४ ॥

चाबुक मारकर उत्तेजित किये गये उत्तम घोड़े की तरह उनके शिष्य गुरु के प्रति सच्चे अनुराग के कारण अत्यन्त उद्विग्न हो गये और उत्तमोत्तम एवं अधिकाधिक भीख माँगकर लाने लगे । गुरु ने उनसे कहा—

तुम सब का यह श्रम बेकार है । भिक्षान्न से भला किसी की गरीबी मिटी है ? तुम सब को यदि मेरी गरीबी खलती है तो धन के निमित्त तुम्हें और अधिक उद्योग करने चाहिए । यही उचित होगा । क्योंकि—

अन्न भूख को, पानी प्यास को औषधि सहित मंत्र व्याधि को दूर करता है, उसी तरह सन्तति के उद्योग से प्राप्त धन ही गरीबी को मिटाता है ॥ ५ ॥

शिष्यों ने कहा—हम भाग्यहीन और कर ही क्या सकते ? हमारी शक्ति की पहुँच तो बस इतनी ही है । और भी—

हे गुरुदेव, भीख की तरह यदि धन भी कहीं मिलता तो निश्चय ही हम आपकी गरीबी के इस दुःख को कदापि नहीं सहते ॥ ६ ॥

ब्राह्मणों के लिए धन कमाने की राह तो बड़ी छोटी है । और जनसामान्य इससे अधिक दानशील नहीं है । कोई उपाय न रहने के कारण केवल दुःख प्रकट करने के सिवा और हम कर ही क्या सकते ? हम अतिदुःखी हैं ॥ ७ ॥

अध्यापक उवाच—सन्त्यन्येऽपि शास्त्रपरिदृष्टाधनार्जनोपायाः। जरानिष्पीतसामर्थ्यास्तु वयमयोग्यरूपास्तत्प्रतिपत्तौ। शिष्या ऊचुः – वयमुपाध्याय जरयानुपहतपराक्रमाः। तद्यपि नस्तेषां शास्त्रविहितानामुपायानां प्रतिपत्तिसहतां मन्यसे, तदुच्यताम्। यावदध्यापनपरिश्रमस्यानृण्यं ते गच्छाम इति।

अध्यापक उवाच—तरुणैरपि व्यवसायशिथिलहृदयैर्दुरभिसम्भवाः खल्वेवंविधा धनार्जनोपायाः। यदि त्वयमत्र भवतां निर्बन्धः। तच्छ्रूयतां साधुः कतम एको धनोपार्जनक्रमः।

आपद्धर्मः स्तेयमिष्टं द्विजानामापच्चान्त्या निःस्वता नाम लोके।
तस्माद् भोज्यं स्वं परेषामदुष्टैः सर्वं चैतद् ब्राह्मणानां स्वमेव ॥ ८॥

कामं प्रसह्यापि धनानि हर्तुं शक्तिमेवेदेत्र भवद्विधानाम्।
न त्वेष योगः स्वयशो हि रक्ष्यं शून्येषु तस्माद्व्यवसेयमेव ॥ ९॥

इति मुक्तप्रग्रहास्तेन ते छात्राः परममिति तत्तस्य वचनमयुक्तमपि युक्तमिव प्रत्यश्रौषुरन्यत्र बोधिसत्त्वात्।

स हि प्रकृतिभद्रत्वात्तन्नोत्सेहेऽनुमोदितुम्।
कृत्यवत्प्रतिपन्नं तैर्व्याहन्तुं सहसैव तु ॥ १०॥

गुरु ने कहा—धन अर्जित करने के लिए शास्त्र-सम्मत दूसरे उपाय भी हैं। किन्तु, बुढ़ौती ने मेरी सारी शक्ति चूस ली है और मैं कुछ करने योग्य भी नहीं रहा। यह सुनकर शिष्यों ने कहा—हे उपाध्याय, हमारी शक्ति तो बुढ़ौती के कारण नहीं घटी है। यदि शास्त्रविहित कोई उपाय हमारे करने योग्य हो तो बतलाइए, ताकि उसे पूराकर हम आपके अध्यापन परिश्रम से उऋण हों।

अध्यापक ने कहा—परिश्रम करने में सुस्त युवकों के लिए भी धनार्जन के ये उपाय अशक्य हैं। फिर भी इसके लिए यदि आप आग्रह करते हैं तो धन कमाने का मैं आपको एक अच्छा उपाय बतलाता हूँ। सुनिए—

द्विजों के लिए चोरी को आपद्धर्म कहा गया है। इस संसार में गरीबी सबसे बड़ी विपत्ति है। इस तरह दूसरों की सम्पत्ति का उपयोग करना अनुचित नहीं है, क्योंकि सारा धन तो ब्राह्मणों का ही है ॥ ८॥

बलपूर्वक किसी की सम्पत्ति अपहृत करने की क्षमता आप जैसे लोगों में तो होगी ही नहीं, ऐसा करना भी आप सब के लिए उचित नहीं है; क्योंकि यश की रक्षा भी तो करनी है। अतः चोरी ही करनी चाहिए ॥ ९॥

इस तरह जब उन्होंने अपने शिष्यों को बेलगाम छोड़ दिया, तब एकमात्र बोधिसत्त्व को छोड़कर सभी शिष्यों ने गुरु की इस अनुचित आज्ञा को भी उचित आदेश की तरह ग्रहण किया।

जब कि अन्य शिष्यों ने गुरु की इस अनुचित आज्ञा को अपना कर्त्तव्य समझकर

व्रीडावनतवदनस्तु बोधिसत्त्वो मृदु विनिश्वस्य तूष्णीमभूत। अथ स तेषामध्यापको बोधिसत्त्वमवेक्ष्य तं विधिमनभिनन्दन्तमप्रतिक्रोशन्तं निविष्ट-गुणसम्भावनस्तस्मिन्महासत्त्वे किं न खल्वयमव्यवसितत्वान्निःस्नेहतया वा मयि स्तेयं न प्रतिपद्यते, उताधर्मसञ्ज्ञयेति समुत्पन्नविमर्शस्तत्स्वभावव्यक्ती-करणार्थं बोधिसत्त्वमुवाच--भो महाब्राह्मण !

अमी द्विजा मद्व्यसनासहिष्णवः समाश्रिता वीरमनुष्यपद्धतिम्।
भवाननुत्साहजडस्तु लक्ष्यते न नूनमस्मद्व्यसनेन तृप्यते ॥ ११ ॥
परिप्रकाशेऽप्यनिगूढविस्तरे मयात्मदुःखे वचसा विदर्शिते।
कथं नु निःसम्भ्रमदीनमानसो भवानिति स्वस्थवदेव तिष्ठति ॥ १२ ॥

अथ बोधिसत्त्वः ससम्भ्रमोऽभिवाद्योपाध्यायमुवाच—शान्तं पापम्। न खल्वहं निःस्नेहकठिनहृदयत्वादपरितप्यमानो गुरुदुःखैरेवमवस्थितः किन्त्व-सम्भवादुपाध्यायप्रदर्शितस्य क्रमस्य। नहि शक्यमदृश्यमानेन क्वचित्पापमा-चरितुम्। कुतः? रहोऽनुपपत्तेः।

स्वीकार कर लिया, फिर भी अपनी भद्र प्रकृति के कारण बोधिसत्त्व ने न तो इस आदेश का अनुमोद किया और न हठात् विरोध ही किया ॥ १० ॥

केवल लज्जा से उन्होंने अपना सिर झुका लिया और ठंढी साँस लेकर चुप लगा गये। जब अध्यापक ने देखा, बोधिसत्त्व इस आदेश का न तो खुलकर विरोध कर रहा है और न अनुमोदन ही कर रहा है। तब इनमें सतोगुण होने की संभावना से उन्होंने सोचा--आखिर इसने चोरी करना क्यों नहीं स्वीकार किया? क्या इसमें साहस की कमी है? या मेरे प्रति इसमें स्नेह नहीं है। अथवा इस कर्म को यह अधर्म मान रहा है? इस तरह सोचते-बिचारते गुरु ने बोधिसत्त्व की भावना जानने के लिए उनसे पूछा—हे महाब्राह्मण !

मेरे कष्ट को न सह सकने के कारण इन ब्राह्मणों ने वीरोचित मार्ग अपनाया है। तुममें तो किसी तरह का उत्साह ही नहीं है। तुम तो बेजान लगते हो। मुझे लगता है तुम्हें मेरी विपत्ति से कोई कष्ट नहीं है ॥ ११ ॥

मैंने तो अपना कष्ट तुम लोगों से साफ-साफ बतला दिया है। कुछ भी छिपा कर नहीं रक्खा। बोलकर सब कुछ बतला दिया। किन्तु सब कुछ जानकर भी तुम चुपचाप बैठे हो। क्या तुम्हारे मन में मेरे कष्ट से किसी प्रकार की कातरता नहीं है।

तब बोधिसत्त्व ने जल्दी-जल्दी गुरु को प्रणाम कर उनसे निवेदन किया—'ऐसा आप न कहें।' मैं जो इस आदेश के प्रति तटस्थ हूँ उसका कारण न तो आपके प्रति स्नेह की कमी है और न मैं कठोरहृदय ही हूँ। गुरु के दुःख से मुझे दुःख नहीं है ऐसी भी बात नहीं है। किन्तु, मैं चुप इसलिए हूँ कि आचार्य द्वारा प्रदर्शित मार्ग भी उचित नहीं लगता। क्योंकि, किसी भी व्यक्ति के लिए कहीं भी छिपकर पाप करना उचित नहीं है। क्यों, एकान्त का अपना कोई अस्तित्व नहीं है।

नास्ति लोके रहो नाम पापं कर्म प्रकुर्वतः ।
अदृश्यानि हि पश्यन्ति ननु भूतानि मानुषान् ।। १३ ।।
कृतात्मानश्च मुनयो दिव्योन्मिषितचक्षुषः ।
तानपश्यन्रहोमानी बालः पापे प्रवर्तते ।। १४ ।।
अहं पुनर्न पश्यामि शून्यं क्वचन किञ्चन ।
यत्राप्यन्यं न पश्यामि नन्वशून्यं मयैव तत् ।। १५ ।।
परेण यच्च दृश्यते दुष्कृतं स्वयमेव वा ।
सुदृष्टतरमेतत्स्याद् दृश्यते स्वयमेव यत् ।। १६ ।।
स्वकार्यपर्याकुलमानसत्वात्पश्येन्न वान्यश्चरितं परस्य ।
रागार्पितैकाग्रमतिः स्वयं तु पापं प्रकुर्वन्नियमेन वेत्ति ।। १७ ।।

तदनेन कारणेनाहमेवं व्यवस्थित इति । अथ बोधिसत्त्वः समभिप्रसादित-मनसमुपाध्यायमवेत्य पुनरुवाच—

न चात्र मे निश्चयमेति मानसं धनार्थमेवं प्रतरेद्भवानपि ।
अवेत्य को नाम गुणागुणान्तरं गुणोपमर्दं धनमूल्यतां नयेत् ।। १८ ।।

स्वाभिप्रायं खलु निवेदयामि—

कपालमादाय विवर्णवाससा वरं द्विषद्वेषश्मसमृद्धिरीक्षिता ।
व्यतीत्य लज्जां न तु धर्मवैशसे सुरेन्द्रतार्थेऽप्युपसंहृतं मनः ।। १९ ।।

पापियों के लिए एकान्त नाम की कोई वस्तु ही नहीं है । क्योंकि कोई अदृ[श्य] शक्ति ही उनके अपकर्मों को सदैव छिपकर देखती रहती है ।। १३ ।।

पुण्यात्मा मुनिगण अपनी दिव्यदृष्टि से मनुष्य के शुभाशुभ कर्मों को देखते [हैं] रहते हैं । उन्हें दीखता नहीं—ऐसी कल्पना कर मूर्ख ही पापकर्म में प्रवृत्ति होते हैं ।

मेरी दृष्टि में कहीं भी ऐसा अदृश्य एकान्त नहीं है, जहाँ कोई अन्य व्यक्ति नहीं है, वहाँ भी तो मेरा अस्तित्व उस अवकाश को घेरे है ।। १५ ।।

मनुष्य के कुकर्म को कोई दूसरा देखे या वह स्वयं देखे दोनों बात बराबर है ।

अपने कार्य में व्यस्त रहने के कारण किसी के कुकर्म को कोई दूसरा व्यक्ति भले ही न देखे; किन्तु आसक्तिपूर्वक एकाग्रचित्त होकर किये गये कुकर्म को निश्चित रूप से कुकर्मी स्वयं तो जानता ही है कि उसने क्या किया है ।। १७ ।।

यही सोचकर मैं इस तरह चुप हूँ । अपने अध्यापक को यह सुनकर प्रसन्न हो[ते] जानकर बोधिसत्त्व ने पुनः कहना आरंभ किया — .

मेरा मन विश्वास ही नहीं करता कि आप जैसे व्यक्ति भी मात्र तुच्छ धन [के] लिए हमें इस तरह बहका सकते हैं । सद्गुण और दुर्गुण के अन्तर से अवगत हो[ने] के बावजूद कौन व्यक्ति सद्गुण खोकर बदले में धन चाहेगा ।। १८ ।।

अब मैं अपना अभिप्राय आपसे निवेदित करता हूँ—

अथ तस्योपाध्यायः प्रहर्षविस्मयाक्षिप्तहृदय उत्थायासनात्सम्परिष्वज्यै-नमुवाच --साधु साधु पुत्रक ! साधु साधु महाब्राह्मण ! प्रतिरुपमेतत्ते प्रशमालङ्कृतस्यास्य मेधाविकस्य ।

निमित्तमासाद्य यदेव किञ्चन
स्वधर्ममार्गं विसृजन्ति बालिशाः ।
तपःश्रुतज्ञानधनास्तु साधवो
न यान्ति कृच्छ्रे परमेऽपि विक्रियाम् ।। २० ।।

त्वया कुलं सममलमभ्यलङ्कृतं
समुद्यता नभ इव शारदेन्दुना ।
तवार्थवत्सुचरितविश्रुतं श्रुतं
सुखोदयः सफलतया श्रमश्च मे ।। २१ ।।

तदेवमात्मलज्जयैव सत्पुरुषा नाचारवेलां लङ्घयन्तीति ह्रीबलेनार्येण भवितव्यम् । एवं ह्रीपरिखासम्पन्न आर्यश्रावकोऽकुशलं प्रजहाति कुशलं च भावयतीत्येवमादिषु सूत्रेषूपनेयम् । ह्रीवर्णप्रतिसंयुक्तेषु लोकाधिपतेयेषु चेति ।

इति ब्राह्मण-जातकं द्वादशम्

गेरूआ वस्त्र पहनकर, हाथ में भिक्षापात्र लेकर दूसरे के घरों की समृद्धि देखना अच्छा है, किन्तु, निर्लज्ज होकर धर्म की हत्या करके इन्द्र का पद पाने की भी इच्छा अनुचित ही है ।। १९ ।।

यह सुनकर गुरु का हृदय आनन्द से भर गया । वे विस्मित हो गये । अपने आसन से उठकर उन्होंने बोधिसत्त्व को गले से लगा लिया और कहा—साधु बेटे ! यह शान्तिरूपी अलंकार तुम्हारे जैसे मेधावियों के लिए है ।

कुछ-न-कुछ बहाना बनाकर मूर्खजन ही अपने धर्म की राह को छोड़ देते हैं । किन्तु, तपस्या, विद्या और ज्ञान के धनी लोग भयंकर दुःख में भी अपने धर्मपथ से विचलित नहीं होते ।। २० ।।

शरद् के चन्द्र से जैसे आकाश-मण्डल अलंकृत होता है, उसी तरह आपने-अपने सम्पूर्ण वंश को समुज्ज्वल कर दिया है । आपकी विद्या सफल हुई । वह आपके आचरण में प्रकट हुई है । आपके इस आचरण से मैं समझता हूँ, मेरा श्रम भी सफल हुआ है ।। २१ ।।

कोई भी सत्पुरुष आत्मलज्जा के कारण ही अपने सदाचार की सीमा का उल्लंघन नहीं करता । अतः जो आर्य हैं, उन्हें शीलवान् होना चाहिए । इस तरह लज्जारूपी खाई से घिरा बौद्ध-भिक्षु अनौचित्य को छोड़कर सदैव औचित्य की भावना करता है । इस तरह की व्याख्या में, लज्जा के वर्णन में और तथागत के सम्मान में इस कथा को उपस्थित करना चाहिए ।

ब्राह्मणजातक बारहवाँ समाप्त ।

(१३) उन्मादयन्ती-जातकम्

तीव्रदुःखातुराणामपि सतां नीचमार्गनिष्प्रणयता भवति स्वधैर्यावष्टम्भात् । तद्यथानुश्रूयते—

सत्यत्यागोपशमप्रज्ञादिभिर्गुणातिशयैर्लोकहितार्थमुद्यच्छमानः किल बोधिसत्त्वः कदाचिच्छिबीनां राजा बभूव साक्षाद्धर्म इव विनय इव पितेव प्रजानामुपकारप्रवृत्तः ।

> दोषप्रवृत्तेर्विनियम्यमानो निवेश्यमानश्च गुणाभिजात्ये ।
> पित्रेव पुत्रः क्षितिपेन तेन ननन्द लोकद्वितयेऽपि लोकः ॥ १ ॥
> समप्रभावा स्वजने जने च धर्मानुगा तस्य हि दण्डनीतिः ।
> अधर्म्यमावृत्य जनस्य मार्गं सोपानमालेव दिवो बभूव ॥ २ ॥
> धर्मान्वयं लोकहितं स पश्यंस्तदेककार्यो नरलोकपालः ।
> सर्वात्मना धर्मपथेऽभिरेमे तस्योपमर्दं च परैर्न सेहे ॥ ३ ॥

अथ तस्य राज्ञः पौरमुखस्य दुहिता श्रीरिव विग्रहवती साक्षाद्रतिरिवाप्सरसामन्यतमेव परया रूपलावण्यसम्पदोपेता परमदर्शनीया स्त्रीरत्नसम्मता बभूव ।

---

१३. उन्मादयन्ती जातक

कठोर यातना से पीड़ित होकर भी भले लोग अपने धैर्य की दृढ़ता के कारण निम्न मार्ग का अनुसरण नहीं करते । तो जैसा कहा गया है—

एक बार बोधिसत्त्व ने शिवियों के राजकुल में जन्म लिया । जब वे राजा थे तब अपने सत्य, शान्ति, प्रज्ञा और त्याग जैसे उत्कृष्ट गुणों से लोकहित में संलग्न थे । वे धर्म और विनय की प्रतिमूर्त्ति थे । वे अपनी संतान की तरह प्रजा के पालन में संलग्न थे ।

पिता जैसे अपने पुत्र को कुमार्ग से रोककर सन्मार्ग पर चलाता है, उसी प्रकार वे जनसमूह को सद्गुणों की ओर प्रेरित करके दोनों लोकों में सुख के भागी बने ॥१॥

उनकी प्रजा धर्म का अनुसरण करने वाली थी । स्वजन और प्रजा के लिए समान फल देने वाली उनकी दण्डनीति थी । अधर्म की राह पर नाके-बंदी कर उन्होंने प्रजा के लिए मानों स्वर्ग का सोपान तैयार कर दिया ॥ २ ॥

धर्म में ही लोकहित निहित है—यह सोचकर उस राजा ने धार्मिक अनुष्ठानों में अपने को व्यस्त बना डाला । वे स्वयं तो धार्मिक अनुष्ठानों में संलग्न थे ही दूसरों के द्वारा धर्मपथ का अतिक्रमण भी नहीं सह सकते थे ॥ ३ ॥

उनके एक प्रधान नागरिक की कन्या अपूर्व सुन्दरी थी । वह मूर्त्तिमती लक्ष्मी थी । साक्षात् रति थी । अप्सरा की तरह रूपवती थी । स्त्रीरत्न एवं दर्शनीय थी ।

अवीतरागस्य जनस्य यावत्सा लोचनप्राप्यवपुर्बभूव ।
तावत्स तद्रूपगुणावबद्धां न दृष्टिमुत्कम्पयितुं शशाक ॥ ४ ॥

अतश्च तस्य उन्मादयन्तीत्येव बान्धवा नाम चक्रुः । अथ तस्याः पिता राज्ञः संविदितं कारयामास—स्त्रीरत्नं ते देव विषये प्रादुर्भूतम् । यतस्तत्प्रतिग्रहं विसर्जनं वा प्रति देवः प्रमाणमिति । अथ स राजा स्त्रीलक्षणविदो ब्राह्मणान् समादिदेश—पश्यन्त्वेनां तत्रभवन्तः किमसावस्मद्योग्या न वेति ।

अथ तस्याः पिता तान्ब्रह्मणान् स्वभवनमभिनीयोन्मादयन्तीमुवाच—भद्रे स्वयमेव ब्राह्मणान् परिवेषयेति । सा तथेति प्रतिश्रुत्य यथाक्रमं ब्राह्मणान् परिवेषयितुमुपचक्रमे । अथ ते ब्राह्मणाः—

तदाननोद्वीक्षणनिश्चलाक्षा मनोभुवा संह्रियमाणधैर्याः ।
अनीश्वरा लोचनमानसानामासुर्मदेनेव विलुप्तसञ्ज्ञाः ॥ ५ ॥

यदा च नैव शक्नुवन्ति स्म प्रतिसङ्ख्यानधीरनिभृतमवस्थातुं, कुत एव भोक्तुम् । अथैषां चक्षुष्पथादुत्सार्य स्वां दुहितरं स गृहपतिः स्वयमेव ब्राह्मणान् परिवेष्य विसर्जयामास । अथ तेषां बुद्धिरभवत्—कृत्यारूपमिव खल्विदमतिमनोहरमस्या दारिकाया रूपचातुर्यम् । यतो नैनां राजा द्रष्टुमप्यर्हति कुतः पुनः पत्नीत्वं गमयितुम् । अनया हि रूपशोभया नियतमस्योन्मादित-

---

जिनकी वासना अब क्षीण नहीं हुई थी, ऐसे लोगों की नजर जब उस पर टिक जाती थी तो वहाँ से अपनी आँख हटाना उनके वश की बात नहीं होती ॥ ४ ॥

अतः परिजनों ने उस लड़की का नाम उन्मादयन्ती रक्खा । एक दिन उस कन्या के पिता ने राजा से निवेदन किया—हे देव, आपके राज्य में एक स्त्रीरत्न ने जन्म लिया है । अतः उसे स्वीकार या अस्वीकार करने में आपही प्रमाण है । तब राजा ने स्त्रियों के लक्षण जानने वाले ब्राह्मणों को आदेश दिया—आप लोग जाकर निश्चय करें कि वह कन्या मेरे वरण करने योग्य है अथवा नहीं ।

अपने घर उन ब्राह्मणों को लाकर उन्मादयन्ती के पिता ने उससे कहा—भद्रे, तुम खुद इनके लिए भोजन परोसो । 'जैसी आपकी आज्ञा' कहकर वह उन ब्राह्मणों के आगे भोजन परोसने लगी । जब उन ब्राह्मणों ने उसकी ओर देखा तो उनकी आँखें उसके मुख पर स्थिर हो गईं । काम ने उनका धैर्यहरण कर लिया । उन्हें अपनी आँखों और अपने मन पर ही वश नहीं रहा । नशे में चूर मदमत्त की तरह उन्होंने उसे देखते ही चेतना खो दी ॥ ५ ॥

जब वे ज्ञान बल से अपने धैर्य और अपनी शान्ति की ही रक्षा नहीं कर सके तो फिर वे भोजन ही कहाँ से कर पाते ? अन्ततः गृहपति ने अपनी बेटी को वहाँ से अलग हटाकर स्वयं उन्हें भोजन कराकर विदा किया । उन ब्राह्मणों ने सोचा—निश्चय ही यह नारी कोई माया है । यह तो राजा के देखने योग्य भी नहीं है, पत्नी बनाने का प्रश्न ही कहाँ उठता ? निश्चय ही इसे देखते ही इसकी रूपशोभा से उनके

हृदयस्य धर्मार्थकार्यप्रवृत्तेर्विस्रस्यमानोत्साहस्य राजकार्यकालातिक्रमाः प्रजानां हितसुखोदयपथमुपपीडयन्तः पराभवाय स्युः ।

इयं हि सन्दर्शनमात्रकेण कुर्यान्मुनीनामपि सिद्धिविघ्नम् ।
प्रागेव भावार्पितदृष्टिवृष्टेर्यूनः क्षितीशस्य सुखे स्थितस्य ।। ६ ।।

तस्मादिदमत्र प्राप्तकालमिति यथाप्रस्तावमुपेत्य राज्ञे निवेदयामासुः—दृष्टास्माभिर्महाराज सा कन्यका । अस्ति तस्या रूपचातुर्यमात्रकमपलक्षणोपघातनिःश्रीकं तु । यतो नैनां द्रष्टुमप्यर्हति देवः । किं पुनः पत्नीत्वं गमयितुम् ।

कुलद्वयस्यापि हि निन्दिता स्त्री यशो विभूतिं च तिरस्करोति ।
निमग्नचन्द्रेव निशा समेघा शोभां विभागं च दिवस्पृथिव्योः ।। ७ ।।

इति श्रुतार्थः स राजा—अपलक्षणा किलासौ न च मे कुलानुरूपेति तस्यां विनिवृत्ताभिलाषो बभूव । अनर्थितां तु विज्ञाय राज्ञः स गृहपतिस्तां दारिकां तस्यैव राज्ञोऽमात्यायाभिपारगाय प्रायच्छत् । अथ कदाचित्स राजा क्रमागतां कौमुदीं स्वस्मिन्पुरवरे निषक्तशोभां द्रष्टुमुत्सुकमना रथवरगतः सिक्तसम्मृष्टरथ्यान्तरापणमुच्छ्रितविचित्रध्वजपताकं समन्ततः पुष्पोपहारशबलभूमिभाग-

---

हृदय में उन्माद होगा, धार्मिक एवं आर्थिक कार्यों में उनका उत्साह शिथिल होगा, समय पर राज्य-कार्य का सम्पादन असंभव होगा तथा प्रजा के हित में बाधा होगी । उनका उदय अवरुद्ध होगा । इसमें अनिष्ट की आशंका है ।

यह अपने रूप-सौन्दर्य से मुनियों की सिद्धि में बाधा डाल सकती है, फिर इस युवराज की स्थिति क्या होगी, जब वे उसे चाव से देखेंगे ।। ६ ।।

इस निवेदन का अब उचित अवसर है—यह सोचकर अपने पूर्वनिर्णय के अनुसार राजा के पास जाकर उन ब्राह्मणों ने निवेदन किया । महाराज, हमने वह कन्या देख ली है । उसमें रूप तो है किन्तु, अलक्षणों के कारण अशुभ है । अतः हमारे विचार से जब वह श्रीमान् के देखने योग्य भी नहीं है तो फिर उसके साथ विवाह का प्रश्न ही नहीं उठता ।

निन्दनीय नारी तो दोनों कुलों की सम्पत्ति को विनष्ट कर देती है । जैसे—चन्द्रमा के छिप जाने पर बदली वाली रात में आकाश और धरती की शोभा नष्ट हो जाती है ।। ७ ।।

यह सुनकर राजा ने सोचा—वह कुलक्षणा है और मेरे कुल के अनुरूप नहीं है । अतः उसके प्रति राजा की कामना समाप्त हो गई । जब गृहपति को यह सूचना मिली कि राजा उस कन्या से विवाह नहीं करना चाहते, तो उसने उन्हीं के सचिव अभिपारग से उसका विवाह कर दिया ।

कौमुदी महोत्सव की शोभा देखने के लिए परम्परागत ढंग से उत्तम रथ पर सवार होकर एक बार राजा नगर परिभ्रमण के लिए निकला । उस दिन गलियों में जल का छिड़काव किया गया था । दुकानों को परिष्कृत किया गया था । रंग-

धवलं प्रवृत्तनृत्तगीतहास्यलास्यवादित्रं पुष्पधूपचूर्णवासमाल्यासवस्नानानु-लेपनामोदप्रसृतसुरभिगन्धि प्रसारितविविधरुचिरपण्यं तुष्टपुष्टोज्ज्वलतरवेष-पौरजानपदसम्बाधराजमार्गं पुरवरमनुविचरंस्तस्यामात्यस्य भवनसमीपमुपमु-पजगाम। अथोन्मादयन्त्यपलक्षणा किलाहमित्यनेन राज्ञावधूतेति समुत्पन्ना-मर्षा राजदर्शनकुतूहलेन नाम सन्दृश्यमानरूपशोभा विद्युदिव घनशिखरं हर्म्यतलमवभासयन्ती व्यतिष्ठत। शक्तिरस्येदानीमस्त्वपलक्षणादर्शनादविच-लितधृतिस्मृतिमात्मानं धारयितुमिति। अथ तस्य राज्ञः पुरवरविभूतिदर्शन-कुतूहलप्रसृता दृष्टिरभिमुखस्थितायां सहसैव तस्यामपतत्। अथ स राजा—

प्रकाममन्तःपुरसुन्दरीणां वपुर्विलासैः कलितेक्षणोऽपि।
अनुद्धतो धर्मपथानुरागादुद्योगवानिन्द्रियनिर्जयेऽपि ॥ ८ ॥
विपुलधृतिगुणोऽप्यपत्रपिष्णुः परयुवतीक्षणविक्लवेक्षणोऽपि।
उदितमदनविस्मयः स्त्रियं तां चिरमनिमेषविलोचनो ददर्श ॥ ९ ॥
कौमुदी किं न्वियं साक्षाद्भवनस्यास्य देवता।
स्वर्गस्त्री दैत्ययोषिद्वा न ह्येतन्मानुषं वपुः ॥ १० ॥

बिरंगे झंडे महल के शिखरों पर फहरा रहे थे। रंग-बिरंगे फूलों के बिखराव से वह धरती भी बहुरंगी हो गई थी। नृत्य, गीत, वाद्य, वादन का समारोह चल रहा था। फूल, धूप चूर्ण सुगन्धित द्रव्य, माला, मदिरा और स्नानोपयुक्त अनुलेप से वातावरण महमहा रहा था। सजे-धजे नागरिकों और ग्रामीणों से राजमार्ग भरा था। घूमते-फिरते राजा भी उस सचिव के घर के पास पहुँच गया।

राजा को देखते ही उन्मादयन्ती का क्रोध भड़क उठा। उसने सोचा इसी राजा ने मुझे कुलक्षणा समझकर अपमानित किया। अतः राजा को देखने के बहाने सज-धज कर वह महल की छत पर जा खड़ी हुई। वहाँ वह उसी तरह लग रही थी जैसे बादल के शिखर बिजली चमक रही हो। मन में वह सोच रही थी, देखें, अब ये अपने शील और धैर्य की रक्षा कैसे करते हैं? हठात् राजा की दृष्टि उन्मादयन्ती पर जा टिकी। वह राजा—धार्मिक होने के नाते राजा ने इन्द्रियों को जीतने का प्रयत्न किया था। महलों की अनिन्द्य सुन्दरियों का यथेच्छ रूप को बार-बार देखने के बावजूद वे सदैव अनुद्धत थे॥ ८॥

वे बड़े धीरज वाले और लज्जालु थे। दूसरों की युवा पत्नियों को देखकर उनकी आँखों में पीड़ा होती थी। किन्तु, यह क्या? उन्मादयन्ती को कामार्त्त होकर वे अपलक निहारते ही रहे॥ ९॥

क्या इस घर की यह देवता है? साक्षात् कौमुदी है, किम्बा अप्सरा या असुरांगना है? मनुष्य की आकृति तो नहीं है॥ १०॥

इति विचारयत एव तस्य राज्ञस्तद्दर्शनावितृप्तनयनस्य स रथस्तं देश-मतिवर्तमानो न मनोरथानुकूलो बभूव। अथ स राजा शून्यहृदय इव तद्गतै-काग्रमनाः स्वभवनमुपेत्य मन्मथाक्षिप्तधृतिः सुनन्दं सारथिं रहसि पर्यपृच्छत्-

सितप्राकारसंवीतं वेत्सि कस्य नु तद्गृहम्।
का सा तत्र व्यरोचिष्ट विद्युत्सित इवाम्बुदे॥ ११॥

सारथिरुवाच--अस्ति देवस्याभिपारगो नामामात्यमुख्यः। तस्यः तद्गृहं तस्यैव च सा भार्या किरीटवत्सस्य दुहिता उन्मादयन्ती नामेति। तदुपश्रुत्य स राजा परभार्येति वितानीभूतहृदयश्चिन्तास्तिमितनयनो दीर्घमुष्णमभिनिःश्वस्य तदर्पितमनाः शनैरात्मगतमुवाच—

अन्वर्थरम्याक्षरसौकुमार्यमहो कृतं नाम यथेदमस्याः।
उन्मादयन्तीति शुचिस्मितायास्तथा हि सोन्मादमिवाकरोन्माम्॥ १२॥

विस्मर्तुमेनामिच्छामि पश्यामीव च चेतसा।
स्थितं तस्यां हि मे चेतः सा प्रभुत्वेन तत्र वा॥ १३॥

परस्य नाम भार्यायां ममाप्येवमधीरता।
तदुन्मत्तोऽस्मि सन्त्यक्तो लज्जयेवाद्य निद्रया॥ १४॥

जब राजा कुछ ऐसा सोच ही रहे थे, उनकी आँखें टकटकी लगाये ही थीं, कि सहसा सारथी ने उनकी इच्छा के विरुद्ध रथ को आगे बढ़ा दिया। राजा भारी मन से उसी का ध्यान किए घर लौट आये। काम ने उन्हें विचलित कर दिया था, उनका धीरज छूट गया। उन्होंने एकान्त में सारथि सुनन्द को बुलाकर उससे पूछा—

तुम जानते हो, भव्य भवनों से घिरा वह किसका घर है? उसके कंगूरे पर, बादल के शिखरों पर कौंधती बिजली की तरह वह नारी कौन थी?॥ ११॥

सारथि ने उन्हें बतलाया - देव, आपका ही मुख्यमंत्री अभिपारग का वह महल है तथा बिजली की तरह चमकने वाली औरत उसकी पत्नी एवं किरीटवत्स की बेटी उन्मादयन्ती है। उसे परपत्नी जानकर राजा का मन भारी हो गया। चिन्ता के कारण उनकी आँखें स्थिर हो गईं। वे उसाँस भरने लगे। उसका ध्यान करते हुए मन-ही-मन सोचने लगे—

मन्दस्मिता इस महिला का कोमल और मधुराक्षर वाला नाम उन्मादयन्ती अन्वर्थक है। इसने तो मुझे पागल बना दिया है॥ १२॥

मैं इसे जितना भूलना चाहता हूँ उतना ही यह चित्त में उतर रही है। या तो उसमें मेरा मन खो गया है या उसने मेरे मन पर अधिकार जमा लिया है॥ १३॥

पर नारी के लिए मैं इतना अधीर बन गया कि नींद और लाज मुझे छोड़कर दूर हो गयी है और मैं पागल बन गया हूँ॥ १४॥

तस्या वपुर्विलसितस्मितवीक्षितेषु
संरागनिश्चलमतेः सहसा स्वनन्ती ।
कार्यान्तरक्रमनिवेदनधृष्टशब्दा
विद्वेषमुत्तुदति चेतसि नालिका मे ।। १५ ।।

इति स राजा मदबलविचलितधृतिर्व्यवस्थापयन्नप्यात्मानमापाण्डुकृशतनुः प्रध्यानविनिश्वसितविजृम्भणपरः प्रव्यक्तमदनाकारो बभूव ।

धृत्या महत्यापि निगुह्यमानः स भूपतेस्तस्य मनोविकारः ।
मुखेन चिन्तास्तिमितेक्षणेन कार्श्येन च व्यक्तिमुपाजगाम ।। १६ ।।

अथेङ्गिताकारग्रहणनिपुणमतिरभिपारगोऽमात्यस्तं राज्ञो वृतान्तं सकारणमुपलभ्य स्नेहात्तदत्ययाशङ्की जानानश्चातिबलतां मदनस्य रहसि राजानं संविदितं समुपेत्य कृताभ्यनुज्ञो विज्ञापयामास —

अद्यार्चयन्तं नरदेव देवान्साक्षादुपेत्याम्बुरुहाक्ष यक्षः ।
मामाह नावैषि नृपस्य कस्मादुन्मादयन्त्यां हृदयं निविष्टम् ।।१७।।

उसी का रूप, उसके हाव-भाव, उसकी मन्द मुसुकान, उसकी मदभरी आँखें और उसके शरीर विलास में मानों मैं डूब गया हूँ । मैं हमेशा उसी के ध्यान में डूबा रहता हूँ । मेरे अन्य कार्यक्रम की सूचना देने में प्रवीण ये घड़ियाल जब अचानक ही बोल उठता है तब उसकी आवाज सुनकर (तथा उसके ध्यान में व्याघात जानकर) मेरा मन झल्ला उठता है ।। १५ ।।

जब काम की शक्ति ने राजा के धैर्य को विचलित कर दिया, तब वे अपने को स्थिर रखने में असमर्थ हो गये । उनकी साँसें लम्बी-लम्बी चलने लगीं, जँभाइयाँ आने लगीं । शरीर दुबला और पीला हो गया । दिन-रात चिन्ता में डूबे रहने लगे । उनकी देह में कामुकता के चिह्न स्पष्ट हो गये ।

अपने मानसिक विकारों को धैर्य के साथ राजा ने छिपाने का प्रयास किया । फिर भी उनकी दुबली देह और चिन्ता के कारण धँसी आँखें सब कुछ बतला रही थीं ।। १६ ।।

राजा का अमात्य अभिपारग बाहरी चिह्न देखकर किसी के मनोगत भाव को पहचानने में बड़ा प्रवीण था । राजा की इस दुर्गत मनःस्थिति का पता जब उसे चल गया तब स्नेहवश उसे राजा के अनिष्ट की आशंका होने लगी । काम की प्रबल शक्ति से परिचित होने के कारण राजा से आदेश लेकर एक दिन उसने एकान्त में राजा के पास पहुँचकर निवेदन किया —

'हे राजन्, हे कमलनयन, आज पूजोपरान्त एक यक्ष ने मेरे सम्मुख प्रकट होकर मुझसे कहा—राजा का मन उन्मादयन्ती में खो गया है और तुम्हें कुछ पता नहीं; ऐसा क्यों ? ।। १७ ।।

इत्येवमुक्त्वा सहसा तिरोऽभूद्विमर्शवानित्यहमभ्युपेतः ।
तच्चेत्तथा देव किमेतदेवमस्मासु ते निष्प्रणयत्वमौनम् ।। १८ ।।

तत्प्रतिग्रहीतुमेनामर्हति मदनुग्रहार्थं देव इति । अथ राजा प्रत्यादेशाल्लज्जावनतवदनो मदनवशगतोऽपि स्वभ्यस्तधर्मसञ्ज्ञत्वादविक्लवीभूतधैर्यः प्रत्याख्यानविशदाक्षरमेनमुवाच—नैतदस्ति । कुतः ?

पुण्याच्च्युतः स्याममरो न चास्मि विद्याच्च नः पापमिदं जनोऽपि ।
तद्विप्रयोगाच्च मनो ज्वलंस्त्वां वह्निः पुरा कक्षमिव क्षिणोति ।।१९।।
यच्चोभयोरित्यहितं हं स्याल्लोके परस्मिन्निह चैव कर्म ।
तद्यस्य हेतोरबुधा भजन्ते तस्यैव हेतोर्न बुधा भजन्ते ।। २० ।।

अभिपारग उवाच—अलमत्र देवस्य धर्मातिक्रमाशङ्कया ।

दाने साहाय्यदानेन धर्म एव भवेत्तव ।
दानविघ्नात्त्वधर्मः स्यात्तां मत्तोऽप्रतिगृह्णतः ।। २१ ।।

कीर्त्युपरोधावकाशमपि चात्र देषस्य न पश्यामि । कुतः ?

आवाभ्यामिदमन्यश्च क एव ज्ञातुमर्हति ।
जनापवादादाशङ्कामतो मनसि मा कृथाः ।। २२ ।।

इतना कहकर वह मेरी आँखों से ओझल हो गया । यहीं सोचता-बिचारता मैं आप तक आया हूँ । अगर यह सच है, तो आप मुझसे रूठकर इस तरह चुप क्यों हैं ? ।। १८ ।।

अतः आप मुझ पर अनुग्रह कर उन्मादयन्ती को स्वीकार कीजिए । ऐसी अपमानजनक बातें सुनकर राजा ने लज्जा से अपना सिर झुका लिया । धर्माभ्यास के कारण कामार्त्त होने के बावजूद उनका धैर्य पूर्णतः नष्ट नहीं हुआ था । अतः इस प्रस्ताव को ठुकराते हुए उन्होंने कहा—यह नहीं हो सकता । क्यों ? इसलिए कि—

मेरा पुण्य क्षीण होगा, मैं तो कोई अमर नहीं हूँ, मेरा यह पाप लोगों में विख्यात होगा, और उसके वियोग की आग में तुम वैसे ही जलकर राख हो जाओगे जैसे सूखी लकड़ी को आग जला देती है ।। १९ ।।

इहलोक और परलोक दोनों के लिए जो कर्म अनिष्टकर है, कामसुख के लिए जिसे मूर्खजन करते हैं । उसी कर्म को कामसुख हेतु विद्वान् लोग कभी नहीं करते ।

अभिपारग ने कहा—धर्मातिक्रमण की इसमें आशंका देव, कदापि न करें ।

मेरे स्त्रीदान-जन्य पुण्यकर्म में सहायक होने के नाते श्रीमान् को पुण्य होगा, ठीक इसके विपरीत सहयोग न देने पर दान में विघ्न डालने से आपको अधर्म ही होगा । २१ ।।

इसमें आपकी कोई अपकीर्त्ति होगी, इसकी भी संभावना मुझे नहीं दीखती । दूसरी बात यह भी कि हम दोनों को छोड़कर इसे जानेगा भी कौन ? अतः आप अपने मन से लोकनिन्दा की बात को निकाल दें, इसकी आशंका न करें ।। २२ ।।

अनुग्रहश्चैष मम स्यान्न पीडा। कुतः?
स्वाम्यर्थचर्यार्जितया हि तुष्टया निरन्तरे चेतसि को विघातः।
यतः सुकामं कुरु देव काममलं मदुत्पीडनशङ्कया ते॥ २३॥
राजोवाच—शान्तं पापम्!

व्यक्तमस्मदतिस्नेहान्न त्वयैतदपेक्षितम्।
यथा दाने न सर्वस्मिन्साचिव्यं धर्मसाधनम्॥ २४॥
यो मदर्थमतिस्नेहात्स्वान् प्राणानपि नेक्षते।
तस्य बन्धुविशिष्टस्य सख्युर्भार्या सखी मम॥ २५॥

तदयुक्तं मामतीर्थे प्रतारयितुम्। यदपि चेष्टं नैतदन्यः कश्चिज्ज्ञास्यतति, किमेवमिदमपापं स्यात्।

अदृश्यमानोऽपि हि पापमाचरन्विषं निषेव्येव कथं समृध्नुयात्।
न तं न पश्यन्ति विशुद्धचक्षुषो दिवौकसश्चैव नराश्च योगिनः॥ २६॥
किं च भूयः—

श्रद्दधीत क एतच्च यथासौ तव न प्रिया।
तां परित्यज्य सद्यो वा विघातं न समाप्नुयाः॥ २७॥

और, जहाँ तक मेरी बात है, यह तो मुझ पर अनुग्रह होगा, पीड़ा कैसी? क्यों? इसलिए कि—

स्वामि-सेवा से अर्जित मेरे संतुष्ट हृदय में पीड़ा के लिए स्थान कहाँ है? अतः आप मेरी पीड़ा की आशङ्का छोड़कर अपने काम को सफल करें॥ २३॥

राजा ने कहा—पाप का विनाश हो। कुविचार का अन्त हो।

निश्चय ही मेरे प्रति अति स्नेह के कारण तुमने सोचा नहीं कि सब तरह के दान में सहयोग करना पुण्य नहीं है॥ २४॥

मेरे लिए अतिस्नेह के कारण जो अपने प्राणों की भी परवाह नहीं करते ऐसे मित्र की पत्नी होने के नाते वह मेरे लिए भी तो मित्र ही है॥ २५॥

अतः मुझे पाप में मत फँसाओ। 'कोई इसे नहीं जानेगा' ऐसा सोचना भी क्या पाप नहीं है?

जैसे जहर पीकर कोई जिन्दा नहीं रह सकता, उसी तरह छिपकर पाप करने वाला भी समृद्ध नहीं हो सकता। दिव्य दृष्टि सम्पन्न देवता एवं निर्मल दृष्टि योगियों से कुछ भी नहीं छिप सकता॥ २६॥

और यह कि—

कौन यह विश्वास करेगा कि वह तुम्हारी प्रियतमा नहीं है या उसे छोड़कर तुम विनष्ट न हो जाओगे॥ २७॥

अभिपारग उवाच—

सपुत्रदारो दासोऽहं स्वामी त्वं दैवतं च मे ।
दास्यामस्यां यतो देव कस्ते धर्मव्यतिक्रमः ।। २८ ।।

यदपि चेष्टं प्रिया ममेयमिति किम् ?

मम प्रिया कामद काममेषा तेनैव दित्सामि च तुभ्यमेनाम् ।
प्रियं हि दत्त्वा लभते परत्र प्रकर्षरम्याणि जनः प्रियाणि ।।२९।।

यतः प्रतिगृह्णात्वेवैनां देव इति । राजोवाच—मा मैवम् । अक्रम एषः । कुतः ?

अहं हि शस्त्रं निशितं विशेय हुताशनं विस्फुरदर्चिषं वा ।
न त्वेव धर्मादधिगम्य लक्ष्मीं शक्ष्यामि तत्रैव पुनः प्रहर्तुम् ।। ३० ।।

अभिपारग उवाच—यद्येनां मद्भार्येति देवो न प्रतिग्रहीतुमिच्छत्ययमहमस्याः सर्वजनप्रार्थनाविरुद्धवेश्याव्रतमादिशामि । तत एनां देवः प्रतिगृह्णीयादिति ।

राजोवाच—किमुन्मत्तोऽसि !

अदुष्टां सन्त्यजन्भार्यां मत्तो दण्डमवाप्नुयाः ।
स धिग्वादास्पदीभूतः परत्रेह च धक्ष्यसे ।। ३१ ।।

अभिपारग ने कहा—मैं अपनी पत्नी और बच्चों के साथ आपका दास हूँ। आप मेरे मालिक और देवता है। अतः इस दासी को स्वीकार करने में धर्म का अतिक्रमण क्या होगा ? ।। २८ ।।

'वह मेरी प्रियतमा है' इस चिन्तन का क्या मतलब ?

हे कामद, वह निश्चय ही प्रियतमा है। अतः मैं उसे आपको दानकर उससे भी प्रियतर वस्तु परलोक में पाना चाहता हूँ ।। २९ ।।

अतः देव उसे स्वीकार करें।

राजा ने कहा—यह संभव नहीं है। क्योंकि यह अनुचित है। क्यों ?

मैं मौत का भले ही आलिङ्गन करूँ अथवा जलती आग में कूदकर जान दे दूँ किन्तु, जिस धर्म पर चलकर मैंने राजलक्ष्मी प्राप्त की है, उस पर प्रहार नहीं करूँगा ।। ३० ।।

अभिपारग ने इस पर कहा—यदि आप इसे केवल इसलिए नहीं ग्रहण करना चाहते कि यह मेरी पत्नी है तो इसे मैं वेश्यावृत्ति करने को विवश कर दूँगा, ताकि सब लोग उसे पाने की इच्छा कर सके। अतः देव इसे ग्रहण अवश्य ही करें।

इस पर राजा ने कहा—'क्या तुम पागल हो गये हो ?'

बेकसूर पत्नी को इस तरह अगर छोड़ोगे तो पहले तो मैं ही तुम्हें दण्ड दूंगा। संसार में निन्दा का पात्र बनोगे। मरने के बाद दूसरे लोक में भी चैन नहीं पाओगे ।। ३१ ।।

तदलमकार्यनिर्बन्धितया। न्यायाभिनिवेशी भवेति।

अभिपारग उवाच—

धर्मात्ययो मे यदि कश्चिदेवं जनापवादः सुखविप्लवो वा।
प्रत्युद्गमिष्याम्युरसा तु तत्तत्त्वत्सौख्यलब्धेन मनःसुखेन॥ ३२॥
त्वत्तः परं चाहवनीयमन्यं लोके न पश्यामि महीमहेन्द्र।
उन्मादयन्ती मम पुण्यवृद्ध्यै तां दक्षिणामृत्विगिव प्रतीच्छ॥ ३३॥

राजोवाच—काममस्मदतिस्नेहादनवेक्षितात्महिताहितक्रमो मदर्थचर्यासमुद्योगस्तवायम्। अत एव तु त्वां विशेषतो नोपेक्षितुमर्हामि। नैव खलु लोकापवादनिःशङ्केन भवितव्यम्। पश्य!

लोकस्य यो नाद्रियतेऽपवादं धर्मानपेक्षः परतः फलं वा।
जनो न विश्वासमुपैति तस्मिन्ध्रुवं च लक्ष्म्यापि विवर्ज्यते सः॥३४॥

यतस्त्वां ब्रवीमि—

मा ते रोचिष्ट धर्मस्य जीवितार्थे व्यतिक्रमः।
निःसन्दिग्धमहादोषः ससन्देहकृशोदयः॥ ३५॥

इसलिए ऐसे बुरे काम के लिए हठ मत करो, न्याय के लिए हठ करो। इस पर अभिपारग ने कहा—

मेरे ऐसा करने से यदि धर्म की सीमा का उल्लंघन होता है, संसार में निन्दा होती है, या मेरे व्यक्तिगत सुख में बाधा होती है तो मैं हृदय से इनका स्वागत करूँगा, क्योंकि इससे आपको होने वाले सुख से मुझे मनस्तोष होगा॥ ३२॥

हे महिपति, इस संसार में आपसे बढ़कर मेरे लिए कोई दूसरा आहवनीय नहीं है। मेरी पुण्य-वृद्धि के लिए आप एक पुरोहित की तरह दक्षिणा में उन्मादयन्ती को स्वीकार करें॥ ३३॥

राजा ने कहा—निश्चय ही मेरे अगाध स्नेह के कारण तुमने अपना हित-अहित का बिना विचार किये, मात्र मेरे उपकार के लिए तुम ऐसा प्रयास कर रहे हो। इसलिए किसी भी स्थिति में मैं तुम्हारी उपेक्षा नहीं कर सकता। तुम्हें लोक-निन्दा के प्रति ऐसी लापरवाही नहीं बरतनी चाहिए। देखो—

जो लोकनिन्दा या पारलौकिक फल की परवाह किये बिना धर्म की उपेक्षा करता है; सर्वप्रथम लोग उस पर विश्वास ही नहीं करते और निश्चित रूप से लक्ष्मी भी उसे छोड़ देती है॥ ३४॥

अतः मैं तुमसे कहता हूँ—

सामान्य जीवन के लिए धर्म का अतिक्रमण न करो। इसमें महादोष है। लाभ की कोई संभावना नहीं है॥ ३५॥

किं च भूयः—

निन्दादिदुःखेषु परान्निपात्य नेष्टा सतामात्मसुखप्रवृत्तिः ।
एकोऽप्यनुत्पीडय परानतोऽहं धर्मे स्थितः स्वार्थधुरं प्रपत्स्ये ।। ३६ ।।

अभिपारग उवाच—स्वाम्यर्थं भक्तिवशेन चरतो मम तावदत्र क एवाधर्मावकाशः स्याद्देवस्य वा दीयमानामेनां प्रतिगृह्णतः । यतः सनैगमजानपदाः शिबयः किमत्राधर्म इति ब्रूयुः । तत् प्रतिगृह्णात्वेवैना देव इति ।

राजोवाच—अद्धा मदर्थचर्याप्रणयिमतिर्भवान् । इदं त्वत्र चिन्तयितव्यम्-सनैगमजानपदानां वा शिबीनां तव मम वा कोऽस्माकं धर्मवित्तम इति ।

अथाभिपारगः ससम्भ्रमो राजानमुवाच—

वृद्धोपसेवासु कृतश्रमत्वाच्छ्रुताधिकारान्मतिपाटवाच्च ।
त्रिवर्गविद्यातिशयार्थतत्त्वं त्वयि स्थितं देव बृहस्पतौ च ।। ३७ ।।

राजोवाच—तेन हि न मामत्र प्रतारयितुमर्हसि । कुतः ?

नराधिपानां चरितेष्वधीनं लोकस्य यस्मादहितं हितं च ।
भक्तिं प्रजानामनुचिन्त्य तस्मात्कीर्तिक्षमे सत्पथ एव रंस्ये ।। ३८ ।।

और यह भी कि—

कोई भला आदमी दूसरों को निन्दा-जन्य कष्ट में डालकर अपने लिए सुख नहीं चाहेगा । अतः किसी को बिना कोई तकलीफ दिये, अकेला मैं धर्म में स्थिर रहकर अपना कार्यभार वहन करूँगा ।। ३६ ।।

अभिपारग ने कहा—अगर मैं भक्तिपूर्वक अपने स्वामी को कुछ समर्पित करना चाहूँ और वे इसे स्वीकार करें तो इसमें अधर्म के लिए अवकाश कहाँ है ? नगर या गाँवों में रहने वाले शिविगण ही बतलाये कि इसमें क्या दोष है ? अतः मान्यवर आप इसे स्वीकर करें ही ।'

राजा ने कहा—यह सच है कि तुम मेरे उपकार में श्रद्धालु हो । किन्तु इस बारे में तुम्हें यह भी सोचना चाहिए कि नगरों और गाँवों में रहने वाले शिवियों तुम्हारे और मेरे बीच सबसे बड़ा धर्म का ज्ञाता कौन है ?

इस पर अभिपारग ने तत्क्षण राजा से कहा—

आपने निष्ठापूर्वक वृद्धजनों की सेवा की है, आपकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण है, आप शास्त्र के अधिकारी हैं । अतः हे देव तीनों विद्याओं का ज्ञान सम्यक् रूप से या तो आपमें है या देवगुरु बृहस्पति में ।। ३७ ।।

राजा ने कहा—तो फिर इस विषय में तुम मुझे पथभ्रष्ट नहीं कर सकते । क्योंकि—राजा के चरित्र पर ही प्रजा का हिताहित निर्भर करता है । मैं अपनी राजभक्त प्रजा के हित को ध्यान में रखकर यशस्वी सन्मार्ग में ही स्थिर रहूँगा ।।३८

जिह्मं शुभं वा वृषभप्रचारं गावोऽनुगा यद्वदनुप्रयान्ति ।
उत्क्षिप्तशङ्काङ्कुशनिर्विघट्टं प्रजास्तथैव क्षितिपस्थ वृत्तिम् ।।३९।।

अपि पश्यतु तावद्भवान्—

आत्मानमपि चेच्छक्तिर्न स्थात्पालयितुं मम ।
का न्ववस्था जन[illegible]स्य मत्तो रक्षाभिकाङ्क्षिणः ।। ४० ।।

इति प्रजानां हितमीक्षमाणः स्वं चैव धर्मं विमलं यशश्च ।
नेच्छामि चित्तस्य वशेन गन्तुमहं हि नेता वृषवत्प्रजानाम् ।। ४१ ।।

अथाभिपारगोऽमात्यस्तेन राज्ञोऽवस्थानेन प्रसादितमनाः प्रणम्य राजानं प्राञ्जलिरित्युवाच—

अहो प्रजानामतिभाग्यसम्पद्यासां त्वमेवं नरदेव गोप्ता ।
धर्मानुरागो हि सुखानपेक्षस्तपोवनस्थेष्वपि मृग्य एव ।। ४२ ।।

महच्छब्दो महाराज त्वय्येवायं विराजते ।
विगुणेषु गुणोक्तिर्हि क्षेपरूक्षतराक्षरा ।। ४३ ।।

विस्मयोऽनिभृतत्वं वा किं ममैतावता त्वयि ।
समुद्र इव रत्नानां गुणानां यस्त्वमाकरः ।। ४४ ।।

सीधी या टेढ़ी, जिस राह से साँड चलेगा, अनुगामिनी गाएँ, उसी के पीछे चलती हैं उसी तरह प्रजा निश्शंक एवं अविचल भाव से राजा के आचरण का अनुकरण करती है ।। ३९ ।।

तुम यह भी देखो—

यदि मैं अपनी रक्षा आप नहीं कर सकता तो फिर मुझसे रक्षा चाहने वाली प्रजा की क्या स्थिति होगी ।। ४० ।।

अतः प्रजा का हित, अपना धर्म और अपनी विमल कीर्त्ति को देखते हुए मैं अपने मन के वशीभूत होकर चलना नहीं चाहता; क्योंकि, मैं गायों के लिए साँड की तरह अपनी प्रजा का लोक नेता हूँ ।। ४१ ।।

राजा के इस तरह स्थिर होने पर अभिपारग ने प्रसन्नचित्त से राजा को [illegible]ाम किया और हाथ जोड़कर कहा—

आप जैसे रक्षक को पाकर निश्चय ही आपकी प्रजा निहाल है । अपने सुख की उपेक्षा कर धर्म में अनुरक्त आपकी तरह व्यक्ति तो तपस्वियों के बीच भी खोजना ही पड़ेगा ।। ४२ ।।

महाराज में महान् विशेषण आप जैसे लोगों के लिए ही उपयुक्त हैं । क्योकि किसी गुणहीन व्यक्ति में गुण का आधान तो प्रकारान्तर से उसकी कठोर निन्दा ही है ।। ४३ ।।

जैसे समुद्र रत्नाकर है उसी तरह आप भी गुणों की खान हैं । फिर आपके काम से मैं चकित या विस्मित क्यों होऊँ ? ।। ४४ ।।

तदेवं तीव्रदुःखातुराणामपि सतां नीचमार्गनिष्प्रणयता भवति स्वधैर्यविष्टम्भात् स्वभ्यस्तधर्मसञ्ज्ञत्वाच्चेति धैर्यधर्माभ्यासे च योगः कार्य इति।

इति उन्मादयन्ती-जातकं त्रयोदशम् ।

अत्यधिक आन्तरिक पीड़ा को पीकर सज्जन अपने धीरज को नहीं खोते । अपने धर्माभ्यास के कारण नीचों की राह पर नहीं चलते । अतः सबों को धैर्य और धर्म के अभ्यास में ही प्रयत्न करना चाहिए ।

उन्मादयन्ती जातक तेरहवाँ समाप्त ।

---

(१४) सुपारग-जातकम्

धर्माश्रयं सत्यवचनमप्यापदं नुदति प्रागेव तत्फलमिति धर्मानुवर्तिना भवितव्यम् । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वभूतः किल महासत्त्वः परमनिपुणमतिर्नौसारथिर्बभूव । धर्मता ह्येषा बोधिसत्त्वानां प्रकृतिमेधावित्वाद्यदुत यं यं शास्त्रातिशयं जिज्ञासन्ते कलाविशेषं वा तस्मिंस्तस्मिन्नधिकतरा भवन्ति मेधाविनो जगतः । अथ स महात्मा विदितज्योतिर्गतित्वाद्दिग्विभागेष्वसमूढमतिः परिविदितनियतागन्तु-कौत्पातिकनिमित्तः कालाकालक्रमकुशलो मीनतोयवर्णभौमप्रकारशकुनिपर्व-तादिभिश्चिह्नैः सूपलक्षितसमुद्रदेशः स्मृतिमान्विजिततन्द्रीनिन्द्रः शीतोष्णवर्षा-दिपरिखेदसहिष्णुरप्रमादी धृतिमानाहरणापहरणकुशलत्वादीप्सितं देशं प्राप-यिता वणिजामासीत् । तस्य परमसिद्धयात्रत्वात्सुपारग इत्येव नाम बभूव । तदध्युषितं च पत्तनं सुपारगमित्येवाख्यातमासीत् । यदेतर्हि सूपारगमिति ज्ञायते । सोऽपि मङ्गलसम्मतत्वाद् वृद्धत्वेऽपि सांयात्रिकैर्यात्रासिद्धिकामैर्वह-नमभ्यर्थनसत्कारपुरःसरमारोप्यते स्म ।

---

१४. सुपारग-जातक

धर्म की दुहाई देकर कही गई सच्ची बात भी विपत्ति को टाल देती है, फिर तो धर्म को अपने आचरण में उतारने वालों का क्या कहना ? अतः धर्म करना चाहिए । इस कथा से भी यह बात प्रमाणित होती है ।

एक बार महापुरुष बोधिसत्त्व ने एक कुशल नाविक के घर जन्म लिया । प्रकृति से मेधावी बोधिसत्त्व का यह स्वभाव था कि वे जिस किसी कला या शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करना चाहते उसमें अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक प्रवीण हो जाते । ये महात्मा ग्रह-नक्षत्रों की गति से अवगत थे । अतः वे कभी दिग्भ्रमित हुए ही नहीं । आने वाले उपद्रवों का आभास उन्हें पहले से हो जाता था । सुकाल और दुष्काल की पहचान में वे प्रवीण थे । समुद्र की अच्छाई और बुराई का पता वे मछली, पानी का रंग, धरती का प्रकार पक्षी या पर्वत को देखकर लगा लेते थे । वे सदैव जागरूक रहते थे । आलस्य और नींद पर उन्होंने विजय पा ली थी । सर्दी, गर्मी या वर्षा से उत्पन्न कष्ट को झेलने की उनमें क्षमता थी । वे सावधान और गंभीर पुरुष थे । आहरण एवं अपहरण में माहिर होने के कारण व्यापारियों को अभीप्सित स्थान में आसानी से पहुँचा देते थे । सागर-यात्रा में सिद्ध होने के कारण लोग उन्हें 'सुपारग' कहते थे । वे जिस नगर में निवास करते थे उसे भी लोग 'सुपारग' ही कहते थे । आज भी वह नगर 'सुपारग' के नाम से विख्यात है । समुद्र-यात्रा में सफलता चाहने वाले समुद्री व्यापारी इन्हें वृद्धावस्था में भी अनुनय और आदर के साथ मंगल की कामना से अपने-अपने जलयान में चढ़ा लेते थे ।

अथ कदाचिद्भरुकच्छादभिप्रयाताः सुवर्णभूमिवणिजो यात्रासिद्धिकामाः सुपारगं पत्तनमुपेत्य तं महासत्त्वं वहनारोहणार्थमभ्यर्थयामासुः। स तानुवाच—

जराज्ञया संह्रियमाणदर्शने श्रमाभिपातैः प्रतनूकृतस्मृतौ।
स्वदेहकृत्येऽप्यवसन्नविक्रमे सहायता का परिशङ्क्यते मयि।। १ ।।

वणिज ऊचुः—विदितेयमस्माकं युष्मच्छरीरावस्था। सत्यपि च वः पराक्रमासहत्वे नैवं वयं कर्मविनियोगेन युष्मानायासयितुमिच्छामः। किं तर्हि?

त्वत्पादपङ्कजसमाश्रयसत्कृतेन
मङ्गल्यतामुपगता रजसा त्वियं नौः।
दुर्गे महत्यपि च तोयनिधावमुष्मिन्
स्वस्ति व्रजेदिति भवन्तमुपागताः स्मः।। २ ।।

अथ स महात्मा तेषामनुकम्पया जराशिथिलशरीरोऽपि तद्वहनमारुरोह। तदधिरोहणाच्च प्रमुदितमनसः सर्व एव ते वणिजो बभूवुर्नियतमस्माकमुत्तमा यात्रासिद्धिरिति। क्रमेण चावजगाहिरे विविधमीनकुलविचरितमनिभृतजलकलकलारावमनिलबलविलासप्रविचलिततरङ्गं बहुविधरत्नैर्भूमिविशेषैरर्पितरङ्गं फेनावलीकुसुमदामविचित्रमसुरबलभुजगभवनं दुरापपातालमप्रमेयतोयं महासमुद्रम्।

एक बार सुवर्णभूमि के कुछ बनियों ने भरुकक्ष से चलकर सुपारग नगर तक पहुँचकर बोधिसत्त्व से अपने जहाज पर चढ़ने का आग्रह किया। वे अपनी यात्रा सफल करना चाहते थे। उन्होंने कहा—

बुढ़ौती के कारण मेरी आँखों की ज्योति क्षीण हो गई है। थकावट के कारण स्मृति भी अब ठीक नहीं रही। अपने दैहिक कामों को करने में भी मैं असमर्थ हूँ फिर भी आप मुझसे सहायता चाहते हैं? ।। १ ।।

बनियों ने कहा—हम आपकी शारीरिक अवस्था से अवगत हैं। आप शारीरिक कार्य-सम्पादन करने में भी असमर्थ हैं, हम यह भी जानते हैं। फिर हम आपको ऐसा कोई काम नहीं सौंपना चाहते जिससे आपको किसी तरह का कष्ट हो।

तो क्या?

वह यह कि आपकी चरण-धूलि के स्पर्श से मंगलमय होकर हमारी यह नाव इस दुर्गम सागर में भी सकुशल चले। इसीलिए हम आपके पास आये हैं ।। २ ।।

बुढ़ापे के कारण अत्यन्त शिथिल शरीर के बावजूद उस महात्मा ने बनियों पर कृपा कर, उनके जहाज पर सवार हो गये। उनके जहाज पर चढ़ते ही सभी व्यापारी आनन्द-विभोर हो उठे। उन्होंने मन-ही-मन सोचा कि इस यात्रा में उन्हें अच्छी सफलता मिलेगी। वे क्रमशः असुरों की नाग-सेना के निवास-स्थान, अतल-स्पर्श और असीम जलराशि महासागर में पहुँच गये। वहाँ विभिन्न प्रकार की मछलियाँ विचर

अथेन्द्रनीलप्रकराभिनीलं सूर्यांशुतापादिव खं विलीनम् ।
समन्ततोऽन्तर्हिततीरलेखमगाधमम्भोनिधिमध्यमीयुः ॥ ३ ॥

तेषां तत्रानुप्राप्तानां सायाह्नसमये मृदूभूतकिरणचक्रप्रभावे सवितरि महदौत्पातिकं परमभीषणं प्रादुरभूत् ।

विभिद्यमानोर्मिविकीर्णफेनश्चण्डानिलास्फालनभीमनादः ।
नैभृत्यनिर्मुक्तसमग्रतोयः क्षणेन रौद्रः समभूत् समुद्रः ॥ ४ ॥
उत्पातवाताकलितैर्महद्भिस्तोयस्थलैर्भीमरयैर्भ्रमद्भिः ।
युगान्तकालप्रचलाचलेव भूमिर्बभूवोग्रवपुः समुद्रः ॥ ५ ॥
विद्युल्लतोद्भासुरलोलजिह्वा नीला भुजङ्गा इव नैकशीर्षाः ।
आवव्रुरादित्यपथं पयोदाः प्रसक्तभीमस्तनितानुनादाः ॥ ६ ॥
घनैर्घनैरावृतरश्मिजालः सूर्यः क्रमेणास्तमुपारुरोह ।
दिनान्तलब्धप्रसरं समन्तात्तमो घनीभावमिवाजगाम ॥ ७ ॥
धाराशरैराच्छुरितोर्मिचक्रे महोदधावुत्पततीव रोषात् ।
भीतेव नौरभ्यधिकं चकम्पे विषादयन्ती हृदयानि तेषाम् ॥ ८ ॥

कर रही थीं । सागर अशान्त था । जल 'कलकल' ध्वनि कर रहा था । वायुवेग के स्पर्श से तरंगें चंचल हो रहीं थीं । सागर अनेक तरह के रत्नों से भरी-पूरी जगहों से रंग गया था और फेनरूपी फूलों की मालाओं से सुशोभित हो रहा था ।

अब वे अथाह मध्यसागर में थे । चारों ओर कहीं कोई किनारा दिखलाई नहीं पड़ता था । समुद्र का वह मध्यभाग इन्द्रनीलमणि की तरह नीला था । सूर्य की तप्त किरणों से पिघले आकाश की तरह वह प्रतीत हो रहा था ॥ ३ ॥

जिस समय वे वहाँ पहुँचे—दिन ढल चुका था, सूर्य की किरणें कोमल होने लगी थीं, फिर भी किसी भारी उत्पात का लक्षण प्रकट हुआ ।

उत्ताल तरंगों के टूटने से चारों ओर फेन फैल गया । प्रबल वायु-वेग से डरावनी आवाजें सुनाई पड़ने लगीं । जलराशि पछाड़-पर-पछाड़ खाने लगी । देखते-देखते समुद्र का रूप भयानक हो गया ॥ ४ ॥

विस्फूर्जित जलोर्मि सैलाब के कारण चक्कर काटने लगी । प्रलयकाल में काँपते पर्वतों वाली धरती की तरह सागर ने अपना उग्र रूप धारण कर लिया ॥ ५ ॥

बिजली की तरह चंचल और चमकीली जीभ वाले, अनेक फणों से युक्त काले-नाग की तरह काले-काले बादल सूर्य की राह रोककर गरजने लगे ॥ ६ ॥

सघन बादलों में सूर्य की किरणें छिप गईं । दिनान्त में चतुर्दिक् प्रसरित अन्धकार मानों उसी बादल में विलीन हो गये ॥ ७ ॥

जलधारारूपी तीरों से तरंगों के बिंधने पर मानों क्रुद्ध समुद्र ऊपर की ओर उठने लगा । यात्रियों के हृदय को शोकाकुल करते हुए जहाज मानों भयभीत होकर काँपने लगा ॥ ८ ॥

ते त्रासदीनाश्च विषादमूका धीराः प्रतीकारससम्भ्रमाश्च ।
स्वदेवतायाचनतत्पराश्च भावान्यथा सत्त्वगुणं विवव्रुः ॥ ९ ॥

अथ ते सांयात्रिकाः पवनबलचलितसलिलवेगवशगया नावा परिभ्रम्यमाणा बहुभिरप्यहोभिर्नैव कुतश्चित्तीरं ददृशुर्न च यथेप्सितानि समुद्रचिह्नानि । अपूर्वैरेव तु समुद्रचिह्नै रभिवर्धमानवैमनस्या भयविषादव्याकुलतामुपजग्मुः । अथ तान् सुपारगो बोधिसत्त्वो व्यवस्थापयन्नुवाच—अनाश्चर्यं खलु महासमुद्रमध्यमवगाढानामौत्पातिकक्षोभपरिक्लेशः तदलमत्रभवतां विषादानुवृत्त्या । कुतः ?

नापत्प्रतीकारविधिर्विषादस्तस्मादलं दैन्यपरिग्रहेण ।
धैर्यात्तु कार्यप्रतिपत्तिदक्षाः कृच्छ्राण्यकृच्छ्रेण समुत्तरन्ति ॥ १० ॥
विषाददैन्यं व्यवधूय तस्मात्कार्यावकाशं क्रियया भजध्वम् ।
प्राज्ञस्य धैर्यज्वलितं हि तेजः सर्वार्थसिद्धिग्रहणाग्रहस्तः ॥ ११ ॥

तद्यथाधिकारावहिता भवन्तु भवन्तः । इति ते सांयात्रिकास्तेन महात्मना धीरीकृतमनसः कूलदर्शनोत्सुकमतयः समुद्रमवलोकयन्तो ददृशुः पुरुषविग्रहानामुक्तरूप्यकवचातिवोन्मज्जतो निमज्जतश्च । सम्यक् चैषामाकृतिनिमित्तमुपधार्य सविस्मयाः सुपारगाय न्यवेदयन्त—अपूर्वं खल्विदमिह महासमुद्रे चिह्नमुपलभ्यते । एते खलु—

सभी यात्री धीर थे, फिर भी भय से कातर, शोक से चुप और विपत्ति के प्रतीकार में असमर्थ थे । अपने-अपने स्वभाव के अनुसार अपने इष्टदेव को मनाते हुए उन्होंने अपने आन्तरिक भावों को व्यक्त किया ॥ ९ ॥

वायु-वेग से चंचल जलराशि की छाती पर जहाज चक्कर काट रहा था । व्यापारियों के लिए वहाँ न तो बचाव का कोई साधन था और न उन्हें कोई किनारा ही दीखता था । वे भय और विषाद से व्याकुल थे । तब उन्हें धीरज बँधाते हुए बोधिसत्त्व ने कहा—मध्यसागर में पहुँचने पर ऐसा होता ही है । इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है । इस पर आप लोगों का इस तरह घबड़ाना व्यर्थ है । क्योंकि—

विपत्ति का प्रतीकार विषाद नहीं है । अतः उदास होना बेकार है । काम में सुदक्ष व्यक्ति अपने धैर्य के बल पर अनायास ही विपत्सागर को पार कर जाता है ।

अतः अवसाद और विषाद को छोड़कर आप लोग अपना काम करें । बुद्धिमानों का धैर्य एवं प्रज्वलित पराक्रम सारी सिद्धियों को ग्रहण करने के लिए हाथ का अगला हिस्सा है ॥ ११ ॥

अतः आप सभी अपने-अपने काम में सावधान हो जायँ । इस तरह सुपारग द्वारा शान्त किये जाने पर उन्होंने किनारे देखने की उत्सुकता से देखा कि समुद्र में चाँदी के कवच पहने हुए पुरुष आकृति के प्राणी गोता-खोरी कर रहे हैं । उन्हें ठीक

आमुक्तरूप्यकवचा इव दैत्ययोधा
घोरेक्षणाः खुरनिकाशविरूपघोणाः ।
उन्मज्जनावतरणस्फुरणप्रसङ्गात्
क्रीडामिवार्णवजलेऽनुभवन्ति केऽपि ॥ १२ ॥

सुपारग उवाच—नैते मानुषा अमानुषा वा, मीना खल्वेते। यतो न भेतव्यमेभ्यः । किन्तु—

सुदूरपमकृष्टाः स्मः पत्तनद्वितयादपि ।
खुरमाली समुद्रोऽयं तद्यतध्वं निवर्तितुम् ॥ १३ ॥

चण्डवेगवाहिना सलिलनिवहेनैकान्तहरेण च पाश्चात्त्येन वायुना समाक्षिप्तया नावा न ते सांयात्रिकाः शेकुर्विनिर्वर्तितुम्। अथावगाहमानाः क्रमेण रूप्यप्रभावभासितमनीलफेननिचयपाण्डुरमपरं समुद्रमालोक्य सविस्मयाः सुपारगमूचुः—

स्वफेनमग्नैरिव कोऽयमम्बुभिर्महार्णवः शुक्लदुकूलवानिव ।
द्रवानिवेन्दोः किरणान्समुद्वहन्समन्ततो हास इव प्रसर्पति ॥ १४ ॥

सुपारग उवाच—कष्टम् ! अतिदूरं खल्ववगाह्यते ।

से पहचान न पाने के कारण आश्चर्यचकित होकर व्यापारियों ने सुपारग से इनके बारे में पूछा । महासागर में ये निश्चय ही अपूर्व सत्त्व हैं—

चाँदी के कवच पहने दैत्य योद्धाओं की तरह विकराल आँख वाले, जानवर के खुर की तरह चिपटी नाक वाले प्राणी लगातार गोता लगाकर मानों जलक्रीड़ा कर रहे हैं ॥ १२ ॥

सुपारग ने कहा—इनसे डरना नहीं है, ये न तो राक्षस हैं और न मनुष्य ही; ये मछली हैं । किन्तु हम लोग बहाव में पड़कर नगरों से बहुत आगे बढ़ गये हैं । यह खुरमाली नामक समुद्र है । यहाँ से लौटने का प्रयास करें ॥ १३ ॥

पछुवा पवन और तेज धारा के अधीन जहाज नाविकों के नियंत्रण से बाहर था । अतः उनके लिए लौटना असंभव था । जहाज क्रमशः भीतर की ओर बढ़ता गया । आगे बढ़ने पर उन्होंने एक दूसरा ही श्वेतसागर देखा, जो चाँदी की तरह चमक रहा था और सफेद फेन-पुंज से अति उज्ज्वल लग रहा था । उन्होंने आश्चर्यचकित होकर सुपारग से पूछा—

यह कौन-सा समुद्र है ? श्वेत फेन से आवृत होने के कारण लगता है इसने श्वेतवस्त्र धारण किया ही । द्रवीभूत चन्द्रकिरणों को धारण करने के कारण खिलखिलाकर हँसते हुए चारों ओर फैला है ॥ १४ ॥

सुपारग ने कहा—हाय, हाय, हम तो बहुत आगे निकल आये हैं ।

क्षीरार्णव इति ख्यात उदधिर्दधिमाल्यसौ ।
क्षमं नातः परं गन्तुं शक्यते चेन्निवर्तितुम् ।। १५ ।।

वणिज ऊचुः—न खलु शक्यते विलम्बयितुमपि वहनं कुत एव सन्निवर्तयितुमतिशीघ्रवाहित्वाद्वहनस्य प्रतिकूलत्वाच्च मारुतस्येति ।

अथ व्यतीत्य तमपि समुद्रं सुवर्णप्रभानुरञ्जितप्रचलोर्मिमालमग्निज्वालकपिलसलिलमपरं समुद्रमालोक्य सविस्मयकौतूहलास्ते वणिजः सुपारगं प्रपच्छुः—

बालार्कलक्ष्म्येव कृताङ्गरागैः समुन्नमद्भिः सलिलैरनीलैः ।
ज्वलन्महानग्निरिवावभाति को नाम तस्माच्च महार्णवोऽयम् ।। १६ ।।

सुपारग उवाच—

अग्निमालीति विख्यातः समुद्रोऽयं प्रकाशते ।
अतीव खलु साधु स्यान्निवर्तेमहि यद्यतः ।। १७ ।।

इति स महात्मानाममात्रमकथयत्तस्य सरित्पतेर्न तोयवैवर्ण्यकारणं दीर्घदर्शित्वात् । अथ ते सांयात्रिकास्तमपि समुद्रमतीत्य पुष्परागेन्द्रनीलप्रभोद्योतितसलिलं परिपक्वकुशवननिकाशवर्णं समुद्रमालोक्य कौतूहलजाताः सुपारगं पप्रच्छुः—

यह तो क्षीरसागर है । इस स्थान का नाम 'दधिमाली' समुद्र है । अब इससे आगे बढ़ना उचित नहीं है । यदि लौट सकें तो यहाँ से लौट जाना चाहिए ।। १५ ।।

बनियों ने कहा—जहाज तेज धारा में फँसता जा रहा है । हवा भी प्रतिकूल ही बह रही है । इसे लौटाने की बात तो दूर, रोकना भी संभव नहीं है ।

जहाज धीरे-धीरे उस समुद्र को पारकर दूसरे समुद्र में प्रवेश कर गया । इसकी लाल तरंगें बड़ी चपल थीं । इसका रंग सुनहला था । आग की लपटों की तरह इसका पानी लाल लग रहा था । इस भूरे या सुनहले सागर को देखकर बनियों ने आश्चर्यचकित भाव से सुपारग से पुनः पूछा—

नीलिमारहित बालरवि की आभा के सदृश इस सागर का जल बहुत ऊँचा उठ रहा था । कृपया बतलायें महाअग्नि के सदृश जलता हुआ यह कौन सागर है ? ।।१६।।

इस पर सुपारग ने बतलाया—

यह अग्निमाली सागर है । अच्छा हो, अब हम यहाँ से लौट चलें ।। १७ ।।

उस महात्मा ने समुद्र का नाम तो बतला दिया, किन्तु उसके रंग का कारण नहीं बतलाया । फिर इस समुद्र को पारकर उन्होंने ऐसे समुद्र को देखा जिसका पानी पुष्पराग और इन्द्रनील की प्रभा से प्रदीप्त था । उसका रंग पके कुश के जंगल जैसा था । कौतूहलवश उन बनियों से सुपारग से फिर पूछा—

परिणतकुशपर्णवर्णतोयः सलिलनिधिः कतमो न्वयं विभाति ।
सकुसुम इव फेनभक्तिचित्रैरनिलजवाकलितैस्तरङ्गभङ्गैः ॥ १८ ॥

सुपारग उवाच—भोः सार्थवाहा निवर्तनं प्रति यत्नः क्रियताम् । न खल्वतः क्षमते परं गन्तुम् ।

कुशमाली समुद्रोऽयमत्यङ्कुश इव द्विपः ।
प्रसह्यासह्यसलिलो हरन्हरन्ति नो रतिम् ॥ १९ ॥

अथ ते वाणिजकाः परेणापि यत्नेन निवर्तयितुमशक्नुवन्तस्तमपि समुद्रमतीत्य वंशरागवैडूर्यप्रभाव्यतिकरहरितसलिलमपरं समुद्रमालोक्य सुपारगमपृच्छन्—

मरकतहरितप्रभैर्जलैर्वहति नवामिव शाद्वलश्रियम् ।
कुमुदरुचिरफेनभूषणः सलिलनिधिः कतमोऽयमीक्ष्यते ॥ २० ॥

अथ स महात्मा तेन बणिग्जनस्य व्यसनोपनिपातेन दह्यमानहृदयो दीर्घमुष्णमभिनिश्वस्य शनैरुवाच—

अतिदूरमुपेताः स्थ दुःखमस्मान्निर्वर्तितुम् ।
पर्यन्त इव लोकस्य नलमाल्येष सागरः ॥ २१ ॥

तच्छ्रुत्वा ते वाणिजका विषादोपरुध्यमानमनसो विस्रस्यमानगात्रोत्साहा निश्वसितमात्रपरायणास्तत्रैव निषेदुः । व्यतीत्य च तमपि समुद्रं सायाह्न-

---

इस समुद्र का क्या नाम है ? इसके पानी का रंग पके कुश के पत्तों जैसा क्यों है ? वायु वेग से उठती इसकी लहरें फेनिल होने के कारण चित्र-विचित्र फूलों की तरह क्यों हैं ? ॥ १८ ॥

सुपारग ने कहा—व्यापारियों, लौटने की कोशिश करो। इससे आगे बढ़ना बिल्कुल ठीक नहीं है।

इस समुद्र का नाम कुशमाली है। यह निरंकुश गजराज की तरह अपने प्रचण्ड वेग से हमें बहाता हुआ हमारे जीवन की खुशियाँ छीन रहा है ॥ १९ ॥

बहुत परिश्रम के बावजूद ये व्यापारी अपना जहाज नहीं लौटा सके। जहाज क्रमशः इस सागर को भी पारकर दूसरे समुद्र में पहुँच गया। इसका जल वंशराग और वैदूर्यमणि की कान्ति के सदृश हरा था। फिर उन्होंने पूछा—

यह कौन सागर है ? मरकतमणि की तरह इसका पानी हरा है। नई दूबों की तरह यह श्यामल है। इसका फेन कुमुद के फूलों की तरह शोभ रहा है ॥ २० ॥

उन व्यापारियों को आसन्न विपत्ति में देखकर उनका हृदय काँप उठा। उसाँसें लेते हुए सुपारग ने धीरे-धीरे कहा—

अब आप लोग इतनी दूर आ गये हैं, जहाँ से लौटना असंभव है। यह नलमाली सागर संसार की अन्तिम सीमा है ॥ २१ ॥

यह सुनकर व्यापारियों का मन विषाद से भर गया। उनकी सारी स्फूर्त्ति समाप्त

समये विलम्बमानरश्मिमण्डले सलिलनिधिमिव प्रवेष्टुकामे दिवसकरे समुद्व- र्तमानस्येव सलिलनिधेरशनीनामिव च सम्पततां वेणुवनानामिव चाग्निपरि- गतानां विस्फुटतां तुमुलमतिभीषणं श्रुतिहृदयविदारणं समुद्रध्वनिमश्रौषुः। श्रुत्वा च सन्त्रासवशगाः स्फुरन्मनसः सहसैवोत्थाय समन्ततोऽनुविलोकयन्तो ददृशुः प्रपात इव श्वभ्र इव च महति तमुदकौघं निपतन्तम्। दृष्ट्वा च परमभयविषादविह्वलाः सुपारगमुपेत्योचुः—

निर्भिन्दन्निव नः श्रुतीः प्रतिभयश्चेतांसि मथ्नन्निव
क्रुद्धस्येव सरित्पतेर्ध्वनिरयं दूरादपि श्रूयते।
भीमे श्वभ्र इवार्णवस्य निपतत्येतत्समग्रं जलं
तत्कोऽसावुदधिः किमत्र च परं कृत्यं भवान्मन्यते॥ २२॥

अथ स महात्मा ससम्भ्रमः कष्टं कष्टमित्युक्त्वा समुद्रमालोकयन्नुवाच—

यत्प्राप्य न निवर्तन्ते मृत्योर्मुखमिवामुखम्।
अशिवं समुपेताः स्थ तदेतद्वडवामुखम्॥ २३॥

तदुपश्रुत्य ते वाणिजका वडवामुखमुपेता वयमिति त्यक्तजीविताशा मरण- भयविक्लवीभूतमनसः।

हो गई। वे केवल उसाँसें छोड़ रहे थे। धीरे-धीरे उन्होंने उस समुद्र को भी पार कर लिया। दिन ढल गया। अपनी ढलती किरणों के साथ सूर्य समुद्र में प्रवेश करना ही चाह रहा था, कि सागर का भीषण गर्जन सुनाई पड़ने लगा। लगता था कि कहीं पास की वज्रपात हो रहा हो या भीषण आग की चपेट में बाँस के जंगल का हृदय-विदारक शब्द हो रहा हो। इस आवाज से वे सभी डर गये। उनका दिल दहल उठा। घबड़ाकर उन्होंने चारों ओर देखना शुरू किया। उन्होंने देखा कि विशाल जल-समूह पछाड़-पर-पछाड़ खा रहा है। ये जलराशि विशाल जल-प्रपात की तरह किसी खन्दक में गिरती जैसी लग रही थी। यह देखकर वे व्यापारी अधीर हो उठे। उनका मन विषाद से भर गया। भय से विह्वल होकर सुपारग के पास जाकर उन्होंने फिर पूछा—

समुद्र का गर्जन हमारे कानों को फाड़ रहा है, हमारी छाती को चीर रहा है। इसका यह घोर गर्जन दूर से ही सुनाई पड़ रहा है। लगता है इस क्षुब्ध सागर का सारा जल किसी गर्त्त में गिर रहा है। कृपया बतलायें यह कौन सागर है? ॥२२॥

यह सुनते ही उस महात्मा ने कहा—'हा कष्ट!' फिर समुद्र की ओर देखते हुए कहा—

आप लोग अब इस अमङ्गलकारी बड़वामुख में पहुँच गये हैं। यह तो मृत्यु का द्वार है। यहाँ पहुँचकर कोई लौट नहीं सकता॥ २३॥

हम बड़वामुख में पहुँच गये—यह सुनते ही उन व्यापारियों ने जीने की आशा छोड़ दी। वे मृत्यु के डर से व्याकुल हो उठे।

सस्वरं रुरुदुः केचिद्विलेपुरथ चुक्रुशुः।
न किञ्चित्प्रत्यपद्यन्त केचित्त्रासविचेतसः ॥ २४ ॥
विशेषतः केचिदभिप्रणेमुर्देवेन्द्रमार्तिप्रहतैर्मनोभिः।
आदित्यरुद्रांश्च मरुद्वसूंश्च प्रपेदिरे सागरमेव चान्ये ॥ २५ ॥
जेपुश्च मन्त्रानपरे विचित्रानन्ये तु देवीं विधिवत्प्रणेमुः।
सुपारगं केचिदुपेत्य तत्तद्विचेष्टमानाः करुणं विलेपुः ॥२६ ॥
आपद्गतत्रासहरस्य नित्यं परानुकम्पागुणसम्भृतस्य।
अयं प्रभावातिशयस्य तस्य तवाभ्युपेतो विनियोगकालः ॥ २७ ॥
आर्ताननाथञ्छरणागतान्नस्त्वं त्रातुमावर्जय धीरचेतः।
अयं हि कोपाद्वडवामुखेन चिकीर्षति ग्रासमिवार्णवोऽस्मान् ॥ २८ ॥
नोपेक्षितुं युक्तमयं जनस्ते विपद्यमानः सलिलौघमध्ये।
नाज्ञां तवात्येति महासमुद्रस्तद्वार्यतामप्रशमोऽयमस्य ॥ २९ ॥

अथ स महात्मा महत्या करुणया समापीड्यमानहृदयस्तान्वाणिजकान्व्यवस्थापयन्नुवाच—अस्त्यत्रापि नः कश्चित्प्रतीकारविधिः प्रतिभाति। तत्तावत्प्रयोक्ष्ये। यतो मुहूर्तं धीरास्तावद् भवन्तु भवन्त इति। अथ ते वाणिजका अस्त्यत्रापि किल प्रतीकारविधिरित्याशया समुपस्तम्भितधैर्यास्तदवहितमन-

---

कुछ लोग जोर-जोर से रोने-चिल्लाने लगे। कुछ बेहोश हो गये और कुछ किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो गये ॥ २४ ॥

कुछ ने आर्त्तभाव से देवेन्द्र की पूजा शुरू की और कुछ ने आदित्य, रूद्र, मरुत और सागर की ही शरण ली ॥ २५ ॥

कुछ ने मंत्रों का जप आरम्भ किया, तो कुछ ने देवी की विधिवत् पूजा आरम्भ की। कुछ सुपारग के पास पहुँचकर अनेक चेष्टाओं को दिखलाते हुए विलाप करने लगे ॥ २६ ॥

आप तो सदैव दूसरों पर दया करने वाले हैं। विपत्ति में पड़े लोगों को अभय देने वाले हैं। आपके लोकोत्तर प्रभाव का उपयोग करने का सही समय तो यही है।

हे धीर ! हम दुखियों, अनाथों और शरणागतों की अब आप रक्षा करें। यह क्षुब्ध सागर बड़वा मुख से अब हमें निगलना ही चाहता है ॥ २८ ॥

इस अथाह जलसागर के बीच हम मृत्यु के मुँह में हैं। हमारी उपेक्षा आपके लिए उचित नहीं है। यह महासागर भी आपकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता। आप इसके क्रोध को शान्त करें ॥ २९ ॥

यह सुनकर उस महात्मा का हृदय करुणा से भर आया। उन्हें शान्त्वना देते हुए उन्होंने कहा—लगता है अब भी हमारी रक्षा का कोई उपाय शेष है। मैं उपाय निकालूंगा। एक क्षण आप लोग धैर्य रक्खें। 'अब भी जीने का उपाय शेष है'—यह जानकर उन बनियों को ढाढ़स बँधा। उनकी ओर टकटकी लगाकर वे चुप हो

सस्तूष्णीं बभूवुः। अथ सुपारगो बोधिसत्त्व एकांसमुत्तरासङ्गं कृत्वा दक्षिणेन जानुमण्डलेनाधिष्ठाय नावं समावर्जितसर्वभावः प्रणम्य तथागतेभ्यस्तान्सांयात्रिकानामन्त्रयते स्म। शृण्वन्त्वत्र भवन्तः सांयात्रिका सलिलनिधिव्योमाश्रयाश्च देवविशेषाः—

स्मरामि यत आत्मानं यतः प्राप्तोऽस्मि विज्ञताम्।
नाभिजानामि सञ्चिन्त्य प्राणिनं हिंसितुं क्वचित्॥ ३०॥
अनेन सत्यवाक्येन मम पुण्यबलेन च।
वडवामुखमप्राप्य स्वस्ति नौर्विनिवर्तताम्॥ ३१॥

अथ तस्य महात्मनः सत्याधिष्ठानबलात्पुण्यतेजसा सह सलिलजवेन स मारुतो व्यावर्तमानस्तां नावं निवर्तयामास। निवृत्तां तु तां नावमभिसमीक्ष्य ते वाणिजकाः परमविस्मयप्रहर्षोद्धतमानसा निवृत्ता नौरिति प्रणामसभाजनपुरःसरं सुपारगाय न्यवेदयन्त। अथ स महात्मा तान्वाणिजकानुवाच—स्थिरीभवन्तु भवन्तः शीघ्रमारोप्यन्तां शीतानि। इति च तेन समादिष्टाः प्रमोदादुद्भूतबलोत्साहास्ते तदधिकृतास्तथा चक्रुः।

अथ मुदितजनप्रहासनादा प्रविततपाण्डुरशीतचारुपक्षा।
सलिलनिधिगता रराज सा नौर्गतजलदे नभसीव राजहंसी॥ ३२॥

गये। तब सुपारग ने कंधे पर एक चादर रख ली। फिर दाहिने घुटने को जहाज पर टेककर सर्वप्रथम 'तथागत' का ध्यान करते हुए उन्हें प्रणाम किया। फिर उन घबड़ाये व्यापारियों को सम्बोधित करते हुए कहा—'आप मान्य व्यापारियों तथा समुद्र के ऊपर आकाश में रहने वाले देवगण सुनें।'

मैं याद करता हूँ, मुझे जब से होश हुआ है, मैंने कभी किसी प्राणी की हिंसा नहीं की है॥ ३०॥

यदि यह सच है तो मेरे पुण्यबल से बड़वामुख में प्रवेश किये बिना यह जहाज सकुशल लौट जाय॥ ३१॥

तब उस महात्मा के पुण्यबल से सहसा समुद्र की धारा दूसरी दिशा की ओर मुड़ गई। प्रतिकूल हवा भी अनुकूल हो गई। अब जहाज को विपरीत दिशा की ओर बढ़ते देखकर व्यापारियों के मन में खुशी का ठिकाना न रहा। उन्होंने आश्चर्यान्वित होकर सभक्ति सुपारग को प्रणामकर सम्मानपूर्वक निवेदन किया—'जहाज लौट चला।' तब उस महात्मा ने कहा—आप लोग स्थिर होकर पाल ऊपर खींचे। आदेश मिलते ही अधिकारियों ने तत्क्षण उसका पालन किया। उनकी देह में शक्ति और उत्साह भर गया।

तब उस सफेद पाल के सुन्दर पंख फैल गये। प्रसन्न यात्रियों की हँसी से आकाश गूँजने लगा। समुद्र की छाती पर वह जहाज वैसे ही चल रहा था जैसे मेघ-मुक्त आकाश में उड़ता हुआ राजहंस हो॥ ३२॥

निवृत्तायां तु तस्यां नाव्यनुकूलसलिलमारुतायां विमानलीलया स्वेच्छयैव चाभिप्रयातायां नातिश्यामीभूतसन्ध्याङ्गरागासु प्रवितन्यमानतमोवितानास्वालक्षितनक्षत्रभूषणासु दिक्षु किञ्चिदवशेषप्रभे दिवसकरमार्गे प्रवृत्तक्षणदाधिकारे सुपारगस्तान्वाणिजकानुवाच—भोः सार्थवाहा नलमालिप्रभृतिभ्यो यथादृष्टेभ्यः समुद्रेभ्यो बालुकाः पाषाणश्च वहनमारोप्यन्तां यावत्सहते। एवमिदं यानपात्रं निर्घातभराक्रान्तं न च पार्श्वानि दास्यति, मङ्गलसम्मताश्चैते बालुकापाषाणा नियतं लाभसिद्धये वो भविष्यन्तीति। अथ ते सांयात्रिकाः सुपारगप्रेमबहुमानावर्जितमतिभिर्देवताभिरनुप्रदर्शितेभ्यः स्थलेभ्य आदाय बालुकापाषाणबुद्ध्या वैडूर्यादीनि रत्नानि वहनमारोपयामासुः। तेनैव चैकरात्रेण सा नौर्भरुकच्छमुपजगाम।

अथ प्रभाते रजतेन्द्रनीलवैडूर्यहेमप्रतिपूर्णनौकाः।
स्वदेशतीरान्तमुपागतास्ते प्रीत्या तमानर्चुरुदीर्णहर्षाः॥ ३३॥

तदेवं धर्माश्रयं सत्यवचनमप्यापदं नुदति प्रागेव तत्फलमिति धर्मानुवर्तिना भवितव्यम्। कल्याणमित्राश्रयवर्णेऽपि वाच्यमेवं कल्याणमित्राश्रिताः श्रेयः प्राप्नुवन्तीति।

इति सुपारग-जातकं चतुर्दशकम्।

अनुकूल हवा और प्रवाह में लौटता जहाज विमान की तरह चल रहा था। सांध्यवेला की लाली मिट गई थी। अन्धकार का चंदोवा चारों ओर फैलता जा रहा था। आकाश के आभूषण नक्षत्र कुछ दीखने लगे थे। सूर्य की प्रभा भी कुछ शेष थी। रात आरम्भ होने वाली ही थी कि सुपारग ने उन यात्रियों से कहा—आपने नलमाली आदि जिन समुद्रों को देखा था—उनसे यथेच्छ मात्रा में बालू और कंकड़ जहाज पर रख लें। वजन हो जाने पर तूफान भी जहाज को हिला नहीं सकेंगे। ये बालू और पत्थर मंगलमय हैं। इनसे आपको अवश्य लाभ होगा। सुपारग के प्रति प्रेम और सम्मान होने के कारण देवताओं ने उन स्थानों को बतला दिया जहाँ से यात्रियों ने वैदूर्यादि बहुमूल्य रत्नों को बालू-पत्थर समझकर उठा लिया था। उस एक ही रात में जहाज भरुकच्छ पहुँच गया।

प्रभात होने पर सोना, चाँदी और बहुमूल्य रत्नों से भरे जहाज को लेकर वे लोग अपने देश के समुद्र तट पर पहुँच गये। प्रेम-विह्वल होकर उन्होंने उस सुपारग की पूजा की॥ ३३॥

इस तरह धर्माश्रित सत्य-वचन विपत्ति को टालता है। फिर धर्माचरण के फल का क्या कहना? कल्याणकारी मित्र के वर्णन के प्रसंग में यह कहना चाहिए। धार्मिक मित्र के साथ रहकर ही लोग कल्याण पाते हैं।

सुपारग जातक चौदहवाँ समाप्त।

---

(१५) मत्स्य-जातकम्

शीलवतामिहैवाभिप्रायः कल्याणाः समृध्यन्ति प्रागेव परत्रेति शीलविशुद्धौ प्रयतितव्यम् । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किल कस्मिश्चिन्नातिमहति कह्लार-तामरस-कमल-कुवलय विभूषितरुचिरसलिले हंस-कारण्डव चक्रवाक-मिथुनोपशोभिते तीरान्तरुहतरु-कुसुमावकीर्णे सरसि मत्स्याधिपतिर्बभूव । स्वभ्यस्तभावाच्च बहुषु जन्मान्त-रेषु परार्थचर्यायास्तत्रस्थोऽपि परहितसुखप्रतिपादनव्यापारो बभूव ।

अभ्यासयोगाद्धि शुभाशुभानि कर्माणि सात्म्येन भवन्ति पुंसाम् ।
तथाविधान्येव यदप्रयत्नाज्जन्मान्तरे स्वप्न इवाचरन्ति ॥ १ ॥

इष्टानामिव च स्वेषामपत्यानामुपरि निविष्टहार्दो महासत्त्वस्तेषां मीनानां दानप्रियवचनार्थचर्यादिक्रमैः परमनुग्रहं चकार ।

अन्योन्यहिंसाप्रणयं नियच्छन्परस्परप्रेम विवर्धयंश्च ।
योगादुपायज्ञतया च तेषां विस्मारयामास स मत्स्यवृत्तम् ॥ २ ॥
तत्तेन सम्यक्परिपाल्यमानं वृद्धिं परां मीनकुलं जगाम ।
पुरं विनिर्मुक्तमिवोपसर्गैर्न्यायप्रवृत्तेन नराधिपेन ॥ ३ ॥

---

१५. मत्स्य-जातक

शीलवानों की सदिच्छा इस संसार में ही पूरी हो जाती है, फिर लोकोत्तर की बात ही क्या ? अतः सदैव हमें आचार-शुद्धि के लिए प्रयास करना चाहिए । इसकी पुष्टि इससे भी होती है—

एक बार बोधिसत्त्व ने एक छोटे सरोवर में मत्स्य कुल में जन्म ग्रहण किया । उस तालाब का पानी कह्लार, कुईं, कमल और कुवलय के फूलों से सुशोभित था । किनारे के पेड़ फूलों से लदे थे । पानी में हंस, बत्तख और चकवा-चकई के जोड़े घूम रहे थे । जन्म-जन्मान्तर में परोपकार में अभ्यस्त होने के कारण मत्स्यरूप में भी वे सदैव परहित-साधन में संलग्न थे । वे मछलियों के राजा थे ।

सतत् अभ्यास से मनुष्य के भले-बुरे कर्म उसकी आत्मा के सहज स्वभाव बन जाते हैं । जन्मान्तर में वे कर्म स्वप्नानुभूति की तरह अनायास होते रहते हैं ॥ १ ॥

मछलियों को वे सन्तान की तरह मानते थे । दान, मधुर वचन एवं उपकार से उन पर सदैव अनुग्रह करते थे ।

पारस्परिक हिंसा को रोकते हुए आपसी प्रेम को बढ़ाकर, अपने उद्योग और नीतिकुशलता के कारण 'वे मछली हैं', इसे ही भुला दिया ॥ २ ॥

वस्तुतः न्याय-मार्ग पर चलने वाले राजा का राज्य जैसे उपद्रवमुक्त होकर

अथ कदाचित्सत्त्वानां भाग्यसम्पद्वैकल्यात्प्रमादाच्च वर्षाधिकृतानां देवपुत्राणां न सम्यग्देवो ववर्ष। अथासम्यग्वर्षिणि देवे तत्सरः फुल्लकदम्बकुसुमगौरेण नवसलिलेन न यथापूर्वमापुपूरे। क्रमेण चोपगते निदाघकालसमये पटुतरदीप्तिभिः खेदालसगतिभिरिव च दिनकरकिरणैस्तदभितप्तया च धरण्या ज्वालानुगतेनेव च ह्लादाभिलाषिणा मारुतेन तर्षवशादिव प्रत्यहमापीयमानं तत्सरः पल्वलीबभूव।

निदाघकाले ज्वलितो विवस्वञ्ज्वालाभिवर्षीव पटुश्च वायुः।
ज्वरातुरेवाशिशिरा च भूमिस्तोयानि रोषादिव शोषयन्ति॥ ४॥

अथ बोधिसत्त्वो वायसगणैरपि परितर्क्यमाणं प्रागेव सलिलतीरान्तचारिभिः पक्षिगणैर्विषाददैन्यवशगं विस्पन्दितमात्रपरायणं मीनकुलमवेक्ष्य करुणायमानश्चिन्तामापेदे। कष्टा बतेयमापदापतिता मीनानाम्।

प्रत्यहं क्षीयते तोयं स्पर्धमानमिवायुषा।
अद्यापि च चिरेणैव लक्ष्यते जलदागमः॥ ५॥
अपयानक्रमो नास्ति नेताप्यन्यत्र को भवेत्।
अस्मद्व्यसनसङ्कृष्टाः समायान्ति च नो द्विषः॥ ६॥

समृद्धि के शिखर पर पहुँच जाता है उसी तरह इनसे परिपालित मछलियाँ उस तालाब में काफी फूली-फलीं॥ ३॥

एक बार वहाँ वर्षाधिकारियों के प्रमाद से अथवा प्राणियों के दुर्भाग्य से वर्षा कम हुई। वृष्टि-जल के अभाव में उस पुष्पित तड़ाग के पानी कदम्ब के फूलों से पीताभजल से भरा नहीं। ग्रीष्मऋतु आने पर उस सरोवर का कुछ पानी तो सूर्य की श्लथ, मन्थर एवं तीक्ष्ण किरणें पी गईं, कुछ इन किरणों से संतप्त धरती सोख गई तथा शेष को ग्रीष्म की सूखी हवा ने सुखा दिया। फलतः क्रमशः सूख कर वह तलाब तलैया बन गया।

ग्रीष्मकाल में जलते सूर्य, आग की लपट बरसाने वाली हवा ज्वर पीड़ित जन की तरह संतप्त धरती मानों क्रुद्ध होकर पानी सोखती हैं॥ ४॥

उस सूखे सरोवर में दीन-विषण्ण मछलियाँ पानी के अभाव में छटपटाने लगीं। किनारे के पेड़ पर बैठे पक्षी उन्हें अपना आहार बनाने को सोचने लगे। उन्हें इस स्थिति में देखकर करुणा-द्रवित बोधिसत्त्व ने सोचा—'हाय, इन मछलियों पर कैसी दारुण विपत्ति आई?'

बादल के आने में अभी भी देर है, पर इस सरोवर का पानी तो मानों इनकी आयु से होड़ लगाकर रोज-रोज घटता ही जा रहा है॥ ५॥

यहाँ से भागने का कोई उपाय नहीं है, हमें हटाने वाला भी कोई नहीं है। हमारी विपत्ति से खिचकर हमारे दुश्मन पास पहुँच रहे हैं॥ ६॥

अस्य निःसंशयमिमे तोयशेषस्य सङ्क्षयात् ।
स्फुरन्तो भक्षयिष्यन्ते शत्रुभिर्मम पश्यतः ।। ७ ।।

तत्किमत्र प्राप्तकालं स्यादिति विमृशन्स महात्मा सत्याधिष्ठानमेकमार्तायनं ददर्श । करुणया च समापीडयमानहृदयो दीर्घमुष्णमभिनिश्वस्य नभः समुल्लोकयन्नुवाच —

स्मरामि न प्राणिवधं यथाहं सञ्चिन्त्य कृच्छ्रे परमेऽपि कर्तुम् ।
अनेन सत्येन सरांसि तोयैरापूरयन्वर्षतु देवराजः ।। ८ ।।

अथ तस्य महात्मनः पुण्योपचयगुणात्सत्याधिष्ठानबलात्तदभिप्रसादितदेवनागयक्षानुभावाच्च समन्ततस्तोयावलम्बिबिम्बा गम्भीरमधुरनिर्घोषा विद्युल्लतालङ्कृतनीलविपुलशिखरा विजृम्भमाणा इव प्रविसर्पिभिः शिखरभुजैः परिष्वजमाना इव चान्योन्यमकालमेघाः कालमेघाः प्रादुरभवन् ।

दिशां प्रमिण्वन्त इव प्रयामं शृङ्गैर्वितन्वन्त इवान्धकारम् ।
नभस्तलादर्शगता विरेजुश्छाया गिरीणामिव कालमेघाः ।। ९ ।।
संसक्तकेकैः शिखिभिः प्रहृष्टैः संस्तूयमाना इव नृत्तचित्रैः ।
प्रसक्तमन्द्रस्तनिता विरेजुर्धीरप्रहासादिव ते घनौघाः ।। १० ।।

पानी सूखते ही शत्रु आकर मेरी आँखों के सामने ही इन तड़पती मछलियों को खा जायेंगे ।। ७ ।।

'तो फिर इस समय क्या करना चाहिए' यह सोचते हुए उस महान् आत्मा ने देखा कि सत्य का प्रभाव ही इन पीड़ित प्राणियों का एकमात्र सहारा होगा । उनका हृदय करुणा से भर आया । गर्म और लम्बी साँसे छोड़ते हुए आकाश की ओर देखकर उन्होंने कहा—

बहुत याद करने पर भी मुझे याद नहीं आता कि कठोर विपत्ति में भी कभी मैंने किसी प्राणी की हिंसा की है । यदि यह सच है तो उसके प्रभाव से देवराज पानी बरसाकर तलाबों को भर दें ।। ८ ।।

इतना कहना था कि उनके पुण्य-प्रभाव से सत्य की शक्ति से प्रसन्न किये गये देवों, नागों और यक्षों के अनुभाव से असमय ही आकाश में काले-काले बादल घिर आये । जल-भार से लटते हुए वे जोर-जोर से गरज रहे थे । उनके विशाल-शिखर विद्युल्लता से दमक रहे थे । अपने फैले हुए शिखररूपी भुजाओं से वे एक-दूसरे को अँगड़ाई लेकर आलिंगित कर रहे थे ।

आकाशरूपी आइने में पहाड़ों की परछाईं की तरह शोभते ये काले बादल अपने शृंगों से मानों दिशाओं के विस्तार को नाप रहे थे । चारों ओर अंधेरा फैलता जा रहा था ।। ९ ।।

बिजली क्या चमकती थी मानों बादल हंसकर गरज रहा हों । मोरों ने नाचगाकर अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए उन बादलों की स्तुति की ।। १० ।।

मुक्ता विमुक्ता इव तैर्विमुक्ता धारा निपेतुः प्रशशाम रेणुः ।
गन्धश्च धारानिभृतो धरण्यां विकीर्यमाणो जलदानिलेन ॥ ११ ॥
निदाघसम्पर्कविवर्धितोऽपि तिरोबभूवार्ककरप्रभावः ।
फेनावलीव्याकुलमेखलानि तोयानि निम्नाभिमुखानि सस्रु ॥ १२ ॥
मुहुर्मुहुः काञ्चनपिञ्जराभिर्भाभिर्दिगन्ताननुरञ्जयन्ती ।
पयोदतूर्यस्वनलब्धहर्षा विद्युल्लता नृत्तमिवाचचार ॥ १३ ॥

अथ बोधिसत्त्वः समन्ततोऽभिप्रसृतैरापाण्डुभिः सलिलप्रवाहैरापूर्यमाणे सरसि धारानिपातसमकालमेव विद्रुते वायसाद्ये पक्षिगणे प्रतिलब्धजीविताशे च प्रमुदिते मीनगणे प्रीत्याभिसार्यमाणहृदयो वर्षनिवृत्तिसाशङ्कः पुनः पुनः पर्जन्यमाबभाषे—

उद्गर्ज पर्जन्य गम्भीरधीरं प्रमोदमुद्वासय वायसानाम् ।
रत्नायमानानि पयांसि वर्षन्संसक्तविद्युज्ज्वलितद्युतीनि ॥ १४ ॥

तदुपश्रुत्य शक्रो देवानामिन्द्रः परमविस्मितमनाः साक्षादभिगम्यैनमभिसंराधयन्नुवाच—

तवैव खल्वेष महानुभाव मत्स्येन्द्र सत्यातिशयप्रभावः ।
आवर्जिता यत्कलशा इवेमे क्षरन्ति रम्यस्तनिताः पयोदाः ॥ १५ ॥

मोती की लड़ियों की तरह बादलों ने जलधारा गिराई। धूल शान्त हो गई, पृथ्वी से निकलने वाली सोंधी-सोंधी गन्ध को हवा ने चारों ओर बिखेर दिया ॥११॥

ग्रीष्म के बढ़ते ताप बादलों में विलीन हो गये। अपने फेन के समूह से पहाड़ों को घेरकर जल-प्रवाह नीचे की ओर दौड़ने लगे ॥ १२ ॥

मेघरूपी मृदङ्ग की आवाज से प्रसन्न होकर बिजली ने अपनी सोने की तरह पीली आभा से दशों-दिशाओं को अनुरंजितकर नाचना शुरू किया ॥ १३ ॥

चारों ओर प्रसरित पीले पानी के प्रवाह से ताल-तलैया भरने लगे। धरती पर जल-धारा के गिरते ही कौए कहीं भाग गये। मछलियाँ आनन्द-विभोर हो उठीं। उन्हें जीवन-रक्षा का साधन मिला। बोधिसत्त्व का हृदय प्रसन्नता से भर गया। वर्षा बन्द होने की आशंका से उन्होंने बार-बार इन्द्र की स्तुति की—

हे मेघ, आप गंभीर गर्जन करो। लगातार बिजली चमकाओ, उसके प्रकाश की परछाईं में आपकी जल-धारा रत्न की लड़ी की तरह चमकेगी। इन्हें देखकर कौए का आनन्द-विलीन हो जायेगा ॥ १४ ॥

यह सुनकर देवराज इन्द्र के मन में बड़ा विस्मय हुआ। स्वयं उनके पास पहुँचकर उन्होंने स्तुतिपूर्वक निवेदन किया—

हे महानुभाव, हे मत्स्येन्द्र ! यह घटना आपके अलौकिक सत्य का प्रभाव है

महत्प्रमादस्खलितं त्विदं मे यन्नाम कृत्येषु भवद्विधानाम् ।
लोकार्थमभ्युद्यतमानसानां व्यापारयोगं न समभ्युपैमि ।। १६ ।।
चिन्तां कृथा मा तदतः परं त्वं सतां हि कृत्योद्वहनेऽस्मि धुर्यः ।
देशोऽप्ययं त्वद्गुणसंश्रयेण भूयश्च नैवं भवितार्तिवश्यः ।। १७ ।।
इत्येवं प्रियवचनैः संराध्य तत्रैवान्तर्दधे ।
तच्च सरः परां तोयसमृद्धिमवाप ।।

तदेवं शीलवतामिहैवाभिप्रायाः कल्याणाः समृध्यन्ति प्रागेव परत्रेति शीलविशुद्धौ प्रयतितव्यम् ।

इति मत्स्य-जातकं पञ्चदशकम् ।

उसी के कारण ये बादल असमय उलटे घटे की तरह अपने शिखर से धीरे-धीरे गरजते हुए जल बरसा रहे हैं ।। १५ ।।

यह भूल मेरी असावधानी के कारण हुई है । आप जैसे लोकोपकार में दत्तचित्त महात्मा के काम में मैं मदद नहीं कर सका ।। १६ ।।

आगे की चिन्ता अब आप न करें । सन्तों का कार्य-भार मैं स्वयं ही वहन करूँगा । आप जैसे सद्गुणी महान् के सम्पर्क रहने पर इस देश को कभी ऐसा कष्ट नहीं होगा ।। १७ ।।

इस तरह मधुर वचनों से उन्हें आश्वस्त कर देवराज इन्द्र वहीं अन्तर्धान हो गये । वह सरोवर पुनः पानी से भर गया ।

इस तरह शीलवान् पुरुषों की अभिलाषा इसी दुनियाँ में पूरी होती है, परलोक की क्या बात ? अतः आचरण की पवित्रता के लिए हमें प्रयत्न करना चाहिए ।

मत्स्यजातक पन्द्रहवाँ समाप्त ।

॥ (१६) वर्तकापोतक-जातकम् ॥

सत्यपरिभावितां वाचमग्निरपि न प्रसहते लङ्घयितुमिति सत्यवचनेऽभियोगः करणीयः । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किलान्यतमस्मिन्नरण्यायतने वर्तकापोतको भवति स्म । स कतिपयरात्रोद्भिन्नाण्डकोशः प्रविरोक्ष्यमाणतरुणपक्षः परिदुर्बलत्वादलक्ष्यमाणाङ्गप्रत्यङ्गप्रदेशः स्वमातापितृप्रयत्नरचिते तृणगहनोपगूढे गुल्मलतासन्निश्रिते नीडे सम्बहुलैर्भ्रातृभिः सार्धं प्रतिवसति स्म । तदवस्थोऽपि चापरिलुप्तधर्मसञ्ज्ञत्वान्मातापितृभ्यामुपहृतान्प्राणिनो नेच्छति स्माभ्यवहर्तुम् । यदेव त्वस्य तृणबीजन्यग्रोधफलाद्युपजह्रतुर्मातापितरौ तेनैव वर्तयामास । तस्य तया रूक्षाल्पाहारतया न कायः पुष्टिमुपययौ नापि पक्षौ सम्यक्प्रविरुरोहतुः । इतरे तु वर्तकापोतका यथोपनीतमाहारमभ्यवहरन्तो बलवन्तः सञ्जातपक्षाश्च बभूवुः । धर्मता ह्येषा यदुत—

धर्माधर्मनिराशङ्कः सर्वाशी सुखमेधते ।
धर्म्या तु वृत्तिमन्विच्छन्विचिताशीह दुःखितः ॥ १ ॥

---

१६. वर्तकापोतक-जातक

सत्य से पवित्र वचन का उल्लंघन आग भी नहीं कर सकती । अतः सत्य वचन का अभ्यास करना चाहिए । जैसा कि कहा गया है—

किसी जंगल में एकबार बोधिसत्त्व बटेर का बच्चा हुए । अण्डे के भीतर कुछ ही दिन रहने के बाद उसे फोड़कर वे बाहर निकल आये । अभी उनके नन्हें-नन्हें पंख बाहर निकल रहे थे । उनके अंग-प्रत्यङ्ग भी अभी नहीं पहचाने जा सकते थे । अपने माँ-बाप के द्वारा बनाये गये दुष्प्रवेश घोंसले में वे रहते थे । बहुत सावधानी से घासों से उस घोंसले का निर्माण किया गया था । वह घोंसला लता के सहारे झाड़ी में लटक रहा था । बोधिसत्त्व वहाँ अपने अन्य भाइयों के साथ रहते थे । उस स्थिति में भी उनका धर्मज्ञान लुप्त नहीं हुआ था । माँ-बाप जब कभी उन्हें खाने के लिए कीड़े-मकोड़े देते तो वे उसे खाना नहीं चाहते थे । हाँ, जब कभी वे जंगली घास के बीज, वटवृक्ष के फल वगैरह लाते तो उन्हें वे चाव से खाकर जीवन-निर्वाह करते थे । उन रूखे-सूखे अल्पाहार के कारण न तो उनकी देह पुष्ट हो सकी और न पंखें ही मजबूत हुईं । इनके अन्य भाई सुपुष्ट आहार खाकर शीघ्र बलिष्ट हो गये । उनके डैने भी मजबूत हो गये । यह होना स्वाभाविक है कि—

धर्माधर्म का विचार किये बिना सर्वभक्षी सुख से रहता है, किन्तु धर्मोचित आजीविका की खोज में रहने वाला और चुन-चुन कर खाने वाला दुःखी रहता है ।

[अपि चोक्तं भगवता सुजीवितमह्रीकेणेति गाथाद्वयम् ।

सुजीवितमह्रीकेण ध्वाङ्क्षेणाशुचिकर्मणा ।
प्रस्कन्दिना प्रगल्भेन सुसंक्लिष्टं तु जीवितम् ।। २ ।।
ह्रीमता त्विह दुर्जीवं नित्यं शुचिगवेषिणा ।
सलीनेनाप्रगल्भेन शुद्धाजीवेन जीवता ।। ३ ।।

इति गाथाद्वयमेतदार्यस्थाविरीयकनिकाये पठ्यते ।] तेषामेवमवस्थानां नातिदूरे महान्वनदावः प्रतिभयप्रसक्तनिनदो विजृम्भमाणधूमराशिर्विकीर्यमाणज्वालावलीलोलविस्फुलिङ्गः सन्त्रासनो वनचराणामनयो वनगहनानां प्रादुरभवत् ।

स मारुताघूर्णितविप्रकीर्णैर्ज्वालाभुजैर्नृत्तविशेषचित्रैः ।
वल्गन्निव व्याकुलधूमकेशः सस्वान तेषां धृतिमाददानः ।। ४ ।।
चण्डानिलास्फालनचञ्चलानि भयद्रुतानीव वने तृणानि ।
सोऽग्निः ससंरम्भ इवाभिपत्य स्फुरत्स्फुलिङ्गप्रकरो ददाह ।। ५ ।।
भयद्रुतोद्भ्रान्तविहङ्गसार्थं परिभ्रमद्भीतमृगं समन्तात् ।
धूमौघमग्नं पटुवह्निशब्दं वनं तदार्त्येव भृशं ररास ।। ६ ।।

भगवान् ने भी 'सुजीवितमह्रीक के द्वारा' इत्यादि दो गाथाएँ कहीं हैं—

एक कौआ, निर्लज्ज, पतित, प्रगल्भ एवं अपवित्र कर्मी है । अतः सुख से जीता है । पर ऐसा जीवन पापपूर्ण है । किन्तु, नित्य पवित्रता की खोज में रहने वाला, शुद्ध आजीविका वाला, सलज्ज सावधान एवं अप्रगल्भ व्यक्ति सदैव दुःख में ही जीवन व्यतीत करता है ।। २-३ ।।

इन दोनों गाथाओं का पाठ आर्य स्थाविरीयक निकाय में मिलता है ।

जब इन बटेर बच्चों की पूर्ववर्णित अवस्था ही थी, तब वहाँ से कुछ ही दूर पर जंगल में आग लग गई । वहाँ धुआँ उठ रहा था, चिनगारियाँ छिटक रही थीं, आग की ज्वालायें लपलपा रही थीं । जंगली जीव-जन्तु भयाक्रान्त थे । जंगल की वनस्पतियों पर विपत्ति आई थी ।

जंगली आग हवा से संचालित होकर ज्वालारूपी भुजाओं को फैला रही थी, धूम रूपी बिखरे बालों को हिलाकर मानों नाचती-उछलती आग बढ़कर वन्य-जन्तुओं को अधीर बना रही थी ।। ४ ।।

प्रचण्ड वायु के झोंके से काँपते हुए घास-फूसों को क्रोध से पकड़कर वह आग अपनी चमकती हुई चिनगारियों से जला रही थी ।। ५ ।।

डर से घबड़ाकर पक्षी उड़ रहे थे । भयभीत जानवर चौकड़ी भर रहे थे, धूमराशि में जंगल डूब रहा था । आग की तेज आवाज से मालूम पड़ता था जैसे जंगल कराह रहा था ।। ६ ।।

क्रमेण चोत्पीडयमान इव स वह्निः पटुना मारुतेन तृणगहनानुसारी तेषां नीडसमीपमुपजगाम । अथ ते वर्तकापोतका भयविरसव्याकुलविरावाः परस्परनिरपेक्षाः सहसा समुत्पेतुः । परिदुर्बलत्वादसञ्जातपक्षत्वाच्च बोधिसत्त्वस्तु ...तितुं प्रयत्नं चकार । विदितात्मप्रभावस्त्वसम्भ्रान्त एव स महासत्त्वः सरभसमिवोपसर्पन्तमग्निं सानुनयमित्युवाच—

व्यर्थाभिधानचरणोऽस्म्यविरूढपक्ष-
स्त्वत्सम्भ्रमाच्च पितरावपि मे प्रडीनौ ।
त्वद्योग्यमस्ति न च किञ्चिदिहातिथेय-
मस्मान्निवर्तितुमतस्तव युक्तमग्ने ।। ७ ।।

इत्युक्ते सत्यपरिभावितवचसा तेन महासत्त्वेन—

उदीर्यमाणोऽप्यनिलेन सोऽग्निर्विशुष्कसंसक्ततृणेऽपि कक्षे ।
नदीमिव प्राप्य विवृद्धतोयां तद्वाचमासाद्य शशाम सद्यः ।। ८ ।।

अद्यापि तं हिमवति प्रथितं प्रदेशं
दावाग्निरुद्धतशिखोऽपि समीरणेन ।
मन्त्राभिशप्त इव नैकशिरा भुजङ्गः
सङ्कोचमन्दलुलितार्चिरुपैति शान्तिम् ।। ९ ।।

तेज हवा में मानों छटपटाती हुई आग तृण की खोज में उन बटेरों के घोंसले ...क पहुँच गई । तब बटेर के सभी बच्चे भय से आकुल होकर बिना एक दूसरे का ...विचार किये अचानक उड़ गये । किन्तु, अपने दुर्बल डैनों के कारण बोधिसत्त्व ने ...ड़ने का प्रयास नहीं किया । अपना प्रभाव सोचकर ही उन्होंने वैसा किया । लपक ...र बढ़ती आग से अनुनय पूर्वक उन्होंने कहा—

मेरे छोटे-छोटे अशक्त पैरों को पैर कहना उचित नहीं है । मेरे पंख भी अभी ...क से नहीं जमे हैं । आपके डर से मेरे माँ-बाप भी भाग गये । आपके आतिथ्य के ...ोग्य यहाँ कुछ भी नहीं है, अतः हे अग्निदेव, यहाँ से लौट जाना ही आपके लिए ...चित है ।। ७ ।।

उस महात्मा की इस पवित्र वाणी को सुनकर—

वह आग यद्यपि हवा से प्रेरित होकर सूखे सघन घासों और लड़कियों के बीच ...हक रही थी फिर भी उनकी बात सुनकर वैसे ही शान्त हो गई जैसे किसी जल की ...रिता में पहुँच गई हो ।। ८ ।।

आज भी हिमालय के उस विख्यात स्थान पर पहुँच जंगली आग की लपटें ...ंकोच में पड़ जाती हैं, उसकी ज्वाला स्वतः शान्त हो जाती है । वह बुझ जाती है । ...ैसे फनियल नाग विषमंत्र से शान्त हो जाता है ।। ९ ।।

तत्किमिदमुपनीतमिति ? उच्यते—

वेलामिव प्रचलितोर्मिफणः समुद्रः
शिक्षां मुनीन्द्रविहितामिव सत्यकामः।
सत्यात्मनामिति न लङ्घयितुं यदाज्ञां
शक्तः कृशानुरपि सत्यमतो न जह्यात् ॥ १० ॥

तदेवं सत्यवचनपरिभावितां वाचमग्निरपि प्रसहते लङ्घयितुमिति सत्यवचनेऽभियोगः करणीय । तथागतवर्णेऽपि वाच्यमिति ।

इति वर्तकापोतक-जातकं षोडशकम् ।

यह कथा क्यों उपस्थित की गई ? कहता हूँ—

चंचल तरंगरूपी फन वाला सागर जैसे अपने तट का या सत्यकाम पुरुष मुनीन्द्र की शिक्षा का अतिक्रमण नहीं कर सकता, वैसे ही आग भी सत्यवादियों की बात का उल्लंघन नहीं कर सकती । अतः सत्य को किसी भी स्थिति में नहीं छोड़ना चाहिए ॥ १० ॥

तब इसी प्रकार सत्यपूत वाणी का उल्लंघन आग भी नहीं कर सकती । इसलिए सच बोलने का अभ्यास करना चाहिए । तथागत के वर्णन प्रसंग में यह कथा कहनी चाहिए ।

वर्तकापोतकजातक सोलहवां समाप्त ।

---

(१७) कुम्भ-जातकम्

अनेकदोषोपसृष्टमतिकष्टं मद्यपानमिति साधवः परमप्यस्माद्वारयन्ति प्रागेवात्मानमिति । तद्यथानुश्रूयते —

बोधिसत्त्वः किल करुणातिशयपरिभावितमतिः परहितसुखोपपादनपरः पुण्यां प्रतिपदमुद्भावयन्दानदमसंयमादिभिः कदाचिच्छक्रो देवानामिन्द्रो बभूव । स प्रकर्षिणामपि दिव्यानां विषयसुखानां निकामलाभी सन्नपि करुणावशगत्वान्नैव लोकार्थचर्यासमुद्योगशिथिलं मनश्चकार ।

प्रायेण लक्ष्मीमदिरोपयोगाज्जागर्ति नैवात्महितेऽपि लोकः ।
सुरेन्द्रलक्ष्म्यापि तु निर्मदोऽसावभूत्परार्थेष्वपि जागरूकः ॥ १ ॥
अनेकतीव्रव्यसनातुरेषु सत्त्वेषु बन्धुष्विव जातहार्दः ।
धैर्यात्स्वभावज्ञतयाश्रितश्च नासौ विसस्मार परार्थचर्याम् ॥ २ ॥

अथ कदाचित्स महात्मा मनुष्यलोकमवलोकयन्ननुकम्पासमावर्जितेन मैत्रस्निग्धेन स्वभावमहता चक्षुषा ददर्श सर्वमित्रं नाम राजानमकल्याण-

---

१७. कुम्भ-जातक

शराब पीना अपने आप में अनेक अवगुणों की खान है। यही सोचकर सत्पुरुष स्वयं तो इससे बचते ही हैं, दूसरों को भी पीने से रोकते हैं। श्रुति परम्परा से प्राप्त जैसी कहानी है—

दूसरों पर अतिशय अनुकम्पा, उनके हित-सुख-साधन की तत्परता, दान, दम, संयम प्रभृति के कारण बोधिसत्त्व ने अपनी आत्मा को इतना अधिक पवित्र अपने आचरण को ऐसा शुद्ध बना लिया था कि उन्हें देवेन्द्र शक्र का पद एक बार मिला। यद्यपि इस पद पर उन्हें अनायास यहाँ सर्वोत्कृष्ट एवं दिव्य विषय सुख उपलब्ध थे। फिर भी अत्यधिक दयालु एवं लोकोपकारी होने के कारण प्राप्त सुखों में अपने मन को भटकने नहीं दिया।

ऐसा देखा जाता है कि धनमद के कारण लोग दूसरों की बात तो दूर रही, आत्महित की भी बात सोच नहीं पाते किन्तु, देवेन्द्र की लक्ष्मी पाकर भी इन्हें मद छू तक नहीं गया। देवेन्द्र के पद पर रहकर भी ये सदैव जागरूक एवं दूसरों के हित साधन में तत्पर बने रहे ॥ १ ॥

अत्यन्त तीव्र दुःख एवं दारुण विपत्तियों में पड़े व्यक्तियों के प्रति उनकी सहज करुणा जागरूक रहती थी। अपने धैर्य और स्वभाव के कारण ऐसे पीड़ितों के प्रति दयार्द्र होकर वे बन्धुवत् व्यवहार करते थे ॥ २ ॥

एक बार वे मनुष्य लोक का परिभ्रमण कर रहे थे। अनुकम्पा से विनम्र और मैत्री से स्निग्ध उनकी आँखें बड़ी विशाल थीं। एक जगह उन्होंने देखा कि 'सर्वमित्र'

मित्रसम्पर्कदोषात् सपौरजानपदं मद्यपानप्रसङ्गाभिमुखम् । तत्र चास्यादो
दर्शितामवेक्ष्य महादोषतां च मद्यपानस्य स महात्मा महत्या करुणया सम
पीड्यमानहृदयश्चिन्तामापेदे । कष्टा बतेयमपदापतिता लोकस्य ।

प्रमुखस्वादु पानं हि दोषदर्शनविक्लवान् ।
श्रेयसोऽपहरत्येव रमणीयमिवापथम् ।। ३ ।।

तत्किमत्र प्राप्तकालं स्यात् । भवतु दृष्टम् ।

प्रधानभूतस्य विचेष्टितानि जनोऽनुकर्तुं नियतस्वभावः ।
इत्यत्र राजैव चिकित्सनीयः शुभाशुभं तत्प्रभवं हि लोके ।। ४ ।।

इति विनिश्चित्य स महासत्त्वस्तप्तकाञ्चनवर्णमापुरुषोद्ग्रथितजटावि
धरं वल्कलाजिनसंवीतमोजस्वि ब्राह्मं वपुरभिनिर्माय सुरापूर्णं च वामपा
स्थं नातिबृहन्तं कुम्भं सर्वमित्रस्य राज्ञः परिषदि सन्निषण्णस्य प्रस्तावो
तासु प्रवृत्तासु सुरासवशीधुमैरेयमधुकथासु पुरतोऽन्तरिक्षे प्रादुरभूत् । विस्म
बहुमानावर्जितेन च प्राञ्जलिना तेन जनेनाभ्युत्थाय प्रत्यर्च्यमानः सजल
जलधरो गम्भीरमभिनदन्नुच्चैरुवाच—

नामक राजा कुसंगति में पड़कर नगर और गाँव की जनता के साथ शराब प
मस्त है । 'मद्यपान में महादोष है, और इस दोष का उसे पता नहीं है' यह जा
उन्हें काफी पीड़ा हुई । वे सोचने लगे—हाय, मनुष्य पर यह कैसी विपत्ति आई

जो इसके अवगुण देखने में अनवधान है उन्हें यह मद्यपान प्रारंभ में तो
लगता है पर अन्त में उन्हें कुमार्ग पर घसीट कर कल्याणकारी पथ से दूर
देता है ।। ३ ।।

इस विषय में अब क्या किया जाय । देखता हूँ—

जनसामान्य अपने प्रमुख राजा का अनुकरण निश्चित करता है । अतः सर्व
राजा की चिकित्सा ही उचित है । क्योंकि, इसी के गुणदोष से जनता का बुरा
होगा ही ।। ४ ।।

यह निश्चय करते ही देवराज ने एक तपस्वी ब्राह्मण का रूप बनाया ।
देह का रंग प्रतप्त सोने की तरह दिव्य था । लम्बी-लम्बी जटायें धारण की,
और मृगचर्म से अपने तन को ढँक लिया । मदिरा से भरा मँझोले आकार का
घड़ा बाईं ओर दबाये अन्तरिक्ष में उस समय और वहाँ प्रकट हुए जहाँ
अपनी सभा में बैठा था । शराब, मदिरा और मधु की कहानी चल रही
अचानक अपने सामने आविर्भूत इस तपस्वी को देखकर ससम्मान सभासद
हुए और हाथ जोड़कर उनकी पूजा-अभ्यर्थना की । तब सजल बादल की तरह
गर्जना करते हुए उन्होंने कहा—

पुष्पमालाहसत्कण्ठमिमं भरितमाकण्ठम् ।
अवतंसकृताकुम्भं क्रेतुमिच्छति कः कुम्भम् ॥ ५ ॥
सवलयमिव पुष्पमालया प्रविततयानिलकम्पलीलया ।
किसलयरचनासमुत्कटं घटमिममिच्छति कः क्रयेण वः ॥ ६ ॥

अथैनं स राजा विस्मयावर्जितकौतूहलः सबहुमानमीक्षमाणः कृताञ्जलिरुवाच--

दीप्त्या नवार्क इव चारुतया शशीव
संलक्ष्यसे च वपुषान्यतमो मुनीनाम् ।
तद्वक्तुमर्हसि यथा विदितोऽसि लोके
सम्भावना हि गुणतस्त्वयि नो विचित्रा ॥ ७ ॥

शक्र उवाच—
पश्चादपि ज्ञास्यसि योऽहमस्मि घटं त्विदं क्रेतुमितो घटस्व ।
न चेद् भयं ते परलोकदुःखादिहैव तीव्रव्यसनागमाद्वा ॥ ८ ॥
राजोवाच—अपूर्वः खल्वयमत्रभवतः पश्य विक्रयारम्भः ।
गुणसंवर्णनं नाम दोषाणां च निगूहनम् ।
प्रसिद्ध इति लोकस्य पण्यानां विक्रयक्रमः ॥ ९ ॥

कण्ठ तक भरा यह घड़ा अति उज्ज्वल और फूलों की माला से ढँका है। इसे कौन खरीदना चाहता है ? ॥ ५ ॥

कँगने की तरह हिलती फूल-माला से सुशोभित, किसलयों से परिवेष्टित एवं अलंकृत इस घड़े को आप में से कौन खरीदना चाहता है ॥ ६ ॥

विस्मयापन्न राजा ने तब कौतूहलवश उनसे पूछा—

आप बालरवि की तरह प्रदीप्त हैं, चन्द्रमा की तरह सुन्दर हैं। आपके इस ओजस्वी रूप को देखकर मुझे लगता है आप कोई सिद्ध तापस हैं। कृपया बतलाएँ लोग आपको क्या कहकर जानते हैं ? हम आप में अनेक गुणों की संभावना करते हैं ? ॥ ७ ॥

शक्र ने कहा–मैं कौन हूँ ? यह तो आप पीछे भी जान लेंगे। यदि आप परलोक में मिलने वाला दुःख और इस संसार में आने वाली अपनी विपत्ति से डरते नहीं है तो इस घड़े को अवश्य खरीद लें ॥ ८ ॥

राजा ने कहा—बेचने का उपक्रम आपका अनोखा है।

गुणों का वर्णन और अवगुणों को छिपाना—संसार में सौदेबाजी की यही प्रसिद्ध प्रक्रिया है ॥ ९ ॥

युक्तो वानृतभीरूणां त्वद्विधानामयं विधिः।
न हि कृच्छ्रेऽपि सन्त्यक्तुं सत्यमिच्छन्ति साधवः ॥ १० ॥
तदाचक्ष्व महाभाग पूर्णः कस्य घटो न्वयम्।
किं वा विनिमये प्राप्यमस्मत्तस्त्वादृशैरपि ॥ ११ ॥

शक्र उवाच— श्रूयतां महाराज!

नायं तोयदविच्युतस्य पयसः पूर्णो न तीर्थाम्भसः
किञ्जल्कस्य सुगन्धिनो न मधुनः सर्पिर्विशेषस्य वा।
न क्षीरस्य विजृम्भमाणकुमुदव्यभ्रेन्दुपादच्छवेः
पूर्णः पापमयस्य यस्य तु घटस्तस्य प्रभावं शृणु ॥ १२ ॥
यत्पीत्वा मददोषविह्वलतया स्वतन्त्रश्चरन्
देशेष्वप्रपतेष्वपि प्रपतितो मन्दप्रभावस्मृतिः।
भक्ष्याभक्ष्यविचारणाविरहितस्तत्तत्समास्वादयेत्
तत्सम्पूर्णमिमं गतं क्रयपथं क्रीणीत कुम्भाधमम् ॥ १३ ॥
अनीशः स्वे चित्ते विचरति यया संहृतमति-
द्विषां हासायामं समुपजनयन्गौरिव जडः।
सदोमध्ये नृत्येत्स्वमुखपटहेनापि च यया
क्रयार्हा सेयं वः शुभविरहिता कुम्भनिहिता ॥ १४ ॥

अथवा झूठ से डरने वाले आप जैसे महापुरुषों का यही तरीका उचित है, विपत्ति में भी सज्जन सत्य को नहीं छोड़ते अतः हे महापुरुष कहिए कि इस घड़े में क्या है? और इसकी कीमत में हमें क्या देना होगा? ॥ १०-११ ॥

शक्र ने कहा—सुनिए महाराज,

इसमें न तो कोई तीर्थ जल है न वृष्टि जल ही। पुष्प-पराग से सुगन्धित मधु या उत्तम घी से भी यह भरा नहीं है। खिलते हुए कुमुद या मेघोन्मुक्त चन्द्र-किरण की तरह उज्ज्वल दूध भी इसमें नहीं है। जिस पाप से यह घड़ा भरा है उसका प्रभाव सुनिए ॥ १२ ॥

आदमी जिसे पीकर नशे में पागल की तरह लड़खड़ाते हुए चलता है, नशे में बेहोश होकर समतल भूमि में चलते हुए भी फिसलता है। खाद्याखाद्य का विचार किए बिना सब कुछ खा सकता है। उसी पेय वस्तु से भरा यह अधम घड़ा बिकाऊ है, इसे खरीदो ॥ १३ ॥

जिसे पीकर आदमी अपना होश गवाँ बैठता है, मन अनियन्त्रित हो जाता है, बैल की तरह बुद्धू बन जाता है। शत्रु इसकी हँसी उड़ाते हैं, सभा में गाल बजाता है, बेशर्मी का नाच नाच सकता है, ऐसी ही अशुभ वस्तु इस घड़े में भरी है, जो खरीदना चाहे खरीद ले ॥ १४ ॥

पीत्वोचितामपि जहाति ययात्मलज्जां
निर्ग्रन्थवद्वसन-संयम-खेद-मुक्तः ।
धीरं चरेत्पथिषु पौरजनाकुलेषु
सा पश्यतामुपगता निहितात्र कुम्भे ॥ १५ ॥

यत्पीत्वा वमथुसमुद्गतान्नलिप्ता
निःशङ्कैः श्वभिरवलिह्यमानवक्त्राः ।
निःसञ्ज्ञा नृपतिपथिष्वपि स्वपन्ति
प्रक्षिप्तं क्रयसुभगं तदत्र कुम्भे ॥ १६ ॥

उपयुज्य यन्मदबलादबला विनिबन्धयेदपि तरौ पितरौ ।
गणयेच्च सा धनपतिं न पतिं तदिदं घटे विनिहितं निहितम् ॥ १७ ॥

यां पीतवन्तो मदलुप्तसञ्ज्ञा वृष्ण्यन्धका विस्मृतबन्धुभावाः ।
परस्परं निष्पिपिषुर्गदाभिरुन्मादनी सा निहितेह कुम्भे ॥ १८ ॥

यत्र प्रसक्तानि कुलानि नेशुर्लक्ष्मीनिकेतान्युदितोदितानि ।
उच्छेदनी वित्तवतां कुलानां सेयं घटे क्रय्यतयाधिरूढा ॥ १९ ॥

अनियतरुदितस्थितविहसितवा-
ग्जडगुरुनयनो ग्रहवशग इव ।
परिभवभवनं भवति च नियतं
यदुपहतमतिस्तदिदमिह घटे ॥ २० ॥

जिसे पीकर आदमी निर्लज्ज हो जाता है, लोगों की भीड़ में भी सड़कों पर नंगे घूमता, कपड़े संभालने का सहूर भी खो देता है, वही सौदा इस घड़े में है ॥ १५ ॥

जिसे पीकर आदमी बेहोश होकर सड़क पर ही सो जाता है। वमन करता है वमन के कारण मुँह में लगे अन्न को निडर होकर कुत्ते चाटते रहते हैं, ऐसी ही सुन्दर वस्तु इस घड़े में रक्खी है ॥ १६ ॥

जिसे पीने के बाद उन्मत्त होकर अबला-नारी भी अपने माँ-बाप को पेड़ की डाली में बाँध कर लटका सकती है। अपने धनवान पति को भी ठुकरा सकती है, वही वस्तु इस घड़े में रक्खी है ॥ १७ ॥

जिसे पीकर नशे में बेहोश वृष्णि-अन्धक ने आपसी बन्धुभाव को भी भूलकर गदे की चोट से एक दूसरे को पीस डाला। वही उन्मादिनी सुरा इस घड़े में रखी है ॥ १८ ॥

इसे पीकर पता नहीं कितने ऐश्वर्यशाली कुल विनष्ट हुए। धनिकों को विनाश के गर्त्त में ढकेलने वाली वस्तु ही इस घड़े में विक्री के लिए रक्खी है ॥ १९ ॥

जिसे पीने के बाद रोने, हँसने, या बोलने का नियंत्रण छूट जाता है। ग्रह चक्र में पड़े लोगों की तरह उसकी आँखें भारी और निश्चल हो जाती है। जिससे मनुष्य

प्रवयसोऽपि यदाकुलचेतनाः स्वहितमार्गसमाश्रयकातराः ।
बहु वदन्त्यसमीक्षितनिश्चयं क्रयपथेन गतं तदिदं घटे ॥ २१ ॥
यस्या दोषात्पूर्वदेवाः प्रमत्ता लक्ष्मीमोषं देवराजादवाप्य ।
त्राणापेक्षास्तोयराशौ ममज्जुस्तस्याः पूर्णं कुम्भमेतं वृणीत ॥ २२ ॥
ब्रूयादसत्यमपि सत्यमिव प्रतीतः
कुर्यादकार्यमपि कार्यमिव प्रहृष्टः ।
यस्या गुणेन सदसत्सदसच्च विद्या-
च्छापस्य मूर्तिरिव सा निहितेह कुम्भे ॥ २३ ॥
उन्मादविद्यां व्यसनप्रतिष्ठां साक्षादलक्ष्मीं जननीमघानाम् ।
अद्वैतसिद्धां कलिपद्धतिं तां क्रीणीत घोरां मनसस्तमिस्राम् ॥ २४ ॥
परिमुषितमतिर्यया निहन्यादपि पितरं जननीमनागसं वा ।
अविगणितसुखायतिर्यतिं वा क्रयविधिना नृप तामितो गृहाण ॥ २५ ॥
एवंविधं मद्यमिदं नरेन्द्र सुरेति लोके प्रथितं सुराभ ।
न पक्षपातोऽस्ति गुणेषु यस्य स क्रेतुमुद्योगमिदं करोतु ॥ २६ ॥

की बुद्धि मारी जाती है, वह सबके अपमान का पात्र बन जाता है, वही है इस घड़े में ॥ २० ॥

जिसके नशे में अकुलाकर बुद्धिमान् लोग भी अपनी चेतना खो देते हैं, अपनी भलाई की राह पर भी चल नहीं पाते, बिना कुछ सोचे-विचारे बकवास करते हैं, यह वही चीज इसमें बिक्री के लिए रक्खी है ॥ २१ ॥

जिसे पीकर किसी समय देवताओं ने असावधानी की थी, देवराज ने उनकी प्रभुसत्ता छीन ली थी, अपने बचाव के लिए जो समुद्र में जाकर छिप गये—उस वस्तु से यह घड़ा भरा है । आपमें से जो चाहें इसे ले लें ॥ २२ ॥

जिसके प्रभाव में आकर झूठ को भी विश्वासपूर्वक सच समझकर बोले, अकार्य को भी कार्य की तरह समझकर खुशी-खुशी करे । भला को बुरा और झूठ को सच समझे, मूर्त्त अभिशाप की तरह वही वस्तु इस घड़े में रक्खी है ॥ २३ ॥

यह उन्माद पैदा करने वाली विद्या, विपत्ति का घर, साक्षात् दरिद्रा, पापों की जननी और कलिका निश्चित मार्ग है, इस घोर मानसिक अन्धकार को खरीदो ॥ २४ ॥

जिसे पीने से ज्ञान-शून्य होकर संभावित सुख की उपेक्षा लोग कर देता है, निष्पाप माता-पिता की भी हत्या कर देता है, ऋषि-मुनियों को समाप्त कर देता है, हे राजन् ! वह वस्तु आप इसे खरीदकर प्राप्त करें ॥ २५ ॥

अरे ओ देव तुल्य महाराज, यह मद्य संसार में सुरा के नाम से विख्यात है, जिन्हें सद्गुण नहीं सुहाता, वे इसे अवश्य खरीदें ॥ २६ ॥

निषेव्य यद्दुश्चरितप्रसक्ताः पतन्ति भीमान्नरकप्रपातान् ।
तिर्यग्गतिं प्रेतदरिद्रतां च को नाम तद्द्रष्टुमपि व्यवस्येत् ॥ २७ ॥

लघुरपि च विपाको मद्यपानस्य यः स्या-
न्मनुजगतिगतानां शीलदृष्टीः स हन्ति ।
ज्वलितदहनरौद्रे येन भूयोऽप्यवीचौ
निवसति पितृलोके हीनतिर्यक्षु चैव ॥ २८ ॥

शीलं निमीलयति हन्ति यशः प्रसह्य
लज्जां निरस्यति मतिं मलिनीकरोति ।
यन्नाम पीतमुपहन्ति गुणांश्च तांस्तां-
स्तत्पातुमर्हसि कथं नृप मद्यमद्य ॥ २९ ॥

अथ स राजा तैस्तस्य हृदयग्राहकैर्हेतुमद्भिर्वचोभिरवगमितमद्यपानदोषो मद्यप्रसङ्गादपवृत्ताभिलाषः शक्रमित्युवाच—

स्निग्धः पिता विनयभक्तिगुणाद् गुरुर्वा
यद्वक्तुमर्हति नयानयविन्मुनिर्वा ।
तावत्त्वया स्वभिहितं हितकाम्यया मे
तत्कर्मणा विधिवदर्चयितुं यतिष्ये ॥ ३० ॥

इदं च तावत्सुभाषितप्रतिपूजनमर्हति नोऽत्रभवान् प्रतिग्रहीतुम् ।

जिसका सेवन कर मनुष्य कुकर्मी बन जाता है । नरकगामी बन जाता है, पशु, पक्षी या कष्टप्रद प्रेतयोनि को प्राप्त करता है, ऐसी निकृष्ट वस्तु को क्या कोई देखने की इच्छा करेगा ॥ २७ ॥

थोड़ी भी शराब पीने का परिणाम मनुष्य के आचार-विचार की हत्या कर देता है और जिसकी वजह से परलोक में प्रज्वलित आग से भी भयंकर अवीचि नामक नरक में, प्रेतलोक में, और पशु-पक्षी की निकृष्ट योनि में निवास करना पड़ता है ।

सुरा-सेवन शील का नाश करता है, कीर्त्ति की हत्या करता है, निर्लज्ज बनाता है, बुद्धि को मलिन करता है, अनेक अच्छे गुणों को मिटा देता है, वही सुरा सेवन, हे राजन् ! क्या अब आपके लिए उचित है ? ॥ २९ ॥

राजा ने जब हृदयाकर्षक युक्तिसंगत उनकी बातें सुनीं तो स्वतः मद्यपान-जन्य दोष से वे अवगत हो गये और उधर से विमुख होकर शक्र से कहा—

एक स्नेही पिता या शिष्य की भक्ति के कारण गुरु या नीति-अनीति विशारद मुनि जो कुछ कह सकते हैं, वे सारी बातें आपने मेरी भलाई के लिए कहीं—मैं अपने आचरण के द्वारा आपके वचनों की विधिवत् पूजा करने की चेष्टा करूँगा ॥ ३० ॥

और तब तक इस सदुक्ति के लिए आप पुरस्कार के रूप में हमारी यह पूजा स्वीकार करें ।

ददामि ते ग्रामवरांश्च पञ्च दासीशतं पञ्च गवां शतानि ।
सदश्वयुक्तांश्च रथान्दशेमान्हितस्य वक्ता हि गुरुर्ममासि ।। ३१ ।।

यद्वा मयान्यत्करणीयं तत्सन्देशादर्हत्यत्रभवान्भूयोऽपि मामनुग्रहीतुम् ।

शक्र उवाच—

अर्थोऽस्ति न ग्रामवरादिना मे सुराधिपं मामभिगच्छ राजन् ।
सम्पूजनीयस्तु हितस्य वक्ता वाक्प्रग्रहेण प्रतिपन्मयेन ।। ३२ ।।
अयं हि पन्था यशसः श्रियश्च परत्र सौख्यस्य च तस्य तस्य ।
अपास्य तस्मान्मदिराप्रसङ्गं धर्माश्रयान्मद्विषयं भजस्व ।। ३३ ।।

इत्युक्त्वा शक्रस्तत्रैवान्तर्दधे । स च राजा सपौरजानपदो मद्यपानाद्विरराम ।

तदेवमनेकदोषोपसृष्टमतिकष्टं मद्यपानमिति साधवः परमस्माद्वारयन्ति प्रागेवात्मानमिति । एवं लोकहितः पूर्वजन्मस्वपि स भगवानिति तथागतवर्णेऽपि वाच्यम् ।

इति कुम्भ-जातकं सप्तदशकम् ।

मैं आपको पाँच उत्तम गाँव, एक सौ दासियाँ, पाँच सौ गायें और अच्छे घोड़ों से युक्त ये दस रथ देता हूँ, क्योंकि आप हित-वक्ता मेरे गुरु हैं ।। ३१ ।।

अथवा मेरे करने योग्य और कुछ हो तो उसके लिए आदेश देकर आप पुनः मुझे अनुगृहीत करें ।

शक्र ने कहा—

मुझे उत्तम गाँवों की जरूरत नहीं है । हे राजन् ! आप मुझे देवताओं का अधिपति इन्द्र समझिए । आचरण के रूप में मेरी बात मानकर आपको मेरी पूजा करनी चाहिए ।। ३२ ।।

इस रास्ते पर चलने से संसार में आपको यश मिलेगा, लक्ष्मी मिलेगी और परलोक में अनेक सुख मिलेंगे । अतः शराब पीने की आदत छोड़कर धर्माचरण कर स्वर्ग को वरो ।। ३३ ।।

इतना कहकर शक्र वहीं तिरोहित हो गये । उसी दिन से राजा ग्राम एवं नगर वासियों के साथ शराब पीना बन्द कर दिया ।

इस तरह मद्यपान अनेक दोषों से दूषित है, दुःखदायी है, यह समझकर भले लोग दूसरों को भी इससे रोकते हैं । इस तरह हम देखते हैं कि भगवान् बुद्ध अपने पूर्वजन्मों में भी परोपकारी थे । यह कथा तथागत के वर्णन में भी कहनी चाहिए ।

कुम्भजातक सतरहवाँ समाप्त ।

(१८) अपुत्र-जातकम्

शीलप्रशमप्रतिपक्षसम्बाधं गार्हस्थ्यमित्येवमात्मकामा न रोचयन्ते । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किल कस्मिंश्चिदिभ्यकुले श्लाघनीयवृत्तचारित्रसम्पन्ने प्रार्थनीयसम्बन्धे कुलोद्भवानां निपानभूते श्रमणब्राह्मणानां कोशकोष्ठागार-निर्विशेषे मित्रस्वजनानामभिगमनीये कृपणवनीपकानामुपजीव्ये शिल्पिजन-स्यास्पदभूते लक्ष्म्या दत्तानुग्रहसत्कारे राज्ञो लोकाभिसम्मते जन्म प्रतिलेभे । स कालानामत्ययेनाभिवृद्धः कृतश्रमो लोकाभिमतेषु विद्यास्थानेष्वपरोक्ष-बुद्धिर्विविधविकल्पाश्रयासु कलासु जननयनकान्तेन च वपुषा धर्माविरोधिन्या च लोकज्ञतया स्वजन इव लोकस्य हृदयेषु पर्यवर्तत ।

न हि स्वजन इत्येव स्वजनो बहु मन्यते ।
जनो वा जन इत्येव स्वजनाद् दृश्यतेऽन्यथा ।। १ ।।
गुणदोषाभिमर्शात्तु बहुमानावमानयोः ।
व्रजत्यास्पदतां लोकः स्वजनस्य जनस्य वा ।। २ ।।

---

१८. अपुत्रक-जातक

पवित्राचरण और विवृत्ति में बाधक होने के कारण गृहस्थजीवन, आत्म-कल्याण चाहने वालों को पसंद नहीं होता । जैसा कहा जाता है—

किसी सम्पन्न और सदाचारी कुल में एक बार बोधिसत्त्व ने जन्म लिया । कोई भी कुलीन व्यक्ति उस कुल से सम्बन्ध के लिए इच्छुक रहता था । वह परिवार बौद्ध-भिक्षुओं और ब्राह्मणों के लिए कूएँ के समान था । सुहृद-स्वजनों के लिए तो उसका कोश और भण्डार सदैव समानरूप से खुला रहता था । दरिद्र और भिखा-रियों के लिए वहाँ तक आसानी से पहुँच थी । शिल्पियों की आजीविका का तो मानों उसका परिवार आधार ही था । वह घर लक्ष्मी का आवास था । वह कुल लोक सम्मानित था । राजा के सम्मान का भाजन था । ऐसे समादृत कुल में जन्म ग्रहण कर बोधिसत्त्व ने कालक्रम से लोक विख्यात विद्याओं और कलाओं से परिचय प्राप्त किया । अपनी दर्शनीय आकृति और धर्मसंगत लोक-व्यवहार की जानकारी के कारण वे लोगों के हृदय में स्वजन की तरह सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त किए ।

न तो आत्मीय होने के कारण ही किसी व्यक्ति का सम्मान किया जाता है और न पराये होने के कारण अपने स्वजन से अलग समझा जाता है ।। १ ।।

अपने गुण-दोषों के कारण ही आत्मीय या अनात्मीय के योग्य सम्मान या अप-मान का पात्र होता है ।। २ ।।

कृतप्रव्रज्यापरिचयत्वात्तु तस्य महासत्त्वस्य
पर्येष्टिदुःखानुगतां विदित्वा गृहस्थतां धर्मविरोधिनीं च ।
सुखोदयत्वं च तपोवनानां न गेहसौख्येषु मनः ससञ्जे ।। ३ ।।

स मातापित्रोः कालक्रियया संविग्नहृदयस्तमनेकशतसहस्रसङ्ख्यं गृहविभवसारं मित्रस्वजनकृपणश्रमणब्राह्मणेभ्यो यथार्हमतिसृज्य प्रवव्राज । सोऽनुपूर्वेण ग्रामनगरनिगमराष्ट्रराजधानीष्वनुविचरन्नन्यतमनगरमुपश्रित्य कस्मिंश्चिद्वनप्रस्थे निवसति स्म । स ध्यानगुणाभ्यासात् सात्मीभूतेनाकृतकेनेन्द्रियप्रसादेन श्रुतिहृदयह्लादिना च विद्वत्तासूचकेनानुत्सिक्तेन विगतलाभाशाकार्पण्यदैन्येन विनयौजस्विना यथार्हमधुरोपचारसौष्ठवेन धर्माधर्मविभागनिपुणेन च वचसा प्रव्रजिताचारशीभरया (च) सज्जनेष्टया चेष्टया तत्राभिलक्षितो बभूव । कौतूहलिना च जनेन समुपलब्धकुलप्रव्रज्याक्रमः सुष्ठुतरं लोकसम्मतस्तत्राभूत् ।

आदेयतरतां यान्ति कुलरूपगुणाद् गुणाः ।
आश्रयातिशयेनेव चन्द्रस्य किरणाङ्कुराः ।। ४ ।।

वह महात्मा प्रव्रज्या से परिचित थे ।

उन्होंने देखा कि सांसारिक भोगों की चाह और उसकी खोज न केवल दुःख का कारण है प्रत्युत् धर्म का भी बाधक है, जब कि ठीक इसके विपरीत तपोवन का निवास सुखोपलब्धि का स्थान है । यह सोचकर ही उनका मन घर के सुखों में न रमा ।। ३ ।।

माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् उनके हृदय में स्वतः वैराग्य उत्पन्न हो गया । उन्होंने घर की लाखों की सम्पत्ति मित्रों, स्वजनों, ब्राह्मणों, संन्यासियों और दीन-दुःखियों के बीच यथोचित ढंग से बाँट दी और स्वयं घर छोड़कर संन्यासी बन गये । वे क्रमशः ग्रामों नगरों और राजधानियों में विचरण करते हुए किसी नगर के निकट एक वन में रहने लगे । ध्यान में अभ्यस्त होने के कारण उनकी इन्द्रियाँ संयमित थीं । उनकी वाणी बड़ी मधुर थी । श्रोता के हृदय को प्रसन्नता देने वाली थी । वह विद्वत्ता सूचक, लाभ की आशा-जन्य दुःख से रहित, अभिमान शून्य एवं विनम्र थी । वह वाणी अति ओजस्विनी, मनोमुग्धकारिणी एवं धर्माधर्म के विवेचन में निपुण थी ।उनका आचरण प्रव्रज्या एवं सज्जनता के अनुरूप था । उन्होंने सब कुछ दानकर घर छोड़कर प्रव्रज्या ली है यह जानकर कौतूहल पूर्ण जनता ने उनका बड़ा सम्मान किया—

कोई सद्गुण किसी विशिष्ट कुल या सुन्दर आकृति पाकर और अधिक उपादेय बन जाता है । जैसे आश्रय की अतिशयता के कारण चन्द्र-किरणों की चमक बढ़ जाती है ।। ४ ।।

अथास्य तत्राभिगमनमुपलभ्य पितृवयस्यः समभिगम्य चैनं गुणबहुमानात् कुशलपरिप्रश्नपूर्वकं चास्मै निवेद्यात्मानं पितृवयस्यतां च सङ्कथाप्रस्तावागतमेनं स्नेहादुवाच—चापलमिव खल्विदमनुवर्तितं भदन्तेनानपेक्ष्य कुलक्रमस्मिन् वयसि प्रव्रजता ।

आराध्यते सत्प्रतिपत्तिमद्भिर्धर्मो यदायं भवने वनें वा ।
श्रीमन्ति हित्वा भवनान्यतस्त्वं कस्मादरण्येषु मतिं करोषि ॥ ५ ॥
परप्रसादार्जितभैक्षवृत्तिरगण्यमानः खलवज्जनेन ।
कुचेलभृद्बन्धुसुहृद्विहीनो वनान्तभूमावपविद्धकायः ॥ ६ ॥
मूर्तं दरिद्रत्वमिवोपगुह्य कथं नु शोकस्य वशं प्रयासि ।
इमामवस्थां हि तवेक्षमाणा द्विषोऽपि बाष्पापिहितेक्षणाः स्युः ॥ ७ ॥
तदेहि पित्र्यं भवनं तवेदं श्रुतार्थसारं भवतापि नूनम् ।
सम्पादयेथा निवसंस्त्वमत्र धर्मं च सत्पुत्रमनोरथं च ॥ ८ ॥
लोकप्रवादः खल्वपि चैषः—
परकर्मकरस्यापि स्वे निपानसुखा गृहाः ।
किं पुनः सुखसम्प्राप्ताः समृद्धिज्वलितश्रियः ॥ ९ ॥

'वे यहाँ आ गये हैं,' यह जानकर उनके पिता के मित्रों ने उनके श्रुतगुणों से आकृष्ट होकर सम्मानपूर्वक कुशल-मंगल उनके पास जाकर पूछा। उन्होंने उनके पिता से पूर्वपरिचय का हवाला देकर सस्नेह समझाया—इस कच्ची उम्र में आपने अपना घर-संसार छोड़कर जो संन्यास ग्रहण किया है, यह आपका बचपन ही तो है।

जो सदाचारी व्यक्ति हैं, उनके लिए क्या घर या क्या जंगल कहीं भी वे अपने धर्म का पालन समानरूप से करते हैं। फिर पता नहीं आपने अपना सम्पन्न एवं समृद्धिपूर्ण घर का त्याग कर, इस वन का आश्रय क्यों ग्रहण किया है ॥ ५ ॥

आप दूसरों की दया पर जीते हैं। भीख माँगकर खाते हैं। लोग आपको शरारती समझकर आपकी उपेक्षा करते हैं। आप फटे-पुराने कपड़े पहनते हैं। सुहृद-बन्धुओं को छोड़कर जंगल में एकान्तवास करते हैं ॥ ६ ॥

लगता है जैसे मूर्त्त-दरिद्रा को आपने अपने गले लगाया है। आप की इस दुःखद स्थिति को यदि आपका दुश्मन भी देख ले तो प्रायः उसकी आँखें आँसुओं से तर हो जायें ॥ ७ ॥

अतः आपको अपने पिता के घर लौट जाना उचित है। उनकी सम्पन्नता से आप परिचित हैं। अतः लौट चलिए। घर बसाकर सुपुत्र और सद्धर्म प्राप्त कीजिए।

यह लोकोक्ति भी तो है—

दूसरों की नौकरी या मजदूरी कर जीने वाले लोगों के लिए भी अपनी झोपड़ी दूध भरी बाल्टी की तरह प्यारी होती है। फिर जिसका घर धन-धान्य और वैभव से भरा है, उसका क्या कहना ? ॥ ९ ॥

अथ बोधिसत्त्वः प्रविवेकसुखामृतरसपरिभावितमतिस्तत्प्रवणहृदयः समुपलब्धविशेषो गृहवनवासयोः कामोपभोगनिमन्त्रणायां तृप्त इव भोजनकथायामसुखायमान उवाच—

इदं स्नेहोद्गतत्वात्ते काममल्पात्ययं वचः।
सुखसञ्ज्ञां तु मा कार्षीः कदाचिद्गृहचारके ॥ १० ॥
गार्हस्थ्यं महदस्वास्थ्यं सधनस्याधनस्य वा।
एकस्य रक्षणायासादितरस्यार्जनश्रमात् ॥ ११ ॥
यत्र नाम सुखं नैव सधनस्याधनस्य वा।
तत्राभिरतिसम्मोहः पापस्यैव फलोदयः ॥ १२ ॥

यदपि चेष्टं गृहस्थेनापि शक्यमयमाराधयितुं धर्म इति काममेवमेतत्। अतिदुष्करं तु मे प्रतिभाति धर्मप्रतिपक्षसम्बाधत्वाच्छ्रमबाहुल्याच्च गृहस्य। पश्यतु भवान्।

गृहा नानीहमानस्य न चैवावदतो मृषा।
न चानिक्षिप्तदण्डस्य परेषामनिकुर्वतः ॥ १३ ॥

तदयं गृहसुखावबद्धहृदयस्तत्साधनोद्यतमतिर्जनः।

किन्तु, बोधिसत्त्व की बुद्धि तो वैराग्यरूपी अमृत का रस पी चुकी थी। घर और वन के भेद से वे अवगत थे। कामोपभोग के इस निमंत्रण से उन्हें उतना ही कष्ट हुआ जितना यथेच्छ भोजन से संतुष्ट व्यक्ति को भोजन के लिए आग्रह से कष्ट होता है। उन्होंने उनसे कहा—

निश्चय ही मेरे प्रति स्नेहाधिक्य के कारण आपने ऐसा कहा है, अतः आपके इस कथन से मुझे अधिक कष्ट नहीं हुआ। किन्तु, आप यह न भूलें कि गृहस्थ-जीवन में सुख का भाग भी नहीं है ॥ १० ॥

धनवान् हो या निर्धन गृहस्थ-जीवन सबके लिए समानरूप से दुःखदायी है। एक को बचाने का कष्ट है तो दूसरे को अर्जित करने का कष्ट है ॥ ११ ॥

जिस गार्हस्थ्य में धनी-गरीब दोनों को समानरूप से कष्ट ही है, उसमें भी सुख का आभास मिलना जन्मार्जित पाप का ही तो फल है ॥ १२ ॥

घर में रहकर भी यह धर्म किया जा सकता है, यह कहना सच है। फिर भी मेरे लिए तो यह अत्यन्त दुष्कर है। अतः गृहस्थ-जीवन धर्म की विरोधी वस्तुओं से भरा है और अशान्ति का घर है। आप देखें—

जो कभी झूठ नहीं बोलता, किसी को दण्ड नहीं देता, दूसरों को कष्ट नहीं पहुँचाता, किसी वस्तु की इच्छा नहीं करता—ऐसे लोगों के लिए घर नहीं है ॥१३॥

जिसका मन घर में रमा है, वह सुखों की प्राप्ति के साधन में अपना जी तो लगायेगा ही—

यदि धर्ममुपैति नास्ति गेहमथ गेहाभिमुखः कुतोऽस्य धर्मः।
प्रशमैकरसो हि धर्ममार्गो गृहसिद्धिश्च पराक्रमक्रमेण ॥ १४ ॥
इति धर्मविरोधदूषितत्वाद् गृहवासं क इवात्मक भजेत।
परिभूय सुखाशया हि धर्मं नियमो नास्ति सुखोदयप्रसिद्धौ ॥ १५ ॥
नियतं च यशःपराभवः स्यादनुतापो मनसश्च दुर्गतिश्च।
इति धर्मविरोधिनं भजन्ते न सुखोपायमपायवन्नयज्ञाः ॥ १६ ॥
अपि च, सुखो गृहवास इति श्रद्धागम्यमिदं मे प्रतिभाति।
नियतार्जनरक्षणादिदुःखे वधबन्धव्यसनैकलक्ष्यभूते।
नृपतेरपि यत्र नास्ति तृप्तिर्विभवैस्तोयनिधेरिवाम्बुवर्षैः ॥ १७ ॥
सुखमत्र कुतः कथं कदा वा परिकल्पप्रणयं न चेदुपैति।
विषयोपनिवेशनेऽपि मोहाद् व्रणकण्डूयनवत्सुखाभिमानः ॥ १८ ॥
बाहुल्येन च खलु ब्रवीमि—
प्रायः समृद्धया मदमेति गेहे मानं कुलेनापि बलेन दर्पम्।
दुःखेन रोषं व्यसनेन दैन्यं तस्मिन्कदा स्यात्प्रशमावकाशः ॥ १९ ॥

गृहस्थ-जीवन की सफलता पराक्रम से मिलती है और धर्म का मार्ग-शान्ति-रस से पूर्ण है। अतः कोई मनुष्य यदि धर्म पाना चाहता है तो उसे घर का सुख छोड़ना होगा। जिसे घर ही प्यारा है उसे धर्म कहाँ से मिलेगा? ॥ १४ ॥

धर्म-विरोधी होने के कारण गृहस्थ-जीवन यदि दूषित है तो भला कौन संयत आत्मा व्यक्ति इसे स्वीकार करेगा? सुख की झूठी आशा में यदि धर्म का अतिक्रमण किया जाये तो सुख का मिलना उसके लिए निश्चय ही दुर्लभ हो जाता है ॥ १५ ॥

तो निश्चयपूर्वक यह कहा जा सकता है कि इससे यश का विनाश होता है, मन का अनुताप बढ़ता है और उसकी दुर्गति होती है। इसलिए नीतिवान् व्यक्ति धर्म-विरोधी सुख-मार्ग को विपत्तिप्रद मानकर उसे नहीं अपनाते ॥ १६ ॥

और भी, 'गृहस्थ-जीवन सुखदायक है' इसे मैं ठीक से समझता हूँ, यह तो विश्वास की बात है—

गार्हस्थ-जीवन में उपार्जन और उपार्जित वस्तु का संरक्षणजन्य कष्ट तो निश्चित है, साथ ही बध-बन्धन का भी डर तो लगा ही रहता है। जल-वृष्टि से जैसे सागर को संतुष्टि नहीं होती वैसे ही धन बढ़ने से कोई राजा नहीं अघाता है।

यदि कोई व्यक्ति सुख की कल्पना न करे तो गार्हस्थ-जीवन में सुख कब और कहाँ से टपक पड़ेगा? जैसे किसी को घाव खुजलाने में सुख का आभास मिलता है उसी तरह विषयासक्ति में सुख का मिथ्या भ्रम ही होता है ॥ १८ ॥

साधारणतया मैं यह कहता हूँ—

यह देखा जाता है कि सम्पत्ति पाकर गृहस्थों को मद हो जाता है। कुलीन होने

अतश्च खल्वहमत्रभवन्तमनुनयामि—

मदमानमोहभुजगोपलयं प्रशमाभिरामसुखविप्रलयम् ।
क इवाश्रयेदभिमुखं विलयं बहुतीव्रदुःखनिलयं निलयम् ॥ २० ॥

सन्तुष्टजनगेहे तु प्रविविक्तसुखे वने ।
प्रसीदति यथा चेतस्त्रिदिवेऽपि तथा कुतः ॥ २१ ॥

परप्रसादार्जितवृत्तिरप्यतो रमे वनान्तेषु कुचेलसंवृतः ।
अधर्ममिश्रं तु सुखं न कामये विषेण सम्पृक्तमिवान्नमात्मवान् ॥ २२ ॥

इत्यवगमितमतिः स तेन पितृवयस्यो हृदयग्राहकेण वचसा बहुमानमेव तस्मिन्महासत्त्वे सत्कारप्रयोगविशेषेण प्रवेदयामास ।

तदेवं शीलप्रशमप्रतिपक्षसम्बाधं गार्हस्थ्यमित्येवमात्मकामाः परित्यजन्तीति । लब्धास्वादाः प्रविवेके न कामेष्वावर्तन्त इति प्रविवेकगुणकथायामप्युपनेयम् ।

इत्यपुत्र-जातकमष्टादशकम् ।

से अभिमान होता है। शक्ति से दर्प और दुःख से क्रोध होता है और विपत्ति से दीनता होती है, फिर गृहस्थ-जीवन में शान्ति पाने का मौका ही कब मिलता है ?

अतः आप पूज्यजनों से मैं अनुनय करता हूँ—

दारुण विपत्तियों का घर स्थान है, मद, अभिमान और मोहरूपी साँपों का निवास-स्थान है। शान्तिजन्य सुख का तो वह विनाशक है तथा सामने खड़ा वह सर्वनाश है। अतः घर का आश्रय जानकर भला कौन लेगा ? ॥ २० ॥

तृष्णा-शून्य प्राणियों का निवास-स्थान, वैराग्य सुख से परिपूर्ण यह तपोवन मन को जितना आनन्दित करता है, स्वर्ग में भी उस सुख का दर्शन दुर्लभ है ॥ २१ ॥

दूसरों से प्राप्त जीविका पर निर्भर रहकर और फटे-चिथड़े लपेटकर भी मैं इस जंगल में परम प्रसन्न हूँ। मैं अधर्म मिश्रित सुख की कामना ही नहीं करता। स्वस्थ मन व्यक्ति भला विष-मिश्रित अन्न कैसे ग्रहण करेगा ? ॥ २२ ॥

जब उन्होंने अपने पिता के साथियों की इस तरह सारगर्भित शब्दों द्वारा समझाया तो उन लोगों ने उनके प्रति हार्दिक सम्मान प्रकट किया।

तब गृहस्थ जीवन शील और शान्ति विरोधी वस्तुओं से भरा है, यह समझकर आत्मकल्याण की कामना करने वाले लोग स्वयं ही गृहस्थ-जीवन का परित्याग कर देते हैं। जिन्हें वैराग्य का रस मिल चुका है, वे फिर काम-भोग के सुख में कभी नहीं भटकते। इस तरह वैराग्य के गुण-वर्णन में भी इस कथा का उल्लेख करना चाहिए।

अपुत्रजातक अठारहवाँ समाप्त।

(१९) बिस-जातकम्

प्रविवेकसुखरसज्ञानां विडम्बनेव विहिंसेव च कामाः प्रतिकूला भवन्ति। तद्यथानुश्रूयते--

बोधिसत्त्वः किल कस्मिंश्चिन्महति गुणप्रकाशयशसि वाच्यदोषविरहिते ब्राह्मणकुले जन्मपरिग्रहं चकार। तस्य यत्र कनीयांसः षडपरे भ्रातरस्तदनुरूपगुणाः स्नेहबहुमानगुणान्नित्यानुगुणा बभूवुः, सप्तमी च भगिनी। स कृतश्रमः साङ्गेषु सोपवेदेषु वेदेषु समधिगतविद्यायशाः सम्मतो जगति दैवतवन्मातापितरौ परया भक्त्या परिचरन्नाचार्य इव पितेव तान्भ्रातॄन्विद्यासु विनयन्नयविनयकुशलो गृहमावसति स्म। स कालक्रमान्मातापित्रोः कालक्रियया संविग्नहृदयः कृत्वा तयोः प्रेतकृत्यानि व्यतीतेषु शोकमयेष्विव केषुचिदेव दिवसेषु तान्भ्रातॄन् सन्निपात्योवाच—

एष लोकस्य नियतः शोकातिविरसः क्रमः।
सह स्थित्वापि सुचिरं मृत्युना यद्वियोज्यते॥ १॥

तत्प्रव्रजितुमिच्छामि श्रेयःश्लाघ्येन वर्त्मना।
पुरा मृत्युरिपुर्हन्ति गृहसंरक्तमेव माम्॥ २॥

---

१९. बिस-जातक

जीवन में एक बार जिसने वैराग्य-सुख का रस चख लिया, उसके लिए काम-सुख मात्र विडम्बना है और हिंसा की तरह प्रतिकूल है। यह बात इस कहानी से भी संपुष्ट होती है—

एक बार बोधिसत्त्व ने किसी विख्यात ब्राह्मणकुल में जन्म ग्रहण किया। यह कुल अपने गुणों से विख्यात, यशस्वी, निन्दारहित और निर्दोष था। उनके छः छोटे भाई उन्हीं के अनुरूप गुणवान् तथा स्नेह और सम्मान भाव के कारण सदैव उनके अनुवर्त्ती थे। सातवीं एक बहन थी। बोधिसत्त्व ने साङ्गवेदाध्ययन कर संसार में सम्मान प्राप्त किया। विद्याएँ और कीर्त्ति अर्जित की। देवतुल्य माता-पिता की अत्यन्त भक्तिपूर्वक सेवा करते हुए, तथा आचार्य और पिता की तरह अपने अनुजों को विद्या सिखाते हुए वे नीतिपूर्वक घर में रहते थे। कालक्रम से उनके माता-पिता की मृत्यु हुई। दुःख से उनके हृदय में संवेग हुआ। उनका श्राद्ध-संस्कार सम्पन्न होने के कुछ दिन बाद उन्होंने अपने भाईयों को बुलाकर कहा—

बहुत दिनों तक साथ रहने पर भी मृत्यु के कारण लोगों को एक दूसरे से अलग होना पड़ता ही है। संसार का यह एक बड़ा दुःखद किन्तु अटल नियम है॥ १॥

घर-गृहस्थी में आसक्त मुझे एक दिन अचानक मौत अपना ग्रास बना ले, इससे अच्छा प्रशंसनीय कल्याण-पथ पर मैं प्रव्रजित हो जाना चाहता हूँ॥ २॥

यतः सर्वानेव भवतः सम्बोधयामि । अस्त्यत्र ब्राह्मणकुले धर्मेण यथाधिगता विभवमात्रा । शक्यमनया वर्तितुम् । तत्सर्वैरेव भवद्भिः परस्परं स्नेहगौरवाभिमुखैः शीलसमुदाचारेष्वशिथिलादरैर्वेदाध्ययनपरैर्मित्रातिथिस्वजनप्रणयवत्सलैर्धर्मपरायणैर्भूत्वा सम्यग्गृहमध्यावस्तव्यम् ।

विनयश्लाघिभिर्नित्यं स्वाध्यायाध्ययनोद्यतैः ।
प्रदानाभिरतैः सम्यक्परिपाल्यो गृहाश्रमः ॥ ३ ॥

एवं हि वः स्याद्यशसः समृद्धिर्धर्मस्य चार्थस्य सुखास्पदस्य ।
सुखावगाहश्च परोऽपि लोकस्तदप्रमत्ता गृहमावसेत ॥ ४ ॥

अथास्य भ्रातरः प्रव्रज्यासङ्कीर्तनाद्वियोगाशङ्काव्यथितमनसः शोकाश्रुदुर्दिनमुखाः प्रणम्यैनमूचुः—नार्हत्यत्रभवान्पितृवियोगशोकशल्यव्रणमसंरूढमेव नो घट्टयितुमपरेण दुःखाभिनिपातक्षारेण ।

अद्यापि तावत्पितृशोकशल्यक्षतानि रोहन्ति न नो मनांसि ।
तत्साध्विमां संहर धीर बुद्धिं मा नः क्षते क्षारमिहोपहार्षीः ॥ ५ ॥

संन्यास ग्रहण करने के पूर्व मैं आप से कहना चाहूँगा—इस महान् कुल में धर्मोपार्जित इतनी सम्पत्ति है जिससे आप सबों का सुखपूर्वक निर्वाह हो सकेगा । आप सभी परस्पर स्नेह और सम्मान के साथ रहें । शील और सदाचार की रक्षा करें । मित्र, अतिथि और सज्जनों का सदैव सम्मान करें । वेदाध्ययन में लीन रहें । धर्म का पालन करते हुए सुखपूर्वक गृहस्थ-जीवन व्यतीत करें ।

सदैव विनयी, वेदाभ्यासी और दानशील बने रहकर गृहस्थाश्रम के धर्म का सम्यक् रूप से पालन करें ॥ ३ ॥

इस प्रकार रहने से आपकी कीर्त्ति बढ़ेगी, धर्म बढ़ेगा और बढ़ेगी सुखदायक सम्पत्ति । परलोक की प्राप्ति सुलभ हो जायेगी । अतः सावधान होकर आप लोग इस घर में निवास करें ॥ ४ ॥

उनके भाइयों ने जब इनसे संन्यास-ग्रहण की बात सुनी, तब भाई से बिछुड़ने की आशंका से उनके मन में बहुत कष्ट हुआ । दुःख के आँसुओं से उनका मुँह भींग गया । प्रणाम कर उन लोगों ने कहा—पितृ-वियोग-जन्य शोक-शल्य का घाव तो अभी भरा ही नहीं और यह दूसरा दुःखरूपी नमक उस घाव पर छिड़ककर उसे ताजा बनाना आप जैसे पूज्य के लिए उचित नहीं ।

पितृ-शोकरूपी-शल्य से जो घाव हमारे मन में हुआ था, वह तो अब तक भरा ही नहीं है । अतः हे धीर पुरुष ! आप अपने विचार को रोकें । घाव पर नमक न छिड़कें ॥ ५ ॥

अथाक्षमं वेत्सि गृहानुरागं श्रेयःपथं वा वनवाससौख्यम् ।
अस्माननाथानपहाय गेहे कस्माद्वनं वाञ्छसि गन्तुमेकः ।। ६ ।।

तद्यात्रभवतो गतिः सास्माकम् । वयमपि प्रव्रजाम इति ।

बोधिसत्त्व उवाच—

अनभ्यासाद्विवेकस्य कामरागानुवर्तिनः ।
प्रपातमिव मन्यन्ते प्रव्रज्यां प्रायशो जनाः ।। ७ ।।

इति मया निगृह्य नाभिहिताः स्थ प्रव्रज्याश्रयं प्रति जानतापि गृहवनवासविशेषम् । तदेतच्चेदभिरुचितं भवतामेव प्रव्रजाम इति । ते सप्तापि भ्रातरो भगिन्यष्टमाः स्फीतं गृहविभवासारमश्रुमुखं च मित्रस्वजनबन्धुवर्गं विहाय तापसप्रव्रज्यया प्रव्रजिताः । तदनुरक्तहृदयश्चैनान्सहाय एको दासी दासश्चानुप्रव्रजिताः ।

तेऽन्यतरस्मिन्महत्यरण्यायतने ज्वलितमिव विकसितकमलवनशोभया विहसदिव च फुल्लकुमुदवनैरनिभृतमधुकरगणममलनीलसलिलं महत्सरः सन्निश्रित्य प्रविविक्तमनोज्ञासु च्छायाद्रुमसमुपगूढास्वसन्निकृष्टविनिविष्टासु पृथक्पृथक्पर्णशालासु व्रतनियमपरा ध्यानानुयुक्तमनसो विजह्रुः । पञ्चमे

यदि आपकी दृष्टि में गृहानुराग अनुचित और बनवास सुख-कल्याण का मार्ग है तो हम अनाथों को घर में छोड़कर आप अकेले क्यों बन जाना चाहते हैं ।। ६ ।।

तब जो गति आपकी होगी, वह हमारी भी । आपके ही साथ हम सभी प्रव्रजित होंगे—

तब बोधिसत्त्व ने कहा—

ऐसा देखा जाता है कि वैराग्य में अनभ्यस्त एवं कामासक्त लोग प्रव्रज्या को जल-प्रपात की तरह ही मानते हैं ।। ७ ।।

अतः गृहस्थी और बनवास के अन्तर को समझते हुए भी मैंने अपने आप को रोककर आप सबों को प्रव्रज्या के लिए नहीं कहा । अब यदि आप लोगों की यही राय है तो हम सब एक साथ प्रव्रजित होंगे । इसके बाद आठों भाई-बहन विशाल घर द्वार, बहुमूल्य सम्पत्ति तथा रोते हुए स्वजनों और बन्धुओं को छोड़कर तापसोचित प्रव्रज्या से युक्त हो गये । उनके अत्यन्त अनुरक्त एक सहायक एक दासी और एक दास भी उनके साथ प्रव्रजित हुए ।

वे सभी किसी बड़े जंगल में चले गये । वहाँ निर्मल नीले जल से भरा एक सरोबर था । विकसित कमलों की आभा से वह प्रदीप्त था । उन पर भौंरे गूँजते रहते थे । रात में कुमुद हँसते थे । वहीं उन्होंने पृथक्-पृथक् पर्णशालाएँ बनाईं । वे छाया वृक्षों से आलिंगित एकान्त में मनोहर थीं । वहाँ वे व्रत-नियमों का पालन करते हुए ध्यानावस्थित चित्त से विहार करने लगे । वे प्रति पाँचवे दिन बोधिसत्त्व के समीप

पञ्चमे दिवसे बोधिसत्त्वसमीपं धर्मश्रवणार्थमुपजग्मुः। स चैषां ध्यानोपदेश-प्रवृत्तां कामादीनवदर्शनीं संवेगनीयां प्रविवेकसन्तोषवर्णबहुलां कुहनलपन-कौसीद्यादिदोषविगर्हणीमुपशमप्रसादपद्धतिं तां तां धर्म्यां कथां चकार।

सा चैनान् दासी बहुमानानुरागवशा तथैव परिचचार। सा तस्मात्सरसो बिसान्युद्धृत्य महत्सु पद्मिनीपर्णेषु शुचौ तीरप्रदेशे समान्विन्यस्य च भागान्काष्ठसङ्घट्टनशब्देन कालं निवेद्यापक्रामति स्म। ततस्तेषामृषीणां कृत-जपहोमविधीनां यथावृद्धमेकैकोऽभिगम्य ततो बिसभागमेकैकं यथाक्रममादाय स्वस्यां स्वस्यां पर्णशालायां विधिवत्परिभुज्य ध्यानाभियुक्तमतिर्विजहार। त एवं प्रवृत्ता नैव परस्परं ददृशुरन्यत्र धर्मश्रवणकालात्।

तेषामेवंविधेन निरवद्येन शीलवृत्तसमुदाचारेण प्रविवेकाभिरतया ध्यान-प्रवणमानवतया च सर्वत्र यशः समुपश्रुत्य शक्रो देवानामिन्द्रस्तत्परीक्षानिमित्तं तत्राभिजगाम। तच्चैषां ध्यानाभिमुखत्वं कुकार्येष्वप्रसङ्गमनुत्कण्ठां प्रशमा-भिरामं चावस्थानमवेक्ष्य स्थिरतरगुणसम्भावनस्तत्परीक्षानिमित्तमवहित-मना बभूव।

अनुत्सुको वनान्तेषु वसञ्छमपरायणः।
आरोपयति साधूनां गुणसम्भावनां हृदि॥ ८॥

धर्मोपदेश सुनने के लिए जाया करते थे। वे उन्हें धर्मोपदेश करने वाली, कामोप-भोग के दोषों को दिखाने वाली, संवेग उत्पन्न करने वाली, वैराग्य और संतोष के अक्षरों से भरपूर, कपट, वाचालता आलस्य आदि दोषों की निन्दा करने वाली धार्मिक कथाएँ कहा करते थे।

वह दासी स्नेह और सम्मान भाव के कारण पूर्ववत् उनकी सेवा करती रही। वह उस सरोवर से कमलनाल निकालती, फिर उन कमलनालों को किनारे के पवित्र स्थान पर, कमल के बड़े-बड़े पत्तों पर बराबर भाग लगाकर रखती थी। इसके बाद उन तपस्वियों को आहार काल की सूचना काठों की चोट से देकर वहाँ से हट जाती थी। होम-जाप की क्रिया सम्पन्न कर वे तपस्वी, अपनी वयः-क्रम से वहाँ आते और अपना अंश लेकर पर्णशाला में लौट जाते। उसे खाकर विधिवत् वे ध्यान-सुख में विचरण करते। उपदेश सुनने के समय को छोड़कर कभी भी वे एक दूसरे से नहीं मिलते। सदैव साधना में लीन रहते थे।

शील, सदाचार, वैराग्यरति और ध्यान की दत्तचित्तता के कारण उनकी कीर्त्ति दिग्दिगन्त में फैल गई। देवराज इन्द्र ने उनकी परीक्षा लेनी चाही। कुकर्म से दूर गंभीर, शान्त और धीर भाव से वे सदैव ध्यानावस्थित रहते। उनमें सद्गुणों के स्थायित्व की संभावना से इन्द्र उनकी परीक्षा लेने के लिए तत्पर हुए।

विषय-वासना से विमुख और शान्त-चित्त होकर जो जंगल में निवास करते हैं

अथ द्विपकलभदशनपाण्डुकोमलानि समुद्धृत्य प्रक्षाल्य च बिसानि मरकत हरितप्रभेषु पद्मिनीपत्रेषु कमलदलकेशरोपहारालङ्कृतान्विरचय्य समान्भागान्काष्ठसङ्घट्टनशब्देन निवेद्य कालं तेषामृषीणामपसृतायां तस्यां दास्यां बोधिसत्त्वपरीक्षार्थं शक्रो देवानामिन्द्रः प्रथममेव बिसभागमन्तर्धापयामास ।

प्रवर्तने हि दुःखस्य तिरस्कारे सुखस्य च ।
धैर्यप्रयामः साधूनां विस्फुरन्निव गृह्यते ।। ९ ।।

अथ बोधिसत्त्वोऽभिगतः प्रथमे बिसभागस्थाने बिसभागविरहितं पद्मिनीपत्रं परिव्याकुलीकृतोपहारमभिसमीक्ष्य गृहीतः केनापि मे बिसप्रत्यंश इत्यवधृतमतिरपेतचेतःसङ्क्षोभसंरम्भस्तत एव प्रतिनिवृत्य प्रविश्य पर्णशालायां यथोचितं ध्यानविधिमारेभे । वैमनस्यपरिहारार्थं चेतरेषामृषीणां तमर्थं न निवेदयामास । इतरे त्वस्य भ्रातरो नूनमनेन गृहीतः प्रत्यंश इति मन्यमाना यथोचितानेव स्वान्स्वाननुक्रमेण बिसभागानादाय यथास्वं पर्णशालासु परिभुज्य ध्यायन्ति स्म । एवं द्वितीये तृतीये चतुर्थे पञ्चमे च दिवसे शक्रस्तस्य तं बिसप्रत्यंशमुपनिदधे । बोधिसत्त्वोऽपि च महासत्त्वस्तथैव निःसङ्क्षोभप्रशान्तचित्तो बभूव ।

वे साधु पुरुषों के हृदय में अपने गुणों के प्रति स्वयं सम्मान के भाव उत्पन्न कर देते हैं ।। ८ ।।

हाथी के बच्चों के दाँतों की तरह सफेद और कोमल-कमल-नाल निकालकर उसे जल में धोकर, मरकत सदृश कमल के हरित पत्रों पर सजाकर उन्हें कमल की पंखुड़ियों और केसरों से अलंकृत कर, आहारकाल निवेदित कर दासी के हट जाने पर बोधिसत्त्व की परीक्षा के निमित्त देवराज शक्र ने कमल-नाल के पहले भाग को कहीं छिपा दिया ।

दुःख का उदय होने पर सुख की स्थिति विनष्ट हो जाने पर ही सत्पुरुषों के धैर्य का परिचय मिलता है ।। ९ ।।

पूर्व की भाँति बोधिसत्त्व जब अपना भाग लेने आये तब उन्होंने वहाँ कमल नाल को नहीं पाया । उपहारों को बिखरे देखकर उन्हों निश्चय किया—किसी ने मेरा भाग ले लिया है ।' मन में क्षोभ किये विना ही वहाँ से वे लौटकर अपनी पर्णशाला में आकर पूर्ववत् यथोचित् ध्यान-विधि में रम गये । वैमनस्य होने की आशंका से उन्होंने किसी से भी यह नहीं कहा । दूसरे लोग पहले की तरह अपना भाग लेते रहे । इसी प्रकार दूसरे, तीसरे, चौथे एवं पाँचवें दिन भी शक्र ने वैसा ही किया । महासत्त्व बोधिसत्त्व भी उसी तरह अविचलित, लोभ-रहित और शान्त चित्त बने रहे ।

मन:संक्षोभ एवेष्टो मृत्युर्नायु:क्षय: सताम् ।
जीवितार्थेऽपि नायान्ति मन:क्षोभमतो बुधा: ।। १० ।।

अथापराह्णसमये धर्मश्रवणार्थमृषयस्ते यथोचितं बोधिसत्त्वस्य पर्णशालां समभिगता ददृश्वांसश्चैनं कृशतरशरीरं परिक्षामकपोलनयनं परिम्लानवदन-शोभमसम्पूर्णस्वरगाम्भीर्यं परिक्षीणमप्यपरिक्षीणधैर्यप्रशमगुणमभिनवेन्दु-प्रियदर्शनमुपेत्योपचारपुर:सरं ससम्भ्रमा: किमिदमिति कार्श्यनिमित्तमेनम-पृच्छन् । तेभ्यो बोधिसत्त्वस्तमर्थं यथानुभूतं निवेदयामास । अथ ते तापसा: परस्परमीदृशमनाचारमसम्भावयन्तस्तत्पीडया च समुपजातसंवेगा: कष्टं कष्टमित्युक्त्वा व्रीडावनतवदना: समतिष्ठन्त । शक्रप्रभावाच्च समावृतज्ञान-गतिविषया: कुत इदमिति न निश्चयमुपजग्मु: । अथ बोधिसत्त्वस्यानुजो भ्राता स्वमावेगमात्मविशुद्धिं च प्रदर्शयञ्छपथातिशयमिमं चकार—

समृद्धिचिह्नाभरणं स गेहं प्राप्नोतु भार्यां च मनोऽभिरामाम् ।
समग्रतामेतु च पुत्रपौत्रैर्बिसानि ते ब्राह्मण यो ह्यहार्षीत् ।। ११ ।।

अपर उवाच—

माला: स्रजश्चन्दनमंशुकानि बिभ्रद्विभूषाश्च सुताभिमृष्टा: ।
कामेषु तीव्रां स करोत्वपेक्षां बिसान्यहार्षीद्द्विजमुख्य यस्ते ।। १२ ।।

सज्जन पुरुष मानसिक क्षोभ को ही मत्यु मानते हैं न कि आयु क्षय को । यही कारण है कि प्राणाधिक कष्ट आने पर भी विचारशील पुरुष अपने मन में क्षोभ नहीं आने देते ।। १० ।।

अपराह्न वेला में धर्मोपदेश सुनने के लिए जब ऋषिगण बोधिसत्त्वं की पर्ण-शाला में पहुँचे तो देखा कि बोधिसत्त्व की देह गल गई है । गाल पिचक गये हैं । आँखें धँस गई हैं । मुँह की शोभा मुरझा गई है । बोली लड़खड़ा गई है । फिर भी शान्ति भंग नहीं हुई है, धैर्य क्षीण नहीं हुआ है और वे अभिनव चन्द्रमा की तरह देखने में सुन्दर लग रहे हैं । शिष्टाचारपूर्वक समीप जाकर उन्होंने विनम्र भाव से इस दुबलेपन का कारण पूछा । बोधिसत्त्व ने उनसे सारी बातें सचसच बतलाईं । इन तपस्वियों को परस्पर ऐसे अनाचार करने की आशंका नहीं हुई । बोधिसत्त्व की पीड़ा से उनके मुँह से केवल 'हा कष्ट' निकला और वे सिर झुका कर खड़े हो गये । शक्र के प्रभाव से उनके सोचने की शक्ति ही नष्ट हो गई । वे जब इस अना-चार का कारण नहीं जान सके तब छोटे भाई ने अपना आवेग एवं अपनी पवित्रता प्रकट करते हुए कहा—

हे ब्राह्मण देव, जिसने आपका कमलनाल चुराया है उसका जन्म अतिसम्पन्न घर में हो, उसकी पत्नी मनोरमा हो तथा उसका घर पुत्र-पौत्रों से भरा रहे ।। ११ ।।

दूसरे ने कहा—हे विप्र, जिस किसी ने भी आपका कमलनाल चुराया है, उसको

अपर उवाच—
कृष्याश्रयावाप्तधनः कुटुम्बी प्रमोदमानस्तनयप्रलापैः ।
वयोऽप्यपश्यन्रमतां स गेहे बिसानि यस्ते सकृदप्यहार्षीत् ॥ १३ ॥
अपर उवाच—
नराधिपैर्भृत्यविनीतचेष्टैरभ्यर्च्यमानो नतलोलचूडैः ।
कृत्स्नां महीं पातु स राजवृत्त्या लोभादहार्षीत्तव यो बिसानि ॥ १४ ॥
अपर उवाच—
पुरोहितः सोऽस्तु नराधिपस्य मन्त्रादिना स्वस्त्ययनेन युक्तः ।
सत्कारमाप्नोतु तथा च राज्ञस्तवापि यो नाम बिसान्यहार्षीत् ॥ १५ ॥
अपर उवाच—
अध्यापकं सम्यगधीतवेदं तपस्विसम्भावनया महत्या ।
अर्चन्तु तं जानपदाः समेत्य बिसेषु लुब्धो न गुणेषु यस्ते ॥ १६ ॥
सहाय उवाच—
चतुःशतं ग्रामवरं समृद्धं लब्ध्वा नरेन्द्रादुपयातु भोक्तुम् ।
अवीतरागो मरणं स चैतु लोभं बिसेष्वप्यजयन्न यस्ते ॥ १७ ॥
दास उवाच—
स ग्रामणीरस्तु सहायमध्ये स्त्रीनृत्तगीतैरुपलाप्यमानः ।
मा राजतश्च व्यसनानि लब्ध बिसार्थमात्मार्थमशीशमद्यः ॥ १८ ॥

उपभोग के लिए हार, चन्दन, सुन्दर वस्त्र तथा पुत्र द्वारा स्पर्शित आभूषण सदैव उपलब्ध हों और वह सदैव काम-सुख के उपभोग में आकण्ठ डूबा रहे ॥ १२ ॥

तीसरे ने कहा—आपके कमलनाल का चोर कृषि-कर्म से धनोपार्जन करे, पारिवारिक शिशुओं की मीठी तुतली बोली में भूला रहे, मृत्यु की उपेक्षा कर सदैव गृहसुख में लीन रहे ॥ १३ ॥

चौथे ने कहा—लोभवश जिसने आपका कमलनाल चुराया है, वह सम्पूर्ण धरती का पालनकर्त्ता सम्राट् हो । विनीत नौकर की तरह सभी राजे उसके चरणों में नतानन हों ॥ १४ ॥

पाँचवें ने कहा—जिसने आपका कमलनाल चुराया है, मांगल्यप्रद मंत्रों का ज्ञाता हो, राजा का पुरोहित हो, सर्वमान्य होकर सबका सत्कार प्राप्त करें ॥ १५ ॥

छठे ने कहा—आपके गुणों की अवहेलना कर जिसने कमलनाल चुराया है वह वेद का अध्यापक हो, जनता उसका सम्मान करें । वह सबसे पूजित हो ॥ १६ ॥

सहायक ने कहा—जिसको कमलनाल का लोभ हुआ, उसे राजा चार सौ सम्पन्न ग्राम उपभोग के लिये दें । आकण्ठ राग में डूबे ही उसकी मौत हो ॥ १७ ॥

दास ने कहा—जिसने आपका कमलनाल चुराया है, वह गाँवों का अधिपति

भगिन्युवाच—
विद्योतमानां वपुषा श्रिया च पत्नीत्वमानीय नराधिपस्ताम् ।
योषित्सहस्राग्रसरीं करोतु यस्त्वद्विधस्यापि बिसान्यहार्षीत् ।। १९ ।।
दास्युवाच—
एकाकिनी सा समतीत्य साधून्स्वादूपभोगे प्रणयं करोतु ।
सत्कारलब्धां मुदमुद्वहन्ती बिसान्यपश्यत्तव या न धर्मम् ।। २० ।।
अथ तत्र धर्मश्रवणार्थं समागतास्तद्वनाध्युषिता यक्षद्विरदवानरास्तां कथामुपश्रुत्य परां व्रीडां संवेगं चोपजग्मुः । अथ यक्ष आत्मविशुद्धिप्रदर्शनार्थमिति शपथमेषां पुरतश्चकार—
आवासिकः सोऽस्तु महाविहारे कचङ्गलायां नवकर्मिकश्च ।
आलोकसन्धिं दिवसैः करोतु यस्त्वय्यपि प्रस्खलितो बिसार्थम् ।। २१ ।।
हस्त्युवाच—
षड्भिर्दृढैः पाशशतैः स बन्धं प्राप्नोतु रम्याच्च वनाज्जनान्तम् ।
तीक्ष्णाङ्कुशाकर्षणजा रुजश्च यस्ते मुनिश्रेष्ठ बिसान्यहार्षीत् ।। २२ ।।
वानर उवाच—
स पुष्पमाली त्रपुघृष्टकण्ठो यष्ट्या हतः सर्पमुखं परैतु ।
वैकक्ष्यबद्धश्च वसेद् गृहेषु लौल्याददहार्षीत्तव यो बिसानि ।। २३ ।।

बने, साथियों के साथ स्त्रियों के नृत्य-गीत का उपभोग करे। उसे कभी राज-भय न हो ।। १८ ।।

बहन ने कहा—आप जैसे तपस्वी का जिसने कमलनाल चुराया वह अत्यन्त रूपवती हो और किसी राजा की हजार सुन्दर पत्नियों के बीच पटरानी हो ।।१९।।

दासी ने कहा—जिसने आपके धर्म को अनदेखा कर आपका कमलनाल चुराया, वह साधुओं की उपेक्षा कर एकान्त में स्वादिष्ट भोजन का उपभोग करे तथा सत्कार पाकर आनन्दित हो ।। २०.।।

धर्मोपदेश सुनने के लिए वहाँ एकत्र यक्ष, हाथी और वानर प्रभृति जीव अत्यन्त लज्जित एवं उद्विग्न हुए। यक्ष ने अपनी निर्दोषता प्रमाणित करते हुए उनसे कहा—

जिसने सामान्य कमलनाल के लिए आपके प्रति धर्मच्युत हुआ है, उसका निवास कचङ्गला के महाबिहार में हो। स्थापत्यकला का अध्यक्ष होकर दिन में खिड़की बनाया करे ।। २१ ।।

हाथी ने कहा—हे यतिश्रेष्ठ, जिस किसी ने आपका कमलनाल चुराया है, वह जंगल छोड़कर मनुष्य के पास जाये। छः सौ मजबूत बन्धनों में जकड़ा जाये और तेज अंकुशों से वह पीड़ित हो ।। २२ ।।

वानर ने कहा—जिसने आपके कमलनाल चुराए, वह जंजीर में बँधकर किसी के

अथ बोधिसत्त्वस्तान्सर्वानेवानुनयविनीताक्षरं शान्तिगाम्भीर्यसूचक-मित्युवाच—

यो नष्टमित्याह न चास्य नष्टमिष्टान्स कामानधिगम्य कामम् ।
उपैतु गेहाश्रित एव मृत्युं भवत्सु यः शङ्कत ईदृशं वा ॥ २४ ॥

अथ शक्रो देवेन्द्रस्तेन तेषां कामोपभोगप्रातिकूल्यसूचकेन शपथातिशयेन समुत्पादितविस्मयबहुमानः स्वेनैव वपुषाभिज्वलता तानृषीनभिगम्य सामर्ष-वदुवाच – मा तावद्भोः !

यत्प्राप्तिपर्युत्सुकमानसानां सुखार्थिनां नैति मनांसि निद्रा ।
यान्प्राप्तुमिच्छन्ति तपःश्रमैश्च तान्केन कामानिति कुत्सयध्वे ॥ २५ ॥

बोधिसत्त्व उवाच– अनन्तादीनवा मार्ष कामाः । सङ्क्षेपतस्तु श्रूयतां यदभिसमीक्ष्य कामान्न प्रशंसन्ति मुनयः ।

कामेषु बन्धमुपयाति वधं च लोकः
शोकं क्लमं भयमनेकविधं च दुःखम् ।
कामार्थमेव च महीपतयः पतन्ति
धर्मोपमर्दरभसा नरकं परत्र ॥ २६ ॥

घर की शोभा बढ़ाये, राँगे की कण्ठी से उसका गला घिसता रहे, फूलों की माल। उसे पहनाया जाये तथा लाठी से पिटकर साँप के मुँह में गिरे ॥ २३ ॥

अपनी शान्ति और गंभीरता प्रकट करते हुए तब बोधिसत्त्व ने विनम्र होकर उनसे कहा—अगर कमलनाल बिना नष्ट हुए असत्यारोप से किसी ने आप्तजनों पर अनाचार की आशंका व्यक्त की हो तो यथेच्छ कामोपभोग में लीन रहकर घर में ही मरे ॥ २४ ॥

कामभोग के विरोध में निन्दा-सूचक उनके इस घोर शपथ को सुनकर देवराज इन्द्र के मन में विस्मय और इनके प्रति सम्मान का भाव प्रकट हुआ। वे इनके सामने असली रूप में प्रकट हुए। ऋषियों के पास जाकर क्रोध दिखलाते हुए कहा—आप ऐसा न कहें।

सुखाभिलाषियों की आँख की नींद जिन्हें पाने के लिए हराम हो जाती है, जिन्हें पाने के लिए लोग घोर तपस्या करते हैं। उन काम-भोगों की आप ऐसी निन्दा भला क्यों करते हैं ? ॥ २५ ॥

तब बोधिसत्त्व ने कहा—महाशय आप जिस काम-भोग को सुख कहते हैं, उसमें अनन्त-क्लेश हैं। आप सुनना चाहें तो संक्षेप में सुनिए कि क्यों कामोपभोग की निन्दा मुनिगण करते हैं ?

काम-सुख के लिए मनुष्य वध या बन्धन पाता है। इसी के लिए लोग शोक या

यत्सौहृदानि सहसा विरसीभवन्ति
यन्नीतिशाठ्यमलिनेन पथा प्रयान्ति ।
कीर्त्या वियोगमसुखैः परतश्च योगं
यत्प्राप्नुवन्ति ननु कारणमत्र कामाः ॥ २७ ॥

इति हीनविमध्यमोत्तमानामिह चामुत्र च यद्वधाय कामाः ।
कुपितान्भुजगानिवात्मकामा मुनयस्तानिति शक्र नाश्रयन्ते ॥ २८ ॥

अथ शक्रो देवानामिन्द्रस्तस्य तद्वचनं युक्तमित्यभिनन्द्य तेन चैतेषामृषीणां माहात्म्येनाभिप्रसादितमनास्तेभ्यः स्वमपराधमाविश्चकार ।

गुणसम्भावनाव्यक्तिर्यत्परीक्ष्योपलभ्यते ।
मया विनिहितान्यस्मात्परीक्षार्थं बिसानि वः ॥ २९ ॥
तत्सनाथं जगद्दिष्टया मुनिभिस्तथ्यकीर्तिभिः ।
विशुद्धिः स्थिरचारित्रे तदेतानि बिसानि ते ॥ ३० ॥

इत्युक्त्वा तानि बिसानि बोधिसत्त्वस्य समुपजहार । अथ बोधिसत्त्वस्त-दस्यासमुदाचारधाष्टर्यं तेजस्विनिभृतेन वचसा प्रत्यादिदेश—

अनेक विपत्तियाँ झेलते हैं; अनेक दुःख उठाते हैं । इसी काम-सुख के लिए राजधर्म का उत्पीड़न करते हैं और नरकगामी बनते हैं ॥ २६ ॥

इसी काम सुख के लिए किसी की दोस्ती ढीली पड़ जाती है, नीति-कुटिल हो जाती है, गन्दी राह चलना पड़ता है, अपयश मिलता है, परलोक में दुःख पाते हैं ।

हे शक्र ! इसी कामोपभोग के लिए उत्तम, मध्यम या अधम कोटि के मानव अपना इहलोक और परलोक दोनों एक साथ गवाँ देते हैं । ऐसे विषैले क्रुद्ध साँप की तरह लहराते काम-सुख से आत्मकामी मुनिगण दूर ही रहते हैं ॥ २८ ॥

तब देवराज इन्द्र ने उनसे बहुत प्रभावित होकर हृदय से उनका सम्मान किया और उनके माहात्म्य से प्रसन्न होकर उनके सामने अपना अपराध स्वीकार कर लिया—

उन्होंने कहा—परीक्षा लेने के बाद ही किसी के प्रति सच्चा समादर का भाव जगता है । यही कारण है कि आपकी परीक्षा लेने के लिए ही मैंने कमलनाल को छिपा दिया था ॥ २९ ॥

सौभाग्य से यह धरती आपके जैसे मुनियों को पाकर ही सनाथ है । ये कमल-नाल तो आपके स्थिर चरित्र के प्रमाण मात्र है ॥ ३० ॥

यह कहकर उन्होंने छिपाये गये कमलनाल को उनके सामने लाकर रख दिया । तब बोधिसत्त्व ने उनके इस असभ्य एवं धृष्ट आचरण के लिए उन्हें ओजस्वी शब्दों में फटकारा—

न बान्धवा नैव वयं सहाया न ते नटा नापि विडम्बकाः स्मः ।
कस्मिन्नवष्टभ्य नु देवराज क्रीडापथेनैवमृषीनुपैषि ।। ३१ ।।

इत्युक्ते शक्रो देवेन्द्रः ससम्भ्रमापास्तकुण्डलकिरीटविद्युदुद्भासुरवदनः सबहुमानमभिप्रणम्यैनं क्षमयामास—

उक्तप्रयोजनमिदं चापलं मम निर्मम ।
पितेवाचार्य इव च क्षन्तुमर्हति तद्भवान् ।। ३२ ।।

निमीलितज्ञानविलोचनानां स्वभाव एष स्खलितुं समेऽपि ।
क्षमां च तत्रात्मवतां प्रपत्तुमतोऽप्यदश्चेतसि मा स्म कार्षीः ।। ३३ ।।

इति क्षमयित्वा शक्रस्तत्रैवान्तर्दधे ।

तदेदं प्रविवेकसुखरसज्ञानां विडम्बनेव विहिंसेव च कामाः प्रतिकूला भवन्ति ।

[तच्चेदं जातकं भगवान्व्याकार्षीत्—

अहं शारद्वतीपुत्रो मौद्गल्यायनकाश्यपौ ।
पूर्णानिरुद्धावानन्द इत्यासुर्भ्रातरस्तदा ।। ३४ ।।
भगिन्युत्पलवर्णासीद्दासी कुब्जोत्तराभवत् ।
चित्रो गृहपतिर्दासो यक्षः सातागिरिस्तदा ।। ३५ ।।

न हम आपके बन्धु-बान्धव हैं, न साथी और नहीं मजाक करने के पात्र, या नर्त्तक ही, तो फिर हे देवराज ! किस बल पर आपने हम तपस्वियों के साथ आपने यह खिलवाड़ क्रिया है ।। ३१ ।।

इस तरह फटकार सुनने के बाद शीघ्र ही देवराज इन्द्र ने बड़ी शीघ्रता से अपना कुण्डल एवं किरीटी हटा दिया । फलतः इनके प्रकाश से उनका मुँह चमकने लगा । उन्होंने मुनि को प्रणाम कर क्षमा माँगते हुए कहा—

हे मोह-ममता शून्य मुनि, मैं अपनी चपलता का कारण निवेदित कर चुका हूँ । अब आप हमें कृपालु पिता या आचार्य की तरह क्षमा कर दें ।। ३२ ।।

जिनकी ज्ञान-दृष्टि बन्द है, वैसे ही लोगों का ऐसा स्वभाव होता है कि वे साधुओं के प्रति अपराध करते हैं और संयातात्मा पुरुष उन्हें क्षमा कर देते हैं । अतः आप मेरे अपराध को माफ कर दें ।। ३३ ।।

इस तरह उनसे क्षमा मांग कर शक्र वहीं तिरोहित हो गये —

इस तरह जिसे वैराग्य-सुख का रस मिल गया है, उसके लिए निश्चय ही काम-भोग बिडम्बना या हिंसा की तरह है ।

और उन्होंने इस जातक की इस प्रकार व्याख्या की—

उस समय मैं सारिपुत्र, मौद्गल्यायन, काश्यप, पूर्ण, अनिरुद्ध और आनन्द सातो

पारिलेयोऽभवन्नागो मधुदातैव वानरः।
कालोदायी च शक्रोऽभूद्धार्यतामिति जातकम् ॥ ३६ ॥]

इति बिस-जातकमेकोनविंशतितमम् ।

भाई थे। उत्पलावर्ण बहन और कुब्जोत्तरादासी थी, चित्र गृहपति दास और सातागिरि यक्ष था। परिलेय हाथी और मधुदाता वानर और कालोदायी शक्र था। इस तरह जातक को मन में धारण करना चाहिए ॥ ३४-३६ ॥

बिसजातक उन्नीसवाँ समाप्त ।

(२०) श्रेष्ठि-जातकम्

अभूतगुणसम्भावना प्रतोदसञ्चोदनेव भवति साधूनामिति गुणसम्पादने प्रयतितव्यम् । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किल श्रुतकुलविनयमहानक्षुद्रनिपुणमतिरविषमव्यवहाररतिरनेकशास्त्राभ्यासादालक्षितवचनसौष्ठवः करुणानुवृत्त्या समन्ततो विस्यन्दमानधनसमृद्धिर्महाप्रदानैर्महाधनत्वाद् गृहपतिरत्नसम्मतोऽन्यतमस्य राज्ञः श्रेष्ठी बभूव ।

स प्रकृत्यैव धर्मात्मा श्रुतादिगुणभूषणः ।
अभूत्प्रायेण लोकस्य बहुमानैकभाजनम् ॥ १ ॥

अथ कदाचित्तस्मिन्महासत्त्वे राजकुलमभिगते केनचिदेव करणीयेन तस्य श्वश्रूर्दुहितरमवलोकयितुं तद्गृहमभिजगाम । कृताभ्यागमनसत्कारा च सङ्कथाप्रस्तावागतं स्वां दुहितरं बोधिसत्त्वभार्यां रहसि कुशलपरिप्रश्नपूर्वकं पर्यपृच्छत् । कच्चित्त्वां तात भर्ता नावमन्यते । कच्चिद्वा वेत्ति परिचर्यागुणम् । न वा दुःशीलतया प्रबाधत इति । सा व्रीडावनतवदना लज्जाऽप्रगल्भं शनकै-

---

२०. श्रेष्ठि-जातक

गुण न होने पर भी यदि उसकी संभावना की जाये तो भले लोगों को उससे अंकुश की सी प्रेरणा मिलती है। अतः गुण अर्जन के लिए हमें प्रयास करना चाहिए। तब जैसा कि सुना जाता है—

एक बार बोधिसत्त्व किसी राजा के कोषाध्यक्ष हुए। वे अपनी विद्या, वंश और विनम्रता के लिए विख्यात थे। उनका विचार ऊँचा था। उनकी बुद्धि विलक्षण थी। वे सबके साथ समान व्यवहार करते थे। अनेक शास्त्रों का उन्होंने अध्ययन किया था। उनकी वाणी अति सुन्दर थी। वे अत्यन्त दयालु थे। धन सम्पत्ति की धारा वे चारों ओर बहाते थे। वे महादानी और महाधनी थे। बड़े-बड़े गृहपतियों के बीच वे पूजित थे।

वे स्वभाव से धर्मात्मा और विद्या से विभूषित थे। सबके बीच वे अत्यधिक सम्मान के पात्र थे॥ १॥

एक बार किसी काम से वे राजकुल गये। उनकी अनुपस्थिति में ही उनकी सास अपनी बेटी से मिलने उनके घर आईं। स्वागत सत्कार के बाद बातचीत के प्रसंग में उन्होंने अपनी बेटी से एकान्त में पूछा—बेटी, तुम्हारे पति तुम्हारा अपमान तो नहीं करते? तेरी सेवा-सुश्रूषा का वे समाधान तो करते हैं? दुराचारी पुरुषों की तरह तुम्हें किसी तरह के कष्ट तो नहीं देते? यह सुनकर उसने लज्जा

रुवाच—यादृशोऽयं शीलगुणसमुदाचारेण, प्रव्रजितोऽपि दुर्लभः। क इदानीं तादृशः। अथ सा तस्या माता जरोपहतश्रुतिस्मृतित्वाल्लज्जासङ्कुचिताक्षरं तनयया तद्वचनमभिधीयमानं न सम्यगुपधारयामास। प्रव्रजितसङ्कीर्तनात्तु प्रव्रजितो मे जामातेति निश्चयमुपजगाम। सा सस्वरमभिरुदिता स्वां दुहितरमनुशोचन्ती दुःखावेगवशात्परिदेवनपरा बभूव। कीदृशस्तस्य शीलगुणसमुदाचारो य एवमनुरक्तं स्वं जनमपहाय प्रव्रजितः। किं वा तस्य प्रव्रज्यया ?

तरुणस्य वपुष्मतः सतः सुकुमारस्य सुखोचितात्मनः।
क्षितिपाभिमतस्य तस्य वै वनवासे प्रणता मतिः कथम् ॥ २ ॥
स्वजनादनवाप्य विप्रियं जरया वोपहृतां विरूपताम्।
कथमेकपदे रुजं विना विभवोद्गारि गृहं स मुक्तवान् ॥ ३ ॥
विनयाभरणेन धीमता प्रियधर्मेण परानुकम्पिना।
कथमभ्युपपन्नमीदृशं स्वजने निष्करुणत्वचापलम् ॥ ४ ॥
श्रमणद्विजमित्रसंश्रितान्स्वजनं दीनजनं च मानयन्।
शुचिशीलधनः किमाप्नुयान्न स गेहेषु वने यदीप्सति ॥ ५ ॥

से सिर झुका लिया और अति विनम्र होकर धीरे-धीरे कहा—"इनकी तरह सदाचारी और शीलवान् तो कोई प्रव्रजित भी दुर्लभ है। उनके जैसा दूसरा कोई है ही नहीं। बुढापे के कारण उसकी सुनने और समझने की शक्ति क्षीण हो गई थी। बेटी ने धीरे धीरे संक्षेप में जो कुछ कहा उसे वह ठीक से समझ न सकी। प्रव्रजित शब्द को उसने सुना और निश्चय कर लिया कि मेरा जामाता प्रव्रजित हो गया। अपनी बेटी के लिए शोक करती हुई वह चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगी। दुःख के आवेग में विलाप करती हुई कहने लगी—कैसा है उसका शील और सदाचार जिसने इतने अनुरक्त अपने परिवार को छोड़कर इस तरह संन्यास ग्रहण कर लिया है ? या उसकी इस प्रव्रज्या से क्या लाभ ?

आजीवन सुख में पले, राजा के अति प्रिय उस रूपवान् सुकुमार तरुण की रुचि बनवास में क्यों हुई ॥ २ ॥

न तो उसे अपनों से कोई शिकायत थी और न उसे बुढ़ापे की कुरूपता ही मिली थी, फिर उसने एकाएक अपने वैभवपूर्ण घर का परित्याग क्यों कर दिया ? ॥ ३ ॥

उसके आत्मीय जन विनयी, बुद्धिमान् धर्मप्रिय एवं दयालु हैं। फिर उनके प्रति उन्होंने ऐसा निष्ठुर व्यवहार क्यों किया ॥ ४ ॥

साधुओं, ब्राह्मणों, मित्रों, स्वजनों, आश्रितों एवं दीन-दुखियों का वे समादर करते थे। पवित्र शील ही उनका धन था। उन्हें घर में क्या कमी थी जिसकी खोज में वे वन गये हैं ॥ ५ ॥

अपराधविवर्जितां त्यजन्ननुकूलां सहधर्मचारिणीम् ।
अतिधर्मपरः स नेक्षते किमिमं धर्मपथव्यतिक्रमम् ॥ ६ ॥
धिगहो बत दैवदुर्नयाद्यदि भक्तं जनमेवमुज्जताम् ।
न घृणापथमेति मानसं यदि वा धर्मलवोऽपि सिध्यति ॥ ७ ॥

अथ सा बोधिसत्त्वस्य पत्नी तेन मातुः करुणेनाकृतकेन परिदेवितेन पतिप्रव्रज्याभिसम्बन्धेन स्त्रीस्वभावात् व्यथितहृदया ससम्भ्रमा विषादविक्लवमुखी शोकदुःखाभिनिपातसङ्क्षोभाद्विस्मृतकथाप्रस्तावसम्बन्धा प्रव्रजितो मे भर्तेति मद्व्यवस्थापनार्थमम्बा गृहमिदमभिगता विप्रियश्रवणादिति निश्चयमुपेत्य सपरिदेवितं सस्वरं रुदती मोहमुपजगाम बाला। तदुपश्रुत्य गृहजनः परिजनवर्गश्च शोकदुःखावेगादाक्रन्दनं चकार। तच्छ्रुत्वा प्रातिवेश्यमित्रस्वजनबन्धुवर्गः संश्रितजनो ब्राह्मणगृहपतयश्च तस्य गृहपतेरनुरागवशानुगाः प्रायशश्च पौरास्तद्गृहमभिजग्मुः।

प्रायेण लोकस्य बभूव यस्मात्तुल्यक्रमोऽसौ सुखदुःखयोगे ।
अतोऽस्य लोकोऽप्यनुशिक्षयेव तुल्यक्रमोऽभूत्सुखदुःखयोगे ॥ ८ ॥

अथ बोधिसत्त्वो राजकुलात् स्वभवनसमीपमुपगतः साक्रन्दशब्दं स्वभवन-

---

अपनी अनुकूल एवं निरपराध पत्नी का परित्याग करने में उस धर्मात्मा को धर्मोल्लंघन क्यों नहीं दीखा ॥ ६ ॥

हाय, धिक्कार है, दैवदुर्नीति के कारण ऐसे अनुरक्त परिवार को छोड़ने में उन्हें दया भी क्यों नहीं आई ? अथवा ऐसा करने में उन्हें थोड़ा भी धर्म हो तो उस पर भी लानत है ॥ ७ ॥

पति ने प्रव्रज्या ले ली हैं, इस सम्बन्ध में अपनी माता का करुण एवं स्वाभाविक विलाप सुनकर नारी स्वभाव के कारण उसका दिल व्यथा से भर गया और उसके मन में बड़ी घबराहट हुई। विषाद से उसका मुख भर आया। शोक और दुःख के आवेग में वह पूर्वचर्चित प्रसंग को ही भूल गयी। उसने समझा—मेरी माँ मेरे पति की प्रवज्या की बात सुनकर ही मुझे सान्त्वना देने आई हैं। यह निश्चय होते ही वह जोर-जोर से चिल्लाकर रोने लगी और रोते-रोते मूर्छित हो गई। यह सुनते ही घर के दूसरे लोग और नौकर-चाकर सभी रोने लगे। बोधिसत्त्व के प्रेम में पागल पड़ोसी, मित्र, स्वजन, बन्धु-बान्धव, आश्रित ब्राह्मण और अन्य गृहपति—प्रायः सम्पूर्ण नगर-निवासी वहाँ आ गये।

प्रायः बोधिसत्त्व सबके दुःख-सुख में समान रूप से भाग लेते थे। अतः उन्हीं से यह शिक्षा पाकर, उनके सुख-दुख में भी सहानुभूति रखते थे ॥ ८ ॥

बोधिसत्त्व जब राजकुल से लौटकर घर के समीप पहुँचे तो उन्हे अपने घर में

मवेत्य महतश्च जनकायस्य सन्निपातं स्वं पुरुषमन्वादिदेश ज्ञायतां किमेतदिति । स तं वृत्तान्तमुपलभ्य समुपेत्यास्मै निवेदयामास—

उत्सृज्य भवनं स्फीतमार्यः प्रव्रजितः किल ।
इति श्रुत्वा कुतोऽप्येष स्नेहादेवङ्गतो जनः ॥ ९ ॥

अथ स महासत्त्वः प्रकृत्या शुद्धाशयः प्रत्यादिष्ट इव तेन वचसा समुपजातव्रीडसंवेगश्चिन्तामापेदे । भद्रा बत मयि जनस्य सम्भावना ।

श्लाघनीयामवाप्यैतां गुणसम्भावनां जनात् ।
गृहाभिमुख एव स्यां यदि किं मम पौरुषम् ॥ १० ॥

स्याद्दोषभक्तिः प्रथिता मयैवं गुणेष्ववज्ञाविरसा च वृत्तिः ।
यायामतः साधुजने लघुत्वं किं जीवितं स्याच्च तथाविधस्य ॥ ११ ॥

म्भावनामस्य जनस्य तस्मात्क्रियागुणेन प्रतिपूजयामि ।
असत्परिक्लेशमयं विमुञ्चंस्तपोवनप्रेमगुणेन गेहम् ॥ १२ ॥

इति विचिन्त्य स महात्मा तत एव प्रतिनिवृत्य राज्ञः प्रतिहारयामास—श्रेष्ठी पुनर्द्रष्टुमिच्छति देवमिति । कृताभ्यनुज्ञश्च प्रविश्य यथोपचारं राजसमीपमुपजगाम । किमिदमिति च राज्ञा पर्यनुयुक्तोऽब्रवीत्—इच्छामि प्रव्रजितुं तदभ्यनुज्ञातुमर्हति मां देव इति ।

रोने-धोने की आवाज सुनाई दी । वहाँ बहुत सारे लोगों की भीड़ देखकर अपने नौकर को पता करने भेजा । वह नौकर लौटकर उन्हें बतलाया—

घर के लोगों को कहीं से पता चला कि अपने वैभवपूर्ण विशाल गृह का आर्य ने परित्याग कर संन्यास ले लिया है । यह सुनकर स्नेहवश लोगों की ऐसी दशा हो गई ॥ ९ ॥

स्वभाव से विशुद्धचित्त उस महात्मा ने जब यह खबर सुनी तब उन्होंने अपना अपमान जैसा अनुभव किया । विरक्तभाव से लज्जित होकर उन्होंने सोचा—मेरे प्रति लोगों की उत्तम श्रद्धा है ।

अपने गुणों के सम्बन्ध में लोगों की उत्तम श्रद्धा को पाकर भी यदि मैं घर ही लौट चलूँ तो इसमें मेरा क्या पौरुष होगा ॥ १० ॥

इससे तो अवगुणों के प्रति मेरी आसक्ति और गुणों की अवहेलना से मेरा आचरण बुरा समझा जायेगा । भलों के बीच ओछा होकर जीवित भी रह सकूँगा ?

वनवास की कामना से लोगों के इस अपरिसीम स्नेह को कार्य के रूप में परिणत कर दुःख और बुराइयों से भरे इस घर को छोड़ दूँगा ॥ १२ ॥

इतना सोचते ही उस महात्मा ने लौटकर पुनः राजदरबार की राह पकड़ी । वहाँ उसने राजा को सूचना दी—'कोषाध्यक्ष पुनः देव का दर्शन करना चाहता है ।'

अथैनं स राजा ससम्भ्रमावेगः स्नेहादित्युवाच—

मयि स्थिते बन्धुसुहृद्विशिष्टे त्वं केन दुःखेन वनं प्रयासि।
यन्नापहर्तुं प्रभुता मम स्याद्धनेन नीत्या बलसम्पदा वा॥ १३॥
अर्थो धनैर्यदि गृहाण धनानि मत्तः
पीडा कुतश्चिदथ तां प्रतिषेधयामि।
मां याचमानमिति बन्धुजनं च हित्वा
किं वा त्वमन्यदभिवीक्ष्य वनं प्रयासि॥ १४॥

इति स महात्मा सस्नेहबहुमानमभिहितो राज्ञा सानुनयमेनमुवाच—

पीडा कुतस्त्वद्भुजसंश्रितानां धनोदयावेक्षणदीनता वा।
अतो न दुःखेन वनं प्रयामि यमर्थमुद्दिश्य तु तं निबोध॥ १५॥
दीक्षामुपाश्रित इति प्रथितोऽस्मि देव
शोकाश्रुदुर्दिनमुखेन महाजनेन।
इच्छामि तेन विजनेषु वनेषु वस्तुं
श्रद्धेयतामुपगतोऽस्मि गुणाभिपत्तौ॥ १६॥

आज्ञा पाकर राजा के सामने उपस्थित होकर विनम्र भाव से खड़ा हो गया। राजा ने जब लौटने का कारण पूछा, तब उन्होंने विनम्र भाव से निवेदित किया—'देव, मैं संन्यास ग्रहण करना चाहता हूँ; मुझे इसकी आज्ञा दें।' यह सुनकर पहले तो राजा घबड़ाया, पुनः आवेग में आकर सस्नेह कहा—

मेरे जैसे विशिष्ट बन्धु एवं मित्र के रहते भला आप जंगल क्यों जाना चाह रहे हैं। वह ऐसी आपकी कौन सी पीड़ा है, जो मेरी प्रभुता, धन, बल या नीति से दूर नहीं की जा सकती॥ १३॥

यदि धन अपेक्षित है तो यथेच्छ धन मैं देने को प्रस्तुत हूँ। यदि कोई अन्य पीड़ा है तो उसका भी निवारण करूँगा। फिर अनुरक्त आत्मीय और मुझे छोड़कर आप किस उपलब्धि के लिए जंगल जाना चाह रहे हैं॥ १४॥

इस तरह राजा ने जब उनसे सस्नेह पूछा, तब उन्होंने अति विनम्र होकर कहा—

आपकी बाँहों की छाया में रहने वालों को पीड़ा, निर्धनता या कष्ट कैसा? अतः स्पष्ट है मैं किसी कष्ट से वन नहीं जा रहा हूँ। मेरे वनगमन का उद्देश्य कृपया सुना जाये॥ १५॥

लोगों को यह जानकारी मिली है कि मैंने दीक्षा ले ली हैं। मेरे प्रति उनकी असीम श्रद्धा उमड़ पड़ी है। जनसमूह इस दुःख से आँसू बहा रहा है। मुझे अनायास गुणों की उपलब्धि मिली है। अतः मैं विजन वन में निवास करना चाहता हूँ॥१६॥

राजोवाच—नार्हति भवाञ्जनप्रवादमात्रकेणास्मान् परित्यक्तुम् । नहि भवद्विधानां जनप्रवादसम्पादनाभिराध्या गुणविभूतिस्तदसम्पादन-विराध्या वा ।

स्वेच्छाविकल्पग्रथिताश्च तास्ता निरङ्कुशा लोककथा भ्रमन्ति ।
कुर्वीत यस्ता हृदयेऽपि तावत्स्यात्सोऽपहास्यः किमुत प्रपत्ता ।। १७ ।।

बोधिसत्त्व उवाच—मा मैवं महाराज ! नहि कल्याणो जनप्रवादो नानु-विधेयः । पश्यतु देवः,

कल्याणधर्मेति यदा नरेन्द्र सम्भावनामेति मनुष्यधर्मा ।
तस्या न हीयेत नरः सधर्मा ह्रियापि तावद्धुरमुद्वहेत्ताम् ।। १८ ।।
सम्भावनायां गुणभावनायां सन्दृश्यमानो हि यथा तथा वा ।
विशेषतो भाति यशःप्रसिद्ध्या स्यात्त्वन्यथा शुष्क इवोदपानः ।। १९ ।।
गुणप्रवादैरयथार्थवृद्धैर्विमर्शपाताकुलितैः पतद्भिः ।
विचूर्णिता कीर्तितनुर्नराणां दुःखेन शक्नोति पुनः प्रसर्तुम् ।। २० ।।
तद्वर्जनीयान्परिवर्जयन्तं परिग्रहान्विग्रहहेतुभूतान् ।
क्रोधोच्छिरस्कानिव कृष्णसर्पान्युक्तोऽसि मां देव न सन्निषेद्धुम् ।। २१ ।।

राजा ने कहा—केवल जन-प्रवाद को सुनकर आप मुझे नहीं छोड़ सकते । आपकी तरह के लोग जन-प्रवाद को सम्पादित कर गुण विभूति पा सकते हैं, अन्यथा नहीं—ऐसा नहीं हो सकता ।

किम्वदन्तियाँ मनगढन्त होती हैं । उनका प्रचार-प्रसार अनियंत्रित होता है । अतः उन्हें जो मन में भी लायेगा वह उपहासास्पद होगा, फिर जो उन पर चलेगा उनका क्या कहना है ।। १७ ।।

बोधिसत्त्व ने कहा—नहीं देव, कल्याणकारी जन-प्रवाद का तो अनुसरण करना ही चाहिए । देव, देखें—

हे राजन्, यदि किसी को कल्याणधर्मा कहकर सम्मानित किया जाये तो उस धर्म से कदापि वंचित नहीं होना चाहिए प्रत्युत् लज्जा से भी उसका भार वहन करना चाहिए ।। १८ ।।

गुणों की प्रशंसा से सम्मानित होने पर जो कोई उसका आचरण करता है, निश्चय ही वह यशस्वी होता है; जो ऐसा नहीं करता वह तो सूखे कुँए के समान है।

लोगों में प्रचलित गलत प्रशंसनीय विशेषता विचार की कसौटी पर चरमरा उठती है और उसकी कीर्त्ति पुनः कठिनाई से पनप पाती है ।। २० ।।

आपसी कलह के कारण ये धन-जन फन उठाये साँप की तरह सर्वथा त्याज्य हैं । अतः उन्हें छोड़ने में मुझे रोकना आपको शोभा नहीं देता ।। २१ ।।

स्नेहेन भक्तिज्ञतया च कामं युक्तो विधिर्भृत्यजने तवायम् ।
वित्तेन तु प्रव्रजितस्य किं मे परिग्रहक्लेशपरिग्रहेण ॥ २२ ॥

इत्यनुनीय स महात्मा तं राजानं कृताभ्यनुज्ञस्तेन तत एव वनाय प्रतस्थे । अथैनं सुहृदो ज्ञातयः संश्रिताश्चाभिगम्य शोकाश्रुपरिप्लुतनयनाः पादयोः सम्परिष्वज्य निवारयितुमीषुः । केचिदञ्जलिप्रग्रहपुरःसरं मार्गमस्यावृत्य समवातिष्ठन्त । सपरिष्वङ्गसङ्गतानुनयमपरे गृहाभिमुखमेनं नेतुमीषुः । यत्किञ्चनकारिताक्षेपकर्कशाक्षरमन्ये प्रणयादेनमूचुः । मित्रस्वजनापेक्षा-कारुण्यप्रदर्शनमपरेऽस्य प्रचक्रुः । गृहाश्रम एव पुण्यतम इत्येवमन्ये श्रुतियुक्ति-सङ्ग्रथितं ग्राहयितुमीहाञ्चक्रिरे । तपोवनवासदुःखतासङ्कीर्तनैः कार्यशेष-परिसमाप्त्या याच्ञ्या परलोकसन्देहकथाभिस्तैस्तैश्च वार्त्ताविशेषैर्निवर्तयितु-मेनं व्यायच्छन्त । तस्य तान् प्रव्रज्याश्रयविमुखान् वनगमननिवारणधीरमुखान् नयनजलार्द्रमुखान् सुहृदोऽभिवीक्ष्य व्यक्तमिति चिन्ता बभूव ।

सुहृत्प्रतिज्ञैः सुहृदि प्रमत्ते न्याय्यं हितं रूक्षमपि प्रयोक्तुम् ।
रूढः सतामेष हि धर्ममार्गः प्रागेव रुच्यं च हितं च यत्स्यात् ॥ २३ ॥
वनाद् गृहं श्रेय इदं त्वमीषां स्वस्थेषु चित्तेषु कथं नु रूढम् ।
यन्निर्विशङ्का वनसंश्रायान्मां पापप्रसङ्गादिव वारयन्ति ॥ २४ ॥

अपने अनुरक्त अनुचरों के प्रति स्नेह और कृतज्ञता व्यक्त करने का आपका यह ढंग बिल्कुल ठीक है । पर, मुझ संन्यस्त को बंधनरूप धन से क्या प्रयोजन ॥२२॥

इस तरह अनुनय-विनय कर उस महात्मा ने राजा को मनाकर वहीं से प्रस्थान किया । मार्ग में उनके आश्रितों, बन्धुबान्धवों और मित्रों ने रोते हुए उनका पैर पकड़ कर उन्हें रोकना चाहा । कुछ लोग हाथ जोड़े उनकी राह रोककर खड़े हो गये । कुछ ने उन्हें अपने भुजपाश में जकड़ कर विनयपूर्वक घर की ओर लौटाना चाहा । कुछ अन्य ने आत्मीयभाव से उन्हें फटकारते हुए कठोर बातें भी कहीं । कम से कम स्वजन और मित्रों के प्रति दया दिखलाने हेतु भी उन्हें लौटाना चाहा । वन्य जीवन के कष्ट, परलोक का संदिग्ध फल, शेष गृहकार्य सम्पन्न करने में असहमत, वन-यात्रा से रोकने में दृढ संकल्प तथा आँसुओं से भरे मुख को देख कर उन्हें अवश्य ही चिन्ता हुई ।

अपने पथभ्रष्ट मित्र को न्यायोचित, हितकर किन्तु कड़वी बातें अवश्य कहनी चाहिए, यही भले लोगों का कर्त्तव्य है । फिर हितकर एवं मनोहर बातों का कहना ही क्या ॥ २३ ॥

वन की अपेक्षा घर अधिक श्रेयस्कर है—यह बात इनके चित्त में घर कर गयी है, तभी तो ये निर्भय होकर मुझे वन में जाने से उसी तरह रोक रहे है जैसे पाप में पड़ने से ॥ २४ ॥

मृतो मरिष्यन्नपि वा मनुष्यश्च्युतश्च धर्मादिति रोदितव्यम् ।
कया नु बुद्धया वनवासकामं मामेव जीवन्तममी रुदन्ति ॥ २५ ॥
मद्विप्रयोगस्त्वथ शोकहेतुर्मया समं किं न वने वसन्ति ।
गेहानि चेत्कान्ततराणि मत्तः को न्वादरो बाष्पपरिव्ययेन ॥ २६ ॥
अथ त्विदानीं स्वजनानुरागः करोति नैषां तपसेऽभ्यनुज्ञाम् ।
सामर्थ्यमासीत्कथमस्य नैव व्यूढेष्वनीकेष्वपि तत्र तत्र ॥ २७ ॥
दृष्टावदानो व्यसनोदयेषु बाष्पोद्गमान्मूर्त इवोपलब्धः ।
संरूढमूलोऽपि सुहृत्स्वभावः शाठ्यं प्रयात्यत्र विनानुवृत्त्या ॥ २८ ॥
निवारणार्थानि सगद्गदानि वाक्यानि साश्रूणि च लोचनानि ।
प्रणामलोलानि शिरांसि चैषां मानं समानस्य यथा करोति ॥ २९ ॥
स्नेहस्तथैवार्हति कर्तुमेषां श्लाघ्यामनुप्रव्रजनेऽपि बुद्धिम् ।
मा भून्नटानामिव वृत्तमेतद् व्रीडाकरं सज्जनमानसानाम् ॥ ३० ॥
द्वित्राणि मित्राणि भवन्त्यवश्यमापद्गतस्यापि सुनिर्गुणस्य ।
सहाय एकोऽप्यतिदुर्लभस्तु गुणोदितस्यापि वनप्रयाणे ॥ ३१ ॥

रोना तो ऐसे लोगों के लिए उचित है जो मर गया हो या मरने की स्थिति में हो अथवा धर्मभ्रष्ट हो । पर, तपोवन में जाने के लिए उत्सुक मुझ जीवित व्यक्ति के लिए ये भला क्यों रो रहे हैं ॥ २५ ॥

इन्हें यदि मेरा वियोग असह्य है तो ये भी मेरे साथ तपोवन क्यों नहीं चलते ? यदि मुझसे बढ़कर इन्हें घर ही प्यारा है तो फिर ये इस तरह आँसू क्यों बहा रहे हैं ?

यदि परिवार की आसक्ति इन्हें तपस्या से रोक रही है तो फिर स्वजन अनुराग उन सैन्य व्यूह में प्रवेश करने से इन्हें क्यों नहीं रोका ॥ २७ ॥

किसी तरह की विपत्ति आने पर जिस मित्रता का पराक्रम मैंने देखा है वह मानो इनके आँसुओं में साकार हो उठा है । किन्तु, चिरकालिक बद्धमूल वह मित्रता अनुकूल परिस्थिति न होने के कारण शठता में बदल रही है ॥ २८ ॥

जिस प्रकार अपनों के प्रति सम्मानभाव के कारण मुझे रोकने में इनके कंठ भर आये हैं, आँखों में आँसुओं की झड़ी लग गई है, नतानन होकर प्रणाम कर रहे हैं, उसी प्रकार मेरे प्रति स्नेह के कारण ही सही इन्हें भी प्रव्रजित होने की बुद्धि क्यों नहीं जगती, जिससे इनके ये आचरण बनावटी नाटकीय पात्रों की तरह नहीं हो पाते ।

विपत्ति काल में किसी गुणहीन व्यक्ति को भी तो दो-तीन मित्र हो ही जाते हैं । किन्तु तपोवन जाने के लिए किसी शुद्धाचारी व्यक्ति को भला कोई साथी क्यों नहीं मिलता ॥ ३१ ॥

ये मे हरन्ति स्म पुरःसरत्वं रणेषु मत्तद्विपसङ्कटेषु ।
नानुव्रजन्त्यद्य वनाय ते मां किंस्वित्स एवास्मि त एव चेमे ॥ ३२ ॥
स्मरामि नैषां विगुणं प्रयातुं स्नेहस्य यत्सङ्क्षयकारणं स्यात् ।
सुहृज्जनस्यैवमियं स्थितिर्मे कच्चिद्भवेत्स्वस्तिनिमित्ततोऽस्मात् ॥ ३३ ॥
ममैव वा निर्गुणभाव एष नानुव्रजन्त्यद्य वनाय यन्माम् ।
गुणावबद्धानि हि मानसानि कस्यास्ति विश्लेषयितुं प्रभुत्वम् ॥ ३४ ॥
ये वा प्रकाशानपि गेहदोषान्गुणान्न पश्यन्ति तपोवने वा ।
निमीलितज्ञानविलोचनांस्तान्किमन्यथाहं परितर्कयामि ॥ ३५ ॥
परत्र चैवेह च दुःखहेतून्कामान्विहातुं न समुत्सहन्ते ।
तपोवनं तद्विपरीतमेते त्यजन्ति मां चाद्य धिगस्तु मोहम् ॥ ३६ ॥
यैर्विप्रलब्धाः सुहृदो ममैते न यान्ति शान्तिं निखिलाश्च लोकाः ।
तपोवनोपार्जितसत्प्रभावस्तानेव दोषान्प्रसभं निहन्मि ॥ ३७ ॥
इति स परिगणय्य निश्चितात्मा प्रणयमयानि सुहृद्विचेष्टितानि ।
अनुनयमधुराक्षरैर्वचोभिर्विशदमपास्य तपोवनं जगाम ॥ ३८ ॥

मतवाले हाथियों से भरी हुई रणभूमि में निडर होकर जो मेरे आगे-आगे चलते थे वे आज वन में जाने के लिए मेरे पीछे-पीछे भी क्यों नहीं चल रहे हैं ? क्या मैं वही हूँ और ये भी वही हैं ? ॥ ३२ ॥

कभी इनकी मैंने कोई बुराई की हो इसकी भी मुझे याद नहीं आती है, जिससे इनकी मित्रता घटी हो । तो निश्चय ही मेरे मित्रों की यह स्थिति किसी शुभ उद्देश्य से ही हुई ॥ ३३ ॥

अथवा मुझमें ही कोई खोट है जिससे वन में मेरे साथ चलने से ये कतरा रहे हैं ? क्योंकि, गुण में बँधे मन को भला अलग कौन कर सकता है ॥ ३४ ॥

जो घर के प्रत्यक्ष दोषो को या तपोवन के गुणों को नहीं देख सकते, उनके ज्ञाननेत्र बन्द हैं । उनके बारे में मैं अधिक और क्या सोचूँ ॥३५ ॥

ये इहलोक और परलोक के दुःख हेतु रूप काम को छोड़ नहीं सकते और उसके विपरीत सुख के हेतुभूत तपोवन को तथा मुझे भी छोड़ रहे हैं । अहो ! धिक्कार है इस मूर्खता को ॥ ३६ ॥

जिन दोषों के वशीभूत मेरे इन मित्रों तथा समस्त संसार को शान्ति नहीं मिल रही है, तपोवन में रहकर मैं वह उत्कृष्ट शक्ति प्राप्त करूँगा, जिससे उन दोषों का विनाश कर सकूँ ॥ ३७ ॥

इस तरह सोचकर वह दृढ़ निश्चयी विनम्रतापूर्वक उन्हें मीठी बातें कहकर उनकी चेष्टाओं की उपेक्षा कर तपोवन की ओर चले गये ॥ ३८ ॥

तदेवमभूतगुणसम्भावना प्रतोदसञ्चोदनेव भवति साधूनामिति गुण-सम्पादने प्रयतितव्यम्। यतो भिक्षुरित्युपासक इति गुणतः सम्भाव्यमानेन साधुना तद्भावसाधुभिर्गुणैरभ्यलङ्कर्तव्य एवात्मा। एवं दुर्लभा धर्मप्रतिपत्तिसहाया इत्येवमप्युन्नेयम्;

इति श्रेष्ठि-जातकं विंशतितमम्।

इससे पता चलता है जिनमें वस्तुतः गुण नहीं भी हैं पर उनमें यदि उनकी सम्भावना व्यक्त की जाये तो सज्जनों को इससे अंकुश लगने की प्रेरणा मिलती है। अतः हमे हमेशा गुण ग्रहण करने की चेष्टा करनी चाहिए। क्योंकि 'ये भिक्षु हैं, ये उपासक हैं' यह कहकर प्रशंसित और सम्मानित होने पर सज्जन पुरुष को उस पुरुष को उस अवस्था के योग्य गुणों से अपने को अलंकृत करना ही चाहिए और धर्म का आश्रय लेने में साथियों का मिलना तो कठिन है ही, यह निष्कर्ष भी निकालना चाहिए।

श्रेष्ठिजातक बीसवाँ समाप्त।

---

(२१) चुड्डबोधि-जातकम्

क्रोधविनयाच्छत्रूनुपशमयति, वर्धयत्येव त्वन्यथा। तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किल महासत्त्वः कस्मिंश्चिन्महति ब्राह्मणकुले गुणाभ्यास-माहात्म्यादतिवृद्धयशसि प्रतिनियतसमृद्धिगुणे राजसत्कृते दैवतसम्मते लोकस्य जन्म प्रतिलेभे। कालानामत्ययेनाभिवृद्धः कृतसंस्कारकर्मा श्रुतगुणाभ्यासाद-चिरेणैव विद्वत्सदस्सु प्रकाशनामा बभूव।

कीर्तिर्विद्वत्सदस्स्वेव विदुषां प्रविजृम्भते।
रत्नज्ञेष्विव रत्नानां शूराणां समरेष्विव॥ १॥

अथ स महात्मा प्रव्रज्याकृतपरिचयत्वात्पूर्वजन्मसु स्वभ्यस्तधर्मसञ्ज्ञत्वा-त्प्रज्ञावदातमतित्वाच्च न गेहे रतिमुपलेभे। स कामान् विग्रहविवादमदवैर-स्यप्राचुर्याद्राजचौरोदकदहनविप्रियदायादसाधारणत्वादतृप्तिजनकत्वादनेक-दोषायतनत्वाच्च सविषमिवान्नमात्मकामः परित्यज्य संहृतकेशश्मश्रुशोभः काषायविवर्णवासाः परित्यक्तगृहवेषविभ्रमः प्रव्रज्याविनयनियमश्रियमशि-

---

२१ चुड्डबोधि-जातक

अपने क्रोध को मनुष्य यदि शान्त कर ले तो उसके सारे शत्रु अपने आप शान्त हो जाते हैं, अन्यथा क्रोध बढ़ाने पर उनकी संख्या भी उसी अनुपात में बढ़ती जाती है। तब जैसी अनुश्रुति है—

एक बार इस धरती के एक महान् ब्राह्मण कुल में बोधिसत्त्व ने जन्म ग्रहण किया। उस परिवार के सभी सदस्य अपने गुणों के कारण लोकप्रसिद्ध, समृद्धि-शाली एवं यशस्वी थे। राजा इस परिवार का सम्मान करता था। देवताओं का प्रीतिभाजन था। ऐसे परिवार में बोधिसत्त्व कालक्रम में वर्द्धिष्णु हुए। क्रमशः उनके संस्कार किये गये। निरन्तर विधाभ्यास के कारण विद्वत्सभा में इनकी ख्याति दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ी।

जैसे जौहरी के सामने रत्नों की और युद्धभूमि में बहादुरों की कीर्त्ति फैलती है, उसी प्रकार विद्वानों की सभाओं में ही किसी विद्वान की कीर्त्ति फैलती है॥ १॥

जन्मार्जित संस्कार के कारण संन्यास के प्रति उनका आकर्षण था। पवित्र प्रज्ञा से उनकी बुद्धि विशुद्ध थी। घर के प्रति उनका कोई आकर्षण नहीं था। जहाँ धन रहता है, सम्पदाएँ होती हैं, वहाँ झगड़ा होता ही है। गर्व के कारण कटुता फैलती रहती है। राजा, चोर, पानी, आग और गोतियों का डर बना ही रहता है। धन से असंतोष बढ़ता है, ये अनेक अवगुणों के घर हैं। यह सोचकर उन्होंने कामभोग को उसी तरह छोड़ दिया जैसे आत्मरक्षा के लिए कोई जहरीले अनाज का परि-

श्रियत् । तदनुरागवशगा चास्य पत्नी केशानवतार्याहार्यविभूषणोद्वहननिर्व्या-पारशरीरा स्वरूपगुणशोभाविभूषिता काषायवस्त्रसंवीततनुरनुप्रवव्राज । अथ बोधिसत्त्वस्तपोवनानुगमनव्यवसायमस्या विदित्वा तपोवनाध्यासनायोग्यतां च स्त्रीसौकुमार्यस्यावोचदेनाम्—भद्रे दर्शितस्त्वयायमस्मदनुरागस्वभावः । तदलमस्मदनुगमनं प्रत्यनेन व्यवसायेन ते । यत्रैय त्वन्याः प्रव्रजिताः प्रति-वसन्ति तत्रभवत्यास्ताभिरेव सार्धं प्रतिरूपं वस्तुं स्यात् । दुरभिसम्भवानि ह्यरण्यायतनानि । पश्य —

श्मशानशून्यालयपर्वतेषु वनेषु च व्यालमृगाकुलेषु ।
निकेतहीना यतयो वसन्ति यत्रैव चास्तं रविरभ्युपैति ॥ २ ॥
ध्यानोद्यमादेकचराश्च नित्यं स्त्रीदर्शनादप्यपवृत्तभावाः ।
निवर्तितुं तेन मतिं कुरुष्व कोऽर्थस्तवानेन परिश्रमेण ॥ ३ ॥

सा नियतमेनमनुगमनकृतनिश्चया बाष्पोपरुध्यमाननयना किञ्चिदीदृशं प्रत्युवाच—

त्याग कर देता है। बाल, दाढ़ी और मूँछ की शोभा हटाकर गेरूए रंग का मट-मैला कपड़ा पहन लिया। सुन्दर गृहस्थवेष छोड़कर संन्यस्त जीवन से उत्पन्न कान्ति को धारण कर लिया। उनकी अनुरक्ता पत्नी ने भी अपने सुन्दर बालों को उतरवा लिया, बनावटी जेवरों के भार ढोने से देह को मुक्त कर लिया। अपने स्वाभाविक सौन्दर्य को सद्गुणों से सजाकर गेरुए वस्त्र से देह को ढँक कर पति के पीछे वह भी प्रव्रजित हो गई। उसने मेरे साथ तपोवन में जाने का निश्चय किया है, यह जानकर तथा तपोवन सुकुमार औरत के निवास योग्य नहीं होता—यह सोचकर उसने अपनी पत्नी से कहा—

भद्रे, तुमने मेरे प्रति अपने हृदय का सच्चा अनुराग प्रकट किया है। किन्तु, मेरे साथ चलने का हठ तुम्हें नहीं करना चाहिए। संन्यस्त स्त्रियाँ जहाँ रहती हैं तुम्हें उनके साथ ही रहना चाहिए। वन में तुम्हारे रहने योग्य कोई जगह नहीं है। देखो—

मरघट, सूनाघर, पहाड़, घातक जानवर और साँपों से जंगल तो बेघर औघड़ों का घर है, जहाँ रोज उनका सूरज डूबता है ॥ २ ॥

वे हमेशा ध्यान में डूबे रहते हैं, एकान्तप्रेमी होते हैं, औरतों को तो वे देखना भी नहीं चाहते। अतः अब तुम लौट जाओ, इस तरह भटकने से भला क्या लाभ ॥३॥

किन्तु उसने तो इनके साथ चलने का अपना इरादा पक्का कर लिया था। यह सुनते ही उसकी आँखें भर आईं और उसने कहा—

यदि मे श्रमबुद्धिः स्यात्तवानुगमनोत्सवे ।
किमित्येवं प्रपद्येय दुःखं तव च विप्रियम् ।। ४ ।।
यत्तु नैव समर्थास्मि वर्तितुं रहिता त्वया ।
इत्याज्ञातिक्रममिमं त्वं मम क्षन्तुमर्हसि ।। ५ ।।

इति सा द्वित्रिरप्युच्यमाना यदा नेच्छति स्म निवर्तितुम्, ततो बोधिसत्त्व उपेक्षानिभृतमतिरस्यां बभूव ।

स तयानुगम्यमानश्चक्रवाक इव चक्रवाक्या ग्रामनगरनिगमाननुविचरन् कदाचित्कृतभक्तकृत्यः कस्मिंश्चित्प्रविविक्ते श्रीमति नानातरुगहनोपशोभिते घनप्रच्छाये कृतोपकार इव क्वचित्क्वचिद्दिनकरकिरचन्द्रकैर्नानाकुसुमरजोऽवकीर्णधरणीतले शुचौ वनोद्देशे ध्यानविधिमनुष्ठाय सायाह्नसमये व्युत्थाय समाधेः पांशुकूलानि सीव्यति स्म । सापि प्रव्रजिता तस्यैव नातिदूरे वृक्षमूलमुपशोभयमाना देवतेव स्वेन वपुषः प्रभावेण विराजमाना तदुपदिष्टेन मनस्कारविधिना ध्यायति स्म ।

अथ तत्रत्यो राजा वसन्तकालजनिताभ्यधिककिसलयशोभानि भ्रमद्भ्रमरमधुकरीगणोपकूजितानि प्रमत्तकोकिलकुलकिलकिलानि प्रहसितकमल-

---

अगर आपके साथ चलने मे मैं थकावट का विचार करती तो फिर यह झमेला अपने सिर लेकर आपको इस तरह तकलीफ देती ही क्यों ।। ४ ।।

आपके बिना मैं जी नहीं सकती, अतः आप मेरी इस धृष्टता को क्षमा करें ।।५।।

अनेक बार मना करने के बावजूद जब वह मानने को तैयार न हुई, तब उपेक्षापूर्वक उन्होंने मौन सम्मति दे दी ।

तब जैसे चकई चकवा के पीछे चलती है उसी तरह वह उनके पीछे चलने लगी । अनेक गाँव, नगर और निगमों को पार करते हुए एक सुरम्य जंगल में पहुँचकर वे ध्यान में रमने लगे । वे दिन-रात में एक बार ही भोजन करते । जहाँ वे रहते थे वह वनस्थली एकान्त, शान्त सुन्दर और अनेक फलदार पेड़ों की छाया से सुशोभित, सूर्य किरणरूपी चाँदनी से सेवित एवं विविध फूलों के पराग से व्याप्त थी । वहाँ वे ध्यान समाप्त कर दिन के पिछले पहर समाधि के अनुकूल चिथड़े सीते । वह प्रव्रजिता भी इनसे कुछ दूर हटकर किसी पेड़ के नीचे बैठकर इन्हीं के द्वारा बतलाई गई ध्यान-विधि से ध्यान में लगी रहती । इसकी देह से फूटकर निकलता तेज उसे देवता की तरह दमकाता रहता ।

वसन्तागम के साथ उस वन के पेड़ों में नई कोंपलें निकल आईं, भौंरे गूँजने लगे, मत्त कोयलों की कूक से सारा वन मुखरित हो गया, जलाशयों में कमल और

कुवलयालङ्कृताभिलषणीयजलाशयानि विविधकुसुमसम्मोदगन्धाधिवासित-सुखपवनान्युपवनानि समनुविचरंस्तं देशमुपजगाम ।

विचित्रपुष्पस्तबकोज्ज्वलानि कृतच्छदानीव वसन्तलक्ष्म्या ।
वाचालपुंस्कोकिलबर्हिणानि सरोरुहाकीर्णजलाशयानि ।। ६ ।।
समुद्भवत्कोमलशाद्वलानि वनानि मत्तभ्रमरारुतानि ।
आक्रीडभूतानि मनोभवस्य द्रष्टुं भवत्येव मनःप्रहर्षः ।। ७ ।।

अथ स राजा सविनयमभिगम्य बोधिसत्त्वं कृतप्रतिसम्मोदनकथस्तत्रैकान्ते न्यषीदत् । स तां प्रव्रजितामतिमनोहरदर्शनामभिवीक्ष्य तस्या रूपशोभया समाक्षिप्यमाणहृदयो नूनमस्येयं सहधर्मचारिणीत्यवेत्य लोलस्वभावत्वात्तद-पहरणोपायं विमर्श ।

श्रुतप्रभावः स तपोधनानां शापार्चिषः क्रोधहुताशनस्य ।
सङ्क्षिप्तधैर्योऽपि मनोभवेन नास्मिन्नवज्ञारभसो बभूव ।। ८ ।।

तस्य बुद्धिरभवत्—तपःप्रभावमस्य ज्ञात्वा शक्यमत्र तद्युक्तं प्रवर्तितुं नान्यथा । यद्ययमस्यां संरागवक्तव्यमतिर्व्यक्तमस्मिन्न तपःप्रभावोऽस्ति । अथ वीतरागः स्यान्मन्दापेक्षो वा, ततोऽस्मिन् सम्भाव्यं तपःप्रभावमाहात्म्यम् । इति विचिन्त्य स राजा तपःप्रभावजिज्ञासया बोधिसत्त्वं हितैषिवदुवाच—

कुमुद खिलने लगे, अनेक फूलों की सुगन्ध से सुवासित तथा सुखद पवन सेवित उस उपवन में उस देश का राजा घूमते हुए पहुँचा जहाँ वे दोनों तप कर रहे थे ।

वह स्थान चित्र-विचित्र फूलों के गुच्छों से दमक रहा था । वसन्त की शोभा से भरा था । मत्त मयूरों और मुखर कोकिलों से आकर्षक था । जलाशय कमलों से भरा था ।। ६ ।।

घासों के अँखुओं से आच्छादित, मदमत्त भौरों से अनुगूँजित, काम-क्रीडास्थल बने उस वन को राजा ने देखा ।। ७ ।।

तब राजा बोधिसत्व के पास जाकर विनम्र भाव से एक ओर बैठ गया । शिष्टाचार के साथ कुशलादि पूछा । इसके बाद जब उसने उस रूपगर्विता, आकर्षक सन्यासिनी को देखा तो फिर देखता ही रह गया । उसे इनकी सहधर्मिणी समझकर अपहृत करने का उपाय सोचने लगा ।

क्रुद्ध तापसों के शापरूपी आग की लपटों का प्रभाव उसने सुना था । अतः काम द्वारा विचलित धैर्य होने के बावजूद उसने उनकी उपेक्षा करने में जल्दीबाजी नहीं की ।। ८ ।।

उसने अपने मन में निश्चय किया—पहले इनकी तपस्या के प्रभाव को जानकर ही इस सम्बन्ध में कुछ किया जायेगा, अन्यथा नहीं । यदि इस महिला में इनकी आसक्ति है तो फिर इनकी तपस्या निर्वीर्य है और यदि इससे ये अनासक्त हैं तो फिर

भोः प्रव्रजित, प्रचुरधूर्तसाहसिकपुरुषेऽस्मिल्लोके न युक्तमत्रभवतो निराक्रन्देषु वनेष्वेवं प्रतिरूपयानया सहधर्मचारिण्या सह विचरितुम्। अस्यां हि ते कश्चिदपराध्यमानो नियतमस्मानप्युपक्रोशभाजनीकुर्यात्। पश्य—

एवं विविक्तेषु तपःकृशं त्वां धर्मेण सार्धं परिभूय कश्चित्।
इमां प्रसह्यापहरेद्यदा ते शोकात्परं किं बत तत्र कुर्याः॥ ९॥
रोषप्रसङ्गो हि मनःप्रमाथी धर्मोपमर्दाद्यशसश्च हन्ता।
वसत्वियं तेन जनान्त एव स्त्रीसन्निकर्षेण च किं यतीनाम्॥ १०॥

बोधिसत्त्व उवाच—युक्तमाह महाराजः! अपि तु श्रूयतां यदेवङ्गतेऽर्थे प्रपद्येय—

स्यादत्र मे यः प्रतिकूलवर्ती दर्पोद्भवादप्रतिसङ्ख्यया वा।
व्यक्तं न मुच्येत स जीवतो मे धाराघनस्येव घनस्य रेणुः॥ ११॥

अथ स राजा तीव्रापेक्षोऽयमस्यां तपःप्रभावहीन इत्यवज्ञाय तं महासत्त्वं तदपायनिराशङ्कः कामरागवशगः स्त्रीसन्दर्शनाधिकृतान् पुरुषान् समादिदेश—गच्छतैतां प्रव्रजितामन्तःपुरं प्रवेशयतेति। तदुपश्रुत्य सा प्रव्रजिता व्यालमृगा-

---

इनकी तपस्या शक्ति-सम्पन्न है। यह सोचकर, राजा ने उनके तप का प्रभाव जानने की इच्छा से एक हितैषी की तरह उनसे पूछा—हे परिव्राजक, धूर्तों और चोरों से भरी इस दुनियाँ में इतनी रूपवती भार्या के साथ इस एकान्त वन में आपका रहना क्या उचित है? यदि इस महिला के कोई धृष्टता करे तो इसमें तो मेरी भी बदनामी होगी ही। देखिए—

यदि इस निर्जन वन में तप से जर्जर आपकी तथा आपके तप की अवहेलना कर कोई बलपूर्वक इस महिला का आपके सामने अपहरण करे, तो शोक के सिवा आप और क्या कर सकते हैं॥ ९॥

क्रोध तो मनुष्य के मन को चंचल करता है, धर्म का वह बाधक है और यश का विनाशक है। अतः इन्हें तो और लोगों के साथ ही रहना चाहिए। फिर औरतों के सामीप्य से संन्यासियों को क्या लेना है॥ १०॥

फिर, बोधिसत्त्व बोले—महाराज का कहना ठीक है। पर, वैसी स्थिति में मैं क्या करूँगा, उसे भी सुनिए—

अभिमान या अज्ञानवश जो यहाँ मेरे प्रतिकूल आचरण करेगा उसे मैं जिन्दा रहते किसी भी स्थिति में नहीं छोड़ूँगा। ठीक उसी तरह जैसे पानी बरसाने वाला मेघ आकाश में एक भी धूलिकण को नहीं छोड़ता॥ ११॥

इतना सुनने के बाद राजा ने समझा निश्चय ही इस महिला में यह आकण्ठ डूबा है। इसकी तपस्या में कोई दम नहीं है। अतः उस कामुक राजा ने किसी भी अनिष्ट की आशंका से रहित होकर अपने महिला पदाधिकारी पुरुषों को हुक्म दिया—'इस

भिद्रुतेव वनमृगी भयविषादविक्लवमुखी बाष्पोपरुध्यमाननयना गद्गदाय-मानकण्ठी तत्तदार्तिवशाद्विललाप—

लोकस्य नामार्तिपराजितस्य परायणं भूमिपतिः पितेव।
स एव यस्य त्वनयावहः स्यादाक्रन्दनं कस्य नु तेन कार्यम्॥ १२॥
भ्रष्टाधिकारा बत लोकपाला न सन्ति वा मृत्युवशं गता वा।
न त्रातुमार्तानिति ये सयत्ना धर्मोऽपि मन्ये श्रुतिमात्रमेव॥ १३॥
किं वा सुरैर्मे भगवान् यदेवं मद्भागधेयैर्धृतमौन एव।
परोऽपि तावन्ननु रक्षणीयः पापात्मभिर्विप्रतिकृष्यमाणः॥ १४॥
नश्येति शापाशनिनाभिमृष्टः स्याद्यस्य शैलः स्मरणीयमूर्तिः।
इत्थङ्गतायामपि तस्य मौनं तथापि जीवामि च मन्दभाग्या॥ १५॥
पापा कृपापात्रतरा न वाहमेवंविधामापदमभ्युपेता।
आर्तेषु कारुण्यमयी प्रवृत्तिस्तपोधनानां किमयं न मार्गः॥ १६॥
शङ्के तवाद्यापि तदेव चित्ते निवर्त्यमानास्मि न यन्निवृत्ता।
तवाप्रियेणापि मयेप्सितं यदात्मप्रियं हा तदिदं कथं मे॥ १७॥

परिव्राजिका को अन्तःपुर पहुँचाओ।' यह सुनते ही घातकवन्य जन्तुओं से पकड़ी गई हिरनी की तरह उस संन्यासिनी का मुँह डर और विषाद से विह्वल हो गया। उसकी आँखें भर आईं। अति आर्त होकर उसने गद्गद् कण्ठ से रोना शुरू किया—

दुःखियों की रक्षा के लिए तो राजा पिता की तरह संरक्षक है; अगर वही अन्याय करे तो किसके आगे रोया जाये'। १२॥

लोकपाल भी यदि पीड़ितों की रक्षा करने में प्रयत्नशील नहीं है, तो फिर वे अपने अधिकार से च्युत हैं, या हैं ही नहीं अथवा मर गये। मेरी समझ में अब धर्म भी केवल सुनने की वस्तु है॥ १३॥

अथवा देवताओं को कोसने से क्या लाभ ? जब ईश्वर तुल्य स्वयं मेरे पति मेरी इस दुर्दशा पर इस प्रकार चुपचाप बैठे हैं। अत्याचारी मुझे इस तरह घसीट रहे हैं, शत्रु भी तो रक्षणीय है॥ १४॥

जिनके मुँह से केवल इतना निकले कि 'नष्ट हो जाओ' तो पहाड़ भी स्मरण शेषमात्र बन जाये। वे स्वयं मेरी इस दुर्गति पर चुपचाप बैठे हैं, इसके बावजूद मैं इतनी अभागिन हूँ कि जीवित हूँ॥ १५॥

अथवा इस विपत्ति में फँसी मैं ही पापिन हूँ, दया का पात्र नहीं हूँ। अन्यथा दया से द्रवित होकर पीड़ितों के प्रति दया करना तपस्वियों की नीति नहीं है॥१६॥

मैं समझती हूँ आपकी बात काट कर मैंने आपके साथ यहाँ तक आने की जो धृष्टता की है, उसे आप अब तक नहीं भूले हैं। आपके अप्रिय से अपना प्रिय साधने का ही यह दुष्परिणाम है॥ १७॥

इति तां प्रव्रजितां करुणविलापाक्रन्दितरुदितमात्रपरायणां ते राजसमादिष्टाः पुरुषा यानमारोप्य पश्यत एव तस्य महासत्त्वस्यान्तःपुराय निन्युः । बोधिसत्त्वोऽपि प्रतिसङ्ख्यानबलात्प्रतिनुद्य क्रोधबलं तथैव पांसुकूलानि निःसङ्क्षोभः प्रशान्तचेताः सीव्यति स्म । अथैनं स राजोवाच—

अमर्षरोषाभिनिपातिताक्षरं तदुच्चकैर्गर्जितमूर्जितं त्वया ।
हृतां च पश्यन्नपि तां वराननामशक्तिदीनप्रशमोऽस्यवस्थितः ॥ १८ ॥
तद्दर्शय स्वां भुजयो रुषं वा तेजस्तपःसंश्रयसम्भृतं वा ।
आत्मप्रमाणग्रहणानभिज्ञो व्यर्थप्रतिज्ञो ह्यधिकं न भाति ॥ १९ ॥

बोधिसत्त्व उवाच - अव्यर्थप्रतिज्ञमेव मां विद्धि महाराज !

योऽभून्ममात्र प्रतिकूलवर्ती विस्पन्दमानोऽपि स मे न मुक्तः ।
प्रसह्य नीतः प्रशमं मया तु तस्माद्यथार्थैव मम प्रतिज्ञा ॥ २० ॥

अथ स राजा तेन बोधिसत्त्वस्य धैर्यातिशयव्यञ्जकेन प्रशमेन समुत्पादिततपस्विगुणसम्भावनश्चिन्तामापेदे—अन्यदेवानेन ब्राह्मणेनाभिसन्धाय भाषितम्, तदपरिज्ञायास्माभिश्चापलकृतमिदमिति जातप्रत्यवमर्शो बोधिसत्त्वमुवाच—

कोऽन्यस्तवाभूत्प्रतिकूलवर्ती यो विस्फुरन्नेव न ते विमुक्तः ।
रेणुः समुद्यन्निव तोयदेन कश्चोपनीतः प्रशमं त्वयात्र ॥ २१ ॥

उधर राजा के आदेश से राजपुरुषों ने इस रोती-बिलखती अबला को बोधिसत्त्व की आँखों के सामने ही रथ पर बैठकर अन्तःपुर की ओर प्रस्थान किया । इधर बोधिसत्त्व ने भी अपने क्रोध को नियन्त्रित कर लिया, फिर क्षोभरहित शान्त होकर अपने चिथड़े पूर्ववत् सीते रहे । तब राजा ने कहा—

पहले तो क्रोध के आवेग में आपने काफी गर्जन किया और अब शक्ति के अभाव में असहाय होकर इस तरह चुपचाप बैठ गये ॥ १८ ॥

अब आप अपना भुजबल, तपोबल या तेजोबल कुछ भी क्यों नहीं दिखलाते ? अपनी शक्ति को बिना जाने व्यर्थ प्रतिज्ञा करने वाले इसी तरह शोभा नहीं पाते ।

तब बोधिसत्त्व ने कहा—महाराज, आप मुझे सदैव सत्यप्रतिज्ञ ही समझें । यहाँ भी देखिए,

मेरे प्रतिकूल आचरण करने के लिए जो चंचल हो रहा था उसे मैंने बलपूर्वक नियन्त्रित कर लिया है । मैंने उसे छोड़ा कहाँ ? मेरी प्रतिज्ञा तो सत्य है ही ।

तब उस राजा ने इनके धैर्य को व्यक्त करने वाली इनकी अलौकिक शक्ति और इनमें तापसों के गुणों की संभावना का अनुभव करते हुए सोचना शुरु किया । इस संन्यासी ने जो कुछ कहा उसका बिना अर्थ समझे ही मैंने चंचलता की है । ऐसा सोचते हुए उसने इनसे पूछा—

आपके प्रतिकूल आचरण करने वाला वह कौन है जिसे आपने मार डाला । जिस तरह मेघ उड़ती धूल को शान्त करता है, वैसे आपने किसे शान्त किया यहाँ ?

बोधिसत्त्व उवाच—शृणु महाराज !

जाते न दृश्यते यस्मिन्नजाते साधु दृश्यते ।
अभून्मे स न मुक्तश्च क्रोधः स्वाश्रयबाधनः ।। २२ ।।
येन जातेन नन्दन्ति नराणामहितैषिणः ।
सोऽभून्मे न विमुक्तश्च क्रोधः शात्रवनन्दनः ।। २३ ।।
उत्पद्यमाने यस्मिंश्च सदर्थं न प्रपद्यते ।
तमन्धीकरणं राजन्नहं क्रोधमशीशमम् ।। २४ ।।
येनाभिभूतः कुशलं जहाति प्राप्तादपि भ्रश्यत एव चार्थात् ।
तं रोषमुग्रग्रहवैकृताभं स्फुरन्तमेवानयमन्तमन्तः ।। २५ ।।
काष्ठाद्यथाग्निः परिमथ्यमानादुदेति तस्यैव पराभवाय ।
मिथ्याविकल्पैः समुदीर्यमाणस्तथा नरस्यात्मवधाय रोषः ।। २६ ।।
दहनमिव विजृम्भमाणरौद्रं शमयति यो हृदयज्वरं न रोषम् ।
लघुरयमिति हीयतेऽस्य कीर्तिः कुमुदसखीव शशिप्रभा प्रभाते ।।२७।।
परजनदुरितान्यचिन्तयित्वा रिपुमिव पश्यति यस्तु रोषमेव ।
विकसति नियमेन तस्य कीर्तिः शशिन इवाभिनवस्य मण्डलश्रीः ।।२८।।

तब बोधिसत्त्व ने कहा—हे महाराज तो सुनिए ।

जिसके उत्पन्न होने पर मनुष्य को कुछ भी दिखलाई नहीं पड़ता तथा जिसकी अनुपस्थिति में मनुष्य सब कुछ ठीक से देखता है, वह क्रोध है जो अपने आश्रित को सताता है । मुझे भी हुआ पर मैंने उसे छोड़ा कहाँ ? ।। २२ ।।

जिसके उत्पन्न होने से मनुष्यों के शत्रु प्रसन्न होते हैं, शत्रुओं को प्रसन्न करने वाला वह क्रोध मुझे हुआ और उसको मैंने नहीं छोड़ा ।। २३ ।।

जिसके उत्पन्न होते ही मनुष्य विवेकहीन हो जाता है, वह कोई अच्छा काम नहीं कर पाता, उसी क्रोध को शान्त कर दिया है ।। २४ ।।

जिससे आक्रान्त होकर मनुष्य अपना चातुर्य खो देता है, प्राप्त वस्तु से भी वंचित हो जाया है, राक्षस की तरह भयंकर उस क्रोध को अपने भीतर फड़फड़ाते मैंने उसे कुचल डाला ।। २५ ।।

जिस काठ से रगड़ खाकर आग निकलती है, उसे ही जला डालती है, ठीक उसी तरह जिस मनुष्य की मिथ्या धारणा से क्रोध उत्पन्न होता है उसी मनुष्य को वह मार डालता है ।। २६ ।।

आग की तरह धधकते क्रोध को, अपने भीतरी ताप को जो मनुष्य शान्त नहीं कर पाता, वह हल्का समझा जाता है । उसकी कीर्त्ति उसी तरह मिट जाती है, जैसे प्रभात वेला में कुमुदों की सखी चाँदनी नष्ट हो जाती है ।। २७ ।।

अभिनव चाँदनी की निराली छटा की तरह उसी की कीर्त्ति निरन्तर बढ़ती है जो दूसरों के दोषों को देखने की अपेक्षा अपने क्रोध को शत्रु की तरह देखता है ।।

इयमपरा च रोषस्य महादोषता—

न भात्यलंकारगुणान्वितोऽपि क्रोधाग्निना संहृतवर्णशोभः।
सरोषशल्ये हृदये च दुःखं महार्हशय्याङ्कगतोऽपि शेते॥ २९॥

विस्मृत्य चात्मक्षमसिद्धिपक्षं रोषात्प्रयात्येव तदुत्पथेन।
निहीयतेन येन यशोऽर्थसिद्धया तामिस्रपक्षेन्दुरिवात्मलक्ष्म्या॥ ३०॥

रोषेण गच्छत्यनयप्रपातं निवार्यमाणोऽपि सुहृज्जनेन।
प्रायेण वैरस्य जडत्वमेति हिताहितावेक्षणमन्दबुद्धिः॥ ३१॥

क्रोधाच्च सात्मीकृतपापकर्मा शोचत्यपायेषु समाशतानि।
अतः परं किं रिपवश्च कुर्युस्तीव्रापकारोद्धतमन्यवोऽपि॥ ३२॥

अन्तःसपत्नः कोपोऽयं तदेवं विदित मम।
तस्यावलेपप्रसरं कः पुमान् मर्षयिष्यति॥ ३३॥

अतो न मुक्तः कोपो मे विस्फुरन्नपि चेतसि।
इत्यनर्थकरं शत्रुं को ह्युपेक्षितुमर्हति॥ ३४॥

इतना ही नहीं, क्रोध में तो ये बड़े-बड़े अवगुण भी हैं—

अच्छे आभूषणों को पहन कर भी मनुष्य अपनी क्रोध रूपी आग में झुलस कर कुरूप और कान्तिहीन हो जाता है। जिसके दिल में क्रोध रूपी काँटे चुभे रहते हैं वे कोमल तथा कीमती बिछावन पर भी सुख से सो नहीं पाते॥ २९॥

क्रोध के कारण ही मनुष्य अपने कल्याण-पथ को छोड़कर कुमार्ग में भटक जाता है। कृष्णपक्ष के चन्द्रमा की तरह अनुदिन वह श्रीविहीन हो जाता है॥ ३०॥

क्रोध के आवेश में आकर ही मनुष्य मित्रों के समझाने के बावजूद अन्याय के पथ पर चल निकलता है। हित और अहित को समझने की उसकी बुद्धि कुण्ठित हो जाती है और बहुधा वह किसी से भी शत्रुता मोल लेने की मूर्खता करता ही रहता है॥ ३१॥

क्रोध के कारण अपकर्म करने वाला व्यक्ति सैकड़ों वर्ष तक दुर्गति भोगता रहता है। तीव्र अपकार से क्रोध कर शत्रु भी इससे और अधिक क्या बिगाड़ सकता है॥ ३२॥

क्रोध आन्तरिक शत्रु है, मुझे इसका पता है। इसके प्रसार को कौन सह सकता है॥ ३३॥

यही कारण है कि अपने मन में थोड़े भी फड़फड़ाते क्रोध को मैंने कभी नहीं छोड़ा। ऐसे अनिष्टकारी शत्रु की भला उपेक्षा कौन करेगा॥ ३४॥

अथ स राजा तेन तस्याद्भुतेन प्रशमगुणेन हृदयग्राहकेण च वचसाभिप्रसादितमतिरुवाच—

अनुरूपः शमस्यास्य तवायं वचनक्रमः।
बहुना तु किमुक्तेन वञ्चितास्त्वददर्शिनः॥ ३५॥

इत्यभिप्रशस्यैनमभिसृत्यैवास्य पादयोर्न्यपतत् तदत्ययदेशनां च चक्रे। तां च प्रव्रजितां क्षमयित्वा व्यसर्जयत्, परिचारकं चात्मानं बोधिसत्त्वस्य निर्यातयामास।

तदेवं क्रोधविनयाच्छत्रूनुपशमयति, वर्धयत्येव त्वन्यथा, इति क्रोधविनये यत्नः कार्यः। एवमवैरेण वैराणि शाम्यन्ति, संयमतश्च वैरं न चीयते। एवं चोभयोरर्थं चरत्यक्रोधन इत्येवमादिषु क्षमानुशंसाप्रतिसंयुक्तेषु सूत्रेषु वाच्यम्। क्रोधादीनवकथायां तथागतमाहात्म्ये चेति।

इति चुड्डबोधि-जातकमेकविंशतितमम्।

उनकी अद्भुत शान्ति और मीठी बातों से प्रसन्न होकर राजा ने तब उनसे कहा—

आपका यह मधुर वचन आपकी आन्तरिक शान्ति के अनुरूप है। अधिक क्या कहूँ? जिसने आपके दर्शन नहीं किए वह निश्चय ही जीवन लाभ से वंचित है॥३५॥

इस तरह उनकी प्रशंसा करते हुए राजा ने पास जाकर, उनके चरणों में लिपट कर अपना अपराध स्वीकार कर लिया। उस प्रव्रजिता से क्षमा माँगकर उसे विदा किया और अपने आपको एक परिचारक के रूप में बोधिसत्त्व के चरणों में समर्पित कर दिया।

इस तरह अपने क्रोध को शान्त कर मनुष्य अपन शत्रुओं को शान्त करता है, अन्यथा उन्हें बढ़ाता ही है। यही कारण है कि हमें भी अपने क्रोध को सदैव शान्त करने का प्रयास करना चाहिए। इस तरह शत्रु भी विरोध न करने पर स्वतः शान्त हो जाते हैं। आत्मसंयमी को किसी से वैर नहीं होता। इस तरह क्रोध न करने वाला अपने साथ ही अपने विरोधियों का भी हित साधन करता है। इस तरह क्षमा प्रशंसक प्रसंगों में यह कथा कहनी चाहिए। क्रोध के अवगुण दिखलाने तथा तथागत के माहात्म्य-वर्णन में भी यह कथा कहनी चाहिए।

चुड्डबोधिजातक इक्कीसवाँ समाप्त।

(२२) हंस-जातकम्

विनिपातगतानामपि सतां वृत्तं नालमनुगन्तुमसत्पुरुषाः, प्रागेव सुगतिस्थानाम्। तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किल मानसे महासरसि नैकशतसहस्रसङ्ख्यस्य महतो हंसयूथस्याधिपतिर्धृतराष्ट्रो नाम हंसराजो बभूव। तस्य नयानयपरिज्ञाननिपुणमतिर्विप्रकृष्टगोचरस्मृतिप्रभावः श्लाघनीयकुलतिलकभूतो दाक्ष्यदाक्षिण्यविनयभूषणः स्थिरशुचिशीलवृत्तचारित्रशूरः खेदसहिष्णुरप्रमादी समरविवधविशारदः स्वाम्यनुरागसुमुखः सुमुखो नाम सेनापतिर्बभूव [आर्यानन्दस्थविरस्तेन समयेन]। तौ परस्परप्रेमगुणाश्रयाज्ज्वलिततरप्रभावावार्यशिष्यमुख्याविव परिशेषं शिष्यगणं पितृज्येष्ठपुत्राविव च श्रेष्ठशेषं पुत्रगणं तद्धंसयूथमुभयलोकहितोदयेष्वर्थेषु सम्यग्निवेशयमानौ तत्प्रत्यक्षिणां देवनागयक्षविद्याधरतपस्विनां परं विस्मयमुपजह्रतुः।

तावासतुर्हंसगणस्य तस्य श्रेयःशरीरोद्वहनैककार्यौ।
नभोगतस्येव विहंगमस्य पक्षौ शरीरोद्वहनैककार्यौ ॥ १ ॥

---

२२. हंस-जातक

पतन के गर्त्त में पड़े सज्जनों की चाल का भी जब दुर्जन अनुकरण नहीं कर पाते तो फिर उनके उत्थानकालीन चरित का पूछना ही क्या ? तब जैसा सुना जाता है—

एक बार बोधिसत्त्व ने मानसरोवर के हंसकुल में जन्म ग्रहण किया। लाखों हंसों के वे अधिपति थे। उनका नाम धृतराष्ट्र था। उनके सेनापति का नाम सुमुख था। वह युद्धनीति विशारद जागरूक, कष्ट-सहिष्णु एवं स्वामीभक्त था। वह नीति और अनीति के ज्ञान में प्रवीण था। समय और दूरी उसकी इन्द्रियों की पहुँच के भीतर थी। वह अपने वंश का कुलतिलक था। वह उदार, विनम्र और निपुण था। वह अपने शील, व्यवहार और चरित में स्थिर एवं पवित्र था। परस्पर प्रेम के कारण दोनों प्रभावशाली थे। गुरु जैसे अपने मुख्य शिष्य के साथ अन्य शिष्यों को अथवा पिता अपने बड़े बेटों को लोक-परलोक के लिए हितकर कार्यों की ओर प्रेरित करता है उसी तरह ये हंसराज अपने सेनापति के साथ सारे हंसों को कल्याणकारी कार्यों की ओर ही प्रेरित करते रहते थे। इन्हें देखकर प्रत्यक्षदर्शी देव, यक्ष, विद्याधर, नाग एवं ऋषिमुनि विस्मयविमुग्ध हो रहे थे।

आकाश में उड़ने वाले पक्षी की देह का सारा भार जैसे उसके दोनों पंख ढोये चलते हैं, उसी तरह इन हंस-समूहों के हित एवं आजीविका के सारे भार ये दोनों मिलकर एक साथ वहन करते थे ॥ १ ॥

एवं ताभ्यां तदनुगृह्यमाणं हंसयूथं जगदिव धर्मार्थविस्तराभ्यां परां वृद्धिमवाप । तेन च तत्सरः परां शोभां बभार ।

कलनूपुरनादेन हंसयूथेन तेन तत् ।
पुण्डरीकवनेनेव रेजे सञ्चारिणा सरः ।। २ ।।
क्वचित्प्रविसृतैर्हंसैः क्वचिद्विषमसंहतैः ।
छिन्नाभ्रलवचित्रस्य जहार नभसः श्रियम् ।। ३ ।।

अथ तस्य हंसाधिपतेः सर्वसत्त्वहितसुमुखस्य च सेनापतेर्गुणातिशयप्रभावविस्मितमनसः सिद्धर्षिविद्याधरदैवतगणास्तयोः कीर्त्याश्रयाभिः कथाभिस्तत्र तत्राभिरेमिरे ।

उत्तप्तचामीकरसन्निकाशं श्रीमद्वपुर्व्यक्तपदाक्षरा वाक् ।
धर्माभिजातो विनयो नयश्च कावप्यमू केवलहंसवेषौ ।। ४ ।।
गुणप्रकाशैरपमत्सरैः सा कीर्तिस्तयोर्दिक्षु वितन्यमाना ।
श्रद्धेयतामित्यगमन्नृपाणां सदस्सु यत्प्राभृतवच्चचार ।। ५ ।।

तेन च समयेन ब्रह्मदत्तो नामान्यतमो वाराणस्यां राजा बभूव । स तां हंसाधिपतेः ससेनाधिपतेर्गुणातिशयाश्रयां कथां प्रात्ययिकामात्यद्विजवृद्धैः

इन दोनों की कृपा से हंसों की ठीक उसी तरह वृद्धि हुई जैसे धर्म और अर्थ के विस्तार से जनसमूह की वृद्धि होती है । इन हंसों से उस मानसरोवर की शोभा काफी बढ़ गई ।

नूपुर की तरह हंसों की मधुर अनुगूंज से वह सरोवर संचरणशील कमलवन की तरह शोभता था ।। २ ।।

कहीं सटे और कहीं हटे हंसों के घूमते रहने के कारण वह सरोवर लगता था जैसे चित्र-विचित्र कटे बादल खण्डों वाला सुन्दर आकाश हो ।। ३ ।।

सभी प्राणियों के हित-साधन में निरन्तर संलग्न उन दोनों के सद्गुणों से प्रभावित एवं विस्मित सिद्ध, विद्याधर, ऋषि और देव जहाँ-तहाँ उनकी कीर्ति-कथाएँ कहते अघाते नहीं थे ।

तपे हुए सोने की तरह उनका सुन्दर शरीर था । स्पष्ट अक्षरों वाली उनकी वाणी थी । धर्मजन्य उनकी विनम्रता और नीति थी । हंस वेष में वे कोई महात्मा थे।

इस तरह ईर्ष्या-द्वेष से रहित सिद्धों ने इनके सद्गुणों का सर्वत्र प्रचार किया। इनकी यह कीर्त्ति जब राजसभाओं में पहुँची तब उस पर इतना विश्वास किया गया कि उन सभाओं में वह उपहार के रूप में ग्राह्य हुई ।। ५ ।।

उस समय वाराणसी में ब्रह्मदत्त नामक कोई राजा था । उसने जब सभा में वृद्ध ब्राह्मणों और विश्वस्त अमात्यों से सेनापति सहित हंसाधिपति की कहानी बार-बार

सदसि संस्तूयमानामसकृदुपश्रुत्य तयोर्दर्शनं प्रत्यभिवृद्धकौतूहलो नैकशास्त्राभ्यासनिपुणमतीन् सचिवानुवाच परिमृश्यतां तावद्भोः प्रसृतनिपुणमतयः कश्चिदुपायो येन नस्तौ हंसवर्यौ दर्शनपथमपि तावदुपगच्छेतामिति । अथ तेऽमात्याः स्वैः स्वैर्मतिप्रभावैरनुसृत्य नीतिपथं राजानमूचुः—

सुखाशा देव भूतानि विकर्षति ततस्ततः ।
सुखहेतुगुणोत्कर्षश्रुतिस्तावानयेद्यतः ॥ ६ ॥

तथादृशे सरसि तावभिरतरूपावनुश्रूयेते तदुत्कृष्टतरगुणशोभमिह सरः कस्मिंश्चिदरण्यप्रदेशे कारयितुमर्हति देवः, प्रत्यहं च सर्वपक्षिणामभयप्रदानघोषणाम् । अपि नाम कौतूहलोत्पादिन्या सुखहेतुगुणातिशयश्रुत्या ताविहाकृष्येयाताम् । पश्यतु देव,

प्रायेण प्राप्तिविरसं सुखं देव न गण्यते ।
परोक्षत्वात्तु हरति श्रुतिरम्यं सुखं मनः ॥ ७ ॥

अथ स राजा अस्त्वेतदित्यल्पेन कालेन नातिसन्निकृष्टं नगरोपवनस्य मानससरसः प्रतिस्पर्धिगुणविभवं पद्मोत्पलकुमुदपुण्डरीकसौगन्धिकतामरसकह्लारसमुपगूढं विमलसलिलमतिमनोहरं महत्सरः कारयामास ।

सुनी तो उन्हें भर आँख देखने की उत्सुकता जगी । उनके अमात्यशास्त्राभ्यासी थे । उनकी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण थी । एक दिन उन्होंने अपने मन्त्रियों से कहा—'आप कोई ऐसा उपाय सोचें जिससे मैं उन दोनों हंसों को अपनी आँख से देख सकूँ ।' नीति मार्ग का अनुसरण करते हुए मन्त्रियों ने उनसे कहा—हे देव,

सुख की आशा प्राणियों को दूर से खींचती है । अतः सुख के कारण स्वरूप उत्कृष्ट गुणों को सुनकर ही वे यहाँ तक स्वयं आ जायेंगे ॥ ६ ॥

जैसे सुरम्य सरोवर में उन हंसों का रहना सुना जाता है, उससे उत्कृष्टतर सरोवर का निर्माण आप यहाँ किसी वन में करायें और प्रतिदिन सभी पक्षियों के लिए अभयदान की घोषणा करवा दें । सुख के हेतु स्वरूप उत्कृष्ट गुणों को सुनकर वे स्वयं खींचकर आ जायेंगे । आप देखें—

सुलभता के कारण ही सुख प्रायः अरुचिकर और उपेक्षित होता है । किन्तु, परोक्ष का सुख श्रवणसुखद एवं मनोहर होता है ॥ ७ ॥

तब उस राजा ने नगर के उपवन से कुछ दूर एक सुन्दर सरोवर बनवाया । यह सरोवर मानसर के उत्कृष्ट गुणों का स्पर्द्धी था । निर्मल जल से भरा था । अत्यन्त मनोहर था । पद्म, उत्पल, कुमुद, पुण्डरीक, सौगन्धिक और तामरस जैसे अनेक तरह के कमलों से व्याप्त था ।

द्रुमैः कुसुमसञ्छन्नैश्चलत्किसलयोज्ज्वलैः ।
तत्प्रेक्षार्थमिवोत्पत्रैः कृततीरपरिग्रहम् ॥ ८ ॥
विहसद्भिरिवाम्भोजैस्तरङ्गोत्कम्पकम्पिभिः ।
विलोभ्यमानाकुलितभ्रमद्भ्रमरसङ्कुलम् ॥ ९ ॥
ज्योत्स्नासंवाहनोन्निद्रैर्विचित्रकुमुदैः क्वचित् ।
तरुच्छायापरिच्छिन्नैश्चन्द्रिकाशकलैरिव ॥ १० ॥
तरङ्गाङ्गुलिसंक्षिप्तैः कमलोत्पलरेणुभिः ।
अभ्यलङ्कृततीरान्तं हेमसूत्रैरिव क्वचित् ॥ ११ ॥
चित्रैः पद्मोत्पलदलैस्तत्र तत्र सकेसरैः ।
श्रियं प्रविततां बिभ्रदुपहारमयीमिव ॥ १२ ॥
प्रसन्नस्तिमिताम्बुत्वाद्व्यक्तचित्रवपुर्गुणैः ।
व्योम्नीव परिधावद्भिर्मीनवृन्दैरलंकृतम् ॥ १३ ॥
विच्छिन्नमुक्ताहाराभैः क्वचिद् द्विरदशीकरैः ।
उपलास्फालनोत्कीर्णमूर्मिचूर्णमिवोद्वहत् ॥ १४ ॥
विद्याधरवधूस्नानैर्मदसेकैश्च दन्तिनाम् ।
रजोभिः कुसुमानां च सवासमिव कुत्रचित् ॥ १५ ॥

हिलते हुए किसलयों से भव्य और फूलों से ढँके पेड़ मानो उस सरोवर को देखने के लिए उसके किनारे खड़े थे ॥ ८ ॥

तरंगों के कम्पन से काँपकर कमलों ने मानों हँस-हँस कर भौंरों को लुभाया और वे व्याकुल होकर वहाँ मँड़राने लगे ॥ ९ ॥

कहीं-कहीं चाँदनी के स्पर्श से खिले हुए उज्ज्वल कुमुदों से, मानो वृक्षों के पत्तों को भेदकर आये हुए चाँदनी के टुकड़ों से वह सरोवर सुशोभित था ॥ १० ॥

तरंगरूपी अंगुलियों से फेंके गये कमलों और उत्पलों के पराग से, मानों सोने के तारों से उसका किनारा सुशोभित था ॥ ११ ॥

सरोवर में जहाँ-तहाँ लाल और नीले कमलों की पंखुड़ियाँ फैली थीं, जिससे मालूम पड़ता था कि यह सरोवर उपहारमय हो गया हो ॥ १२ ॥

सरोवर का पानी स्वच्छ एवं स्थिर था। उसमें रंग-बिरंगी मछलियों की परछाइयाँ साफ दीख रही थीं। इन्हें देखने से लगता था कि ये मछलियाँ पानी में नहीं आकाश में दौड़ रही हैं ॥ १३ ॥

मोती की टूटी लड़ियों के समान हाथियों के द्वारा उछाले गये जलकण, ऐसे लगते थे जैसे शिलाओं के संघर्ष में चूर-चूर होकर वे जल-तरंगों के रूप में बिखर गये हों ॥ १४ ॥

विद्याधर की वधुओं के स्नान करने से, हाथियों के मदजल प्रवाह से तथा फूलों के पराग से सम्पूर्ण सरोवर का जल सुवासित हो रहा था ॥ १५ ॥

ताराणां चन्द्रदाराणां सामान्यमिव दर्पणम्।
मुदितद्विजसङ्कीर्णं तद्रुतप्रतिनादितम् ॥ १६ ॥

तदेवंविधं सरः कारयित्वा सर्वपक्षिगणस्य चानावृतसुखोपभोग्यमेतद्दत्वा प्रत्यहं सर्वपक्षिणां विश्वासनार्थमित्यभयदानघोषणां कारयामास—

एष पद्मोत्पलदलच्छन्नतोयमिदं सरः।
ददाति राजा पक्षिभ्यः प्रीत्या साभयदक्षिणम् ॥ १७ ॥

अथ कदाचित्संहृतमेघान्धकारयवनिकासु शरद्गुणोपहृतशोभास्वालोकनक्षमासु दिक्षु प्रबुद्धकमलवनशोभेषु प्रसन्नसलिलमनोहरेषु सरस्सु परं कान्तियौवनमुपगते प्रचेयकिरण इव चन्द्रमसि विविधसस्यसम्पद्विभूषणधारायां वसुन्धरायां प्रवृत्ते हंसतरुणजनसम्पाते मानसात्सरसः शरत्प्रसन्नानि दिगन्तराण्यनुविचरदनुपूर्वेणान्यतमं हंसमिथुनं तस्मादेव हंसयूथात्तस्य राज्ञो विषयमुपजगाम। तत्र च पक्षिगणकोलाहलोन्नादितमनिभृतमधुकरगणं तरङ्गमालाविचरणकृतव्यापारैः सुखशिशिरैर्मृदुभिरनिलैः समन्ततो विक्षिप्यमाणकमलकुवलयरेणुगन्धं ज्वलदिव विकचैः कमलैर्हसदिव विकसितैः कुमुदैस्तत्सरो ददर्श। तस्य मानससरःसमुचितस्यापि हंसमिथुनस्य तामतिमनोहरां सरसः श्रियमभिवीक्ष्य प्रादुरभूत्–अहो बत तदपि हंसयूथमिहागच्छेदिति।

अपने स्वच्छ जल के कारण सरोवर चन्द्रवधुओं एवं ताराओं के लिए समान रूप से स्वच्छ दर्पण बना था। पक्षियों के कल कूजन से वह सदैव मुखरित था ॥ १६ ॥

पक्षियों के सुखोपभोग की सारी सामग्रियों से सम्पन्न ऐसे सरोवर का निर्माण कराकर, पक्षियों के विश्वास हेतु राजा ने उनके अभयदान की यह घोषणा करवाई—

यह लाल-नीले कमलों की पंखुड़ियों से आच्छादित जलवाला सरोवर मैंने प्रीतिपूर्वक पक्षियों को दान दिया है और साथ ही उन्हें अभय की दक्षिणा भी दी है ॥१७॥

एक बार जब आकाश से मेघों की यवनिका उठ गई, शरद् की शोभा से सम्पन्न दिशायें दर्शनीय हो गईं, स्वच्छ सलिल से आपूरित सरोवर विकसित कमलों से भर गये, पुष्टकिरण चन्द्रमा अपनी कान्ति की पराकाष्ठा पर पहुँच गया, वसुन्धरा अपने विभिन्न शस्यों की शोभा से सम्पन्न हो उठी, तब मानसरोवर के उसी हंस समूह से निकल कर कोई हंस-युगल शरदृतु की निर्मल दिशाओं में घूमते हुए उस राजा के देश में पहुँच गया। वहाँ उन्होंने विविध पक्षियों के कलरव से निनादित, भौंरों की अनुगूँज से भरे उस सरोवर को देखा। वहाँ तरंग-मालाओं पर शीतल मन्द सुगन्ध हवा कमलों और कुमुदों की सुगन्ध चारों ओर बिखेर रही थी। खिले हुए लाल-लाल कमलों से जहाँ एक ओर वह सरोवर प्रज्ज्वलित था, वहीं दूसरी ओर विकसित कुमुदों से मानों खिलखिलाकर हँस रहा था। यद्यपि वह हंस-युगल मान सरोवर में रहने का अभ्यस्त था, फिर भी उस सरोवर की रमणीय शोभा देखकर उन्होंने सोचा—काश, वह हंस-समूह भी यदि यहाँ आता!'

प्रायेण खलु लोकस्य प्राप्य साधारणं सुखम् ।
स्मृतिः स्नेहानुसारेण पूर्वमेति सुहृज्जनम् ॥ १८ ॥

अथ तत्र तद्धंसमिथुनं यथाकामं विहृत्य प्रवृत्ते जलदसमये विद्युद्विस्फुरितशस्त्रविक्षेपेषु नातिघनविच्छिन्नान्धकाररूपेषु समभिवर्तमानेषु दैत्यानीकेष्विव जलधरवृन्देषु परिपूर्णबर्हकलापशोभेषु प्रसक्तकेकानिनादोत्क्रुष्टैर्जलधरविजयमिव संराधयत्सु नृत्तप्रवृत्तेषु बर्हिगणेषु वाचालतामुपगतेषु स्तोकशकुनिषु प्रविचरत्सु कदम्बसर्जार्जुनकेतकीपुष्पगन्धाधिवासितेषु सुखशिशिरेषु काननविनिश्वसितेष्विवानिलेषु मेघदशनपङ्क्तिष्विवालक्ष्यमाणरूपासु बलाकायुवतिषु गमनौत्सुक्यमृदुनिकूजितेषु प्रयाणव्याकुलेषु हंसयूथेषु तद्धंसमिथुनं मानसमेव सरः प्रत्याजगाम । समुपेत्य च हंसाधिपतिसमीपं प्रस्तुतासु दिग्देशकथासु तं तस्य सरसो गुणविशेषं वर्णयामास—अस्ति देव दक्षिणेन हिमवतो वाराणस्यां ब्रह्मदत्तो नाम नराधिपतिः । तेनात्यद्भुतरूपशोभमनिर्वर्ण्यगुणसौन्दर्यं महत्सरः पक्षिभ्यः स्वच्छन्दसुखोपभोग्यं दत्तम् । अभयं च प्रत्यहमवघुष्यते । रमन्ते चात्र पक्षिणः स्वगृह इव प्रहीणभयाशङ्काः । तदर्हति देवो व्यतीतासु वर्षासु तत्र गन्तुमिति । तच्छ्रुत्वा सर्व एव ते हंसास्तत्सन्दर्शनसमुत्सुका बभूवुः ।

लोग प्रायः सर्वजन उपभोग्य वस्तुओं को पाकर सबसे पहले स्नेहवश अपने आत्मियों की ही याद करते हैं ॥ १८ ॥

युगल हंसों ने वहाँ बहुत दिनों तक यथेच्छ विहार किया । मेघ का समय आया । शस्त्र की तरह बिजली चमकने लगी । कुछ अंधेरा फटा और दैत्य-सेना की तरह बादल आगे बढ़ आये । रंग-बिरंगे मोर नाचने लगे, उनके इन्द्रधनुषी पाँख थिरक उठे और केका रव से मानो वे मेघ-विजय मनाने लगे । छोटी-छोटी चिड़ियाँ भी चहक उठीं । कदम्ब, साल, अर्जुन और केतकी के फूलों की सुगन्ध से सुवासित वायु बहने लगी, जिससे यह प्रतीत होता था कि उपवन उच्छ्वास छोड़ रहा है । मेघ की दन्त-पंक्तियों की तरह बक-पंक्तियाँ सहसा आकाश में प्रकट हो गईं । हंसों की जमात प्रस्थान के लिए व्याकुल हो उठी । यात्रा की उत्सुकता से वे मृदु कूजन करने लगे । तब हंसों की वह जोड़ी भी मानसरोवर की ओर ही लौट पड़ी । और, हंसाधिपति के पास जाकर उन्होंने देश विदेश के कथाप्रसंग में उक्त सरोवर के विशेष गुणों का वर्णन किया । उन्होंने उन्हें बतलाया कि हिमालय के दक्षिण वाराणसी में ब्रह्मदत्त नामक एक राजा है । उन्होंने अद्भुद रूपशोभा और अकथनीय गुण सौन्दर्य से युक्त महासरोवर पक्षियों के स्वच्छन्द विहार हेतु प्रदान किया है । राजा की ओर से उनके अभयदान की घोषणा भी प्रतिदिन की जा रही है । अपने घर की तरह पक्षीगण उस सरोवर में निश्शंक एवं निडर होकर यथेच्छ आनन्द लूटते है । वर्षा के बाद श्रीमान्

अथ बोधिसत्त्वः सुमुखं सेनापतिं प्रश्नव्यक्ताकारं प्रततं ददर्श, कथं पश्यसीति चावोचत्। अथ सुमुखः प्रणम्यैनमुवाच – न प्राप्तं तत्र देवस्य गमनमिति पश्यामि। कुतः? आमूनि तावल्लोभनीयानि मनोहराण्यामिषभूतानि रूपाणि। न च नः किञ्चिदिह परिहीयते। कृतकमधुरोपचारवचनप्रच्छन्नतीक्ष्णदौरात्म्यानि च प्रायेण पेलवघृणानि शठानि मानुषहृदयानि। पश्यतु स्वामी,

वाशितार्थस्वहृदयाः प्रायेण मृगपक्षिणः।
मनुष्याः पुनरेकीयास्तद्विपर्ययनैपुणाः॥ १९॥
उच्यते नाम मधुरं स्वनुबन्धि निरत्ययम्।
वणिजोऽपि हि कुर्वन्ति लाभसिद्धयाशया व्ययम्॥ २०॥
यतो नैतावता देव विस्रम्भः क्षमते क्वचित्।
कार्यार्थमपि न श्रेयः सात्ययापनयः क्रमः॥ २१॥

यदि त्ववश्यमेव तत्र गन्तव्यम्, गत्वानुभूय च तस्य सरसो गुणविभूतिरसं न नस्तत्र चिरं विचरितुं क्षमं निवासाय वा चित्तमभिनामयितुमिति पश्यामि। अथ बोधिसत्त्वः प्राप्तायां विमलचन्द्रनक्षत्रताराविभूषणायां रजन्यां

भी वहाँ चलें।' यह सुनकर वहाँ के सभी हंस उस सरोवर को देखने के लिए समुत्सुक हो उठे।

तब बोधिसत्त्व ने सेनापति सुमुख की ओर बहुत देर तक प्रश्नसूचक मुद्रा में देखते हुए पूछा—'इस सम्बन्ध में मैं आपका विचार जानना चाहूँगा।' तब सुमुख ने उन्हें प्रणाम कर कहा—श्रीमान् का वहाँ जाना उचित नहीं है। मुझे ऐसा ही लगता है। क्योंकि, लुभावने और मनोहर रूप केवल प्रलोभन मात्र हैं। दूसरी बात यह भी है कि यहाँ ही हमें किस वस्तु की कमी है। प्रायः मनुष्य के हृदय दुष्ट और छद्मदया से भरे रहते हैं। उनके बनावटी उपचार और मीठी बातों के भीतर कठोर दुष्टता छिपी रहती है। आप स्वयं ही देखें—

पशु-पक्षियों के हृदय उनके वचनानुसार ही होते है, पर मनुष्य के आचरण इसके विपरीत होते हैं॥ १९॥

वे मीठी, सदाशयी और हितकर बाते बोलते हैं, बनिए की तरह लाभ की आशा से खर्च करते हैं॥ २०॥

अतः हे देव, उनकी बात से उन पर विश्वास करना उचित नहीं। कार्यसिद्धि के लिए अहितकर और अनीतिपूर्ण मार्ग लाभकर कभी सिद्ध नहीं हो सकता॥ २१॥

अगर वहाँ जाना ही पड़े तो उस सरोवर की विशेषता का अनुभवकर शीघ्र वहाँ से चल देना चाहिए, वहाँ टिकने का निश्चय करना ही अनुचित है।' यही मेरा विचार है। तब शरद् के निर्मल चन्द्र और नक्षत्र विभूषित एक रात, वाराणसी के

शरदि तेन हंसयूथेन वाराणसीसरःसन्दर्शनं प्रत्यभिवृद्धकौतूहलेन तदभिगमनार्थं पुनः पुनर्विज्ञाप्यमानस्तेषां हंसानामनुवृत्त्या सुमुखप्रमुखेण महता हंसगणेन परिवृतश्चन्द्रमा इव शरदभ्रवृन्देन तत्राभिजगाम ।

दृष्ट्वैव लक्ष्मीं सरसस्तु तस्य तेषां प्रहर्षाकुलविस्मयानाम् ।
चित्रप्रकारा रुचिसन्निवेशास्तत्संश्रये तुल्यगुणा बभूवुः ।। २२ ।।
यन्मानसादभ्यधिकं बभूव तैस्तैरवस्थातिशयैः सरस्तत् ।
अतश्चिरं तद्गतमानसानां न मानसे मानसमास तेषाम् ।। २३ ।।

तत्र ते तामभयघोषणामुपलभ्य स्वच्छन्दतां च पक्षिगणस्य तस्य च सरसो विभूत्या प्रमुदितहृदयास्तत्रोद्यानयात्रामिवानुभवन्तः परां प्रीतिसम्पद-मुपजग्मुः ।

अथ तस्मिन् सरस्यधिकृताः पुरुषास्तेषां हंसानां तत्रागमनं राज्ञे प्रत्यवेद-यन्त—यादृशगुणरूपौ देव तौ हंसवर्यावनुश्रूयेते तादृशावेव [हंसवर्यौ] कनका-वदातरुचिरपत्रौ तपनीयोज्ज्वलतरवदनचरणशोभावधिकतरप्रमाणौ सुसं-स्थितदेहौ नैकहंसशतसहस्रपरिवारौ देवस्य सरः शोभयितुमिवानुप्राप्ताविति ।

अथ स राजा शाकुनिककर्मणि प्रसिद्धप्रकाशनैपुणं शाकुनिकगणे समन्विष्य

सरोवर को देखने के लिए समुत्सुक हंसों के साथ उनका मन रखने के लिए बोधिसत्त्व वहाँ पहुँच गये। शरद् के श्वेत मेघ-खण्डों से घिरे चन्द्रमा की तरह सुमुख-प्रमुख प्रभृति हंसों के साथ वहाँ पहुँच गये।

उस सरोवर की शोभा देखते ही उनका मन खुशी और विस्मय से भर गया। यद्यपि उनकी रुचि अन्य हंसों से कुछ भिन्न थी, फिर भी वहाँ ठहरने के पक्ष में उन्होंने भी अपनी सहमति दे दी ।। २२ ।।

अपनी कई विशेषताओं में यह सरोवर मानसरोवर से बढ़ा-चढ़ा था। अतः बहुत दिनों तक वहाँ रमते रहने के कारण धीरे-धीरे उन्होंने मानसरोवर को बिल्कुल ही भुला दिया ।। २३ ।।

वहाँ की अभय घोषणा को सुनकर, पक्षियों के स्वच्छन्द विचरण को देखकर वे उस सरोवर की रूप-सम्पदा से काफी प्रसन्न हुए। उद्यान में भ्रमण कर वे पर्याप्त आनन्दित हुए।

तब उस सरोवर के अधिकारियों ने राजा से हंसों के आगमन का समाचार निवेदित किया—हे देव, आपने जिन हंसों के रूप और गुण के बारे में सुना है, वैसे ही दो बड़े हंसों के साथ लाखों हंस आपके सरोवर की शोभा बढ़ा रहे हैं। उनके पंख सुनहले, चमकीले और बड़े मनोहर हैं। उनकी चोंच और चरण सोने से भी अधिक भव्य हैं। उनकी देह सुगठित और आकृति बहुत बड़ी है।

तब राजा ने एक चतुर और निपुण व्याध को खोजवाकर उन हंसों को पकड़ने

तद्ग्रहणार्थं सादरमन्वादिदेश। स तथेति प्रतिश्रुत्य तयोर्हंसयोर्गोचरविहार-प्रदेशं सम्यगुपलभ्य तत्र तत्र दृढान्निगूढान् पाशान् न्यदधात्। अथ तेषां हंसानां विश्वासादपायनिराशङ्कानां प्रमोदोद्धतमनसां विचरतां स हंसाधिपतिः पाशेन चरणे न्यबध्यत।

विस्मृतात्ययशङ्कानां सूक्ष्मैर्विश्वासनक्रमैः।
विकरोत्येव विश्रम्भः प्रमादापनयाकरः॥ २४॥

अथ बोधिसत्त्वो मा भूदन्यस्यापि कस्यचित्तत्रैवंविधो व्यसनोपनिपात इति रुतविशेषेण सप्रतिभयतां सरसः प्रकाशयामास। अथ ते (हंसा) हंसाधि-पतिबन्धाद्व्यथितहृदया भयविरसव्याकुलविरावाः परस्परनिरपेक्षा हतप्रवीरा इव सैनिका दिवं समुत्पेतुः। सुमुखस्तु हंससेनाधिपतिर्हंसाधिपतिसमीपान्नैव विचचाल।

स्नेहावबद्धानि हि मानसानि प्राणात्ययं स्वं न विचिन्तयन्ति।
प्राणात्ययाद् दुःखतरं यदेषां सुहृज्जनस्य व्यसनार्तिदैन्यम्॥२५॥

अथैनं बोधिसत्त्व उवाच—

गच्छ गच्छैव सुमुख क्षमं नेह विलम्बितुम्।
साहाय्यस्यावकाशो हि कस्तवेत्थङ्गते मयि॥ २६॥

का आदेश दिया। उन्होंने उन्हें पकड़ने की प्रतिज्ञा कर, उन दोनों हंसों के गोचर-विचरण की जगहों का अच्छी तरह पता लगाकर, वहाँ मजबूत फंदे लगा दिए। वे सारे हंस विश्वास के कारण किसी भी अनिष्ट की आशंका से रहित, आनन्द-विभोर होकर घूम रहे थे कि अचानक उनके राजा के पैर फंदे में फँस गये।

असावधानी और अनीति को जन्म देने वाला विश्वास तो अनिष्ट करता ही है। विश्वास दिलाने की सूक्ष्म युक्ति के सामने सीधे लोग अनिष्ट की किसी आशंका को भूल जाते हैं॥ २४॥

कोई दूसरा हंस भी इस विपत्ति में न फँस जाये, यह सोचकर बोधिसत्त्व ने एक विशेष ढंग की आवाज से उन्हें संभावित खतरे का अहसास करा दिया। अपने राजा को फंदे में फँसा देखकर, विरल बोली बोलते हुए, एक दूसरे की उपेक्षा करते हुए, हतनायक सैनिकों की तरह डरकर वे सारे हंस आकाश में उड़ गये। किन्तु, सेना-पति सुमुख वहाँ से नहीं हटा।

स्नेह में बँधे मन अपने प्राण-विनाश की कभी चिन्ता नहीं करते। इनके लिए मित्रों का दुःख-दैन्य अपने प्राण-विनाश से भी अधिक दुःखदायी होते हैं॥ २५॥

तब बोधिसत्त्व ने उनसे कहा—

जाओ हे सुमुख तुम भी चले जाओ। यहाँ ठहरना अब तुम्हारे लिए बिल्कुल

सुमुख उवाच—

नैकान्तिको मृत्युरिह स्थितस्य
न गच्छतः स्यादजरामरत्वम् ।
सुखेषु च त्वां समुपास्य नित्य-
मापद्गतं मानद केन जह्याम् ॥ २७ ॥
स्वप्राणतन्तुमात्रार्थं त्यजतस्त्वां खगाधिप ।
धिग्वादवृष्टयावरणं कतमन्मे भविष्यति ॥ २८ ॥
नैष धर्मो महाराज त्यजेयं त्वां यदापदि ।
या गतिस्तव सा मह्यं रोचते विहगाधिप ॥ २९ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—

का नु पाशेन बद्धस्य गतिरन्या महानसात् ।
सा कथं स्वस्थचित्तस्य मुक्तस्याभिमता तव ॥ ३० ॥
पश्यस्येवं कमर्थं वा त्वं ममात्मन एव वा ।
ज्ञातीनां वावशेषाणामुभयोर्जीवितक्षये ॥ ३१ ॥
लक्ष्यते च न यत्रार्थस्तमसीव समासमम् ।
तादृशे सन्त्यजन् प्राणान् कमर्थं द्योतयेद्भवान् ॥ ३२ ॥

उचित नहीं है। क्योंकि मैं ऐसी दुरवस्था में पहुँच गया हूँ, जहाँ तुम्हारे लिए सहायता का कोई अवकाश नहीं है ॥ २६ ॥

सुमुख ने कहा—

यहाँ टिकने पर जैसे मौत निश्चित नहीं है, वैसे ही यहाँ से अलग हट जाने पर अमरता भी तो निश्चित नहीं है। सुख में जब मैंने सदा आपकी सेवा की है तो हे मानद, इस दुःख में आपको कैसे छोड़ दूँ ॥ २७ ॥

हे खगेश, अपनी जान बचाने के लिए यदि मैं आपको इस स्थिति में छोड़ दूँ तो फिर लोग जो मेरी निन्दा करेंगे, उससे बचने का उपाय क्या होगा ॥ २८ ॥

हे महाराज, इस विपत्ति में आपको अकेले छोड़ दूँ, यह कोई धर्म नहीं है। हे खगाधिपति यहाँ आपकी जो स्थिति होगी वही सब मुझे अपने लिए भी पसन्द है।

बोधिसत्त्व ने कहा—

फंदे में फँसी चिड़ियों के लिए रसोई-घर के अतिरिक्त और दूसरी क्या गति होगी। तुम तो बन्धन-मुक्त और स्वस्थ चित्त हो, तुम्हें अपने लिए यह सब कैसे पसन्द है ?

इस तरह हम दोनों के एक साथ विनाश से तुम्हें मेरा, अपना या शेष हंसों का क्या लाभ दीखता है ॥ ३१ ॥

अंधेरे में जैसे ऊबड़-खावड़ जैसे नहीं दीखता, वैसे ही जहाँ कोई लाभ नहीं है, वहाँ जान देकर तुम्हें क्या लाभ होगा ॥ ३२ ॥

सुमुख उवाच—

कथं नु पततां श्रेष्ठ धर्मेऽर्थं न समीक्षसे ।
धर्मो ह्युपचितः सम्यगावहत्यर्थमुत्तमम् ।। ३३ ।।
सोऽहं धर्मं च सम्पश्यन् धर्माच्चार्थं समुत्थितम् ।
तव मानद भक्त्या च नाभिकाङ्क्षामि जीवितम् ।। ३४ ।।

बोधिसत्त्व उवाच—

अद्धा धर्मः सतामेष यत्सखा मित्रमापदि ।
न त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोर्धर्ममनुस्मरन् ।। ३५ ।।
तदर्चितस्त्वया धर्मो भक्तिर्मयि च दर्शिता ।
याच्ञामन्त्यां कुरुष्वेमां गच्छैवानुमतो मया ।। ३६ ।।
अपि चैवङ्गते कार्ये यदूनं सुहृदां मया ।
तत्त्वया मतिसम्पन्न भवेत्परमसम्भृतम् ।। ३७ ।।
परस्परप्रेमगुणादिति सञ्जल्पतोस्तयोः ।
प्रत्यदृश्यत नैषादः साक्षान्मृत्युरिवापतन् ।। ३८ ।।

अथ तौ हंसवर्यौ निषादमापतन्तमालोक्य तूष्णीं बभूवतुः । स च तद्धंस-यूथं विद्रुतमालोक्य नूनमत्र कश्चिद्बद्ध इति निश्चितमतिः पाशस्थानान्यनु-

---

सुमुख ने कहा—

हे पक्षिराज, आप धार्मिक लाभ क्यों नहीं देखते ? धर्म का यदि ठीक से पालन किया जाये तो उससे बड़ा लाभ और क्या होगा ।। ३३ ।।

अतः धर्म और धर्म से होने वाले लाभ को देखते हुए, आपकी भक्ति से प्रेरित होकर अब मुझे जीने की कोई चाह नहीं है ।। ३४ ।।

बोधिसत्त्व ने कहा —

अपनी जान पर खेलकर विपत्ति में पड़े मित्र का साथ जो धर्म को स्मरण कर नहीं छोड़ता, वही तो सज्जनों का धर्म है ।। ३५ ।।

तुमने उस धर्म का पालन किया, मेरे प्रति भक्ति दिखलाई, अब मेरे ही कहने पर यहाँ से चले जाओ, मेरी अन्तिम प्रार्थना स्वीकार करो ।। ३६ ।।

हे बुद्धिमान्, इस घटना के घट जाने पर मेरे बिना मित्रों को जो कमी होगी, जिन्दा रहकर उसे तुम पूरा करना ।। ३७ ।।

एक दूसरे के साथ वे ऐसी प्रेमपूर्ण बातें कर ही रहे थे कि साक्षात् मौत की तरह अपनी ओर आते बहेलिये को उन्होंने देखा ।। ३८ ।।

बहेलिए को अपनी ओर सरकते देखकर वे दोनों हंस चुप हो गये । उधर अचानक हंसों की जमात को आकाश में उड़ते देखकर बहेलिए ने सोचा—निश्चय ही

विचरंस्तौ हंसवर्यौ ददर्श। स तद्रूपशोभया विस्मितमना बद्धाविति मन्यमानस्ततसमापन्नौ पाशावुद्घट्टयामास। अथैकं बद्धमबद्धेनेतरेण स्वस्थेनोपास्यमानमवेक्ष्य विस्मिततरहृदयः सुमुखमुपेत्योवाच—

अयं पाशेन महता द्विजः संहृतविक्रमः।
व्योम नास्मात्प्रपद्येत मय्यप्यन्तिकमागते॥ ३९॥
अबद्धस्त्वं पुनः स्वस्थः सज्जपत्ररथी बली।
कस्मात्प्राप्तेऽपि मय्येवं वेगान्न भजसे नभः॥ ४०॥

तदुपश्रुत्य सुमुखः प्रव्यक्ताक्षरपदविन्यासेन स्वभाववर्णनाधैर्यगुणौजस्विना स्वरेण मानुषीं वाचमुवाच—

शक्तिस्थः सन्न गच्छामि यदिदं तत्र कारणम्।
अयं पाशपरिक्लेशं विहङ्गः प्राप्तवानिति॥ ४१॥
अयं पाशेन महता संयतश्चरणे त्वया।
गुणैरस्य तु बद्धोऽहमतो दृढतरैर्हृदि॥ ४२॥

अथ स नैषादः परमविस्मितमतिः संहृषिततनूरुहः सुमुखं पुनरुवाच—

कोई हंस फंदे में फँसा है। अतः जहाँ उसने फँदा डाला था उन जगहों को खोजते हुए इन दोनों हंसों को देखा। इनकी रूप शोभा देखते ही वह अवाक् हो गया, फिर दोनों को फन्दे में फँसा जानकर उसने पास के दो फन्दों को हिलाया। तब उसे पता चला कि एक तो फंदे में फँसा है पर दूसरा बन्धनमुक्त है। फिर स्वस्थ होते हुए भी भागने की अपेक्षा वह पहले की सेवा कर रहा था। यह सब देखकर उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उसने सुमुख के पास जाकर कहा—

यह पक्षी तो मजबूत फन्दे में जकड़े रहने के कारण भागने में शक्तिहीन है। अतः मेरे पास आने पर भी वह आकाश में उड़कर भाग नहीं सकता॥ ३९॥

पर, तुम तो बन्धन मुक्त हो, स्वस्थ और बलवान् हो, तुम्हारे पास पंखरूपी सजे-सजाये रथ भी हैं, फिर मेरे पास आने पर भी तुम तीव्र वेग से आकाश में उड क्यों नहीं जाते॥ ४०॥

यह सुनकर अपने स्वभाव और धैर्य का परिचय देते हुए स्पष्ट वाणी वाले मनुष्य की बोली में सुमुख ने कहा—

शक्ति रहते हुए भी मैं यहाँ से नहीं जा रहा हूँ, इसका कारण स्पष्ट है। यह पक्षी फन्दे में फँसा दुःख भोग रहा है॥ ४१॥

तुमने फन्दे में इनके चरणों को बाँधा है और इन्होंने अपने गुणों से मेरा हृदय जकड़ लिया है॥ ४२॥

तब अत्यन्त विस्मित और रोमांचित होते हुए बहेलिये ने फिर सुमुख से कहा—

त्यक्त्वैनं मद्भयादन्ये दिशो हंसाः समाश्रिताः ।
त्वं पुनर्न त्यजस्येनं को न्वयं भवतो द्विजः ॥ ४३ ॥

सुमुख उवाच —

राजा मम प्राणसमः सखा च सुखस्य दाता विषमस्थितश्च ।
नैवोत्सहे येन विहातुमेनं स्वजीवितस्याप्यनुरक्षणार्थम् ॥ ४४ ॥

अथ सुमुखः प्रसादविस्मयावर्जितमानसं तं नैषादमवेत्य पुनरुवाच —

अप्यस्माकमियं भद्र सम्भाषा स्यात्सुखोदया ।
अप्यस्मान् विसृजन्नद्य धर्म्यां कीर्तिमवाप्नुयाः ॥ ४५ ॥

नैषाद उवाच —

नैव ते दुःखमिच्छामि न च बद्धो भवान् मया ।
स त्वं गच्छ यथाकामं पश्य बन्धूंश्च नन्दय ॥ ४६ ॥

सुमुख उवाच —

नो चेदिच्छसि मे दुःखं तत्कुरुष्व ममार्थनाम् ।
एकेन यदि तुष्टोऽसि तत्त्यजैनं गृहाण माम् ॥ ४७ ॥
तुल्यारोहपरीणाहौ समानौ वयसा च नौ ।
विद्धि निष्क्रय इत्यस्य न तेऽहं लाभहानये ॥ ४८ ॥

मेरे डर से दूसरे सारे हंस इसे छोड़कर उड़ गये, पर तुम अभी भी इसे नहीं छोड़ रहे हो । अतः बतलाओ यह तुम्हारा कौन है ॥ ४३ ॥

तब सुमुख ने कहा—

ये मेरे राजा हैं, प्राण से भी अधिक प्यारे मित्र हैं, हर तरह के सुख देने वाले हैं, विपत्ति में साथ देने वाले हैं । यही कारण है कि अपनी जान बचाने के लिए भी इन्हें नहीं छोड़ सकता ॥ ४४ ॥

यह सुनकर उस बहेलिए का दिल भर गया । सुमुख ने फिर कहा—

हे भद्र, हमारी ये बातचीत सुखदायी हो, हमें छोड़कर तुम धार्मिक कीर्ति पाओ ।

बहेलिए ने कहा—

मैंने तुम्हें बांधा कहाँ ? मैं तो तुम्हारा कुछ भी अनिष्ट नहीं चाहता । तुम जहाँ चाहो जाओ, अपने बन्धु-बान्धवों से मिलकर उन्हें सुख पहुँचाओ ॥ ४६ ॥

सुमुख ने कहा—

ठीक है तुम मेरा अनिष्ट नहीं चाहते हो तो फिर मेरी विनती सुनो । यदि तुम्हें एक हँस से संतोष है तो फिर इनकी जगह मुझे पकड़ लो, और इन्हें छोड़ दो ॥४७॥

आकार-प्रकार और उम्र में हम दोनों बराबर हैं, अतः मुझे इनकी कीमत समझो, इससे तुम्हारे लाभ में किसी तरह की कमी नहीं होगी ॥ ४८ ॥

तदङ्ग समवेक्षस्व गृद्धिर्भवतु ते मयि।
मां बध्नातु भवान् पूर्वं पश्चान्मुञ्चेद् द्विजाधिपम् ॥ ४९ ॥
तावानेव च लाभस्ते कृता स्यान्मम चार्थना।
हंसयूथस्य च प्रीतिर्मैत्री तेन तथैव च ॥ ५० ॥
पश्यन्तु तावद्भवता विमुक्तं हंसाधिपं हंसगणाः प्रतीताः।
विरोचमानं नभसि प्रसन्ने दैत्येन्द्रनिर्मुक्तमिवोडुराजम् ॥ ५१ ॥

अथ स नैषादः क्रूरताभ्यासकठिनहृदयोऽपि तेन तस्य जीवितनिरपेक्षेण स्वाम्यनुरागश्लाघिना कृतज्ञतागुणोजस्विना धैर्यमाधुर्यालङ्कृतवचसा समावर्जितहृदयो विस्मयगौरववशात्समानीताञ्जलिः सुमुखमुवाच–साधु साधु महाभाग!

मानुषेष्वप्ययं धर्म आश्चर्यो दैवतेषु वा।
स्वाम्यर्थं त्यजता प्राणान् यस्त्वयात्र प्रदर्शितः ॥ ५२ ॥
तदेष ते विमुञ्चामि राजानमनुमानयन्।
को हि प्राणप्रियतरे तवास्मिन् विप्रियं चरेत् ॥ ५३ ॥

इत्युक्त्वा स नैषादस्तस्य नृपते सन्देशननादृत्य हंसराजं समनुमानयन् दयासुमुखं पाशान्मुमोच। अथ सुमुखः सेनापतिर्हंसराजविमोक्षात्परमानन्दितहृदयः प्रीत्यभिस्निग्धमुदीक्षमाणो निषादमुवाच—

तो फिर अगर मुझसे तुम्हें प्रेम है तो हे भद्र, पहले मुझे बाँध लो, फिर इन्हें छोड़ देना ॥ ४९ ॥

इससे तुम्हें लाभ उतना ही होगा और मेरी प्रार्थना भी पूरी होगी, हंसों को आनन्द मिलेगा और तुम्हें हंसाधिपति की मित्रता मिलेगी ॥ ५० ॥

तब तुमसे छूटकर निर्मल आकाश में चमकते हुए हंसराज को देखकर हंसों को वैसे ही खुशी होगी जैसी खुशी लोगों को स्वच्छ आकाश में राहुमुक्त ताराधिपति चन्द्रमा को देखकर होती है ॥ ५१ ॥

यद्यपि लगातार क्रूर कर्म करते रहने से उस बहेलिए का दिल पत्थर की तरह कठोर हो गया था फिर भी उसके जीवन-निरपेक्ष, स्वामी-भक्ति-प्रकाशक, कृतज्ञतापूर्ण तथा धैर्य एवं माधुर्य से सुशोभित वचनों को सुनकर उसका दिल पिघल गया। विस्मय और सम्मानपूर्वक हाथ जोड़कर उसने सुमुख से कहा—साधु, हे भद्र!

आपने अपने मालिक के लिए जीवनोत्सर्ग कर जिस धर्म का पालन किया है, वह देवताओं के लिए भी दुर्लभ है ॥ ५२ ॥

मैं तुम्हारे राजा को ससम्मान मुक्त करता हूँ। जो तुम्हें प्राणों से अधिक प्रिय हैं उसके प्रति अप्रिय आचरण कौन करेगा ॥ ५३ ॥

इतना कहकर उस बहेलिए ने राजाज्ञा का उल्लंघन कर दयापूर्वक हंसराज को

यथा सुहृन्नन्दन नन्दितोऽस्मि त्वयाद्य हंसाधिपतेर्विमोक्षात् ।
एवं सुहृज्ज्ञातिगणेन भद्र शरत्सहस्राणि बहूनि नन्द ॥ ५४ ॥
तन्मा तवायं विफलः श्रमो भूदादाय मां हंसगणाधिपं च ।
स्वस्थावबद्धावधिरोप्य काचमन्तःपुरे दर्शय भूमिपाय ॥ ५५ ॥
असंशयं प्रीतमनाः स राजा हंसाधिपं सानुचरं समीक्ष्य ।
दास्यत्यसम्भावितविस्तराणि धनानि ते प्रीतिविवर्धनानि ॥ ५६ ॥

अथ नैषादस्तस्य निर्बन्धात् पश्यतु तावदत्यद्भुतमिदं हंसयुगं स राजेति कृत्वा तौ हंसमुख्यौ काचेनादाय स्वस्थावबद्धौ राज्ञे दर्शयामास ।

उपायनाश्चर्यमिदं द्रष्टुमर्हसि मानद ।
ससेनापतिरानीतः सोऽयं हंसपतिर्मया ॥ ५७ ॥

अथ स राजा प्रहर्षविस्मयापूर्णमतिर्दृष्ट्वा तौ हंसप्रधानौ काञ्चनपुञ्जाविव श्रियाभिज्वलन्मनोहररूपौ तं नैषादमुवाच—

स्वस्थावबद्धावमुक्तौ विहंगौ भूमिचारिणः ।
तव हस्तमनुप्राप्तौ कथं कथय विस्तरम् ॥ ५८ ॥

सादर बन्धन-मुक्त कर दिया । अपने राजा की मुक्ति से अत्यधिक प्रसन्न हो, सेनापति सुमुख ने सस्नेह बहेलिए को देखते हुए कहा—

हे सुहृन्नन्दन, मेरे राजा को बन्धनमुक्त कर तुमने मुझे जैसी प्रसन्नता आज दी है, उसी तरह की प्रसन्नता का अनुभव तुम अपने मित्र-बन्धुओं के साथ हजारों वर्षों तक करो ॥ ५४ ॥

तुम्हारी मेहनत बेकार न जाये, इसलिए हम दोनों को बिना बाँधे ही स्वस्थावस्था में सिकहर में रखकर अन्तःपुर में अपने राजा को दिखलाओ ॥ ५५ ॥

अपने मन्त्री के साथ हंसों के राजा को देखकर तुम्हारे भूपति तुम पर बहुत अधिक खुश होकर तुम्हें कल्पनातीत धन देंगे, जिसे पाकर तुम्हारी खुशी का ठिकाना न होगा ॥ ५६ ॥

तब उनके आग्रह पर उसी तरह सिकहर में रखकर उस बहेलिए ने राजा को दिखलाया ।

हे मानद, आप इस अद्भुत उपहार को देखें, सेनापति के साथ मैं इस हंसराज को ले आया हूँ ॥ ५७ ॥

सोने के समान चमकते रूपवाले उन दोनों विलक्षण हंसों को देखकर राजा का मन आनन्द और आश्चर्य से भर गया । उसने बहेलिए से कहा—

धरती पर घूमने वाले तुम्हारे हाथों में ये स्वस्थ गगनचारी पक्षी बिना किसी बन्धन के कैसे आ गये, विस्तारपूर्वक हमें बतलाओ ॥ ५८ ॥

इत्युक्ते स नैषादः प्रणम्य राजानमुवाच—

निहिता बहवः पाशा मया दारुणदारुणाः ।
विहगाक्रीडदेशेषु पल्वलेषु सरस्सु च ।। ५९ ।।
अथ विस्रम्भनिःशङ्को हंसवर्यश्चरन्नयम् ।
परिच्छन्नेन पाशेन चरणे समबध्यत ।। ६० ।।
अबद्धस्तमुपासीनो मामयं समयाचत ।
आत्मानं निष्क्रयं कृत्वा हंसराजस्य जीवितम् ।। ६१ ।।
विसृजन्मानुषीं वाचं विस्पष्टमधुराक्षराम् ।
स्वजीवितपरित्यागाद्याच्ञामप्यूर्जितक्रमाम् ।। ६२ ।।
तेनास्य वाक्येन सुपेशलेन स्वाम्यर्थधीरेण च चेष्टितेन ।
तथा प्रसन्नोऽस्मि यथास्य भर्ता मया समं क्रूरतयैव मुक्तः ।। ६३ ।।
अथ विहगपतेरयं विमोक्षान्मुदितमतिर्बहुधा वदन् प्रियाणि ।
त्वदभिगम इति न्ययोजयन्मां विफलगुरुः किल मा मम श्रमो भूत् ।।६४।।
तदेवमतिधार्मिकः खगवराकृतिः कोऽप्यसौ
ममापि हृदि मार्दवं जनितवान् क्षणेनैव यः ।
खगाधिपतिमोक्षणं कृतमनुस्मरन् मत्कृते
सहाधिपतिनागतः स्वयमयं च तेऽन्तःपुरम् ।। ६५ ।।

इस प्रकार राजा ने जब पूछा तब उस बहेलिये ने कहना आरम्भ किया—

पक्षियों के किलोल करने की जहाँ कहीं भी संभावना थी, वैसे जलाशयों और सरोवरों में मैंने कठोर फन्दे डाल दिए ।। ५९ ।।

विश्वस्त होने के कारण निःशंकभाव से घूमते हुए इस हंसराज के चरण अचानक उस छिपे हुए फन्दे में जकड़ गये ।। ६० ।।

यह दूसरा हंस जो बिना फन्दे में फँसे ही उन्हें अगोर कर उनके पास ही बैठा था, अपने आपको उनकी जगह समर्पित कर मुझ से हंसराज के जीवन की याचना की ।। ६१ ।।

स्पष्ट किन्तु मधुर उच्चार वाली मनुष्य की आवाज में इन्होंने याचना की थी। प्राण-परित्याग के संकल्प से उस याचना में बड़ा बल था ।। ६२ ।।

इन कोमल वाणी और स्वामी के लिए त्याग से मैं इतना अधिक प्रभावित हुआ कि एक साथ मैंने अपने क्रूर स्वभाव और इनके राजा को छोड़ दिया ।। ६३ ।।

तब हंसराज के छुटकारे से खुश होकर इन्होंने अनेक सुखकर बातें मुझसे कीं। फिर मेरी मेहनत बेकार गई, यह सोंचकर कदाचित् मुझे दुःख न हो, इसलिए आपके सामने इस रूप में उपस्थित होने की प्रेरणा इन्होंने ही दी है ।। ६४ ।।

मुझे लगता है हंस के रूप में निश्चय ही ये कोई धर्मात्मा हैं, जिन्होंने एक क्षण

तदुपश्रुत्य स राजा सप्रमोदविस्मयेन मनसा विविधरत्नप्रभोद्भासुरसुरुचिरपादं परार्घ्यास्तरणरचनाभिरामं श्रीमत्सुखोपाश्रयसाटोपमुपहितपादपीठं राजाध्यासनयोग्यं काञ्चनमासनं हंसराजाय समादिदेश, अमात्यमुख्याध्यासनयोग्यं च वेत्रासनं सुमुखाय। अथ बोधिसत्त्वः काल इदानीं प्रतिसम्मोदितुमिति नूपुरारावमधुरेण स्वरेण राजानमाबभाषे—

द्युतिकान्तिनिकेतने शरीरे कुशलं ते कुशलार्ह कच्चिदस्मिन्।
अपि धर्मशरीरमव्रणं ते विपुलैरुच्छ्वसितीव वाक्प्रदानैः॥ ६६॥
अपि रक्षणदीक्षितः प्रजानां समयानुग्रहविग्रहप्रवृत्त्या।
अभिवर्धयसे स्वकीर्तिशोभामनुरागं जगतो हितोदयं च॥ ६७॥
अपि शुद्धतयोपधास्वसक्तैरनुरक्तैर्निपुणक्रियैरमात्यैः।
समवेक्षयसे हितं प्रजानां न च तत्रासि परोक्षबुद्धिरेव॥ ६८॥
नयविक्रमसंहृतप्रतापैरपि सामन्तनृपैः प्रयाच्यमानः।
उपयासि दयानुवृत्तिशोभां न च विश्वासमयीं प्रमादनिद्राम्॥ ६९॥

के सम्पर्क में ही मेरे क्रूर स्वभाव को इस तरह कोमल बना दिया है। हंसराज की मुक्ति को ध्यान में रखते हुए अपने राजा के साथ आपके अन्तःपुर में ये स्वेच्छा से पधारे हैं॥ ६५॥

यह सुनकर राजा का मन खुशी और आश्चर्य से भर गया। अनेक तरह के रत्नों की कान्ति से जगमगाते गोड़े वाले, कीमती, आकर्षक चादर से सजे, सुखद गद्दे से फूले हुए पैर रखने की छोटी चौकी लगे राजा के बैठने योग्य सुन्दर सोने का आसन हंसराज के लिए तथा महामन्त्री के बैठने योग्य बेंत का आसन सुमुख के लिए लाने का आदेश राजा ने दिया। परस्पर प्रीतिपूर्ण संभाषण का उपयुक्त अवसर समझकर हंसराज ने नूपुर की तरह मधुर आवाज में राजा से कहा—

हे कुशल की समग्र क्षमता रखने वाले राजन्, आपका यह छविमान कान्तिसम्पन्न शरीर सकुशल तो है? धार्मिक प्रवचनों को सुनकर तथा दान देकर आपकी स्वस्थ धार्मिक देह तो पुलकित होती रहती है न॥ ६६॥

प्रजा-संरक्षण में तत्पर आप समयानुसार दया और दण्ड से अपनी कीर्त्ति, लोकानुराग और लोकहित साधन के कार्य तो सम्पन्न कर रहे हैं न॥ ६७॥

शुद्ध, निष्कपट, अनुरक्त और कार्यकुशल अमात्यों से प्रजाजन के कल्याण का निरीक्षण तो करवाते हैं न? इस विषय में केवल परोक्षदर्शी ही तो नहीं है न?

नीति और पराक्रम से आपने जिनके प्रताप का संहार किया है, उन सामन्तों की विनती तो सुनते हैं न? और विश्वासजन्य प्रमाद की गाढ़ी नींद में तो कभी डूबते नहीं॥ ६९॥

अपि धर्मसुखार्थनिर्विरोधास्तव चेष्टा नरवीर सज्जनेष्टाः ।
वितता इव दिक्षु कीर्तिसिद्धया रिपुभिर्निश्वसितैरसत्क्रियन्ते ।। ७० ।।

अथैनं स नृपतिः प्रमोदादभिव्यज्यमानेन्द्रियप्रसादः प्रत्युवाच—

अद्य मे कुशलं हंस सर्वत्र च भविष्यति ।
चिराभिलषितः प्राप्तो यदयं सत्समागमः ।। ७१ ।।
त्वयि पाशवशं प्राप्ते प्रहर्षोद्धतचापलः ।
कच्चिन्नायमकार्षीत्ते दण्डेनाभिरुजन् रुजम् ।। ७२ ।।
एवं ह्यमीषां जाल्मानां पक्षिणां व्यसनोदये ।
प्रहर्षाकुलिता बुद्धिरापतत्येव कल्मषम् ।। ७३ ।।

बोधिसत्त्व उवाच—

क्षेममासीन्महाराज सत्यामप्येवमापदि ।
न चायं किञ्चिदस्मासु शत्रुवत्प्रत्यपद्यत ।। ७४ ।।
अबद्धं बद्धवदयं मत्स्नेहात्सुमुखं स्थितम् ।
दृष्ट्वाभाषत साम्नैव सकौतूहलविस्मयः ।। ७५ ।।
सूनृतैरस्य वचनैरथावर्जितमानसः ।
मामयं व्यमुचत्पाशाद्विनयादनुमानयन् ।। ७६ ।।

हे नरश्रेष्ठ ! धर्म, अर्थ और काम के अनुरूप आपके सारे कार्यों को सज्जन लोग प्रसन्द तो करते हैं न ? आपके अर्जित यश से दिगन्तव्यापी आपके कामशत्रुओं की साँसों से अपमानित तो होते हैं न ।। ७० ।।

तब अपनी इन्द्रियों से प्रसन्नता व्यक्त करते हुए राजा ने कहा—

हे हंस, बहुत दिनों से अभिलषित सत्संग की इस उपलब्धि के कारण आज से मेरा सब कुशल है ।। ७१ ।।

फन्दे में फँसने के बाद खुशी से पागल होकर इस बहेलिए ने आपको डंडे से पीटा तो नहीं ।। ७२ ।।

क्योंकि, चिड़ियों के फँसने पर खुशी के मारे पागल होकर ये दुष्ट प्रायः ऐसी ही दुष्टता किया करते हैं ।। ७३ ।।

बोधिसत्त्व ने कहा—

हे महाराज, फंदे में फंसने के बाद भी हम ठीक ही थे, क्योंकि मेरे साथ इस बहेलिए का एक भी आचरण शत्रुवत् नहीं था ।। ७४ ।।

फंदे में फंसे नहीं रहने के बावजूद मुझमें आसक्ति के कारण मेरे पास टिके सुमुख को देखकर इसे बड़ा विस्मय हुआ । अतः इसने बड़ी शान्ति के साथ सुमुख से बातें की हैं ।। ७५ ।।

सुमुख की सच्ची और मीठी बातों से इसका भी मन पिघल गया और इस बहेलिए ने बड़े विनम्र भाव से मुझे ससम्मान बन्धनमुक्त कर दिया ।। ७६ ।।

अतश्च सुमुखेनेदं हितमस्य समीहितम् ।
इहागमनमस्माकं स्यादस्यापि सुखोदयम् ॥ ७७ ॥

नृपतिरुवाच—

आकाङ्क्षिताभिगमयोः स्वागतं भवतोरिह ।
अतीव प्रीणितश्चास्मि युष्मत्सन्दर्शनोत्सवात् ॥ ७८ ॥
अयं च महतार्थेन नैषादोऽद्य समेष्यति ।
उभयेषां प्रियं कृत्वा महदर्हत्ययं प्रियम् ॥ ७९ ॥

इत्युक्त्वा स राजा तं नैषादं महता धनविस्तरप्रदानेन सम्मान्य पुनर्हंस-राजमुवाच—

इमं स्वमावासमुपागतौ युवां विसृज्यतां तन्मयि यन्त्रणाव्रतम् ।
प्रयोजनं येन यथा तदुच्यतां भवत्सहाया हि विभूतयो मम ॥ ८० ॥
अशङ्कितोक्तैः प्रणयाक्षरैः सुहृत् करोति तुष्टिं विभवस्थितस्य याम् ।
न तद्विधां लम्भयते स तां धनैर्महोपकारः प्रणयः सुहृत्स्वतः ॥ ८१ ॥

अथ स राजा सुमुखसम्भाषणकुतूहलहृदयः सविस्मयमभिवीक्ष्य सुमुख-मुवाच—

अतः सुमुख ने सोचा—'हम लोगों का यहाँ आगमन शायद इसके हित का भी साधन बन जाये' ॥ ७७ ॥

राजा ने कहा—

मैंने आप दोनों के आगमन की अभिलाषा की है । हम आपका स्वागत करते हैं । आपके दर्शन से हम धन्य हैं ॥ ७८ ॥

इस बहेलिए को आज बहुत धन मिलेगा । इसने आप दोनों का प्रिय किया है । यह महापुरस्कार का हकदार है ॥ ७९ ॥

इतना कहकर राजा ने उस बहेलिए को काफी धन देकर सम्मानित किया । फिर हंसराज से कहा—

आप दोनों अपने ही घर में हैं । मेरे प्रति आप किसी तरह का संकोच न करें । आपको जिस वस्तु की आवश्यकता महसूस हो, निःसंकोच कहिए । मेरी सम्पत्ति आपकी सहायता के लिए है ॥ ८० ॥

कोई मित्र यदि अपने सम्पन्न मित्र के सामने सन्देहरहित होकर अपना अभि-मत व्यक्त करे तो उसके लिए इससे बड़ा खुशी का कोई विषय हो ही नहीं सकता । क्योंकि मित्र के द्वारा की गई प्रार्थना सम्पत्ति से अधिक सुखद है । यह एक उप-कार है ॥ ८१ ॥

इसके बाद सुमुख के साथ बातचीत के लिए समुत्सक राजा ने हसरत भरी निगाह से उसकी ओर देखते हुए कहा—

अलब्धगाधा नवसंस्तवे जने न यान्ति कामं प्रणयप्रगल्भताम् ।
वचस्तु दाक्षिण्यसमाहिताक्षरं न ते न जल्पन्त्युपचारशीभरम् ।। ८२ ।।
सम्भाषणेनापि यतः कर्तुमर्हति नो भवान् ।
साफल्यं प्रणयाशायाः प्रीतेश्चोपचयं हृदि ।। ८३ ।।

इत्युक्ते सुमुखो हंससेनापतिर्विनयादभिप्रणम्यैनमुवाच—
महेन्द्रकल्पेन सह त्वया सम्भाषणोत्सवः ।
इति दर्शितसौहार्दे कस्य नातिमनोरथः ।। ८४ ।।
सम्भाषमाणे तु नराधिपे च सौहार्दरम्यं विहगाधिपे च ।
तत्सङ्कथामध्यमुपेत्य धाष्टर्चान्नन्वक्रमः प्रेष्यजनस्य वक्तुम् ।। ८५ ।।
न ह्येष मार्गो विनयाभिजातस्तं चैव जानन् कथमभ्युपेयाम् ।
तूष्णीं महाराज यतः स्थितोऽहं तन्मर्षणीयं यदि मर्षणीयम् ।। ८६ ।।
इत्युक्ते स राजा सप्रहर्षविस्मयवदनः संराधयन् सुमुखमुवाच—
स्थाने भवद्गुणकथा रमयन्ति लोकं
स्थानेऽसि हंसपतिना गमितः सखित्वम् ।
एवंविधं हि विनयं नयसौष्ठवं च
नैवाकृतात्महृदयानि समुद्वहन्ति ।। ८७ ।।

नये परिचित आदमी के सामने बुद्धिमान् व्यक्ति तब तक अपना मतलब जाहिर नहीं करते जब तक उसके दिल में अपने लिए कोई जगह नहीं बना लेते, यह ठीक है । फिर भी अपनी उदारता के कारण वे कम-से-कम औपचारिक बातें तो करेंगे ही ।। ८२ ।।

आपसे बातें करने की मेरी बड़ी अभिलाषा है । मैं आपका प्रेम पाना चाहता हूँ । आप मुझसे बातें कर मेरी आशा पूरी करें । मेरे मन की खुशी को बढ़ाएँ ।।८३।।

राजा की बात सुनकर हँसों के सेनापति ने उन्हें प्रणाम कर कहना शुरू किया—

आप धरती पर दूसरे इन्द्र की तरह हैं । आपके साथ बात करना मेरे लिए एक महान् उत्सव है । ऐसी मित्रता दिखलाने के बाद, भला ऐसा कौन है जिसका मनोरथ बात करने का न हो ।। ८४ ।।

जब एक ओर मनुष्यों के अधिपति हंसाधिराज से प्रेम पूर्वक बातें कर रहे हों तो उस बीच में किसी सेवक का बात करना न केवल धृष्टता होती प्रत्युत अनुचित ही तो होता ।। ८५ ।।

'बीच में कुछ बोलना शिष्टाचार के विरुद्ध होगा' यही सोचकर मैं अब तक चुप रहा । हे महाराज, मेरा यह आचरण क्षमा-योग्य है तो क्षमा किया जाये ।

यह सुनकर खुशी और आश्चर्य व्यक्त करते हुए सुमुख की प्रशंसा में राजा ने कहा!—

आप हंसराज के ठीक ही मित्र हैं । आपके सद्गुणों की चर्चा निश्चय ही लोगों

तदियं प्रस्तुता प्रीतिर्विच्छिद्येत यथा न नः ।
तथैव मयि विस्रम्भ अजर्यं ह्यार्यसङ्गतम् ॥ ८८ ॥

अथ बोधिसत्त्वस्तस्य राज्ञः परां प्रीतिकामतामवेत्य स्नेहप्रवृत्तिसुमुखतां च संराधयन्नवोचदेनम्—

यत्कृत्यं परमे मित्रे कृतमस्मासु तत्त्वया ।
संस्तवे हि नवेऽप्यस्मिन् स्वमाहात्म्यानुवर्तिना ॥ ८९ ॥
कश्च नाम महाराज नावलम्ब्येत चेतसि ।
सम्मानविधिनानेन यस्त्वयास्मासु दर्शितः ॥ ९० ॥

प्रयोजनं नाम कियत्किमेव वा मदाश्रयं मानद यत्त्वमीक्षसे ।
प्रियातिथित्वं गुणवत्सलस्य ते प्रवृत्तमभ्यासगुणादिति ध्रुवम् ॥ ९१ ॥
न चित्रमेतत्त्वयि वा जितात्मनि प्रजाहितार्थं धृतपार्थिवव्रते ।
तपःसमाधानपरे मुनाविव स्वभाववृत्त्या हि गुणास्त्वयि स्थिताः ॥ ९२॥
इति प्रशंसासुभगाः सुखा गुणा न दोषदुर्गेषु वसन्ति भूतयः ।
इमां विदित्वा गुणदोषधर्मतां सचेतनः कः स्वहितोत्पथं भजेत् ॥ ९३ ॥

...र्ष का कारण है । यह विनय और शील अथवा नीति-निपुणता असंयतात्माओं में ...हीं पायी जाती ॥ ८७ ॥

सज्जनों की मित्रता कभी नहीं टूटती, मुझ पर आप विश्वास करें ताकि हमारी ...ह दोस्ती बरकरार रहे ॥ ८८ ॥

यह राजा मैत्री चाहता है, प्रेम-प्रदर्शन हेतु उत्सुक है, यह सोचकर उसकी ...ंसा में बोधिसत्त्व ने कहा—

यद्यपि हमारा परिचय बिल्कुल नया है, फिर भी अपने एक परम मित्र के लिए ... कुछ किया जा सकता है—आपने वह सब मेरे लिए किया है ॥ ८९ ॥

आपने हमारे प्रति जो सम्मान प्रकट किया है, उसके द्वारा ऐसा कौन है जो ...य में जगह न पा लें ॥ ९० ॥

हे मानद, हमारी आवश्यकता ही कितनी और क्या हो सकती है ? आप स्वयं ...नुरागी हैं । अतः यह अतिथि-प्रियता आपको सतत् ऐसा करने से उत्पन्न हुई है ।

आप स्वयं गुणों के खजाना हैं, जितेन्द्रिय हैं, प्रजा के हित-साधन में राजधर्म ...पालनकर्ता हैं, मुनि की तरह तपस्वी हैं । अतः आपके लिए यह अतिथि-प्रियता ...ई आश्चर्यजनक नहीं है ॥ ९२ ॥

गुण प्रशंसनीय और सुखद होते हैं । जहाँ दोषों का निवास होता है वहाँ कोई ...न्नति या शुभ की आशा नहीं की जा सकती । गुण और दोष के इस स्वभाव को ...नकर कौन ज्ञानी अपने हित-विरोधी राह पर चलेगा ॥ ९३ ॥

न देशमाप्नोति पराक्रमेण तं न कोशवीर्येण न नीतिसम्पदा ।
श्रमव्ययाभ्यां नृपतिर्विनैव यं गुणाभिजातेन पथाधिगच्छति ।। ९४ ।।
सुराधिपश्रीरपि वीक्षते गुणान् गुणोदितानेव परैति सन्नतिः ।
गुणेभ्य एव प्रभवन्ति कीर्तयः प्रभावमाहात्म्यमिति श्रितं गुणान् ।। ९५ ।।
अमर्षदर्पोद्धवकर्कशान्यपि प्ररूढवैरस्थिरमत्सराण्यपि ।
प्रसादयन्त्येव मनांसि विद्विषां शशिप्रकाशाधिककान्तयो गुणाः ।। ९६ ।।
तदेवमेव क्षितिपाल पालयन् महीं प्रतापानतदृप्तपार्थिवाम् ।
अमन्दशोभैर्विनयादिभिर्गुणैर्गुणानुरागं जगतां प्रबोधय ।। ९७ ।।
प्रजाहितं कृत्यतमं महीपतेस्तदस्य पन्था ह्युभयत्र भूतये ।
भवेच्च तद्राजनि धर्मवत्सले नृपस्य वृत्तं हि जनोऽनुवर्तते ।। ९८ ।।
प्रशाधि धर्मेण वसुन्धरामतः करोतु रक्षां त्रिदशाधिपश्च ते ।
त्वदन्तिकात्संश्रितभावनादपि स्वयूथ्यदुःखं तु विकर्षतीव माम् ।। ९९ ।।

अथ स राजा समभिनन्द्य तत्तस्य वचनं सपर्षत्कः सम्मानप्रियवचनप्रयोग-पुरःसरं तौ हंसमुख्यौ विससर्ज । अथ बोधिसत्त्वः समुत्पत्य विमलखड्गाभि-

---

राजा पराक्रम, सम्पत्ति या नीति से उस पद को नहीं प्राप्त कर सकता है जिसे (श्र)म और व्यय के बिना ही गुणों के मार्ग पर चलकर प्राप्त कर सकता है ।। ९४ ।।

देवराज इन्द्र की लक्ष्मी भी गुणों को देखती है, विनम्रता गुणियों को ही प्राप्त होती है, गुणों से ही यश का उदय होता है, एवं महाप्रभाव गुणों पर अवलम्बित है ।

चाँदनी से भी अधिक मनोहर गुण, क्रोध, अभिमान और उद्धतता से कठोर तथा वैर द्वेष से ग्रस्त शत्रुओं के मन को भी निर्मल बना देते हैं ।। ९६ ।।

अतः हे भूपाल, इस तरह शोभित विनय आदि गुणों से युक्त इस धरती का अभिमानी राजा जो आपके प्रताप से झुक गये हैं, पालन करते हुए लोगों के हृदय में गुणों के प्रति अनुराग उत्पन्न करें ।। ९७ ।।

लोकहित किसी भी राजा का परमगुण है, उसका मार्ग इहलोक और परलोक में कल्याणकारी है । धर्मप्रिय राजा में वह होना चाहिए, क्योंकि प्रजा राजा के आचरण का अनुसरण करती है ।। ९८ ।।

यद्यपि आपकी निकटता आप पर आश्रितजनों के लिए स्वयं पवित्र है, फिर भी हमें अपने वियुक्त दल का दुःख खींच रहा है । आपकी रक्षा देवराज करें और आप धर्मपूर्वक इसी तरह सदैव लोकशासन करें ।। ९९ ।।

राजा ने अपने सभासदों के साथ उनके कथनों का अभिनन्दन किया । ससम्मान उनसे प्रीतिकर बातें कर उन्हें वहाँ से विदा किया । तब अपनी ही प्रतिमूर्त्ति की तरह सेनापति सुमुख के साथ बोधिसत्त्व विमल तलवार की तरह नीलाभ, शरद की

नीलं शरत्प्रसन्नशोभं गगनतलं प्रतिबिम्बेनेवानुगम्यमानः सुमुखेन हंससेनापतिना समुपेत्य हंसयूथं सन्दर्शनादेव परेण प्रहर्षेण संयोजयामास ।

कालेन चोपेत्य नृपं स हंसः परानुकम्पाव्यसनी सहंसः ।
जगाद धर्मं क्षितिपेन तेन प्रत्यर्च्यमानो विनयानतेन ।। १०० ।।

तदेवं विनिपातगतानामपि सतां वृत्तं नालमनुगन्तुमसत्पुरुषाः प्रागेव सुगतिस्थानामिति । एवं कल्याणी वागुभयहितावहा भवतीति कल्याणवचनप्रशंसायामप्युपनेयम् । कल्याणमित्रवर्णेऽपि वाच्यम्, एवं कल्याणमित्रवतां कृच्छ्रेऽप्यर्थाः संसिध्यन्तीति । स्थविरार्यानन्दपूर्वसभागप्रदर्शने च, एवमयं स्थविरः सहचरितचरणो बोधिसत्त्वेन चिरकालाभ्यस्तप्रेमबहुमानो भवतीति ।

इति हंस-जातकं द्वाविंशतितमम् ।

सुन्दर सुषुमा से सम्पन्न आकाश में उड़ गये । हंसों के बीच पहुँचकर उन्होंने उन्हें अपने दर्शन से अत्यन्त आनन्दित किया ।

दूसरों पर अनायास अनुकम्पा करने वाले हंसराज अपने अन्य हंसों के साथ कालक्रम से उस राजा के पास पहुंचे । विनयावनत राजा ने उनकी पूजा की और उन्होंने उन्हें धर्मोपदेश दिया ।। १०० ।।

इस तरह हम देखते हैं कि दुर्गति में पड़े सज्जनों के आचरण का भी दुर्जन जब अनुकरण नहीं कर पाते तो उनकी सुगत स्थिति का अनुकरण कहाँ तक संभव है । ऐसी कल्याणकारी कथा दोनों के लिए हितकारी होती है । अतः कल्याणप्रद प्रसंगों में इस कथा का उल्लेख करना चाहिए । कल्याणकारी मित्र के प्रसंग में भी ये बातें कहनी चाहिए । इससे संकट में पड़े मित्रों के भी कार्य सिद्ध होते हैं । स्थविर आनन्द अपने पूर्वजन्म में बोधिसत्त्व के साथी थे । यह बतलाने के लिए भी इस कथा का उल्लेख होना चाहिए । आनन्द बोधिसत्त्व के क्रिया-कलाप में उनके साथी थे और बहुत दिनों तक उनके साथ रहकर उनके प्रति प्रेम और सम्मान का अभ्यास किया था ।

हंसजातक बाईसवां समाप्त ।

(२३) महाबोधि-जातकम्

असत्कृतानामपि सत्पुरुषाणां पूर्वोपकारिष्वनुकम्पा न शिथिलीभवति कृतज्ञत्वात् क्षमासात्म्याच्च । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वभूतः किलायं भगवान् महाबोधिर्नाम परिव्राजको बभूव । स गृहस्थभाव एव परिविदितक्रमव्यायामो लोकाभिमतानां विद्यास्थानानां कृतज्ञानकौतूहलश्चित्रासु च कलासु प्रव्रज्याश्रयाल्लोकहितोद्योगाच्च विशेषवत्तरं धर्मशास्त्रेष्ववहितमतिस्तेष्वाचार्यकं पदमवाप । स कृतपुण्यत्वाज्ज्ञानमाहात्म्याल्लोकज्ञतया प्रतिपत्तिगुणसौष्ठवाच्च यत्र यत्र गच्छति स्म तत्र तत्रैव विदुषां विद्वत्प्रियाणां च राज्ञां ब्राह्मणगृहपतीनामन्यतीर्थिकानां च प्रव्रजितानामभिगमनीयो भावनीयश्च बभूव ।

गुणा हि पुण्याश्रयलब्धदीप्तयो गताः प्रियत्वं प्रतिपत्तिशोभया ।
अपि द्विषद्भ्यः स्वयशोनुरक्षया भवन्ति सत्कारविशेषभागिनः ।। १ ।।

अथ स महात्मा लोकानुग्रहार्थमनुविचरन् ग्रामनगरनिगमजनपदराष्ट्रराजधानीरन्यतमस्य राज्ञो विषयान्तरमुपजगाम । श्रुतगुणविस्तरप्रभावस्तु स

---

२३. महाबोधि-जातक

जिन्होंने एक बार उपकार किया हो उनके द्वारा अपमानित होने पर भी सज्जन लोगों में अपने क्षमाशील स्वभाव के कारण उनके प्रति दया कम नहीं होती । तब जैसा कि सुना जाता है—

एक बार बोधिसत्त्वावस्था में भगवान् बुद्ध महाबोधि नामक परिव्राजक हुए । लोकप्रिय विद्याओं का विधिवत् अभ्यास उन्होंने गृहस्थावस्था में ही कर लिया था । विविध कलाओं की ज्ञान-पिपासा भी उन्होंने शान्त कर ली थी । संन्यास ग्रहण करने के बाद उन्होंने लोकहित के लिए उद्योग करते हुए धर्मशास्त्रों के अध्ययन की ओर विशेष ध्यान दिया तथा उस विद्या में भी आचार्य का पद प्राप्त कर लिया । अपने पुण्यबल, ज्ञान-माहात्म्य, लोकज्ञान और सुन्दर आचरण के कारण वे जहाँ जाते वहाँ ही सबका सम्मान प्राप्त करते थे । राजा, विद्वान्, ब्राह्मण, गृहस्थ या अन्य मतावलम्बी लोग समान रूप से इनका स्वागत-सत्कार करते थे ।

किसी व्यक्ति के कोई गुण उसके पुण्य का आश्रय पाकर चमक उठता है और उत्तम आचरण से लोकप्रिय बन जाते हैं । शत्रु भी अपने यश की रक्षा के लिए इन गुणों का विशेष सत्कार करते हैं ।। १ ।।

इसके बाद लोक-कल्याण की दृष्टि से परिभ्रमण करते हुए उस परिव्राजक ने अनेक स्थानों का भ्रमण किया । देहात, शहर, कसबा, प्रान्त और देश-विदेश में

राजा तस्यागमनं दूरत एवोपलभ्य प्रीतमना रमणीये स्वस्मिन्नुद्यानवनप्रदेशे तस्यावसथं कारयामास। अभ्युद्गमनादिसत्कारपुरःसरं चैनं प्रवेश्य स्वविषयं शिष्य इवाचार्यं परिचरणपर्युपासनविधिना सम्मानयामास।

विभूतिगुणसम्पन्नमुपेतः प्रणयाद् गृहम्।
गुणप्रियस्य गुणवानुत्सवातिशयोऽतिथिः ॥ २ ॥

बोधिसत्त्वोऽपि चैनं श्रुतिहृदयह्लादिनीभिर्धर्म्याभिः कथाभिः श्रेयोमार्गमनुप्रतिपादयमानः प्रत्यहमनुजग्राह।

अदृष्टभक्तिष्वपि धर्मवत्सला
हितं विवक्षन्ति परानुकम्पिनः।
क एव वादः शुचिभाजनोपमे
हितार्थिनि प्रेमगुणोत्सुके जने ॥ ३ ॥

अथ तस्य राज्ञोऽमात्या लब्धविद्वत्सम्भावना लब्धसम्मानाश्च सदस्याः प्रत्यहमभिवर्धमानसत्कारां बोधिसत्त्वस्य गुणसमृद्धिमीर्ष्योपहतबुद्धित्वान्न सेहिरे।

स्वगुणातिशयोदितैर्यशोभिर्जगदावर्जनदृष्टशक्तियोगः।
रचनागुणमात्रसत्कृतेषु ज्वलयत्येव परेष्वमर्षवह्निम् ॥ ४ ॥

घूमते हुए किसी राजा के राज्य में पहुंचे। इनके गुण, प्रभाव और आगमन का समाचार सुनकर उस राजा ने इन्हें टिकाने के लिए अपने उद्यान में एक सुन्दर जगह की व्यवस्था कर दी। पूर्ण राजकीय सम्मान के साथ उन्हें नगर-प्रवेश करवाया और अपने गुरु की तरह उनकी परिचर्या की।

गुणानुरागी सम्पन्न गृहस्थ के घर यदि गुणवान् अतिथि पहुँच जाता है तो उसके लिए वह महोत्सव बन जाता है ॥ २ ॥

और, इधर बोधिसत्त्व ने भी उन्हें श्रवण-सुखद कल्याण-मार्ग का उपदेश देकर प्रतिदिन अनुगृहीत करना प्रारंभ किया।

जो धर्मानुरागी एवं दयालु पुरुष हैं वे भक्ति-विहीन लोगों को भी कल्याणकारी बातें कहना चाहते हैं और जो सत्पात्र हैं, कल्याण-कामी हैं, उनका तो पूछना ही क्या है ॥ ३ ॥

इधर राजा के प्रतिष्ठित सभासदों एवं विद्वज्जनानुरागी अमात्यों ने जब बोधिसत्त्व के प्रतिदित वर्धिष्णु सम्मान को देखा तो ईर्ष्यावश उनकी बुद्धि ही नष्ट हो गई।

अपनी कार्य-क्षमता से सम्मान पाने वाले लोगों के हृदय में, ऐसे लोगों को देख कर ईर्ष्याग्नि का धधकना स्वाभाविक ही है, जो अपने सद्गुणों से उत्पन्न यश से संसार को मुट्ठी में लेकर चलने वाले होते हैं ॥ ४ ॥

प्रसह्य चैनं शास्त्रकथास्वभिभवितुमशक्ता धर्मप्रसङ्गममृष्यमाणाश्च राज्ञस्तेन तेन क्रमेण राजानं बोधिसत्त्वं प्रति विग्राहयामासुः– नार्हति देवो बोधिपरिव्राजके विश्वासमुपगन्तुम्। व्यक्तमयं देवस्य गुणप्रियतां धर्माभिमुखतां चोपलभ्य व्यसनप्रतारणश्लक्ष्णशठमधुरवचनः प्रवृत्तिसञ्चारणहेतुभूतः कस्यापि प्रत्यर्थिनो राज्ञो निपुणः प्रणिधिप्रयोगः। तथा हि धर्मात्मको नाम भूत्वा देवमेकान्तेन कारुण्यप्रवृत्तौ ह्रीदैन्ये च समनुशास्ति, अर्थकामोपरोधिषु च क्षत्रधर्मबाह्येष्वासन्नापनयेषु धर्मसमादानेषु दयानुवृत्त्या च नाम ते कृत्यपक्षमाश्वासनविधिनोपगृणीते प्रियसंस्तवश्चान्यराजदूतैः। न चायमविदितवृत्तान्तो राजशास्त्राणाम्। अतः साशङ्कान्यत्र नो हृदयानीति। अथ तस्य राज्ञः पुनः पुनर्भेदोपसंहितं हितमिव बहुभिरुच्यमानस्य बोधिसत्त्वं प्रति परिशङ्कासङ्कोचितस्नेहगौरवप्रसरमन्यादृशं चित्तमभवत्।

पैशुन्यवज्राशनिसन्निपाते भीमस्वने चाशनिसन्निपाते।
विस्रम्भवान्मानुषमात्रधैर्यः स्यान्निर्विकारो यदि नाम कश्चित्॥५॥

अथ स राजा विस्रम्भविरहान्मन्दीभूतप्रेमबहुमानस्तस्मिन् महासत्त्वे न

एक तो वे अपने बुद्धि-बल से बोधिसत्त्व को पराजित करने में अक्षम थे; दूसरी राजा की धर्मासक्ति भी उन्हें बुरी तरह खलती थी। बोधिसत्त्व को राजा से अलग हटाने की उन्होंने अनेक चेष्टाएँ कीं। उन्होंने कहा—बोधिसत्त्व पर इतना विश्वास करना श्रीमान् के लिए उचित नहीं है। यह तो किसी विपक्षी राजा का गुप्तचर जैसा लगता है। धर्म के प्रति आपकी आसक्ति जानकर ही ये आप तक पहुँचे हैं। आपको विपत्ति में फँसाने के लिए ही यह प्रिय एवं मधुरभाषी गुप्तचर संवाद-संप्रेषण हेतु ही यहाँ प्रति-नियोजित हुआ है। आपकी प्रशंसा कर आपको दयापूर्वक काम करने की सदैव प्रेरणा देता है। यह धर्मात्मा बनकर आपको केवल दयालुता और दीनतापूर्ण लज्जा का उपदेश देकर एक पुरुषार्थी राजधर्म के लिए उपयुक्त अर्थ, धर्म, काम और राजधर्म से विरत करना चाहता है। यह गूढ़ राजनीतिज्ञ है और यहाँ के राजदूतों से घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। हम इसके सम्बन्ध में सशंक है। बहुतों ने जब अनेक बार राजा को इस तरह समझाया तो राजा का मन भी धीरे-धीरे बोधिसत्त्व से हटने लगा। स्नेह और आदर का भाव कम हो गया, उनका मन ही बदल गया।

भयंकर शब्द करने वाले वज्रपात की तरह चुगलखोरी जैसे वज्रपात से ऐसा कौन है जो निर्विकार रह सकता है? ऐसी स्थिति में भी उसका मानवोचित विश्वास या धैर्य कैसे बना रह सकता है॥ ५॥

फिर विश्वासहीनता के कारण उस महाबोधि के प्रति राजा की प्रीति और

यथापूर्वं सत्कारप्रयोगसुमुखो बभूव। बोधिसत्त्वोऽपि शुद्धस्वभावत्वात् बहुकार्यव्यासङ्गा राजान इति न तन्मनसि चकार। तत्समीपवर्तिनां तु विनयोपचारशैथिल्यसन्दर्शनाद्विरक्तहृदयमवेत्य राजानं समादाय त्रिदण्डकुण्डिकाद्यां परिव्राजकभाण्डिकां प्रक्रमणसव्यापारः समभवत्। तदुपश्रुत्य स राजा सावशेषस्नेहतया दाक्षिण्यविनयानुवृत्त्या चैनमभिगम्य प्रदर्शितसम्भ्रमो विनिवर्तयितुकाम इव तमुवाच—

अस्मानकस्मादपहाय कस्माद्गन्तव्य एव प्रणता मतिस्ते।
व्यलीकशङ्काजनकं नु किञ्चिद् दृष्टं प्रमादस्खलितं त्वया नः ॥ ६ ॥

अथैनं बोधिसत्त्व उवाच—

नाकस्मिकोऽयं गमनोद्यमो मे नासत्क्रियामात्रकरूक्षिकत्वात्।
अभाजनत्वं तु गतोऽसि शाठ्याद्धर्मस्य तेनाहमितो व्रजामि ॥ ७ ॥

अथास्य सरभसभषितमतिविवृतवदनमभिद्रवन्तं वल्लभं श्वानं तत्रागतमभिप्रदर्शयन् पुनरुवाच—अयं चात्र महाराज अमानुषः साक्षिनिर्देशो दृश्यताम्।

अयं हि पूर्वं पटुचाटुकर्मा भूत्वा मयि श्वा भवतोऽनुवृत्त्या।
आकारगुप्त्यज्ञतया त्विदानीं त्वद्भावसूचां भषितैः करोति ॥ ८ ॥

उनका सम्मान घट गया। पहले जैसा भाव बिल्कुल विनष्ट हो गया। इधर बोधिसत्त्व ने भी अपने सात्त्विक विचार के कारण राजा की इस उदासी का कारण उनकी कार्य-व्यस्तता समझ कर उस पर कोई ध्यान ही नहीं दिया। किन्तु, उनके समीपवर्ती लोगों के उपचार और विनय में इन्होंने शिथिलता देखी तब इनकी समझ में सारी बातें आ गईं। वे उसी क्षण अपना त्रिदण्ड कमण्डल उठाकर चलने को प्रस्तुत हो गये। राजा को जब यह खबर मिली तो अपने अवशिष्ट स्नेह और शील की रक्षा करते हुए राजा ने मानों उन्हें रोकने की इच्छा से कहा—

एकाएक आपने हमें छोड़कर जाने का निश्चय क्यों कर लिया? क्या आपने हममें किसी तरह की असावधानी देखी? या आपके मन में मेरे प्रति कोई झूठी आशंका हो गई है ॥ ६ ॥

यह सुनकर बोधिसत्त्व ने उनसे कहा—

अकारण ही मैंने जाने का निश्चय नहीं कर लिया है। आपकी अवहेलना से ही असन्तुष्ट होकर ही तो जा रहा हूँ। अपनी शठता के कारण अब आप धर्म के पात्र नहीं रह गये हैं। अतः मैं आपको छोड़कर जा रहा हूँ ॥ ७ ॥

इतने में राजा का प्यारा कुत्ता क्रोध से भूंकता हुआ, मुंह खोलकर दौड़ता हुआ उनके पास पहुँचा। उसकी ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा—'इस मूक प्राणी का साक्ष्य समझिए राजन्!'

चाटुकर्म में प्रवीण यह प्राणी पहले आपकी भावना का अनुसरण करते हुए

त्वत्तः श्रुतं किञ्चिदनेन नूनं मदन्तरे भक्तिविपत्तिरूक्षम् ।
अतोऽनुवृत्तं ध्रुवमित्यनेन त्वत्प्रीतिहेतोरनुजीविवृत्तम् ।। ९ ।।

अथ स राजा तत्प्रत्यादेशाद् व्रीडावनामितवदनस्तेन चास्य मतिनैपुण्येन समावर्जितमतिर्जातसंवेगो नेदानीं शाठ्यानुवृत्तिकाल इति बोधिसत्त्वमभिप्रणम्योवाच—

त्वदाश्रया काचिदभूत्कथैषा सम्प्रस्तुता नः सदसि प्रगल्भैः ।
उपेक्षिता कार्यवशान्मया च तत्क्षम्यतां तिष्ठ च साधु मा गाः ।। १० ।।

बोधिसत्त्व उवाच—नैव खल्वहं महाराज असत्कारप्रकृतत्वादक्षमया वा प्रणुद्यमानो गच्छामि । न त्वयं महाराज अवस्थानकाल इति न तिष्ठामि । पश्यतु भवान् ।

विमध्यभावादपि हीनशोभे यायां न सत्कारविधौ स्वयं चेत् ।
सङ्गादगत्या जडताबलाद्वा नन्वर्धचन्द्राभिनयोत्तरः स्याम् ।। ११ ।।
प्राप्तक्रमोऽयं विधिरत्र तेन यास्यामि नाप्रीत्यभितप्तचित्तः ।
एकावमानाभिहता हि सत्सु पूर्वोपकारा न समीभवन्ति ।। १२ ।।

मुझसे प्यार करता था । किन्तु, भीतरी भावों को छिपाने की कला से अनभिज्ञ यह प्राणी आपके ही आन्तरिक भावों को क्या प्रकट नहीं कर रहा है ।। ८ ।।

निश्चय ही इसने आपके मुँह मेरे सम्बन्ध में कुछ अश्रद्धेय एवं कठोर बातें सुनी हैं । यही कारण है कि इसने आपकी खुशी के लिए एक अनुकूल अनुचर का ही तो आचरण किया है ।। ९ ।।

उनकी फटकार सुनकर राजा का सिर लज्जा से झुक गया । उनकी युक्ति के सामने राजा की बुद्धि कुण्ठित हो गई । उनका दिल पसीज गया । राजा ने सोचा यह प्रपंच का समय नहीं है । अतः उन्हें प्रणाम कर उन्होंने कहा—

हमारी परिषद् के कुछ प्रगल्भ पार्षदों ने आपके सम्बन्ध में कुछ चर्चा अवश्य की थी । कार्यव्यस्तता के कारण मैंने उन पर कुछ ध्यान नहीं दिया । कृपया, आप अब कहीं न जाएँ ।। १० ।।

बोधिसत्त्व ने कहा—महाराज मैं क्रोधवश या आपकी अवहेलना के कारण यहाँ से नहीं जा रहा हूँ । प्रत्युत् मेरे लिए अब यहाँ टिकने का समय ही नहीं है । आप देखिए—

उदासीनता के कारण सत्कार की शोभा क्षीण हो जाने के बावजूद यदि मैं यहाँ से आसक्ति, विवशता या मूर्खता के कारण टिका रहूँ तो गर्दनियाँ देकर ही तो निकाला जाऊँगा ।। ११ ।।

इस समय इसी तरह जाना हमें अब उचित प्रतीत होता है, क्रोध या संताप के

अस्निग्धभावस्तु न पर्युपास्यस्तोयार्थिना शुष्क इवोदपानः ।
प्रयत्नसाध्यापि ततोऽर्थसिद्धिर्यस्माद्भवेदाकलुषा कृशा च ॥ १३ ॥
प्रसन्न एव त्वभिगम्यरूपः शरद्विशुद्धाम्बुमहाह्रदाभः ।
सुखार्थिनः क्लेशपराङ्मुखस्य लोकप्रसिद्धः स्फुट एष मार्गः ॥ १४ ॥
भक्त्युन्मुखाद्योऽपि पराङ्मुखः स्यात्पराङ्मुखे चाभिमुखत्वदीनः ।
पूर्वोपकारस्मरणालसो वा नराकृतिश्चिन्त्यविनिश्चयः सः ॥ १५ ॥
असेवना चात्युपसेवना च याच्ञाभियोगाश्च दहन्ति मैत्रीम् ।
रक्ष्यं यतः प्रीत्यवशेषमेतन्निवासदोषादिति यामि तावत् ॥ १६ ॥

राजोवाच—यद्यवश्यमेव गन्तव्यमिति निश्चितात्रभवतो मतिः, तत्पुनरपीदानीमिहागमनेनास्माननुग्रहीतुमर्हति भवान् । असेवनादपि हि प्रीतिरनुरक्षितव्यैव ।

बोधिसत्त्व उवाच—बह्वन्तरायो महाराज बहूपद्रवप्रत्यर्थिकत्वाल्लोकसन्निवेश इति न शक्यमेतदवधारणया प्रतिज्ञातुमागमिष्यामीति । सति त्वागमनकारणसाकल्येऽपि नाम पुनर्भवन्तं पश्येम ।

वश में होकर मैं ऐसा नहीं कर रहा हूँ । पहले का किया गया उपकार किसी भले आदमी के हृदय से किसी एक अपमान से आहत होकर नष्ट नहीं हो जाता ॥१२॥

स्नेहरहित व्यक्ति की उपासना से भला क्या लाभ ? सूखे सरोवर के पास कोई प्यासा आदमी भला क्यों टिकेगा ? कोशिश करके ऐसे लोगों से यदि कुछ पाया भी जाये तो वह कम और कलुषित ही तो होगा ॥ १३ ॥

दुःख से दूर रहकर जो व्यक्ति सुख की कामना करता है । उसके लिए शरद्-ऋतु के निर्मल जलवाले महासरोवर के सदृश प्रसन्नचित्त पुरुष सेवनीय है । लोगों के लिए यही प्रचलित मार्ग है ॥ १४ ॥

श्रद्धालुओं से जो विमुख रहता है तथा उपेक्षा करने वालों की दीनतापूर्वक उपासना करता है अथवा किसी के द्वारा किये गये उपकार को भूल जाता है—मनुष्य की आकृति में निश्चय ही ऐसे लोगों के विचार सोचने योग्य हैं ॥ १५ ॥

उपेक्षा या अति अपेक्षा से और बार-बार की याचना से मित्रता मिट जाती है । यहाँ रहने के दोष से बचने के लिए या बचे हुए स्नेह की रक्षा करने के लिए ही मैं यहाँ से जा रहा हूँ ॥ १६ ॥

तब राजा ने कहा—अगर आपने यहाँ से जाने का निश्चय कर ही लिया है तो अवश्य जायें । किन्तु, उपेक्षा से अपने स्नेह की रक्षा के लिए ही सही, यहाँ पधार कर आपको अनुग्रह करना चाहिए ।

इस पर बोधिसत्त्व ने उत्तर दिया—

हे राजन्, अनेक विघ्न, बाधा और विपत्ति रूपी शत्रुओं से भरे इस संसार में

इत्यनुनीय स महात्मा तं राजानं कृताभ्यनुज्ञासत्कारस्तेन राज्ञा तद्विषयात्प्रचक्राम। स तेन गृहिजनसंस्तवेनाकुलितहृदयोऽन्यतमदरण्यायतनमुपश्रित्य ध्यानाभियुक्तमतिस्तत्र विहरन्नचिरेणैव चत्वारि ध्यानानि पञ्चाभिज्ञाः प्रतिलेभे।

तस्य समास्वादितप्रशमसुखरसस्य स्मृतिरनुकम्पानुसारिणी तं राजानं प्रति प्रादुरभूत्—का नु खलु तस्य राज्ञोऽवस्थेति। अथैनं ददर्श तैरमात्यैर्यथाभिनिविष्टानि दृष्टिगतानि प्रति प्रतार्यमाणम्। कश्चिदेनममात्यो दुर्विभाव्यहेतुभिर्निदर्शनैरहेतुवादं प्रति प्रचकर्ष—

क: पद्मनालदलकेसरकर्णिकानां
संस्थानवर्णरचनामृदुतादिहेतुः ।
पत्राणि चित्रयति कोऽत्र पतत्रिणां वा
स्वाभाविकं जगदिदं नियतं तथैव ॥ १७ ॥

अपर ईश्वरकारणमस्मै स्वबुद्धिरुचितमुपवर्णयामास—

नाकस्मिकं भवितुमर्हति सर्वमेत-
दस्त्यत्र सर्वमधि कश्चिदनन्त एकः ।
स्वेच्छाविशेषनियमाद्य इमं विचित्रं
लोकं करोति च पुनश्च समीकरोति ॥ १८ ॥

लोगों का स्थायी मिलन तो असंभव है। अतः निश्चयपूर्वक यहाँ लौटने की प्रतिज्ञा तो मैं नहीं कर सकता पर, यदि आवश्यकता महसूस हुई तो आपके दर्शन अवश्य होंगे।

इस तरह राजा की अनुमति से उनका सत्कार पाकर महात्मा ने वहाँ से प्रस्थान किया। गृह-वासियों के सम्पर्क में रहने के कारण अत्यन्त दुःखी होकर किसी जंगल में उन्होंने प्रवेश किया। वहाँ दत्तचित्त होकर ध्यान में विचरण करते हुए चारों ध्यान एवं पाँचों दिव्यशक्तियों को प्राप्त कर लिया।

शान्ति-सुख का आस्वादन करते हुए अनुकम्पावश एक दिन उन्होंने उस राजा को याद किया। दिव्य-दृष्टि से उन्होंने देखा कि वे अमात्य उसे अपने द्वारा प्रतिपादित मतों की ओर बहका रहे हैं। जिसमें हेतु का प्रतिपादन कठिन हो ऐसे अहेतुवाद की ओर एक अमात्य ने दृष्टान्त के द्वारा उसका ध्यानाकृष्ट किया।

इस संसार के निर्माण का कोई हेतु नहीं है। यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। ठीक उसी तरह जैसे पक्षियों के चित्र-विचित्र पाँखें या कमल की कोमलता, केशर, कोष, आकार, वर्ण एवं सुन्दरता। ये सभी स्वाभाविक हैं, अहेतुक हैं॥ १७॥

ईश्वर को इसका कारण मानते हुए अपनी बुद्धि के अनुसार दूसरे ने कहा—

ये सारी बातें आकस्मिक नहीं हैं। सबसे ऊपर कोई एक है, जिसका कभी अन्त होता ही नहीं। इस संसार की सृष्टि और विनाश, उसके विशेष संकल्प से ही संभव है॥ १८॥

सर्वमिदं पूर्वकर्मकृतं सुखासुखम्। न प्रयत्नसामर्थ्यमस्तीत्येवमन्य एनं विग्राहयामास—

एवं करिष्यति कथं नु समानकालं
भिन्नाश्रयान् बहुविधानमितांश्च भावान्।
सर्वं तु पूर्वकृतकर्मनिमित्तमेतत्
सौख्यप्रयत्ननिपुणोऽपि हि दुःखमेति ॥ १९ ॥

अपर उच्छेदवादकथाभिरेनं कामभोगप्रसङ्ग एव प्रतारयामास—

दारूणि नैकविधवर्णगुणाकृतीनि
कर्मात्मकानि न भवन्ति भवन्ति चैव।
नष्टानि नैव च यथा पुनरुद्भवन्ति
लोकस्तथायमिति सौख्यपरायणः स्यात् ॥ २० ॥

अपर एनं क्षत्रविद्यापरिदृष्टेषु नीतिकौटिल्यप्रसङ्गेषु नैर्घृण्यमलिनेषु धर्मविरोधिष्वपि राजधर्मोऽयमिति समनुशशास—

छायाद्रुमेष्विव नरेषु कृताश्रयेषु
तावत्कृतज्ञचरितैः स्वयशः परीप्सेत्।
नार्थोऽस्ति यावदुपभोगनयेन तेषां
कृत्ये तु यज्ञ इव ते पशवो नियोज्याः ॥ २१ ॥

राजा को बहकाते हुए किसी ने कहा—सुख या दुःख प्रयत्न साध्य न होकर पूर्वकृत कर्म का ही फल है—

विभिन्नाश्रयी अनेक प्रकार के प्राणी या पदार्थों का निर्माण एक ही समय में किसी एक से कैसे संभव है? यह तो निश्चय ही पूर्व कृत-कर्म का ही फल है। क्योंकि निपुणतापूर्वक सुख के लिए प्रयत्न करने के बावजूद लोगों को दुःख क्यों मिलता है ॥ १९ ॥

अन्य ने विनाशवाद की बातों से उसे काम-भोग की ओर बहकाया—

अनेक गुण, रंग और आकृति वाले काठ जैसे किसी कर्म का फल न होने पर भी अपने-अपने अस्तित्व में हैं। ये काठ जब एक बार नष्ट हो जाते हैं, तो फिर उत्पन्न नहीं होते; उसी प्रकार जीवलोक भी विनष्ट होकर दुबारा अस्तित्व में नहीं आता। अतः भोगों का उपभोग ही उचित है ॥ २० ॥

कुछ ने राजविद्या-सम्मत, कठोरता के कारण मलिन, धर्म-विरोधी कुटिलनीति को ही राजधर्म ठहराया।

छायादार पेड़ों की तरह अपने आश्रितों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त अपने यश को विस्तार देना चाहिए जब तक उपयोगिता की दृष्टि से वे उपयुक्त हों। पीछे यज्ञ-पशु की तरह उनका उपयोग करना चाहिए ॥ २१ ॥

इति तेऽमात्यास्तं राजानं तेन तेन दृष्टिकृतोन्मार्गेण नेतुमीषुः।

अथ बोधिसत्त्वः पापजनसम्पर्कवशात्परप्रत्ययनेयबुद्धित्वाच्च दृष्टिकृतप्रपाताभिमुखमवेक्ष्य राजानं तदनुकम्पासमावर्जितहृदयस्तन्निवर्तनोपायं विममर्श।

गुणाभ्यासेन साधूनां कृतं तिष्ठति चेतसि।
भ्रश्यत्यपकृतं तस्माज्जालं पद्मदलादिव॥ २२॥

अथ बोधिसत्त्वः इदमत्र प्राप्तकालमिति विनिश्चित्य स्वस्मिन्नाश्रमपदे महान्तं वानरमभिनिर्माय ऋद्धिप्रभावात्तस्य चर्मापनीय शेषमन्तर्धापयामास। स तन्निर्मितं महद्वानरचर्म बिभ्रत्तस्य नृपतेर्भवनद्वारे प्रादुरभूत्। निवेदिताभ्यागमनश्च दौवारिकैर्यथाक्रममायुधीयगुप्तपर्यन्ताममात्यद्विजयोधदूतपौरमुख्याभिकीर्णां विनीतधीरोदात्तवेषजनां सासियष्टिभिः प्रतीहारैरधिष्ठितप्रद्वारां सिंहासनावस्थितनराधिपामनाकुलां राजपर्षदमवजगाहे। प्रत्युद्गमनादिविधिना चातिथिजनोपचारेण प्रतिपूज्यमानः कृतप्रतिसम्मोदनकथासत्कारासनाभिनिर्हारश्च तेन राज्ञा कौतूहलानुवृत्त्या वानरचर्मप्रतिलम्भं प्रत्यनुयुक्तः—केनेदमार्याय वानरचर्मोपनयता महतानुग्रहेणात्मा संयोजित इति।

अपने विचार के अनुसार उन अमात्यों ने राजा को उन्मार्गगामी बनाना चाहा—

पापियों के सम्पर्क में आकर, उन पर विश्वास करने के कारण राजा पतन के कगार पर खड़ा है, यह जानकर दया से द्रवीभूत हो बोधिसत्त्व ने उसे वहाँ से लौटाना चाहा।

अपने गुणों के अभ्यास से ही साधुजनों के हृदय में किये गये उपकार की याद बनी रहती है। पर, पूर्वकृत अपकार उसी तरह भूल जाते हैं जैसें कमल के पत्ते से पानी ढरक जाता है॥ २२॥

राजा के पास पहुँचने का उपयुक्त समय जानकर बोधिसत्त्व ने अपने आश्रम में एक वानर का निर्माण किया और उसके चमड़े को हटा कर शेष शरीर को लुप्त कर दिया। फिर उस चमड़े को ओढ़कर राजभवन के द्वार पर प्रकट हुए। द्वारपाल के द्वारा अपने आने की सूचना राजा को भेजकर क्रमशः वे राजसभा में उपस्थित हुए। सशस्त्र सेना वहाँ रक्षा में नियुक्त थी। मंत्री, ब्राह्मण, योद्धा, राजदूत और प्रमुख नागरिकों से सभा भरी थी। सभी लोग विनीत, धीर और उत्तम वेश धारण किये थे। प्रतिहारी तलवार और लाठी लेकर दरवाजे पर खड़े थे। राजा उस उज्ज्वल और प्रसन्न सभा में राज-सिंहासन पर बैठा था। राजा ने स्वयं इनकी अगवानी की। अतिथि-जनोचित उपचार के द्वारा इनकी पूजा की। प्रीतिपूर्ण सत्कार के बाद, बोधिसत्त्व के आसन ग्रहण कर लेने पर, राजा ने उत्सुकतावश वानर चर्म पाने के सम्बन्ध में उनसे पूछा—'आपको वानर चर्म देकर, किसने अपने को आपके अनुग्रह का महान पात्र बनाया है।'

बोधिसत्त्व उवाच—मयैवेदं महाराज स्वयमधिगतं नान्येन केनचिदुपहृतम् । कुशतृणमात्रास्तीर्णायां हि पृथिव्यां स्वभावकठिनायां निषण्णेन स्वपता वा प्रतप्यमानशरीरेण न सुखं धर्मविधिरनुष्ठीयते । अयं च भयाश्रमपदे महान् वानरो दृष्टः । तस्य मे बुद्धिरभवत्—उपपन्न बत मे धर्मसाधनमिदमस्य वानरस्य चर्म । शक्यमत्र निषण्णेन स्वपता वा परार्ध्यास्तरणास्तीर्णेभ्यो राजशयनेभ्योऽपि निवृत्तस्पृहेण स्वधर्मविधिरनुष्ठातुमिति मया तस्येदं चर्म प्रगृहीतम् । स च प्रशमित इति । तच्छ्रुत्वा स राजा दाक्षिण्यविनयानुवृत्त्या न बोधिसत्त्वं किञ्चित्प्रत्युवाच । सव्रीडहृदयस्तु किञ्चिदवाङ्मुखो बभूव ।

अथ तेऽमात्याः पूर्वमपि तस्मिन् महासत्त्वे सामर्षहृदया लब्धवचनावकाशत्वात्प्रविकसितवदना राजानमुदीक्ष्य बोधिसत्त्वमुपदर्शयन्त ऊचुः—अहो भगवतो धर्मानुरागैकरसा मतिः । अहो धैर्यम् । अहो व्यवसायसाधुसामर्थ्यम् । आश्रमपदमभिगत एव महान्नाम वानर एकाकिना तपःक्षामशरीरेण प्रशमित इत्याश्चर्यम् । सर्वथा तपःसिद्धिरस्तु ।

अथैनानसंरब्ध एव बोधिसत्त्वः प्रत्युवाच—नार्हन्त्यत्रभवन्तः स्ववाद-

---

बोधिसत्त्व ने कहा—हे महाराज, किसी ने दिया नहीं । मैंने स्वयं इसे पाया है । थोड़ी-सी घास से ढकी धरती पर जो स्वभावतः कठोर है, बैठकर या सोकर दुःखते हुए शरीर से सुखपूर्वक धर्मानुष्ठान नहीं किया जा सकता है । एक दिन मैंने अपने आश्रम में एक विशालकाय वानर को देखा । उसे देखकर मैंने मन-ही-मन विचार किया—इस वानर की खाल यदि मुझे मिल जाये तो वह मेरे धार्मिक कृत्य का एक सुखद साधन बन जाये । इस चमड़े पर बैठकर या सोकर तो मुझे बहुमूल्य बिछावनों से आच्छादित राजशय्या की भी अभिलाषा नहीं होगी । बड़ी सुविधा के साथ मैं धार्मिक कृत्य का भी सम्पादन कर सकूँगा । यही सोचकर मैंने उसे मार डाला और उसकी खाल ले ली । बोधिसत्त्व के मुँह से यह सुनकर राजा ने सौजन्य और विनय के कारण उनसे कुछ कहा तो नहीं, किन्तु, लज्जा के कारण उनका सिर नीचे की ओर झुक गया ।

किन्तु, मन्त्रियों के मन में पहले से ही वैर की भावना भरी थी । अतः उन्हें बोलने का यह उपयुक्त अवसर मिल गया । खुशी के मारे उनके चेहरे चमक उठे । बोधिसत्त्व को दिखलाकर उन्होंने राजा की ओर देखते हुए कहा—अहो, श्रीमान् की बुद्धि तो धर्मानुराग से एकरस है । अहो, इनका धैर्य, आश्चर्य है इनके काम करने की क्षमता पर । तपस्या से इनकी देह जर्जर है, फिर भी आश्रम में घुसते ही उस विशाल-काय वानर को इन्होंने अकेले ही मार डाला—इससे बड़ा और आश्चर्य क्या हो सकता है । मुझे तो प्रतीत होता है—इसका कारण इनका एकमात्र तपोबल ही हो सकता है ।

शोभानिरपेक्षमित्यस्मान् विगर्हितुम्। न ह्ययं क्रमो विद्वद्यशः समुद्भावयितुम्। पश्यन्त्वत्रभवन्तः—

स्ववादघ्नेन वचसा यः परान् विजुगुप्सते।
स खल्वात्मवधेनेव परस्याकीर्तिमिच्छति॥ २३॥

इति स महात्मा तानमात्यान् सामान्येनोपालभ्य प्रत्येकशः पुनरुपालब्धुकामस्तमहेतुवादिनमामन्त्र्योवाच—

स्वाभाविकं जगदिति प्रविकत्थसे त्वं
तत्त्वं च तद्यदि विकुत्सयसे किमस्मान्।
शाखामृगे निधनमापतिते स्वभावात्
पापं कुतो मम यतः सुहतो मयायम्॥ २४॥

अथ पापमस्ति मम तस्य वधान्ननु हेतुतस्तदिति सिद्धमिदम्।
तदहेतुवादमिदमुत्सृज वा वद वात्र यत्तव न युक्तमिव॥ २५॥

यदि पद्मनालरचनादि च यत्तदहेतुकं ननु सदैव भवेत्।
सलिलादिबीजकृतमेव तु तत् सति तत्र सम्भवति न ह्यससि॥ २६॥

अपि चायुष्मन्, सम्यगुपधारय तावत्,

तब बिना उत्तेजित हुए ही बोधिसत्त्व ने उनसे कहा—आप अपने सिद्धान्त के विरुद्ध मेरी निन्दा नहीं कर सकते। यश प्राप्त करने का यह मार्ग विद्वानों के लिए उचित नहीं है। आप देखें—

अपने सिद्धान्त की हत्या करने वाली बातों से जो दूसरों की निन्दा करता है वह निश्चय ही आत्महत्या के द्वारा दूसरों की अपकीर्त्ति चाहता है॥ २३॥

इस प्रकार सामान्य रूप से उन अमात्यों की भर्त्सना कर, फिर प्रत्येक को फटकारने की इच्छा से, उस महात्मा ने उन अहेतुवादी मंत्रियों को सम्बोधित करते हुए कहा—

आपके मतानुसार संसार की उत्पत्ति एक स्वाभाविक प्रक्रिया है तो फिर यदि यह बात सच है तो फिर आप मेरी निन्दा क्यों करते हैं? वानर की मौत भी तो एक स्वाभाविक प्रक्रिया है—इसमें पाप कैसा? मैंने तो ठीक ही इसे मारा है॥२४॥

यदि उसकी हत्या से मुझे पाप लगता है तो यह तो हेतु से सिद्ध होता है। आप या तो अहेतुवाद को छोड़ें या ऐसी बात कहें जो युक्तिसंगत हो॥ २५॥

बिना कारण के कोई कार्य होता ही नहीं। यदि होता तो फिर कमलनाल की उत्पत्ति पानी में ही क्यों होती? बीज के बिना जहाँ कहीं भी वह क्यों नहीं मिलता॥ २६॥

हे आयुष्मान्, आप इस पर भी तो थोड़ा विचार करें—

न हेतुरस्तीति वदन् सहेतुकं ननु प्रतिज्ञां स्वयमेव हापयेत्।
अथापि हेतुप्रणयालसो भवेत् प्रतिज्ञया केवलयास्य किं भवेत् ॥ २७ ॥
एकत्र क्वचिदनवेक्ष्य यश्च हेतुं तेनैव प्रवदति सर्वहेत्वभावम्।
प्रत्यक्षं ननु तदवेत्य हेतुसारं तद्द्वेषी भवति विरोधदुष्टवाक्यः ॥ २८ ॥
न लक्ष्यते यदि कुहचिच्च कारणं कथं नु तद् दृढमसदेव भाषसे।
न दृश्यते सदपि हि कारणान्तराद्दिनात्यये विमलमिवार्कमण्डलम् ॥२९॥
ननु च भोः,

सुखार्थमिष्टान् विषयान् प्रपद्यसे निषेवितुं नेच्छसि तद्विरोधिनः।
नृपस्य सेवां च करोषि तत्कृते न हेतुरस्तीति च नाम भाषसे ॥ ३० ॥

तदेवमपि चेद्भावाननुपश्यस्यहेतुकान्।
अहेतोर्वानरवधे सिद्धे किं मां विगर्हसे ॥ ३१ ॥

इति स महात्मा तमहेतुवादिनं विशदैर्हेतुभिर्निष्प्रतिभं कृत्वा तमीश्वर-कारणिकमामन्त्र्योवाच—आयुष्मानप्यस्मान् नार्हत्येव विगर्हितुम्। ईश्वरः सर्वस्य हि ते कारणमभिमतः। पश्य—

हेतु को न मानने वाला अगर हेतुपूर्वक कुछ कहता है तो वह अपने मत की हत्या के अतिरिक्त और क्या करता है? हेतु को उपस्थित किये बिना केवल मत प्रतिपादन से क्या होगा ॥ २७ ॥

किसी एक में हेतु को न देखकर सर्वत्र हेतुका अभाव जो देखता है, वह किसी एक में हेतु की शक्ति प्रत्यक्ष देखकर क्रुद्ध हो जाता है और उसके विरोध में सदोष वचन बोलता है ॥ २८ ॥

यदि कहीं कारण नहीं दीख पड़ता तो फिर आप दृढ़तापूर्वक क्यों कहते हैं कि कारण है ही नहीं। हेतु है, पर किसी दूसरे कारण से वह दीखता नहीं, जैसे दिन के बीतने पर सूर्यमण्डल ॥ २९ ॥

और भी—

आप सुख के लिए अभीष्ट विषयों का सेवन करना चाहते हैं और उसके विरोधी विषयों का नहीं। उसी के लिए तो आप राजा की सेवा करते हैं, और अहेतुवादी बने हैं ॥ ॥ ३० ॥

इसके बावजूद आप सभी पदार्थों और घटनाओं को बिना हेतु के देखते हैं। अतः वानर का बध बिना हेतु का सिद्ध होता है। तब आप क्यों मेरी निन्दा करते हैं ॥ ३१ ॥

इस प्रकार स्पष्ट तर्कों के द्वारा उस महात्मा ने उन अहेतुवादियों को पराजित कर सभी कार्यों का कारण एकमात्र ईश्वर हैं—ऐसी मान्यता वालों की ओर मुखा-

कुरुते यदि सर्वमीश्वरो ननु तेनैव हतः स वानरः।
तव केयममैत्रचित्तता परदोषान् मयि यन्निषिञ्चसि ॥ ३२ ॥
अथ वानरवीरवैशसं न कृतं तेन दयानुरोधिना।
बृहदित्यवघुष्यते कथं जगतः कारणमीश्वरस्त्वया ॥ ३३ ॥

अपि च भद्र सर्वमीश्वरकृतमिति पश्यतः—

ईश्वरे प्रसादाशा का स्तुतिप्रणामाद्यैः।
स स्वयं स्वयम्भूस्ते यत्करोति तत्कर्म ॥ ३४ ॥
त्वत्कृताथ यदीज्या न त्वसौ तदकर्त्ता।
आत्मनो हि विभूत्या यः करोति स कर्ता ॥ ३५ ॥
ईश्वरः कुरुते चेत्पापकान्यखिलानि।
तत्र भक्तिनिवेशः कं गुणं नु समीक्ष्य ॥ ३६ ॥
तान्यधर्मभयाद्वा यद्ययं न करोति।
तेन वक्तुमयुक्तं सर्वमीश्वरसृष्टम् ॥ ३७ ॥
तस्य चेश्वरता स्याद्धर्मतः परतो वा।
धर्मतो यदि न प्रागीश्वरः स ततोऽभूत् ॥ ३८ ॥

तिब होकर कहा—आयुष्मान्, आप भी मेरी निन्दा नहीं कर सकते। क्योंकि, ईश्वर सबका कारण है, यही तो आपकी मान्यता है। देखिए—

यदि ईश्वर ही सब कुछ करता है तो फिर उसी ने उस वानर को भी मारा है। आपका मन कितना कलुष है कि दूसरे का पाप मेरे सर पर मढ़ रहे हैं ॥ ३२ ॥

यदि उस दयालु ने उस विशाल वानर का बध नहीं किया तो फिर आप जोर से यह घोषणा क्यों कर रहे हैं कि ईश्वर ही जगत का कारण है ॥ ३३ ॥

हे भद्र, और भी तो देखो, सब कुछ ईश्वरकृत है यह देखते हुए—

उनकी स्तुति या उन्हें प्रणाम कर, प्रसन्न करने की आपकी चेष्टा कैसी है? वे तो स्वयंभू हैं और आपके काम को बिना कुछ किए वे स्वयं संभालते हैं ॥ ३४ ॥

यदि आप कोई यज्ञ करते हैं फिर भी आप यह नहीं कह सकते कि उसके कर्त्ता आप हैं क्योंकि, अपने ऐश्वर्य से जो कोई जो कुछ करता है, वही उस काम का कर्त्ता है ॥ ३५ ॥

यदि ईश्वर हर तरह का पाप करता है तो फिर उसके किस गुण को देखकर उसकी भक्ति की जाये ॥ ३६ ॥

यदि डर से वह पाप नहीं करता है तो फिर ईश्वर ही सब कुछ करता है, यह कहना उचित नहीं है ॥ ३७ ॥

उसकी ईश्वरता का कारण धर्म है या कुछ और? यदि धर्म से है तो वह धर्म से पहले नहीं हुआ ॥ ३८ ॥

दासतैव च सा स्याद्या क्रियेत परेण ।
स्यादथापि न हेतोः कस्य नेश्वरता स्यात् ।। ३९ ।।

एवमपि तु गते भक्तिरागादविगणितयुक्तायुक्तस्य—

यदि कारणमीश्वर एव विभुर्जगतो निखिलस्य तवाभिमतः ।
ननु नार्हसि मय्यधिरोपयितुं विहितं विभुना कपिराजवधम् ।। ४० ।।

इति स महात्मा तमीश्वरकारणिकं सुश्लिष्टैर्हेतुभिर्मूकतामिवोपनीय तं पूर्वकर्मकृतवादिनमामन्त्रणासौष्ठवेनाभिमुखीकृत्योवाच — भवानप्यस्मान्न शोभते विकुत्सयमानः । सर्वं हि ते पूर्वकर्मकृतमित्यभिमानः । तेन च त्वां ब्रवीमि—

स्यात्सर्वमेव यदि पूर्वकृतप्रभावा-
च्छाखामृगः सुहत एव मयैष तस्मात् ।
दग्धे हि पूर्वकृतकर्मदवाग्निनास्मिन्
पापं किमत्र मम येन विगर्हसे माम् ।। ४१ ।।

अथास्ति पापं मम वानरं घ्नतः कृतं मया तर्हि न पूर्वकर्मणा ।
यदीष्यते कर्म च कर्महेतुकं न कश्चिदेव सति मोक्षमेष्यति ।। ४२ ।।
भवेच्च सौख्यं यदि दुःखहेतुषु स्थितस्य दुःखं सुखसाधनेषु वा ।
अतोऽनुमीयेत सुखासुखं ध्रुवं प्रवर्तते पूर्वकृतैकहेतुकम् ।। ४३ ।।

यदि वह किसी अन्य कारण से है तो वह ईश्वरता भी दासता ही है, यदि वह दासता नहीं है तो फिर किस हेतु से उत्पन्न किस स्थिति को ईश्वरता नहीं कहेंगे ?

इतने पर भी भक्तिवश उचित-अनुचित का विचार न करते हुए—

यदि आप प्रभु ईश्वर को ही समस्त जगत का कारण मानते हैं, तो फिर उस प्रभु के द्वारा किए गये कपिवध का आरोप मुझ पर नहीं कर सकते ।। ४० ।।

अपने युक्तिपूर्णतर्कों से उस महात्मा ने ईश्वर को सबका कारण मानने वालों का मुँह बन्द कर दिया और फिर पूर्वकृत कर्मवादियों की ओर मुड़कर उन्हें आड़े हाथों लेना शुरू किया—मेरी निन्दा करना आपको भी शोभता नहीं । क्योंकि आपके विचार से पूर्वकृत कर्म का ही सब कुछ परिणाम है । अतः आपसे कहता हूँ—

यदि सब कुछ पूर्वकृत कर्म के प्रभाव से ही होता है तो फिर इस वानर की हत्या भी तो उचित ही है । अपने पूर्वकृत कर्म की दावाग्नि में यह जला है तो फिर इसमें मेरा क्या दोष है ? अतः इस दृष्टि से भी आप मेरी निन्दा नहीं कर सकते ।।४१।।

अथवा, यदि इस वानर के वध से मुझे पाप लगा है तो इसका वध मैंने किया है, इसका पूर्वकृत कर्म नहीं । और यदि कर्म को ही कर्म का कारण माना जाये तो फिर किसी को मुक्ति नहीं है ।। ४२ ।।

यदि दुःखजनक स्थिति में रहने वालों को सुख होता है, और सुख के साधनों

न दृष्टमेव च यतः सुखासुखं न पूर्वकर्मैकमतोऽस्य कारणम् ।
भवेदभावश्च नवस्य कर्मणस्तदप्रसिद्धौ च पुरातनं कुतः ।। ४४ ।।

पूर्वकर्मकृतं सर्वमथैवमपि मन्यसे ।
वानरस्य वधः कस्मान्मत्कृतः परिकल्प्यते ।। ४५ ।।

इति स महात्मा निरनुयोज्यैर्हेतुभिस्तस्य मौनव्रतमिवोपदिश्य तमुच्छेद-वादिनं स्मितपूर्वकमुवाच–आयुष्मतः कोऽयमत्यादरोऽस्मद्विगर्हायां यदि तत्त्व-नुच्छेदवादं मन्यसे ?

लोकः परो यदि न कश्चन किं विवर्ज्यं
पापं शुभं प्रति च किं बहुमानमोहः ।
स्वच्छन्दरम्यचरितोऽत्र विचक्षणः स्या-
देवं गते सुहत एव च वानरोऽयम् ।। ४६ ।।

जनवादभयादथाशुभं परिवर्ज्यं शुभमार्गसंश्रयात् ।
स्ववचः प्रतिलोमचेष्टितैर्जनवादानपि नातियात्ययम् ।। ४७ ।।
स्वकृतान्तपथागतं सुखं न समाप्नोति च लोकशङ्कया ।
इति निष्फलवादविभ्रमः परमोऽयं ननु बालिशाधमः ।। ४८ ।।

का उपभोग करने वाले को दुःख होता है, तब अनुमान किया जा सकता था कि सुख या दुख अवश्य ही पूर्वकृत कर्म का फल है ।। ४३ ।।

क्योंकि सुख-दुःख का इस प्रकार होना तो देखा नहीं जाता । अतः पूर्वकृत कर्म को इसका कारण मानना उचित नहीं है । और, नये कर्म का अभाव भी तो हो सकता है, उसके अभाव में पुरातन कर्म कहाँ से होगा ।। ४४ ।।

इसके बावजूद यदि आपकी मान्यता है कि सब कुछ पूर्वकृत कर्म का फल है, तब फिर आप ऐसा क्यों मानते हैं कि मैंने वानर का बध किया है ।। ४५ ।।

इस तरह उस महात्माने अपने अकाट्य तर्कों द्वारा उन उच्छेदवादियों का मुंह बन्द कर दिया । और, फिर हँसते हुए उनसे कहा—यदि आयुष्मान् उच्छेदवाद को ही तत्त्व मानते हैं तो फिर मेरी निन्दा आप को नहीं करनी चाहिए ।

यदि परलोक नहीं है तो फिर कुकर्म से परहेज और सुकर्म के प्रति सम्मान की क्या आवश्यकता है ? स्वेच्छाचारी व्यक्ति ही कुशल समझा जायेगा तो फिर बानर की हत्या भी तो ठीक ही है; उसकी निन्दा कैसी ।। ४६ ।।

लोकनिन्दा के भय से यदि कोई अच्छी राह पर चलने के लिए अशुभ कर्म का परित्याग करता है तो अपने सिद्धान्त के प्रतिकूल आचरण करने से उस लोकनिन्दा से बच नहीं सकेगा ।। ४७ ।।

लोकापवाद के डर से अपने भाग्य के पथ पर प्राप्तसुख का भी वह उपभोग

यदपि च भवानाह—

दारूणि नैकविधवर्णगुणाकृतीनि
कर्मात्मकानि न भवन्ति भवन्ति चैव।
नष्टानि नैव च यथा पुनरुद्भवन्ति
लोकस्तथायमिति कोऽत्र च नाम हेतुः ॥ ४९ ॥

उच्छेदवादवात्सल्यं स्यादेवमपि ते यदि।
विगर्हणीयः किं हन्ता वानरस्य नरस्य वा ॥ ५० ॥

इति स महासत्त्वस्तमुच्छेदवादिनं विस्पष्टशोभेनोत्तरक्रमेण तूष्णीम्भावपरायणं कृत्वा तं क्षत्रविद्याविदग्धममात्यमुवाच—भवानप्यस्मान् कस्मादितिविकुत्सयते यदि न्याय्यमर्थशास्त्रपरिदृष्टं विधिं मन्यसे ?

अनुष्ठेयं हि तत्रेष्टमर्थार्थं साध्वसाधु वा।
अथोद्धृत्य किलात्मानमर्थैर्धर्मं करिष्यते ॥ ५१ ॥

अतस्त्वां ब्रवीमि—

प्रयोजनं प्राप्य न चेदवेक्ष्यं स्निग्धेषु बन्धुष्वपि साधुवृत्तम्।
हते मया चर्मणि वानरेऽस्मिन् का शास्त्रदृष्टेऽपि नये विगर्हा ॥ ५२ ॥

नहीं कर पायेगा, इस तरह निष्फल मत में पड़कर भटकने वाला व्यक्ति अत्यन्त मूर्ख होता है ॥ ४८ ॥

और आपने जो यह कहा—

अनेक रूप-रंग वाले काठ किसी कर्म का परिणाम न होकर भी अपना अस्तित्व रखते हैं। नष्ट होने पर फिर उत्पन्न नहीं होते। वही अवस्था इस लोक की है। इस कथन में कोई दम नहीं है ॥ ४९ ॥

इतने के बावजूद उच्छेदवाद से यदि आपको प्रेम है तो फिर नर-वानर का हतक ही क्यों निन्दनीय होगा ५० ॥

इस प्रकार अपने सुन्दर तर्क से उच्छेदवादियों का मुँह बन्दकर बोधिसत्त्व ने अर्थशास्त्रज्ञ उन सचिवों से कहा—यदि आप अर्थशास्त्र सम्मत विधिको उचित मानते हैं तो भी आपको मेरी निन्दा नहीं करनी चाहिए।

अर्थशास्त्र में तो स्वार्थ के लिए भला-बुरा सब कुछ करने योग्य ही माना जाता है। अपनी रक्षाकर आदमी अर्थ से धर्म की स्वतः रक्षा कर लेगा ॥ ५१ ॥

अतः मैं आपसे कहता हूँ—

जरूरत पड़ने पर स्नेहशील बन्धुओं की भी हत्या अर्थशास्त्र में की जाती है। अगर चमड़े के लिए मैंने वानर का वध किया ही तो निन्दा क्यों ? शास्त्रविहित नीति का यह अनुसरण है ॥ ५२ ॥

दयावियोगादथ गर्हणीयं कर्मेदृशं दुःखफलं च दृष्टम् ।
यत्राभ्यनुज्ञातमिदं न तन्त्रे प्रपद्यसे केन मुखेन तत्त्वम् ॥ ५३ ॥

इयं विभूतिश्च नयस्य यत्र तत्रानयः कीदृशविभ्रमः स्यात् ।
अहो प्रगल्भैः परिभूय लोकमुन्नीयते शास्त्रपथैरधर्मः ॥ ५४ ॥

अदृष्टमेवाथ तवैतदिष्टं शास्त्रे किल स्पष्टपथोपदिष्टम् ।
शास्त्रप्रसिद्धेन नयेन गच्छन् न गर्हणीयोऽस्मि कपेर्वधेन ॥ ५५ ॥

इति स महात्मा जितपर्षत्कान् परिचितप्रागल्भ्यानपि च तानमात्यान् प्रसह्याभिभूय समावर्जितहृदयां च सराजिकां पर्षदमवेत्य तेषां वानरवधहृल्लेखविनयनार्थं राजानमावभाषे—नैव च खल्वहं महाराज प्राणिनं वानरं हतवान् । निर्माणविधिरयम् । निर्मितस्य हि वानरस्येदं चर्म मया गृहीतमस्यैव कथाक्रमस्य प्रस्तावार्थम् । तदलं मामन्यथा प्रतिग्रहीतुम् । इत्युक्त्वा तमृद्ध्याभिसंस्कारं प्रतिसंहृत्य परया च मात्रयाभिप्रसादितमानसं राजानं सपर्षत्कमवेत्योवाच—

सम्पश्यन् हेतुतः सिद्धिं स्वतन्त्रः परलोकवित् ।
साधुप्रतिज्ञः सघृणः प्राणिनं को हनिष्यति ॥ ५६ ॥

अथवा क्रूरता के कारण यदि यह कर्म निन्दनीय है और इसका परिणाम दुखद है, तब जिस शास्त्र में निन्दा का निषेध नहीं किया गया है, उसका प्रतिपादन आप किस मुख से करते हैं ॥ ५३ ॥

जिस शास्त्र में नीति की यही विभूति है, वहाँ फिर अनीति का भ्रम कैसा ? आश्चर्य है, मानव का तिरस्कार कर ये प्रगल्भ पुरुष शास्त्रोपदेश से पाप का ही तो प्रचार कर रहे हैं ॥ ५४ ॥

अथवा आपके शास्त्र में स्पष्ट रूप से उल्लिखित मिथ्यादृष्टि ही आपको मान्य है, तो फिर उसी शास्त्रविहित नीति का अनुसरण करता हुआ मैं वानर वध के लिए दोषी नहीं हूँ ॥ ५५ ॥

समाज को प्रभावित करने वाले उन प्रगल्भ अमात्यों को पराजित कर उस महात्मा ने जब समझा कि राजा सहित सम्पूर्ण परिषद् उनके कथन से प्रभावित है तब वानर वधजन्य उनके मानसिक क्लेश को मिटाते हुए उन्होंने राजा से कहा—हे महाराज, मैंने किसी जीवित वानर का बध नहीं किया है । यह तो मेरा एक प्रकार का निर्माण है । मैंने स्वयं वानर का निर्माण कर इसी प्रसंग के लिए उसका चर्म ग्रहण किया है । इसे आप लोग अन्यथा न समझें । यह कहते हुए उन्होंने अपने सिद्धिबल से उत्पन्न अपनी माया को आप समेट लिया, तथा सभा सहित राजा को अत्यन्त प्रसन्न जानकर उस महात्मा ने उन सबों से कहा—

कारण से ही सारे कार्य उत्पन्न होते हैं; ऐसा सोचने वाला, स्वतन्त्र ढंग से

पश्य महाराज !

अहेतुवादी परतन्त्रदृष्टिनास्तिकः क्षत्रनयानुगो वा ।
कुर्यान्न यन्नाम यशोलवार्थं तन्न्यायवादी कथमभ्युपेयात् ॥ ५७ ॥
दृष्टिर्नरश्रेष्ठ शुभाशुभा वा सभागकर्मप्रतिपत्तिहेतुः ।
दृष्टयन्वयं हि प्रविकल्प्य तत्तद्वाग्भिः क्रियाभिश्च विदर्शयन्ति ॥ ५८ ॥
सद्दृष्टिरस्माच्च निषेवितव्या त्याज्या त्वसद्दृष्टिरनर्थवृष्टिः ।
लभ्यश्च सत्संश्रयिणा क्रमोऽयमसज्जनाद्दूरचरेण भूत्वा ॥ ५९ ॥
असंयताः संयतवेषधारिणश्चरन्ति कामं भुवि भिक्षुराक्षसाः ।
विनिर्दहन्तः खलु बालिशं जनं कुदृष्टिभिर्दृष्टिविषा इवोरगाः ॥ ६० ॥
अहेतुवादादिविरूक्षवाशितं शृगालवत्तत्र विशेषलक्षणम् ।
अतो न तानर्हति सेवितुं बुधश्चरेत्तदर्थं तु पराक्रमे सति ॥ ६१ ॥
लोके विरूढयशसापि तु नैव कार्या कार्यार्थमप्यसदृशेन जनेन मैत्री ।
हेमन्तदुर्दिनसमागमदूषितो हि सौभाग्यहानिमुपयाति निशाकरोऽपि ॥६२

विचार करने वाला परलोक में विश्वास रखने वाला, उत्तम सिद्धान्त वाला कौन दयालु पुरुष प्राणिवध करेगा ॥ ५६ ॥

हे महाराज आप देखें—

अहेतुवादी, परतन्त्रवादी, अनास्तिक, राजनीतिका अनुगामी भी जिस काम को थोड़े यश के लिए नहीं करता, उसे भला कोई न्यायशील व्यक्ति कैसे करेगा ॥ ५७ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ, सम्यक् दृष्टि हो या मिथ्या दृष्टि —किसी अनुरूप कर्म के आचरण का हेतु होता है; क्योंकि कोई भी व्यक्ति अपने विचार को ही अपनी वाणी या कर्म के द्वारा अभिव्यक्त करता है ॥ ५८ ॥

अतः अनर्थकारी मिथ्या दृष्टि का परित्यागकर किसी भी व्यक्ति को सर्वथा सम्यक् दृष्टि का ही सेवन करना चाहिए। दुष्टों से दूर रहकर तथा सज्जनों के सम्पर्क में आकर इस उत्तम क्रम को प्राप्त किया जा सकता है ॥ ५९ ॥

विलासी व्यक्ति जितेन्द्रिय का बाना बनाकर धरती पर घूमते हुए साधु वेष में सीधे राक्षस हैं। अपनी मिथ्यादृष्टि के कारण वे अज्ञानियों का उसी प्रकार विनाश करते हैं जैसे अपनी आँख की जहर से सर्प विनष्ट होता है ॥ ६० ॥

अहेतुवाद की पारस्परिक विरोधी बातों से अहेतुवादियों का स्वभाव ठीक वैसे ही पहचान लिया जाता है, जैसे गीदड़ों की बोली से गीदड़ की पहचान हो जाती है। अतः बुद्धिमान् लोगों को उनकी बात पर विश्वास नहीं करना चाहिए। जहाँ तक बन सके लोगों को आत्म-कल्याण की ही बाते सोचनी चाहिए ॥ ६१ ॥

अपना काम साधने के लिए भी यशस्वियों को किसी अयोग्य एवं अनुपयुक्त

तद्वर्जनाद्‌गुणविवर्जयितुर्जनस्य संसेवनाच्च गुणसेवनपण्डितस्य ।
स्वां कीर्तिमुज्ज्वलय सञ्जनयन् प्रजानां दोषानुरागविलयं गुणसौहृदं च ।।

त्वयि च चरति धर्मं भूयसायं नृलोकः
सुचरितसुमुखः स्यात्स्वर्गमार्गप्रतिष्ठः ।
जगदिदमनुपाल्यं चैवमभ्युद्यमस्ते
विनयरुचिरमार्गं धर्ममस्माद्भजस्व ।। ६४ ।।

शीलं विशोधय समर्जय दातृकीर्तिं
मैत्रं मनः कुरु जने स्वजने यथैव ।
धर्मेण पालय महीं चिरमप्रमादा-
देवं समेष्यसि सुखं त्रिदिवं यशश्च ।। ६५ ।।

कृषिप्रधानान् पशुपालनोद्यतान्
महीरुहान् पुष्पफलान्वितानिव ।
अपालयञ्जानपदान् बलिप्रदान्
नृपो हि सर्वौषधिभिर्विरुध्यते ।। ६६ ।।

विचित्रपण्यक्रयविक्रयाश्रयं
वणिग्जनं पौरजनं तथा नृपः ।
न पाति यः शुल्कपथोपकारिणं
विरोधमायाति स कोशसम्पदा ।। ६७ ।।

व्यक्ति से मित्रता करना कदापि उचित नहीं है । क्योंकि, जाड़े की बदली से घिरा चन्द्रमा भी कान्तिहीन हो जाता है ।। ६२ ।।

अतः गुणहीनों का संग छोड़कर गुणवानों की संगति करें । प्रजा में दोष के प्रति फैली आसक्ति को मिटाकर उनमें गुणों के प्रति अनुराग उत्पन्न कर अपनी कीर्त्ति को उज्वल करें ।। ६३ ।।

आपके धर्माचरण को देखकर प्रजा स्वतः धर्माचरण की ओर उन्मुख होगी । वह स्वयं स्वर्ग प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील बनेगी । आप प्रजापालक एवं उद्यमी हैं । विनय से मनोहर धर्म का सेवन करें ।। ६४ ।।

पवित्र शील के द्वारा दाता यश प्राप्त करें । स्वजन और परजन में समभाव से भिन्नता करें । पूर्ण सावधानी के साथ धर्मपूर्वक पृथ्वी का पालन करें । सुख, स्वर्ग और यक्ष का इसी तरह भागी बनें ।। ६५ ।।

फूलों और फल। से भरे वृक्षों की तरह किसानों, पशुपालकों एवं करदाताओं का उचित ढंग से देखरेख न करने वाला राजा, पृथ्वी की सारी ऊपजों से वंचित होता है ।। ६६ ।।

वस्तु-विनिमय करने वाले बनिये, विशुद्ध नागरिक एवं चुंगी वसूल करने वाले

अदृष्टदोषं युधि दृष्टविक्रमं
तथा बलं यः प्रथितास्त्रकौशलम् ।
विमानयेद् भूपतिरध्युपेक्षया
ध्रुवं विरुद्धः स रणे जयश्रिया ।। ६८ ।।

तथैव शीलश्रुतयोगसाधुषु प्रकाशमाहात्म्यगुणेषु साधुषु ।
चरन्नवज्ञामलिनेन वर्त्मना नराधिपः स्वर्गसुखैर्विरुध्यते ।। ६९ ।।

द्रुमाद्यथामं प्रचिनोति यः फलं स हन्ति बीजं न रसं च विन्दति ।
अधर्म्यमेवं बलिमुद्धरन्नृपः क्षिणोति देशं न च तेन नन्दति ।। ७० ।।

यथा तु सम्पूर्णगुणो महीरुहः फलोदयं पाकवशात्प्रयच्छति ।
तथैव देशः क्षितिपाभिरक्षितो युनक्ति धर्मार्थसुखैर्नराधिपम् ।। ७१ ।।

हितानमात्यान्निपुणार्थदर्शिनः शुचीनि मित्राणि जनं स्वमेव च ।
बधान चेतस्सु तदिष्टया गिरा धनैश्च सम्मानननयोपपादितैः ।। ७२ ।।

तस्माद्धर्मं त्वं पुरस्कृत्य नित्यं श्रेयःप्राप्तौ युक्तचेताः प्रजानाम् ।
रागद्वेषोन्मुक्तया दण्डनीत्या रक्षँल्लोकानात्मनो रक्ष लोकान् ।। ७३ ।।

इति स महात्मा तं राजानं दृष्टिकृतकापथाद्विवेच्य समवतार्य च सन्मार्गं

कर्मचारियों की उचित देख-रेख जो राजा नहीं करता, उसका खजाना खाली हो जाता है ।। ६७ ।।

युद्ध में पराक्रमी, शस्त्र संचालन में कुशल एवं निर्दोष व्यक्ति का जो राजा अपमान या उपेक्षा करता है, रणभूमि में उसकी पराजय निश्चित होती है ।। ६८ ।।

उसी प्रकार शील, शास्त्र और योग में कुशल तथा प्रकट माहात्म्य वाले संतों की जो राजा उपेक्षा या अवहेलना करता है उसके लिए स्वर्ग दुर्लभ बन जाता है ।

जैसे कोई व्यक्ति किसी पेड़ का कच्चा फल तोड़कर रस-वंचित ही नहीं होता प्रत्युत् उस फल को भी नष्ट कर देता है, उसी प्रकार जो राजा अनीतिपूर्वक कर-वसूली करता है वह देश को तो नष्ट करता ही है, उससे उत्पन्न होने वाले सुख से भी वंचित होता है ।। ७० ।।

जैसे कोई स्वस्थ पेड़ समय पर पका हुआ फल देता है, उसी तरह किसी राजा से संरक्षित देश उसे धर्म, अर्थ और काम सुख देता है ।। ७१ ।।

कार्यकुशल, निपुण एवं हितकारी अमात्यों को, सच्चे मित्र और स्वजनों के मन को प्रिय वचन एवं ससम्मान दिए गए धन से वशवर्त्ती बनाना चाहिए ।। ७२ ।।

अतः धर्म को सामने रखकर, प्रजा-कल्याण में तत्पर रहते हुए, राग-द्वेष रहित दण्डनीति के द्वारा प्रजा-पालन करते हुए परलोक की रक्षा कीजिए ।। ७३ ।।

इस तरह वह महात्मा पार्षदों के साथ उस राजा को कुमार्ग से हटाकर सन्मार्ग

सपर्षत्कं तत एव गगनतलं समुत्पत्य प्राञ्जलिना तेन जनेन सबहुमानप्रणतेन प्रत्यर्च्यमानस्तदेवारण्यायतनं प्रतिजगाम ।

तदेवमसत्कृतानामपि सत्पुरुषाणां पूर्वोपकारिष्वनुकम्पा न शिथिलीभवति कृतज्ञत्वात्क्षमासात्म्याच्च । इति नासत्कारमात्रकेण पूर्वकृतं विस्मर्तव्यम् । एवं स भगवाननभिसम्बुद्धोऽपि परवादानभिभूय सत्त्वविनयं कृतवानिति बुद्ध-वर्णेऽपि वाच्यम् । एवं मिथ्यादृष्टिरननुयोगक्षमानुपाश्रयत्वादसेव्या चेति मिथ्यादृष्टिविगर्हायामप्युपनेयम् । विपर्ययेण सम्यग्दृष्टिप्रशंसायामिति ।

इति महाबोधि जातकं त्रयोविंशतितमम् ।

पर उतार कर वहीं से आकाश में उड़ गये । उन लोगों ने हाथ जोड़कर ससम्मान उन्हें प्रणाम किया और वहाँ से वे सीधे उसी वन में पहुँच गये जहाँ से गये थे ।

इस तरह अपमानित होने के बावजूद कृतज्ञता और क्षमाशीलता के कारण सज्जनों की दया उनके प्रतिक्षीण नहीं होती है, जिन्होंने पहले कुछ भी उपकार किया है । अतः एक बार के अपमान से ही किसी के पूर्वकृत उपकार को भूलना नहीं चाहिए । इस तरह बुद्धत्व प्राप्ति से पहले ही भगवान् ने अन्य मतों को पराजित कर प्राणियों को दीक्षित किया । बुद्ध-वर्णन में इसकी चर्चा करनी चाहिए । इस तरह मिथ्यादृष्टि, निरुत्तर और निराधार, अतएव असेवनीय है, यह कहते हुए मिथ्यादृष्टि की निन्दा में और विपर्यय से सम्यक् दृष्टि की प्रशंसा में भी यह कथा कहनी चाहिए ।

महाबोधि-जातक तेईसवाँ समाप्त ।

(२४) महाकपि-जातकम्

नात्मदुःखेन तथा सन्तः सन्तप्यन्ते यथापकारिणां कुशलपक्षहान्या। तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किल श्रीमति हिमवत्पार्श्वे विविधधातुरुचिरचित्राङ्गरागे नीलकौशेयप्रावारकृतोत्तरासङ्ग इव वनगहनलक्ष्म्या प्रयत्नरचितैरिवानेक-वर्णसंस्थानविकल्पैर्वैषम्यभक्तिचित्रैर्विभूषिततटान्तदेशे प्रविसृतनैकप्रस्रवणजले गम्भीरकन्दरान्तरप्रपातसङ्कुले पटुतरमधुकरनिनादे मनोज्ञमारुतोपवीज्य-मानविचित्रपुष्पफलपादपे विद्याधराक्रीडभूते महाकायः कपिरेकचरो बभूव। तदवस्थमपि चैनमपरिलुप्तधर्मसञ्ज्ञं कृतज्ञमक्षुद्रस्वभावं धृत्या महत्या समन्वितमनुरागवशादिव करुणा नैव मुमोच।

सकानना साद्रिवरा ससागरा गता विनाशं शतशो वसुन्धरा।
युगान्तकाले सलिलानलानिलैर्न बोधिसत्त्वस्य महाकृपालुता॥ १॥

अथ स महात्मा तापस इव वनतरुपर्णफलमात्रवृत्तिरनुकम्पमानस्तेन तेन विधिना गोचरपतितान् प्राणिनस्तमरण्यप्रदेशमध्यावसति स्म।

---

२४. महाकपि-जातक

भले लोग अपने कष्ट से उतना कातर नहीं होते जितना अपने अपकारियों के कुशल-क्षेम की हानि से। तब जैसा कि सुनते हैं—

एक बार बोधिसत्त्व ने सुन्दर हिमाञ्चल में वानर कुल में जन्मग्रहण किया। उनकी आकृति विशाल एवं भव्य थी। वे अकेले उस क्षेत्र में घूमते रहते थे। पशु-योनि में भी उनका धर्मज्ञान विलुप्त नहीं हुआ था। वे कृतज्ञ, उदारचेता एवं महावीर थे। अनुरक्तभाव से करुणा उनके साथ थी। वह हिमाञ्चल रंग-बिरंगे धातु-खण्डों से रंगीन बना था। बन की हरीतिमा के कारण लगता था जैसे उसने रेशम की नीली चादर ओढ़ ली है। उसकी घाटी नतोन्नत रेखाचित्रों से सुशोभित हो रही थी; लगता था जैसे किसी ने सप्रयास अनेक वर्ण-विन्यासों से इसका निर्माण किया हो। उस घाटी में अनेक झरनों के जल स्वयं प्रवाहित होते रहते थे। गहरी गुफाओं और प्रपातों से वह भरी थी। रंग-बिरंगे फूलों और फलों से लदे पेड़ अत्याकर्षक थे। शीतल पवन के झकोरे से वे अनुबीजित होते रहते थे। उन पर भौंरे सदैव गूंजते रहते थे। वह घाटी विद्याधरों का क्रीड़ास्थल थी।

जंगल, पहाड़ और समुद्रों के साथ यह धरती युगांतकाल में पता नहीं कितनी बार विनष्ट हुई, पर, बोधिसत्त्व की दयालुता कभी भी कम न हुई॥ १॥

वह महात्मा एक तपस्वी की तरह जंगली पेड़ों के पत्ते और फलों से अपनी

अथान्यतमः पुरुषो गां प्रनष्टामन्वेषितुं कृतोद्योगः समन्ततोऽनुविचरन् मार्गात्प्रनष्टो दिग्भागसम्मूढमतिः परिभ्रमंस्तं देशमुपजगाम। स क्षुत्पिपासा-घर्मश्रमपरिम्लानतनुर्दौर्मनस्यवह्निना चान्तःप्रदीप्यमानो विषादातिभारादि-वान्यतमस्मिन् वृक्षमूले निषण्णो ददर्श परिपाकवशाद्विच्युतानि परिपिञ्ज-राणि कतिचित्तिन्दुकीफलानि। स तान्यास्वाद्य क्षुत्परिक्षामतया परमस्वादूनि मन्यमानस्तत्प्रभवान्वेषणं प्रत्यभिवृद्धोत्साहः समन्ततोऽनुविलोकयन् ददर्श प्रपाततटान्तविरूढं परिपक्वफलानमितपिञ्जराग्रशाखं तिन्दुकीवृक्षम्। स तत्फलतृष्णयाकृष्यमाणस्तं गिरितटमधिरुह्य तस्य तिन्दुकीवृक्षस्य फलिनीं शाखां प्रपाताभिनतामध्यारुरोह फललोभेन चास्याः प्रान्तमुपजगाम।

शाखाथ सा तस्य महीरुहस्य भारातियोगान्नमिता कृशत्वात्।
परश्वधेनेव निकृत्तमूला सशब्दभङ्गं सहसा पपात॥ २॥

स तया सार्धं महति गिरिदुर्गे समन्ततः शैलभित्तिपरिक्षिप्ते कूप इव न्यपतत्। पर्णसञ्चयगुणात्त्वस्य गाम्भीर्याच्च सलिलस्य न किञ्चिदङ्गमभज्यत। स तस्मादुत्तीर्य सलिलात्समन्ततः परिसर्पन्न कुतश्चिदुत्तरणमार्गं ददर्श। स निष्प्रतीकारं मर्तव्यमिह मया नचिरादिति विस्रस्यमानजीविताशः शोकाश्रु-परिषिक्तदीनवदनस्तीव्रेण दौर्मनस्यशल्येन प्रतुद्यमानः कातरहृदयस्तत्तदार्ति-वशाद् विललाप।

शरीर-यात्रा करते थे। उनके सामने जो भी आते उन प्राणियों पर अनुकम्पा करते हुए उस वन प्रदेश में वे निवास करते थे।

एक बार किसी आदमी की एक गाय जंगल में गुम हो गई। उसकी खोज में इधर-उधर भटकता राह भूलकर दिग्भ्रमित-सा वह उसी जगह पहुँच गया। भूख, प्यास, गर्मी और थकावट से उसका मुँह मुरझा गया था। शोक की आग में उसका अन्तरमन झुलस रहा था। अपने दुःख-भार से चूर होकर वह किसी पेड़ के नीचे बैठ गया। वहाँ उसने पककर गिरे हुए तेंदु के भूरे फलों को देखा और उसे चखा। भूखा रहने के कारण वह फल उसे अत्यन्त स्वादिष्ट लगा। पेड़ की खोज में उसने इधर-उधर आँखें दौड़ाईं। सामने ही झरने के किनारे उसने उस पेड़ को देखा। उसकी डालों की फुनगी फलों के भार से झुकी हुई थी। वह डाल झरने की ओर झुकी थी। फलों के लोभ से पहाड़ पर चढ़ कर वह उस डाली के अन्त तक चला गया।

इस अतिरिक्त भार को न सह सकने के कारण वह पतली डाल झुक गई और अचानक आवाज करती हुई टूटकर ऐसे गिरी जैसे किसी ने उसे कुल्हाड़ी से काट दिया हो॥ २॥

उस डाल के साथ ही वह उस पहाड़ी दुर्ग में जो कुएँ की तरह चारो ओर चट्टानों से घिरा था गिर पड़ा। पत्तों के ढेर और गहरे पानी के कारण उसका अंग भंग

कान्तारे दुर्गेऽस्मिञ्जनसम्पातरहिते निपतितं माम् ।
यत्नादपि परिमृगयन् मृत्योरन्यः क इव पश्येत् ॥ ३ ॥
बन्धुजनमित्रवर्जितमेकनिपानीकृतं मशकसङ्घैः ।
अवपाताननमग्नं मृगमिव कोऽभ्युद्धरिष्यति माम् ॥ ४ ॥
उद्यानकाननविमानसरिद्विचित्रं
ताराविकीर्णमणिरत्नाविराजिताभ्रम् ।
तामिस्रपक्षरजनीव घनान्धकारा
कष्टं जगन्मम तिरस्कुरुतेऽन्तरात्रिः ॥ ५ ॥

इति स पुरुषस्तत्तद्विपलपंस्नेन सलिलेन तैश्च सहनिपतितैस्तिन्दुकफलैर्वर्तयमानः कतिचिद्दिनानि तत्रावसत् ॥

अथ स महाकपिराहारहेतोस्तद्वनमनुविचरन्नाहूयमान इव मारुताकम्पिताभिस्तस्य तिन्दुकीवृक्षस्याग्रशाखाभिस्तं प्रदेशमभिजगाम । अभिरुह्य चैनं तत्प्रपातमवलोकयन् ददर्श तं पुरुषं क्षुत्परिक्षामनयनवदनं परिपाण्डुकृशदीनगात्रं पर्युत्सुकं तत्र विचेष्टमानम् । स तस्य परिद्यूनतया समावर्जितानुकम्पो महाकपिर्निक्षिप्ताहारव्यापारस्तं पुरुषं प्रततं वीक्षमाणो मानुषीं वाचमुवाच—

नहीं हुआ । पानी से निकल कर वह चारो ओर घूमने लगा, किन्तु, निकलने की कोई राह न पाकर जीवन से निराश हो गया । दुःख के आँसुओं से उसका मुँह तर हो गया । तीव्र शोक के कारण कातर हृदय से वह यों विलाप करने लगा—

जंगल के इस निर्जन दुर्ग में प्रयत्नपूर्वक खोजने पर भी मौत के सिवा दूसरा यहाँ मुझे कौन देख सकता है ॥ ३ ॥

यहाँ न कोई मेरा मित्र है न बन्धु । मैं केवल मच्छरों का प्याऊ बना हूँ । गड्ढे में आकण्ठ डूबे पशु की तरह मुझे कौन बचायेगा ॥ ४ ॥

हाय ! यह मेरी आखिरी रात, अमावस की रात की तरह अन्धकार में डूबी है । यह रात मुझसे इस आकर्षक जो जंगलों, महलों, उद्यानों, नदियों, रंग-बिरंगे तारे रूप रत्नों से सुशोभित आकाशवाली दुनियाँ है, उसे छिपा रही है ॥ ५ ॥

इस तरह रोता-बिलखता वह आदमी साथ गिरे तेंदू के फल और पानी के सहारे कुछ दिनों तक गड्ढे में जिन्दा रहा ।

एक दिन आहार की खोज में इधर-उधर घूमते हुए महाकपि उसी स्थान पर पहुँचे । उस तेंदु की डाली ने हवा में हिलकर मानों उन्हें उधर बुला लिया । पेड़ पर चढ़कर जब उन्होंने उस गड्ढे की ओर नजर डाली तो उन्होंने उस आदमी को देखा । भूख से उसके ओठ सूख गये थे । आँखें धँस गई थीं । देह दुबली, दयनीय और पीली पड़ गई थी । वह उदास और बेचैन था । उसे देखकर महाकपि के मन में दया उमड़ आई । आहार की खोज उन्होंने छोड़ दी । कुछ क्षण तक एक टक उसे निहारते रहे, फिर उन्होंने मनुष्य की भाषा में उससे पूछा—

मानुषाणामगम्येऽस्मिन् प्रपाते परिवर्तसे ।
वक्तुमर्हसि तत्साधु को भवानिह वा कुतः ।। ६ ।।

अथ स पुरुषस्तं महाकपिमार्ततया समभिप्रणम्योद्वीक्षमाणः साञ्जलिरुवाच—

मानुषोऽस्मि महाभाग प्रनष्टो विचरन् वने ।
फलार्थी पादपादस्मादिमामापदमागमम् ।। ७ ।।
तत्सुहृद्बन्धुहीनस्य प्राप्तस्य व्यसनं महत् ।
नाथ वानरयूथानां ममापि शरणं भव ।। ८ ।।

तच्छ्रुत्वा स महासत्त्वः परां करुणामुपजगाम ।

आपद्गतो बन्धुसुहृद्विहीनः कृताञ्जलिर्दीनमुदीक्षमाणः ।
करोति शत्रूनपि सानुकम्पानाकम्पयत्येव तु सानुकम्पान् ।। ९ ।।

अथैनं बोधिसत्त्वः करुणायमाणस्तत्कालदुर्लभेन स्निग्धेन वचसा समाश्वासयामास—

प्रपातसङ्क्षिप्तपराक्रमोऽहमबान्धवो वेति कृथाः शुचं मा ।
यद्बन्धुकृत्यं तव किञ्चिदत्र कर्तास्मि तत्सर्वमलं भयेन ।। १० ।।

भाई, तुम कौन हो ? यहाँ तक कैसे पहुँचे ? मनुष्य के लिए इस दुर्गम गड्ढे में तुम क्यों घूम रहे हो ? ठीक-ठीक बतलाओ ।। ६ ।।

तब उस आदमी ने कष्टपूर्वक प्रणाम कर, उस महाकपि की ओर देखते हुए हाथ जोड़कर कहा—

हे महाभाग, मैं आदमी हूँ । एक दिन जंगल में घूमता हुआ मैं भटक गया । फल के लोभ से, इस पेड़ से गिरकर मैं इस विपत्ति में फँस गया हूँ ।। ७ ।।

यहाँ न मेरा कोई मित्र है और न बन्धु । मैं इस विपत्ति में पड़ा हूँ । अतः हे वानराधिपति इस विपत्ति से आप मेरी रक्षा करें ।। ८ ।।

यह सुनकर उस महासत्त्व को बड़ी दया आई—

बन्धु-बान्धवों से रहित और मित्र विहीन विपत्ति में फँसा हुआ आदमी हाथ जोड़कर, दीनतापूर्वक देखता हुआ, अपने दुश्मन को भी दया से पिघला देता है। फिर जो स्वभाव से दयालु हैं, उनके बारे में पूछना ही क्या ।। ९ ।।

तब बोधिसत्त्व ने उस पर दया दिखाते हुए, उस घोर विपत्ति में पड़े उस आदमी के लिए दुर्लभ एवं स्नेहपूर्ण वाणी में कहा—

इस गड्ढे में गिरे हो, इसलिए बन्धुहीन या पराक्रमविहीन हो, ऐसा मत सोचो । इस दुर्गति में पड़े तुम्हारे साथ बन्धुओं का जो भी उचित कर्त्तव्य होगा—उसका निर्वाह मैं स्वयं तुम्हारे लिए करूँगा । डरो मत ।। १० ।।

इति स महासत्त्वस्तं पुरुषमाश्वास्य ततश्चास्मै तिन्दुकान्यपराणि च फलानि समुपहृत्य तदुद्धरणयोग्यया पुरुषभारगुर्व्या शिलयान्यत्र योग्यां चकार। ततश्चात्मनो बलप्रमाणमवगम्य शक्तोऽहमेनमेतस्मात्प्रपातादुद्धर्तुमिति निश्चितमतिरवतीर्य प्रपातं करुणया परिचोद्यमानस्तं पुरुषमुवाच—

एहि पृष्ठं ममारुह्य सुलग्नोऽस्तु भवान् मयि।
यावदभ्युद्धरामि त्वां स्वदेहात्सारमेव च॥ ११॥
असारस्य शरीरस्य सारो ह्येष मतः सताम्।
यत्परेषां हितार्थेषु साधनीक्रियते बुधैः॥ १२॥

स तथेति प्रतिश्रुत्याभिप्रणम्य चैनमध्यारुरोह।

अथाभिरूढः स नरेण तेन भारातियोगेन विहन्यमानः।
सत्त्वप्रकर्षादविपन्नधैर्यः परेण दुःखेव तमुज्जहार॥ १३॥
उद्धृत्य चैनं परमप्रतीतः खेदात्परिव्याकुलखेलगामी।
शिलातलं तोयधराभिनीलं विश्रामहेतोः शयनीचकार॥ १४॥

अथ बोधिसत्त्वः शुद्धस्वभावतया कृतोपकारत्वाच्च तस्मात्पुरुषादपायनिराशङ्को विस्रम्भादेनमुवाच—

उस महात्मा ने इस तरह उसे आश्वस्त कर खाने के लिए तेंदू का फल दिया। वहाँ से हटकर उसके वजन की शिला पीठ पर लादने का अभ्यास किया। फिर उन्हें जब यह अन्दाज आ गया कि मैं इसे गढ़े से बाहर निकाल सकता हूँ, तब दया से प्रेरित होकर उस गड्ढ़े में घुसकर बोसिसत्त्व ने उस आदमी से कहा—

आओ, मेरी पीठ पर बैठकर मुझे कसकर पकड़ लो। मैं तुम्हारे साथ ही अपने शरीर की शक्ति का भी उद्धार करता हूँ॥ ११॥

क्योंकि, भले लोगों के मतानुसार इस असार शरीर का सार परोपकार मात्र है॥ १२॥

'बहुत अच्छा' कहकर उसने पहले उन्हें प्रणाम किया, फिर उनकी पीठ पर सवार हो गया—

पीठ पर उसके चढ़ते ही देह के बोझ से इनके प्राण कण्ठगत होने लगे। किन्तु, उत्साह अधिक होने के कारण धैर्य के साथ कष्ट के बावजूद उसे बाहर निकाल कर ही इन्होंने दम लिया॥ १३॥

उसे बाहर निकालकर इन्हें काफी खुशी हुई। थकावट के कारण वे व्याकुल थे। धीरे-धीरे आगे बढ़कर मेघ की तरह श्यामवर्ण के एक शिलाखण्ड को अपने विश्राम के लिए इन्होंने चुन लिया॥ १४॥

इनका स्वभाव शुद्ध था। इन्होंने अपनी जान को जोखिम में डालकर उसका उपकार किया था। अतः उससे इन्हें किसी खतरे की आशंका न थी। उन्होंने कहा—

अव्याहतव्यालमृगप्रवेशे वनप्रदेशेऽत्र समन्तमार्गे ।
खेदप्रसुप्तं सहसा निहन्ति कश्चित्पुरा मां स्वहितोदयं च ।। १५ ।।
यतो भवान् दिक्षु विकीर्णचक्षुः करोतु रक्षां मम चात्मनश्च ।
दृढं श्रमेणास्मि परीतमूर्तिस्तत्स्वप्तुमिच्छामि मुहूर्तमात्रम् ।। १६ ।।

अथ स मिथ्याविनयप्रगल्भः—स्वपितु भवान् यथाकामं सुखप्रबोधाय, स्थितोऽहं त्वत्संरक्षणायेत्यस्मै प्रतिशुश्राव । अथ स पुरुषस्तस्मिन् महासत्त्वे श्रमबलान्निद्रावशमुपगते चिन्तामशिवामापेदे—

मूलैः प्रयत्नातिशयाधिगम्यैर्वन्यैर्यदृच्छाधिगतैः फलैर्वा ।
एवं परिक्षीणतनोः कथं स्याद्यात्रापि तावत्कृत एव पुष्टिः ।। १७ ।।
इदं च कान्तारमसुप्रतारं कथं तरिष्यामि बलेन हीनः ।
पर्याप्तरूपं त्विदमस्य मांसं कान्तारदुर्गोत्तरणाय मे स्यात् ।। १८ ।।
कृतोपकारोऽपि च भक्ष्य एव निसर्गयोगः स हि तादृशोऽस्य ।
आपत्प्रसिद्धश्च किलैष धर्मः पाथेयतामित्युपनेय एषः ।। १९ ।।
यावच्च विस्रम्भसुखप्रसुप्तस्तावन्मया शक्यमयं निहन्तुम् ।
इमं हि युद्धाभिमुखं समेत्य सिंहोऽपि सम्भाव्यपराजयः स्यात् ।। २०

यह स्थान खतरे से खाली नहीं है । यहाँ खूंखार जानवर बड़ी आसानी से पहुँच सकते हैं । शिकार के लिए यह निरापद स्थान है । थककर सोये में मुझे या तुम्हें कोई नुकसान न पहुँचाये ।। १५ ।।

इसलिए चौकन्ना होकर तुम मेरी और अपनी रक्षा करो । क्योंकि मेरी देह अब थककर चूर-चूर हो रही है । कुछ क्षण तक मैं सोना चाहता हूँ ।। १६ ।।

विनम्रता के साथ उसने कहा—'आप निश्चित होकर सोयें और जब चाहें तभी उठें, मैं आपकी रक्षा में तत्पर हूँ ।' थके रहने के कारण जब गाढ़ी नींद में वे सो गये, तब इस नीच के मन में नीचता कुलबुलाने लगी—

काफी मेहनत के बाद, इस जंगल में पाये जाने वाले कन्द, मूल या फल से इस दुर्बल देह का निर्वाह कैसे होगा ? ऐसी खुराक से पोषक तत्त्व भी क्या मिलेंगे ।।१७।।

फिर कमजोरी के कारण इस जंगल को पार कैसे करूँगा ? इस दुर्गम वन को पार करने के लिए देह में ताकत चाहिए और ताकत के लिए इस वानर का मांस उपयुक्त होगा ।। १८ ।।

यद्यपि इसने मेरा उपकार किया है, फिर भी इसे अपनी खुराक बनाऊंगा । यह आपद्धर्म है । प्रकृति के द्वारा दिया गया यह एक संयोग मात्र है ।। १९ ।।

जब तक यह सोया है तभी तक इसे मारा जा सकता है । जगने पर तो युद्ध में इसके साथ सिंह को भी मुँहकी खानी पड़े ।। २० ।।

तन्नायं विलम्बितुं मे काल इति विनिश्चित्य स दुरात्मा लोभदोषव्यामोहितमतिरकृतज्ञो विपन्नधर्मसञ्ज्ञः प्रनष्टकारुण्यसौम्यस्वभावः परिदुर्बलोऽप्यकार्यातिरागान्महतीं शिलामुद्यम्य तस्य महाकपेः शिरसि मुमोच।

शिलाथ सा दुर्बलविह्वलेन कार्यातिरागात्त्वरितेन तेन।
अत्यन्तनिद्रोपगमाय मुक्ता निद्राप्रवासाय कपेर्बभूव॥ २१॥
सर्वात्मना सा न समाससाद मूर्धानमस्मान्न विनिष्पिपेष।
कोटयेकदेशेन तु तं रुजन्ती शिला तले साशनिवत्पपात॥ २२॥
शिलाभिघातादवभिन्नमूर्धा वेगादवप्लुत्य च बोधिसत्त्वः।
केनाहतोऽस्मीति ददर्श नान्यं तमेव तु ह्रीतमुखं ददर्श॥ २३॥
वैलक्ष्यपीतप्रभमप्रगल्भं विषाददैन्यात्परिभिन्नवर्णम्।
त्रासोदयादागतकण्ठशोषं स्वेदार्द्रमुद्रीक्षितुमप्यशक्तम्॥ २४॥

अथ स महाकपिरस्यैव तत्कर्मेति निश्चितमतिः स्वमभिघातदुःखमचिन्तयित्वा तेन तस्यात्महितनिरपेक्षेणातिकष्टेन कर्मणा समुपजातसंवेगकारुण्यः परित्यक्तक्रोधसंरम्भदोषः सबाष्पनयनस्तं पुरुषमवेक्ष्य समनुशोचन्नुवाच—

'अतः देर करने का अब समय नहीं है।' यह सोचते ही उसकी बुद्धि चंचल हो गई। उसकी धर्मबुद्धि मारी गई। शान्त स्वभाव नष्ट हो गया, दया खत्म हो गई। दुबले होने के बावजूद अकार्य की आसक्ति से उसने एक बड़े पत्थर को उठाकर उस महाकवि के सिर पर दे मारा।

गलती करने के उतावलेपन में उसने महाकपि की मौत के लिए जो पत्थर फेंका उससे उनकी मौत तो नहीं हुई, पर नींद अवश्य टूट गई॥ २१॥

वह विशाल मारक प्रस्तर-खण्ड वज्र की तरह हरहराता इनके माथे को छूता धरती पर जा गिरा। अगर वह पूरी तरह सिर पर गिरता तो अवश्य उसे चूर-चूर कर जाता॥ २२॥

उस पत्थर की आंशिक चोट से ही इनका माथा फट गया। चोट खाकर बोधिसत्त्व तड़प उठे। उन्होंने उछल कर पूछा—मुझे किसने मारा? लज्जा से सिर झुकाये उसके अतिरिक्त उन्होंने वहाँ किसी दूसरे को नहीं देखा॥ २३॥

वह विषाद से विवर्ण, लज्जा से कातर और उदास था। डर के मारे उसका कण्ठ सूख गया था। पसीने से तर था। आँख से आँख मिलाकर वह किसी को देख नहीं सकता था॥ २४॥

महाकपि को यह समझते देर न लगी कि यह दुष्कर्म इसी का है, फिर तो अपनी पीड़ा वे बिलकुल भूल गये और आत्मकल्याण-विरोधी उसके दुःखद कर्म से विचलित हो उठे। क्रुद्ध या क्षुब्ध होने की अपेक्षा उसके प्रति वे दया से द्रवित हो उठे। डबडबाती आँखों से उसकी ओर देखते हुए उन्होंने कहा—

मानुषेण सता भद्र त्वयेदं कृतमीदृशम् ।
कथं नाम व्यवसितं प्रारब्धं कथमेव वा ।। २५ ।।
मदभिद्रोहसंरब्धं त्वं नामापतितं परम् ।
विनिवारणशौटीरविक्रमो रोद्धुमर्हसि ।। २६ ।।
दुष्करं कृतवानस्मीत्यभून्मानोन्नतिर्मम ।
त्वयापविद्धा सा दूरमतिदुष्करकारिणा ।। २७ ।।
परलोकादिवानीतो मृत्योर्वक्त्रान्तरादिव ।
प्रपातादुद्धृतोऽन्यस्मादन्यत्र पतितो ह्यसि ।। २८ ।।
धिगहो बत दुर्वृत्तमज्ञानमतिदारुणम् ।
यत्पातयति दुःखेषु सुखाशाकृपणं जगत् ।। २९ ।।
पातितो दुर्गतावात्मा क्षिप्तः शोकानलो मयि ।
निमीलिता यशोलक्ष्मीर्गुणमैत्री विरोधिता ।। ३० ।।
गत्वा धिग्वादलक्षत्वं हृता विश्वसनीयता ।
का नु खल्वर्थनिष्पत्तिरेवमाकाङ्क्षिता त्वया ।। ३१ ।।
दुनोति मां नैव तथा त्वियं रुजा
यथैतदेवात्र मनः क्षिणोति माम् ।
गतोऽस्मि पापे तव यन्निमित्ततां
न चाहमेनस्तदपोहितुं प्रभुः ।। ३२ ।।

हे भद्र, मनुष्य होकर भी तुमने ऐसा कुकर्म किया है । प्रतिज्ञा तुमने क्या किया की ? और काम क्या किया ।। २५ ।।

मेरे प्रति क्रुद्ध होकर आये शत्रुओं को रोकने की तुममें क्षमता है, तुम तो उसे रोकते ।। २६ ।।

'मैंने कठिन काम किया है, ऐसा घमण्ड मुझे हुआ था, तुमने मुझसे भी अधिक दुष्करकृत्य कर मेरे उस अभिमान को मानो चूरकर दिया है ।। २७ ।।

तुमको मौत से लड़कर मैंने छुड़ाया, परलोक से लौटाया । तुम्हें मैंने एक गड्ढे से निकाला पर तुम स्वयं दूसरे गड्ढे में जा गिरे ।। २८ ।।

हाय, ऐसे दारुण, असत् अज्ञान को धिक्कार है । झूठे सुख की आशा में विह्वल प्राणियों को विपत्ति के गर्त्त में गिराता है ।। २९ ।।

तुमने अपने आपको विपत्ति के गर्त्त में गिराया । मुझे भी शोक की आग में झुलसाया । यश की शोभा को मिटाया । गुण के अनुराग को विनष्ट किया ।। ३० ।।

तुमने विश्वास को विनष्ट किया । तुम्हें धिक्कार है । ऐसे दुष्कर्म से तुमने किस तरह के अभीष्ट की सिद्धि की कामना की है ।। ३१ ।।

तुमने अपने कुकर्म का माध्यम मुझे ही बनाया और तुम्हारे इस पाप को धोने

सन्दृश्यमानवपुरेव तु पार्श्वतो मां
तत्साध्वनुव्रज दृढं ह्यसि शङ्कनीयः ।
यावद्बहुप्रतिभयाद्गहनादितस्त्वां
ग्रामान्तपद्धतिमनुप्रतिपादयामि ॥ ३३ ॥

एकाकिनं क्षामशरीरकं त्वां मार्गानभिज्ञं हि वने भ्रमन्तम् ।
कश्चित्समासाद्य पुरा करोति त्वत्पीडनाद्व्यर्थपरिश्रमं माम् ॥ ३४ ॥

इति स महात्मा तं पुरुषमनुशोचञ्जनान्तमानीय प्रतिपाद्य चैनं तन्मार्गं पुनरुवाच—

प्राप्तो जनान्तमसि कान्त वनान्तमेतत्
कान्तारदुर्गभयमुत्सृज गच्छ साधु ।
पापं च कर्म परिवर्जयितुं यतेथा
दुःखो हि तस्य नियमेन विपाककालः ॥ ३५ ॥

इति स महाकपिस्तं पुरुषमनुकम्पया शिष्यमिवानुशिष्य तमेव वनप्रदेशं प्रतिजगाम ।

अथ स पुरुषस्तदतिकष्टं पापं कृत्वा पश्चात्तापवह्निना सम्प्रदीप्यमानचेता महता कुष्ठव्याधिना रूपान्तरमुपनीतः किलासचित्रच्छविः प्रभिद्यमानव्रणविस्र-

---

की क्षमता मुझमें नहीं है, यह सोचकर मुझे जितनी पीड़ा होती है, उतनी पीड़ा इस चोट से भी नहीं होती ॥ ३२ ॥

तुम विश्वास करने योग्य नहीं हो । अतः मेरी आँखों के सामने रहते हुए साथ-साथ चलो । तुम्हें इस भयङ्कर जंगल से निकाल कर मैं गाँव की ओर जाने वाली राह पर तुम्हें छोड़ दूँ ॥ ३३ ॥

जंगली राह से अनजान रहने के कारण कहीं रास्ते में ही तुम भटक न जाओ या अकेला जानकर तुम्हें कोई न सतावे, या तुम्हें बचाने का मेरा श्रम कोई व्यर्थ न कर दे ॥ ३४ ॥

इस तरह उस महात्मा ने उस पापी के लिए सोच व्यक्त करते हुए उसे जन-भूमि में लाकर राह दिखलाते हुए कहा—

मित्र, यहाँ से वनभूमि समाप्त होती है । अब तुम जन-भूमि में हो, दुर्गम वन के भय को छोड़कर अब तुम खुशी-खुशी घर जाओ । पापकर्म छोड़ने का प्रयास करो क्योंकि पाप का परिणाम बड़ा ही दुखद होता है ॥ ३५ ॥

इस तरह उस महाकपि ने शिष्य की तरह उसे उपदेश देकर स्वयं जंगल की ओर लौट गये—

उसने घोर पाप किया था । उसका मन पश्चात्ताप की आग में जलने लगा । महत कुष्ठ रोग से उसकी आकृति बिगड़ गई । उसकी छवि पर कोढ़ छा गया ।

वार्द्रगात्रः परमदुर्गन्धशरीरः सद्यः समपद्यत । स यं यं देशमभिजगाम ततस्तत एवैनमतिबीभत्सविकृततरदर्शनं मानुष इत्यश्रद्धेयरूपं भिन्नदीनस्वरमभिवीक्ष्य पुरुषाः साक्षादयं पाप्मेति मन्यमानाः समुद्यतलोष्टदण्डा निर्भर्त्सनपरुषवचसः प्रवासयामासुः । अथैनमन्यतमो राजा मृगयामनुविचरन् प्रेतमिवारण्ये परिभ्रमन्तं प्रक्षीणमलिनवसनं नातिप्रच्छन्नकौपीनमतिदुर्दर्शदनमभिवीक्ष्य ससाध्वसकौतूहलः पप्रच्छ—

विरूपिततनुः कुष्ठैः किलासशबलच्छविः ।
पाण्डुः कृशतनुर्दीनो रजोरूक्षशिरोरुहः ।। ३६ ।।
कस्त्वं प्रेतः पिशाचो वा मूर्तः पाप्माथ पूतनः ।
अनेकरोगसङ्घातः कतमो वासि यक्ष्मणाम् ।। ३७ ।।

स तं दीनेन कण्ठेन समभिप्रणमन्नुवाच—मानुषोऽस्मि महाराज, नामानुष इति । तत्कथमिमामवस्थामनुप्राप्तोऽसीति च पर्यनुयुक्तो राज्ञा तदस्मै स्वं दुश्चरितमाविष्कृत्योवाच—

मित्रद्रोहस्य तस्येदं पुष्पं तावदुपस्थितम् ।
अतः कष्टतरं व्यक्तं फलमन्यद्भविष्यति ।। ३८ ।।

फूटते फोड़ों से उसकी देह चिपचिपा हो गई । उससे बदबू फैलने लगी । वह जहाँ कहीं भी जाता उसके विकृत और बीभत्स रूपको देखकर लोग कतराने लगते । उसकी आवाज बदल गई । उसके कातर स्वर को सुनकर लोगों को यह विश्वास नहीं होता कि यह वही आदमी है । उसे लोग पाप की प्रतिमूर्त्ति मानने लगे । वह जहाँ कहीं जाता लोग ढेले और लाठी उठाकर उसे भगा देते । डाँटकर पास से भगा देते । एकबार एक राजा ने जंगल में शिकार के लिए प्रवेश किया । प्रेत की तरह अकेले घूमते उसने इसे देखा । उसकी कथरी गंदी और फटी थी । उसका गुप्त अंग खुला था । उसकी दुर्दशा देखकर राजा ने कुतूहलवश डरते-डरते उससे पूछा—

इस कोढ़ ने तुम्हारा रूप बिगाड़ दिया है । तुम्हारी छवि पर कोढ़ छा गया है । तुम दीन दुबले और दुःखी हो । धूल से तुम्हारे बाल रूखे हो गये हैं ।। ३६ ।।

तुम कौन हो ? भूत हो कि पिशाच ? या मूर्त्त पाप हो ? अनेक रोगों का समूह हो या राजयक्ष्मा का कोई रूप हो ।। ३७ ।।

उसने कातर भाव से प्रणाम करते हुए कहा—हे महाराज, मैं आदमी हूँ और कुछ नहीं ? तब तुम्हारी यह दुर्गति क्यों हुई ? राजा ने पूछा ।

उसने दुःख प्रकट करते हुए कहा—

महाराज मैंने मित्रद्रोह किया है । उस पाप का यह फूल ही अभी निकला है, फल निकलना तो अभी बाकी ही है, वह तो और दुखद होगा ।। ३८ ।।

तस्मान्मित्रेष्वभिद्रोहं शत्रुवद् द्रष्टुमर्हसि ।
भावस्निग्धमवेक्षस्व भावस्निग्धं सुहृज्जनम् ॥ ३९ ॥

मित्रेष्वमित्रचरितं परिगृह्य वृत्त-
मेवंविधां समुपयान्ति दशामिहैव ।
लोभादिदोषमलिनीकृतमानसानां
मित्रद्रुहां गतिरतः परतोऽनुमेया ॥ ४० ॥

वात्सल्यसौम्यहृदयस्तु सुहृत्सु कीर्तिं
विश्वासभावमुपकारसुखं च तेभ्यः ।
प्राप्नोति सन्नतिगुणं मनसः प्रहर्षं
दुर्धर्षतां च रिपुभिस्त्रिदशालयं च ॥ ४१ ॥

इमं विदित्वा नृप मित्रपक्षे प्रभावसिद्धी सदसत्प्रवृत्त्योः ।
भजस्व मार्गं सुजनाभिपन्नं तेन प्रयातमनुयाति भूतिः ॥ ४२ ॥

तदेवं नात्मदुःखेन तथा सन्तः सन्तप्यन्ते यथापकारिणां कुशलपक्षहान्या । इति तथागतमाहात्म्ये वाच्यम् । सत्कृत्य धर्मश्रवणे क्षान्तिकथायां मित्रानभिद्रोहे पापकर्मादीनवप्रदर्शने चेति ।

इति महाकपि-जातकं चतुर्विंशतितमम् ।

मित्रद्रोह शत्रु से भी अधिक घातक होता है । प्रेमदृष्टि रखने वाले के प्रति प्रेम ही रखना चाहिए ॥ ३९ ॥

जो मित्रों का विश्वातघात करता हैं उसकी दुर्गति इस संसार में ऐसी ही होती है । लोभ से मलिन मन वाले मित्र-द्रोहियों की परलोक में होने वाली गति का इसी से अनुमान किया जा सकता है ॥ ४० ॥

किन्तु, जिनका हृदय मित्रों के प्रति प्रेम से भरा है जो मित्र का विश्वासपात्र और उनसे उपकृत होता है, उसे संसार में यश, विनय और आनन्द तो मिलता ही है; वह शत्रुओं के लिए सदैव अजेय होता है तथा मरणोपरान्त उसे स्वर्ग मिलता है ॥ ४१ ॥

हे राजन्, मित्र के प्रति भले या बुरे आचरण का यह लाभ या हानि जानकर ही सज्जनों को सत्पथ पर चलना चाहिए । जो व्यक्ति ऐसा करता है सुख सम्पत्ति उसके पीछे चलती है ॥ ४२ ॥

इस तरह सज्जन अपने दुःख से उतना दुःखी नहीं होता जितना अपकार करने वालों के शुभ की हानि से । तथागत के माहात्म्य में इस कथा को कहना चाहिए । सादर धर्म-श्रवण, क्षमा की कथा, मित्रों के प्रति द्रोह नहीं करने के सम्बन्ध में तथा पापकर्म के दोष दिखलाने में इस कथा को अवश्य कहना चाहिए ।

महाकपि-जातक चौबीसवां समाप्त ।

(२५) शरभ-जातकम्

जिघांसुमप्यापद्गतमनुकम्पन्त एव महाकारुणिका नोपेक्षन्ते। तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किलान्यतमस्मिन्नरण्यवनप्रदेशे निर्मानुषसम्पातनीरवे विविधमृगकलाधिवासे तृणगहननिमग्नमूलवृक्षक्षुपबहुले पथिकयानवाहनचरणैरविन्यस्तमार्गसीमान्तलेखे सलिलमार्गवल्मीकश्वभ्रविषमभूभागे बलजववर्णसत्त्वसम्पन्नः संहननवत्कायोपपन्नः शरभो मृगो बभूव। स कारुण्याभ्यासादनभिद्रुग्धचित्तः सत्त्वेषु तृणपर्णसलिलमात्रवृत्तिः सन्तोषगुणादरण्यवासनिरतमतिः प्रविवेककाम इव योगी तमरण्यप्रदेशमभ्यलञ्चकार।

मृगाकृतिर्मानुषधीरचेतास्तपस्विवत्प्राणिषु सानुकम्पः।
चचार तस्मिन् स वने विविक्ते योगीव सन्तुष्टमतिस्तृणाग्रैः ॥ १ ॥

अथ कदाचिदन्यतमो राजा तस्य विषयस्याधिपतिस्तुरगवराधिरूढः सज्यचापबाणव्यग्रपाणिर्मृगेस्वस्त्रकौशलमात्मनो जिज्ञासमानः संरागवशाज्ज-

---

२५. शरभ-जातक

जो परम दयालु व्यक्ति हैं, वे हत्यारों पर भी दया ही करते हैं, ऐसे लोगों की भी वे उपेक्षा नहीं करते। तब जैसी की अनुश्रुति है—

एक बार बोधिसत्त्व ने एक निर्जन, नीरव और विकट वन में शरभ अर्थात् एक प्रकार के सिंह की योनि में जन्म ग्रहण किया। वह जंगल विविध वन्य पशुओं का निवास-स्थान था। मनुष्य के लिए वह दुर्गम भूमि थी। घासों की आड़ में छिपी जड़ वाले पेड़ों और झाड़ियों से वह जंगल छिपा था। पथिकों और वाहनों के चलने का न तो कोई चरण चिह्न थे और न गाड़ियों के चक्के चलने की ही कहीं कोई रेखा उभरी थी। पानी के सोते, खन्दकों और बाँबियों से वह भूमि विषम बनी थी। पशुयोनि में भी शरभ के रूप में वे अत्यन्त शक्तिशाली थे। वेगवान्, रूपवान् और तेजस्वी थे। उनकी देह बज्र की तरह कठोर थी। अत्यन्त दयावान् होने के कारण किसी प्राणी के प्रति उनका द्वेष नहीं था। वे अति सन्तुष्ट थे। हिंस्र-योनि में जन्म लेकर भी उन्होंने घास-पात और पानी को ही अपना आहार बनाया। वे जंगल में ही रहते थे। एकान्त चाहने वाले योगी की तरह उन्होंने उस जंगल को सुशोभित किया—

उनकी आकृति पशु की थी, पर हृदय मनुष्य की तरह धीर था। वे तपस्वियों की तरह प्राणियों पर दया करते थे। घास की टूसी खाकर संतुष्ट रहते थे और योगी की तरह एकान्तवास करते थे ॥ १ ॥

एक बार उस देश का राजा अपने सैन्यबल के साथ शिकार के लिए निकला।

वेन मृगाननुपतन्नुत्तमजवेन वाजिना दूरादपसृतहस्त्यश्वरथपदातिकायस्तं प्रदेशमुपजगाम । दूरादेव चालोक्य तं महासत्त्वं हन्तुमुत्पतितनिश्चयः समुत्कृष्टनिशितसायको यतः स महात्मा तेन तुरगवरं सञ्चोदयामास । अथ बोधिसत्त्वः समालोक्यैव तुरगवरगतं सायुधमभिपतन्तं तं राजानं शक्तिमानपि प्रत्यवस्थातुं निवृत्तसाहससंरम्भत्वात्परेण जवातिशयेन समुत्पपात । सोऽनुगम्यमानस्तेन तुरङ्गमेणानुमार्गागतं महच्छ्वभ्रं गोष्पदमिव जवेन लङ्घयित्वा प्रदुद्राव । अथ तुरगवरस्तेनैव मार्गेण तं शरभमनुपतन्नुत्तमेन जवप्रमाणेन तच्छ्वभ्रमासाद्य लङ्घयितुमनध्यवसितमतिः सहसा व्यतिष्ठत ।

अथाश्वपृष्ठादुगदर्णः सायुधः स महीपतिः ।
पपात महति श्वभ्रे दैत्ययोध इवोदधौ ।। २ ।।

निबद्धचक्षुः शरभे स तस्मिन् संलक्षयामास न तं प्रपातम् ।
विस्रम्भदोषाच्चलितासनोऽथ द्रुताश्ववेगोपरमात्पपात ।। ३ ।।

अथ बोधिसत्त्वस्तुरगखुरशब्दप्रशमात्किं नु खलु प्रतिनिवृत्तः स्यादयं राजेति समुत्पन्नवितर्कः पश्चादावर्जितवदनः समालोकयन् ददर्श तमश्वमना-

---

वह अति द्रुतगामी अश्व पर सवार था । उसके हाथ में तीर-धनुष था । उत्तेजनावश अपने अस्त्र-कौशल की परीक्षा हेतु उसने हिरणों का पीछा किया । घोड़े की द्रुतगति के कारण हाथी, घोड़े, रथ और पदाति सेना को बहुत पीछे छोड़ राजा ने उक्त दुर्गम वन्यक्षेत्र में प्रवेश किया । सहसा उन्होंने उस महासत्त्व को देखा । मन ही मन उसे मारने का निश्चय कर तीक्ष्ण बाण को खींचकर अपने घोड़े को उस शरभ की ओर उसकाया । हथियार सँभाले घोड़े पर सवार राजा को अपनी ओर बढ़ते देखकर उन्होंने सब कुछ समझ लिया । प्रतिकार में समर्थ होने के बावजूद हिंसा और क्रोध से निवृत्त होने के कारण बोधिसत्त्व ने तीव्रगति से भागना शुरू किया । राजा का घोड़ा भी इनका पीछा करता रहा । रास्ते में जो भी छोटे-बड़े खाई पड़ते उन्हें गो-खुर की तरह मानकर वे उन्हें लाँघते रहे । सहसा वह घोड़ा उस विशाल गड्ढे के पास आकर विदक गया जिसे उस शरभ ने कूदकर पार कर लिया था ।

वेग से भागते घोड़े के अचानक रुक जाने से झटका खाकर राजा उस गड्ढे में उसी तरह जा गिरा जैसे कोई दैत्य योद्धा उफनाते सागर में जा गिरा हो ।। २ ।।

राजा की आँखें भागते शरभ पर टिकी थीं । उसने आगे गड्ढे को देखा नहीं, घोड़े के रुकते ही झटका खाकर गिर पड़ा ।। ३ ।।

सहसा घोड़े के टापों की आवाज बन्द हो गई । 'शायद राजा लौट गया' यह सोच कर जब शरभ ने पीछे मुड़कर देखा तब उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा । बिना सवार का घोड़ा गड्ढे के किनारे खड़ा था । यह देखकर उसे समझते देर न

रोहकं तस्मिन् प्रपातोद्देशेऽवस्थितम्। तस्य बुद्धिरभवत्—नियतमत्र प्रपाते निपतितः स राजा। न ह्यत्र किञ्चिद्विश्रमहेतोः संश्रयणीयरूपं घनप्रच्छायं वृक्षमूलमस्ति नीलोत्पलदलनीलविमलसलिलमवगाहयोग्यं वा सरः। न चैव व्यालमृगानुविचरितमरण्यवनमवगाढेन यत्र क्वचिदुपसृज्य तुरगवरं विश्रम्यते मृगया वानुष्ठीयते। न चात्र किञ्चित्तृणगहनमपि तद्विधं यत्र निलीनः स्यात्। तद्व्यक्तमत्र श्वभ्रे निपतितेन तेन राज्ञा भवितव्यमिति। ततः स महात्मा निश्चयमुपेत्य वधकेऽपि तस्मिन् परां करुणामुपजगाम।

अद्यैव चित्रध्वजभूषणेन विभ्राजमानावरणायुधेन।
रथाश्वपत्तिद्विरदाकुलेन वादित्रचित्रध्वनिना बलेन॥ ४॥
कृतानुयात्रो रुचिरातपत्रः परिस्फुरच्चामरहारशोभः।
देवेन्द्रवत्प्राञ्जलिभिर्जनौघैरभ्यर्चितो राजसुखान्यवाप्य॥ ५॥
अद्यैव मग्नो महति प्रपाते विपातवेगादभिरुग्णगात्रः।
मूर्छान्वितः शोकपरायणो वा कष्टं बत क्लेशमयं प्रपन्नः॥ ६॥
किणाङ्कितानीव मनांसि दुःखैर्न हीनवर्गस्य तथा व्यथन्ते।
अदृष्टदुःखान्यतिसौकुमार्याद्यथोत्तमानां व्यसनागमेषु॥ ७॥

लगी कि राजा गड्ढे में गिरा है। क्योंकि वहाँ न तो विश्राम के लिए कोई सघन पेड़ों की छाया थी और न स्नान के लिए सुन्दर स्वच्छ नीलकमल की पंखुड़ियों के समान विमल जल वाला सरोवर ही था। हिंस्र पशुओं से भरे जंगल में छुपकर घोड़े को यों छोड़कर कोई शिकार भी नहीं कर सकता। घास की किसी सघन झाड़ी में भी छिपने की आशंका भी न थी। यह निश्चय करते ही उस वधिक के प्रति भी उस महासत्त्व का हृदय दया से भर गया।

रंग-बिरंगी पताके से सुशोभित, चमकीले कवच और आयुधों से सुसज्जित, गाजे-बाजे से अनुगूँजित हाथी, घोड़े और पैदल सेना के साथ आज ही यह राजा घर से निकला था॥ ४॥

उसके सिर पर सुन्दर छत्र तना था। उसे चँवर डुलाये जा रहे थे। आगे-पीछे लोग हाथ जोड़े खड़े थे। राज-सुखों को भोगते हुए वह देवेन्द्र की तरह सुशोभित हो रहा था॥ ५॥

और, आज ही इस भयंकर गड्ढे में गिर कर वह घायल होकर मूर्छित पड़ा है। अथवा शोकाकुल होकर पीड़ा से इस गड्ढे में तड़प रहा है॥ ६॥

दुःख के अभ्यस्त होने के कारण छोटे लोगों को सहसा दुःख आने पर उतनी पीड़ा नहीं होती जितनी पीड़ा सुख के अभ्यस्त लोगों को अचानक आये दुःख से होती है॥ ७॥

न चायमतः शक्ष्यति स्वयमुत्तर्तुम् । यद्यपि सावशेषप्राणस्तन्नायमुपेक्षितुं युक्तमिति वितर्कयन् स महात्मा करुणया समाकृष्यमाणहृदयस्तं प्रपाततटान्तमुपजगाम । ददर्श चैनं तत्र रेणुसंसर्गान्मृदितवारबाणशोभं व्याकुलितोष्णीषवसनसन्नाहं प्रपातपतननिघातसञ्जनिताभिर्वेदनाभिरापीडयमानहृदयमापतितवैतान्यं विचेष्टमानम् ।

दृष्ट्वा तं तत्र विचेष्टमानं नराधिपं बाष्पपरीतनेत्रः ।
कृपावशाद्विस्मृतशत्रुसञ्ज्ञस्तद्दुःखसामान्यमुपाजगाम ॥ ८ ॥
उवाच चैनं विनयाभिजातमुद्भावयन् साधुजनस्वभावम् ।
आश्वासयन् स्पष्टपदेन साम्ना शिष्टोपचारेण मनोहरेण ॥ ९ ॥
कच्चिन्महाराज न पीडितोऽसि प्रपातपातालमिदं प्रपन्नः ।
कच्चिन्न ते विक्षतमत्र गात्रं कच्चिद्रुजस्ते तनुतां गच्छन्ति ॥ १० ॥
नामानुषश्चास्मि मनुष्यवर्य मृगोऽप्यहं त्वद्विषयान्तवासी ।
वृद्धस्त्वदीयेन तृणोदकेन विस्रम्भमित्यर्हसि मय्युपेतुम् ॥ ११ ॥
प्रपातपातादधृतिं च मा गाः शक्तोऽहमुद्धर्तुमितो भवन्तम् ।
विस्रम्भितव्यं मयि मन्यसे चेत्तत्क्षिप्रमाज्ञापय यावदैमि ॥ १२ ॥

अथ स राजा तेन तस्याद्भुतेनाभिव्याहारेण विस्मयावर्जितहृदयः सञ्जायमानव्रीडो नियतमिति चिन्तामापेदे—

अपने आप तो वह इस गड्ढे से निकल नहीं सकता । यदि वह जिन्दा है तो फिर उसकी उपेक्षा करना उचित नहीं है । दया से द्रवित होकर वे पुनः गड्ढे के किनारे लौट आये । उन्होंने गड्ढे में झाँककर देखा । गिरने की चोट से वह राजा छटपटा रहा था । उसके चमकीले कवच कीचड़ से सने थे । सिर की पगड़ी बिखरी पड़ी थी ।

छटपटाते राजा को देखकर इनकी आँखें भर आईं । यह हमारा दुश्मन है । इस बात को वे भूल गये । उसके दुःख से वे उतना ही दुःखी हुए जितना वह राजा स्वयं दुखी था ॥ ८ ॥

स्वभाव की सरलता प्रकट करने वाली, विनम्र, सज्जनोचित शान्तिदायक, मनोहर मनुष्यवाणी में सान्त्वना देते हुए उस महासत्त्व ने कहा ॥ ९ ॥

हे राजन्, पाताल के समान इस गहरे गढ़े में गिरकर आप बहुत दुःखी तो नहीं हैं ? आपकी देह अधिक घायल तो नहीं है ? पीड़ा तो कम हो रही है ॥ १० ॥

हे नरश्रेष्ठ, आपके राज्य में पलकर पशु-योनि में भी मैं मनुष्य से भिन्न नहीं हूँ । आपके तृण-जल पर ही मैं पला हूँ । अतः आप मुझ पर विश्वास कीजिए ॥ ११ ॥

गड्ढे में गिरने से आप अधिक अधीर न हों । यदि आप मुझ पर विश्वास करते हैं तो पास आने का आदेश दीजिए, क्योंकि मैं आपको इससे बाहर निकाल सकता हूँ ।

उसकी अद्भुत बातों को सुनकर राजा ने विस्मित होकर यों सोचा—

दृष्टावदाने द्विषति का नामास्य दया मयि ।
मम विप्रतिपत्तिश्च केयमस्मिन्ननागसि ॥ १३ ॥
अहो मधुरतीक्ष्णेन प्रत्यादिष्टोऽस्मि कर्मणा ।
अहमेव मृगो गौर्वा कोऽप्ययं शरभाकृतिः ॥ १४ ॥

तदर्हत्ययं प्रणयप्रतिग्रहसम्पूजनमिति विनिश्चित्यैनमुवाच—

वारबाणावृतमिदं गात्रं मे नातिविक्षतम् ।
प्रपातनिष्पेषकृताः सह्या एव च मे रुजः ॥ १५ ॥
प्रपातपतनक्लेशान्न त्वहं पीडितस्तथा ।
इति कल्याणहृदये त्वयि प्रस्खलनाद्यथा ॥ १६ ॥
आकृतिप्रत्ययाद्यच्च दृष्टोऽसि मृगवन्मया ।
अविज्ञाय स्वभावं ते तच्च मा हृदये कृथाः ॥ १७ ॥

अथ शरभस्तस्य राज्ञः प्रीतिसूचकेन तेनाभिव्याहारेणानुमतमुद्धरणमवेत्य पुरुषभारगुर्व्या शिलया तदुद्धरणयोग्यां कृत्वा विदितात्मबलप्रमाणस्तं नृपतिमुद्धर्तुं व्यवसितमतिरवतीर्य तं प्रपातं सविनयमभिगम्योवाच—

मद्गात्रसंस्पर्शमिमं मुहूर्तं कार्यानुरोधात्त्वमनुक्षमस्व ।
यावत्करोमि स्वहिताभिपत्त्या प्रीतिप्रसादाभिमुखं मुखं ते ॥ १८ ॥

मेरे शत्रुतापूर्ण पराक्रम को देखते हुए भी मुझ दुश्मन पर यह इस तरह दया क्यों दिखला रहा है ? मैंने इस निरपराध प्राणी के प्रति ऐसा गलत व्यवहार क्यों किया ?

हाय, मेरे कुकर्म के लिए इसने मुझे कैसी मीठी झिड़की दी है ? लगता है जैसे मैं ही कोई जंगली जन्तु या बैल हूँ और यह पशु के रूप में भी कोई महात्मा है ।

अतः इसकी अभ्यर्थना सम्माननीय है । इतना निश्चय कर उस राजा ने कहा—

कवच पहने रहने के कारण मेरी देह में कहीं चोट तो नहीं आई है । प्रपात में पिसने के कारण जो पीड़ा हुई है, वह भी सह्य है ॥ १५ ॥

इस गड्ढे में गिरने की पीड़ा से मैं उतना अधिक पीड़ित नहीं हूँ, जितनी पीड़ा मुझे आपके जैसे शुद्धाचारी व्यक्ति के प्रति इस तरह किये गये अपराध से हुई है ।

आपके स्वभाव को बिना समझे, आपकी आकृति पर विश्वास कर मैंने आपके साथ जो पशुवत् व्यवहार किया है, उसे आप अपने हृदय में आप स्थान न दें ॥१७॥

राजा की स्नेहयुक्त बातें सुनकर, शरभ ने समझ लिया कि उसे गड्ढे से निकालने की अनुमति मिल गई । पत्थर पीठ पर लादकर पूर्वाभ्यास से अपनी शक्ति संतुलित कर उसने राजा को बाहर निकालने का निश्चय कर लिया । खाई में उतर कर, उनके पास जाकर विनीत स्वर में कहा—

कार्यवश एक क्षण के लिए मैं आपको छुऊँगा, इसे क्षमा करें । अपने हित साधन के द्वारा मैं आपके सुख को खुशी-खुशी बढाउँगा ॥ १८ ॥

तदारोहतु मत्पृष्ठं महाराजः सुलग्नश्च मयि भवत्विति । स तथेति प्रतिश्रुत्यैनमश्ववदारुरोह ।

ततः समभ्युन्नतपूर्वकायस्तेनाधिरूढः स नराधिपेन ।
समुत्पतन्नुत्तमसत्त्ववेगः खे तोरणव्यालकवद् बभासे ॥ १९ ॥
उद्धृत्य दुर्गादथ तं नरेन्द्रं प्रीतः समानीय तुरङ्गमेण ।
निवेद्य चास्मै स्वपुराय मार्गं वनप्रयाणाभिमुखो बभूव ॥ २० ॥

अथ स राजा कृतज्ञत्वात्तेन तस्य विनयमधुरेणोपचारेण समावर्जितहृदयः सम्परिष्वज्य शरभमुवाच—

प्राणा अमी मे शरभ त्वदीयाः प्रागेव यत्रास्ति मम प्रभुत्वम् ।
तदर्हसि द्रष्टुमिदं पुरं मे सत्यां रुचौ तत्र च तेऽस्तु वासः ॥ २१ ॥
व्याधाभिकीर्णे सभये वनेऽस्मिन् शीतोष्णवर्षाद्युपसर्गदुःखे ।
हित्वा भवन्तं मम नन्वयुक्तमेकस्य गेहाभिमुखस्य गन्तुम् ॥ २२ ॥

तदेहि गच्छाव इति । अथैनं बोधिसत्त्वः सविनयमधुरोपचारं संराधयन् प्रत्युवाच—

भवद्विधेष्वेव मनुष्यवर्य युक्तः क्रमोऽयं गुणवत्सलेषु ।
अभ्यासयोगेन हि सज्जनस्य स्वभावतामेव गुणा व्रजन्ति ॥ २३ ॥

महाराज, मेरी पीठ पर चढ़कर मुझसे चिपट जायें। ठीक है, कहकर राजा ने घोड़े की तरह उस पर सवारी कस दी।

राजा के सवार हो जाने के बाद अपनी देह के अगले भाग को ऊपर की ओर उठाते हुए, पूरी ताकत और वेग से ऊपर उठते हुए महल के गुंबज पर बनावटी हाथी की तरह शोभित हुए ॥ १९ ॥

खाई से राजा को निकालकर घोड़े पर बिठाकर उन्हें काफी खुशी हुई। फिर उन्हें नगर की राह दिखलाकर स्वयं बन की ओर लौटना चाहा ॥ २० ॥

कृतज्ञ राजा का हृदय उसके विनम्र और मधुर उपचार से भर आया। उन्होंने शरभ का आलिङ्गन करते हुए कहा—

हे शरभ, मेरे ये प्यारे प्राण आज से तुम्हारे हवाले है। मेरे अधिकार की सारी वस्तु तुम्हारी है। कम से कम चलकर मेरा नगर तो देख लें। रुचि हो तो वहीं रहें।

व्याधों से भरे भयंकर वन में; जहाँ सर्दी, गर्मी, वर्षा आदि उपद्रवों का घोर कष्ट है, आपको छोड़कर अकेले घर की ओर जाना क्या मेरे लिए उचित है ॥२२॥

'तो फिर आइए, साथ ही चलें।' तब बोधिसत्त्व ने मधुर एवं विनत वाणी में उनसे कहा—

हे नरश्रेष्ठ, आपकी तरह गुणज्ञ लोगों के लिए यह आचरण उचित ही है। सज्जनों का गुण अभ्यास के द्वारा उनका स्वभाव बन जाता है ॥ २३ ॥

अनुग्रहीतव्यमवैषि यत्तु वनोचितं मां भवनाश्रयेण।
तेनालमन्यद्धि सुखं नराणामन्यादृशं जात्युचितं मृगाणाम् ॥ २४ ॥
चिकीर्षितं ते यदि मत्प्रियं तु व्याधव्रतं वीर विमुञ्च तस्मात्।
तिर्यक्त्वभावाज्जडचेतनेषु कृपैव शोच्येषु मृगेषु युक्ता ॥ २५ ॥
सुखाश्रये दुःखविनोदने च समानचित्तानवगच्छ सत्त्वान्।
इत्यात्मनः स्यादनभीप्सितं यन्न तत्परेष्वाचरितुं क्षमं ते ॥ २६ ॥
कीर्तिक्षयं साधुजनाद्विगर्हां दुःखं च पापप्रभवं विदित्वा।
पापं द्विषत्पक्षमिवोद्धरस्व नोपेक्षितुं व्याधिरिव क्षमं ते ॥ २७ ॥
लक्ष्मीनिकेतं यदपाश्रयेण प्राप्तोऽसि लोकाभिमतं नृपत्वम्।
तान्येव पुण्यानि विवर्धयेथा न कर्शनीयो ह्युपकारिपक्षः ॥ २८ ॥

कालोपचारसुभगैर्विपुलैः प्रदानैः
शीलेन साधुजनसङ्गतनिश्चयेन।
भूतेषु चात्मनि यथा हितबुद्धिसिद्धया
पुण्यानि सञ्चिनु यशःसुखसाधनानि ॥ २९ ॥

इति स महात्मा तं राजानं दृढं साम्परायिकेष्वर्थेष्वनुगृह्य सम्प्रतिगृहीतवचनस्तेन राज्ञा सबहुमानमभिवीक्ष्यमाणस्तमेव वनान्तं प्रविवेश।

मुझ वनवासी को गृहवासी बनाकर अनुगृहीत करने का अपना विचार आप छोड़ दें। क्योंकि मनुष्य और पशुओं के सुख अलग-अलग हैं ॥ २४ ॥

हे वीर, यदि आप मेरा प्रिय करना चाहते हैं तो व्याधकर्म का परित्याग कर दीजिए। पशु-योनि में उत्पन्न प्राणी मन्दबुद्धि के होते हैं। अतः दया के पात्र हैं। उन पर दया करना ही उचित है ॥ २५ ॥

आपको जानना चाहिए कि सभी प्राणी समानरूप से सुख की कामना और दुःख से मुक्ति चाहते हैं। अतः जो वस्तु आपको न जँचे, वह दूसरों के लिए करना आप जैसे लोगों के लिए उचित नहीं है ॥ २६ ॥

पाप से पीड़ा होती है, यश मिटता है, सज्जनों के बीच निन्दा होती है, यह जानकर पाप को दुश्मन की तरह मिटाइए। रोग की तरह पाप की उपेक्षा उचित नहीं है ॥ २७ ॥

जिन पुण्यों के प्रताप से लोकमान्य लक्ष्मी-निवास इस राजपद को आपने पाया है, उसी सुकर्म को बढ़ाइए। हितकर पक्ष को कमजोर नहीं करना चाहिए ॥ २८ ॥

आदर के साथ समयोचित दान दीजिए। सज्जनों की संगति से निरूपित शील का पालन करें। अपने ही तरह दूसरों का हित साधन करें। यश और सुख के साधनभूत पुण्यों का संचय करें ॥ २९ ॥

इस तरह उस महात्मा ने राजा को पारलौकिक बातों से अनुगृहीत किया। राजा

तदेवं जिघांसुमप्यापद्गतमनुकम्पन्त एव महाकारुणिका नोपेक्षन्त इति करुणावर्णेऽपि वाच्यम् । तथागतमाहात्म्ये सत्कृत्य धर्मश्रवणे । अवैरेण वैर-प्रशमननिदर्शने च क्षान्तिकथायामप्युपनेयम् । एवं तिर्यग्गतानामपि महात्मनां वधकेष्वपि सानुक्रोशा प्रवृत्तिर्दृष्टा । को मनुष्यभूतः प्रव्रजितप्रतिज्ञो वा सत्त्वेष्वनुक्रोशविकलः शोभेतेति प्राणिषु सानुक्रोशेनार्येण भवितव्यम् ।

इति शरभ-जातकं पञ्चविंशतितमम् ।

ने उनकी बातों को सादर स्वीकृत किया । राजा ने सम्मानपूर्वक उनकी ओर टक-टकी लगाकर देखा और वे इतना कहकर जंगल में चले गये ।

इस तरह हत्या की चेष्टा में संलग्न व्यक्ति भी यदि अकस्मात् विपत्ति में फँस जाये तो भी महादयालु व्यक्ति उस पर भी दया दिखलाते ही है । इस तरह करुणा के वर्णन में, तथागत के माहात्म्य में, आदरपूर्वक धर्मश्रवण करने में, इस कथा को कहनी चाहिए । मित्रता से शत्रुता के शमन में तथा क्षमा की चर्चा में इसका उल्लेख करना चाहिए । पशु-योनि में उत्पन्न साधुओं की दयालुता वधिकों के प्रति भी देखी जाती है । तब फिर मनुष्य होकर या प्रव्रज्या की प्रतिज्ञा लेकर प्राणियों के प्रति निर्दय होता हुआ शोभा प्राप्त कर सकता है ? अतः सज्जनों को प्राणियों के प्रति दयालु होना चाहिए ।

शरभजातक पच्चीसवाँ समाप्त ।

---

(२६) रुरु-जातकम्

परदुःखमेव दुःखं साधूनाम्। तद्धि न सहन्ते नात्मदुःखम्। तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किल सालबकुलपियालहिन्तालतमालनक्तमालविदुलनिचुलक्षुपबहुले शिंशपातिनिशशमीपलाशशाककुशवंशशरवणगहने कदम्बसर्जार्जुनधवखदिरकुटजनिचिते विविधवल्लीप्रतानावगुण्ठितबहुतरुविटपे रुरुपृषतसृमरचमरगजगवयमहिषहरिणन्यङ्कुवराहद्वीपितरक्षुव्याघ्रवृकसिंहर्क्षादिमृगविचरिते मनुष्यसम्पातविरहिते महत्यरण्यवनप्रदेशे तप्तकाञ्चनोज्ज्वलवर्णः सुकुमाररोमा नानाविधपद्मरागेन्द्रनीलमरकतवैडूर्यरुचिरवर्णबिन्दुविद्योतितविचित्रगात्रः स्निग्धाभिनीलविमलविपुलनयनो मणिमयैरिवापरुषप्रभैर्विषाणक्षुरप्रदेशैः परमदर्शनीयरूपो रत्नाकर इव पादचारी रुरुमृगो बभूव। स जानानः स्वस्य वपुषोऽतिलोभनीयतां तनुकारुण्यतां च जनस्य निर्जनसम्पातेषु वनगहनेष्व-

---

२६. रुरु-जातक

दूसरों की तकलीफ ही भले लोगों के लिए अपनी तकलीफ बन जाती है। वे दूसरों के कष्ट को सह नहीं सकते। अपने कष्ट को वे आसानी से झेल लेते हैं। इस पर यह एक कथा है—

सुना जाता है कि एक बार बोधिसत्त्व ने एक गहन वन में कस्तूरी मृग के कुल में जन्मग्रहण किया। वहाँ बड़े-बड़े विशाल साखू, मौलसिरी, चिरौंजी, खजूर, आबनूस और जंगली ताड़ के पेड़ लगे थे। कालाकन्ना और बेंत की सघन झाड़ियाँ थीं। अशोक, शीशम, शमी, सागौन या शिरीष तथा टेसू के पेड़ों से वह स्थान सुशोभित था। कुश, बाँस और सरकंडों से सघन बना था। कदम्ब, सलई के पेड़, बनैला, धव, कुटज, खैर और जंगली औषधियों के पौधे भरे थे। अनेक सुन्दर लताओं से वे पेड़ आच्छादित थे। मनुष्यों की पहुँच वहाँ तक नहीं थी। कस्तूरी मृग चित्तीदार हिरण, चौरी हिरण, सामान्य हिरण और बारहसिंगों के अतिरिक्त साँभरमृग, जंगलीगाय, गैंडा, सूअर, चीता, तेंदुआ, हाथी, बाघ, भेड़िया, सिंह और भालू जैसे वन्य पशुओं की वह विचरण-भूमि थी। कस्तूरी मृग के रूप में उनकी देह की कान्ति तपे हुए सोने की तरह दमकती थी। उनके रोएँ बड़े कोमल थे। उनकी चमड़ी पर चित्र-विचित्र फूलों की तरह चिह्न उगे थे। वे लगते थे जैसे किसी ने इन्द्रनील, मानिक, पन्ना और लहसुनियाँ जैसे बहुमूल्य रत्नों को उनकी देह में जड़ दिया हो। उनकी विशाल आँखें नीली और निर्मल थीं। उनके सींग और खुर मृदु प्रभायुक्त मणियों के सदृश अत्यन्त दर्शनीय थे। वे पादचारी रत्नाकर के सदृश

भिरेमे, पटुविज्ञानत्वाच्च तत्र-तत्र व्याधजनविरचितानि यन्त्रकूटवागुरापाशावपातलेपकाष्ठनिवापभोजनानि सम्यक् परिहरन्ननुगामिनं च मृगसार्थमवबोधयन्नाचार्य इव पितेव च मृगाणामाधिपत्यं चकार ।

रूपविज्ञानसम्पत्तिः क्रियासौष्ठवसंस्कृता ।
स्वहितान्वेषिणि जने कुत्र नाम न पूज्यते ॥ १ ॥

अथ स कदाचिन्महात्मा तस्मिन् वनगहने वासोपगतस्तत्समीपवाहिन्या नवाम्बुपूर्णया महावेगया नद्या ह्रियमाणस्य पुरुषस्याक्रन्दितशब्दं शुश्राव ।

ह्रियमाणमनाथमप्लवं सरितोदीर्णजलौघवेगया ।
अभिधावत दीनवत्सलाः कृपणं तारयितुं जवेन माम् ॥ २ ॥
न विलम्बितुमत्र शक्यते श्रमदोषादविधेयबाहुना ।
न च गाधमवाप्यते क्वचित्तदयं मां समयोऽभिधावितुम् ॥ ३ ॥

अथ बोधिसत्त्वस्तेन तस्य करुणेनाक्रन्दितशब्देन हृदीव समभिहन्यमानो मा भैर्मा भैरिति जन्मशताभ्यस्तां भयविषाददैन्यश्रमापनोदिनीमाम्रेडिताभिनिष्पीडितस्पष्टपदामुच्चैर्मानुषीं वाचं विसृजंस्तस्माद्वनगहनाद्विनिष्पपात । दूरत एव च तं पुरुषमिष्टमिवोपायनमानीयमानं सलिलौघेन ददर्श ।

सुन्दर थे । वे अपनी देह की मनोहरता और मनुष्य की निर्दयता से परिचित थे । अतः सदैव निर्जन एवं सघन वन में ही घूमते फिरते थे । उनकी बुद्धि अतितीव्र थी । वे जहाँ-तहाँ व्याधों द्वारा डाले गये फंदे, जाल, फाँस, खन्दक, लसमावाली लकड़ी, बीज के दाने से बचते तथा साथियों को बचाते विचरण करते थे । वे सहचारी हिरणों पर पिता और गुरु की तरह अनुशासन करते थे ।

यदि सुकर्म से सुवासित उन्नत रूप और उत्कृष्ट ज्ञान हो तो भला ऐसा कौन होगा जो उस कल्याणकामी की कदर नहीं करेगा ॥ १ ॥

उस गहन वन की बरसाती नदी की उफनती धारा में बहते किसी आदमी की आर्त्त आवाज उसने सुनी ।

अरे ओ दयालु ! कोई मुझ डूबते हुए असहाय को बचा लो । नदी की तेजधारा मुझे गहरे पानी की ओर खींच रही है । जल्दी दौड़कर मुझे बचा लो ॥ २ ॥

तैरते-तैरते मेरी बाँहें थक गई । पानी की सतह पर मेरे लिए अब ठपलाना भी कठिन है । मैं अथाह पानी में ऊब-डूब रहा हूँ । अगर बचाने में थोड़ी भी देर हुई तो मैं निश्चय ही डूब जाऊँगा ॥ ३ ॥

उसकी रुलाई सुनकर बोधिसत्त्व का हृदय दया से पसीज उठा । उन्होंने मनुष्य की आवाज में कहा 'डरो मत' । उनका यह आश्वासन किसी भी दुखिया के दुःख, दीनता, भय और विषाद को मिटाने में जन्म-जन्मान्तर से अभ्यस्त था । जलधारा

ततस्तदुत्तारणनिश्चितात्मा स्वं प्राणसन्देहमचिन्तयित्वा ।
स तां नदीं भीमरयां जगाहे विक्षोभयन् वीर इवारिसेनाम् ।। ४ ।।
आवृत्य मार्गं वपुषाथ तस्य मामाश्रयस्वेति तमभ्युवाच ।
त्रासातुरत्वाच्छ्रमविह्वलाङ्गः स पृष्ठमेवाधिरुरोह तस्य ।। ५ ।।
संसाद्यमानोऽपि नरेण तेन विवर्त्यमानोऽपि नदीरयेण ।
सत्त्वोच्छ्रयादस्खलितोरुवीर्यः कूलं ययौ तस्य मनोनुकूलम् ।। ६ ।।

प्रापय्य तीरमथ तं पुरुषं परेण
प्रीत्युद्गमेन विनिर्वर्तितखेददुःखम् ।
स्वेनोष्मणा समपनीय च शीतमस्य
गच्छेति तं स विससर्ज निवेद्य मार्गम् ।। ७ ।।

अथ स पुरुषः स्निग्धबान्धवसुहृज्जनदुर्लभेन तेन तस्याद्भुतेनाभ्युपपत्तिसौमुख्येन समावर्जितहृदयस्तया चास्य रूपशोभया समुत्थाप्यमानविस्मयबहुमानः प्रणम्यैनं तत्तत्प्रियमुवाच —

में बहते हुए उस आदमी को उन्होंने वेगवती धारा द्वारा प्रदत्त उपहार की तरह ही देखा ।

नदी की हहराती धारा अपनी जवानी के जोश में तेजी के साथ बढ़ रही थी । जान की जोखिम थी । प्राण जाने का भय था । जान की परवाह किये बिना जैसे कोई वीर पुरुष शत्रु सेना को चीरकर उसके व्यूह में प्रवेश करता है, उसी तरह वे पानी की धारा में कूद पड़े ।। ४ ।।

बहते आदमी के आगे अपनी देह डालकर उन्होंने कहा—मेरी देह से चिपट जाओ । किन्तु, थकावट से चूर, भय से विह्वल उस आदमी ने उनका सहारा लेने की अपेक्षा उनकी पीठ पर सवार हो गया ।। ५ ।।

पीठ पर आदमी को लादे नदी के प्रबल वेग से जूझते हुए वे मनोनुकुल नदी के किनारे तक चले आये । सात्त्विक बल के कारण ये बाधायें उन्हें तनिक भी विचलित न कर सकीं ।। ६ ।।

उस आदमी की जान बचाकर उन्हें काफी खुशी हुई । पहले उसने उसकी थकावट दूर की । फिर उन्हें अपनी देह के संसर्ग से गर्मी पहुँचायी । जब उसकी कँपकँपी बन्द हुई, तब उसे घर की राह दिखलाकर कहा—बस इसी राह से तुम अब अपने घर जाओ ।। ७ ।।

उसकी यह कृपा अत्यन्त प्रेमी मित्र एवं बन्धुओं से भी अधिक थी । कृतज्ञता से उसका दिल भर आया । गहरी आँख से उसकी ओर देखकर उसके मन में उसके प्रति विस्मय और सम्मान का भाव भर आया । उन्हें प्रणाम कर उसने विनत भाव से कहना शुरू किया—

आ बाल्यात्सम्भृतस्नेहः सुहृद्बान्धव एव वा ।
नालं कर्तुमिदं कर्म मदर्थे यत्कृतं त्वया ॥ ८ ॥
त्वदीयास्तदिमे प्राणास्त्वदर्थे यदि नाम मे ।
स्वल्पेऽपि विनियुज्येरन् स मे स्यादत्यनुग्रहः ॥ ९ ॥
तदाज्ञासम्प्रदानेन कर्तुमर्हस्यनुग्रहम् ।
विनियोगक्षमत्वं मे भवान् यत्रावगच्छति ॥ १० ॥

अथैनं बोधिसत्त्वः संराधयन् प्रत्युवाच —

न चित्ररूपा सुजने कृतज्ञता निसर्गसिद्धैव हि तस्य सा स्थितिः ।
जगत्तु दृष्ट्वा समुदीर्णविक्रियं कृतज्ञताप्यद्य गुणेषु गण्यते ॥ ११ ॥

यतस्त्वां ब्रवीमि कृतमिदमनुस्मरता भवता नायमर्थः कस्मैचिन्निवेद्यः—ईदृशेनास्मि सत्त्वविशेषेणोत्तारित इति । आमिषभूतमतिलोभनीयमिदं हि मे रूपम् । पश्य, तनुघृणानि वहुलौल्यादनिभृतानि च प्रायेण मानुषहृदयानि ।

तदात्मनि गुणांश्चैव मां च रक्षितुमर्हसि ।
न हि मित्रेष्वभिद्रोहः क्वचिद्भवति भूतये ॥ १२ ॥

मा चैवमुच्यमानो मन्युप्रणयविरसं हृदयं कार्षीः । मृगा हि वयमनभ्यस्तमानुषोपचारशाठ्याः । अपि च—

आपने जो कुछ भी मेरे लिए किया है, वह काम कोई बन्धु या अतिस्नेही बालसखा भी नहीं कर सकता ॥ ८ ॥

अतः अब से ये प्राण आप के ही हैं । इनका उपयोग यदि आप अपने तुच्छ कार्य में भी करें तो मेरे लिए वह महती कृपा होगी ॥ ९ ॥

अतः जो कुछ भी करने योग्य आप मुझे समझें, उसे करने का आदेश देकर आप मुझे अनुगृहीत करें ॥ १० ॥

यह सुनकर उसकी प्रशंसा करते हुए बोधिसत्त्व ने कहा—

कृतज्ञ होना तो भले आदमी का स्वभाव है । इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है । फिर भी संसार में फैले अनेक दोषों को देखते हुए आज कृतज्ञता भी गुणों में गिनी जाती है ॥ ११ ॥

अतः मैं तुमसे इतना ही कहूँगा कि इस काम को याद रखने के बावजूद तुम किसी से यह मत कहना कि इस प्रकार के प्राणि-विशेष ने पानी से मुझे निकाला है । मेरा यह सुन्दर रूप अत्यन्त लुभावना है । देखो, लोभ के कारण आदमी के दिल प्रायः कठोर और अशान्त होते हैं ।

अतः अपने गुणों की और मेरी रक्षा करो । मित्रद्रोह कभी कल्याणकारी नहीं होता ॥ १२ ॥

मेरी बातों को सुनकर तुम्हें क्रोध नहीं करना चाहिए । क्योंकि हम पशु है और आदमी की बनावटी विनय के भीतर छिपी धूर्तता के अभ्यस्त नहीं हैं । और भी—

तत्कृतं वञ्चनादक्षैर्मिथ्याविनयपण्डितैः ।
येन भावविनीतोऽपि जनः साशङ्कमीक्ष्यते ॥ १३ ॥

तदेतत्प्रियं भवता सम्पद्यमानमिच्छामीति । स तथेति प्रतिश्रुत्य प्रणम्य प्रदक्षिणीकृत्य च तं महासत्त्वं स्वगृहमभ्याजगाम ।

तेन खलु समयेन तत्रान्यतमस्य राज्ञो देवी सत्यस्वप्ना बभूव । सा यं यमातिशयिकं स्वप्नं ददर्श, स तथैवाभवत् । सा कदाचिन्निद्रावशमुपगता प्रत्यूषसमये स्वप्नं पश्यति स्म सर्वरत्नसमाहारमिव श्रिया ज्वलन्तं सिंहासनस्थं रुरुमृगं सराजिकया पर्षदा परिवृतं विस्पष्टाक्षरपदन्यासेन मानुषेण वचसा धर्मं देशयन्तम् । विस्मयाक्षिप्तहृदया च भर्तुः प्रबोधपटहध्वनिना सह सा व्यबुध्यत । यथाप्रस्तावं च समुपेत्य राजानं लब्धप्रसरप्रणयसम्माना—

सा विस्मयोत्फुल्लतरेक्षणश्रीः प्रीत्या समुत्कम्पिकपोलशोभा ।
उपायनेनेव नृपं ददर्श तेनाद्भुतस्वप्ननिवेदनेन ॥ १४ ॥

निवेद्य च तं स्वप्नातिशयं राज्ञे सादरं पुनरुवाच—

तत्साधु तावत्क्रियतां मृगस्य तस्योपलम्भं प्रति देव यत्नः ।
अन्तःपुरं रत्नमृगेण तेन तारामृगेणेव नभो विराजेत् ॥ १५ ॥

ठगों और कपटी लोगों के कारण ही स्वाभाविक विनयसम्पन्न व्यक्ति भी आज संदिग्ध दृष्टि से देखे जाते हैं ॥ १३ ॥

बस, इतना ही मेरा प्रिय करना, मैं तुमसे इतना ही चाहता हूँ । 'बहुत अच्छा' कहकर उसने उस महासत्त्व को प्रणाम और प्रदक्षिणा कर घर की ओर प्रस्थान किया ।

उस समय किसी राजा की एक रानी थी । उसका सपना सच्चा होता था । उसने सपने में जो कुछ साधारण या असाधारण देखे, सबके सब सच्चे निकले । एकबार प्रभातकालीन सपने में उसने देखा—राजसिंहासन पर बैठा एक कस्तूरी-मृग राजसभा को धर्मोपदेश दे रहा है । उसके शरीर की कान्ति रत्ननिधि की तरह ज्योतिर्मय थी । वह स्पष्टतः मनुष्यवाणी में बोल रहा था । यह देखकर रानी का हृदय विस्मय से भर गया । राजा को जगाने के नगाड़े की आवाज के साथ ही वह जग गयी । उपयुक्त अवसर पर वह राजा के सामने उपस्थित हुई । राजा ने उसके प्रति प्रेम और सम्मान प्रकट किया ।

रानी की आँखें विस्मय से विकसित थीं । खुशी से गाल फड़क रहे थे । सपने में देखे गये दृश्य को उसने राजा के सम्मुख उपहार के रूप में प्रस्तुत किया ॥ १४ ॥

उस असाधारण सपने का निवेदन कर उसने राजा से फिर कहा—

अतः हे महाराज, उस रत्नमृग को पाने का प्रयास किया जाये । उससे अन्तःपुर की शोभा मृगशिरा नक्षत्र युक्त आकाश की शोभा के सदृश होगी ॥ १५ ॥

अथ स राजा दृष्टप्रत्ययस्तस्याः स्वप्नदर्शनस्य प्रतिगृह्य तद्वचनं तत्प्रियकाम्यया रत्नमृगाधिगमलोभाच्च तस्य मृगस्यान्वेषणार्थं सर्वं व्याधगणं समादिदेश। प्रत्यहं च पुरवरे घोषणामिति कारयामास—

हेमच्छविर्मणिशतैरिव चित्रगात्रः
ख्यातो मृगः श्रुतिषु दृष्टचरश्च कैश्चित्।
यस्तं प्रदर्शयति तस्य ददाति राजा
ग्रामोत्तमं परिदशा रुचिराः स्त्रियश्च ॥ १६ ॥

अथ स पुरुषस्तां घोषणां पुनः पुनरुपश्रुत्य—

दारिद्र्यदुःखगणनापरिखिन्नचेताः
स्मृत्वा च तं रुरुमृगस्य महोपकारम्।
लोभेन तेन च कृतेन विकृष्यमाणो
दोलायमानहृदयो विममर्श तत्तत् ॥ १७ ॥

किं नु खलु करोमि ? गुणं पश्याम्युत धनसमृद्धिम् ? कृतमनुपालयाम्युत कुटुम्बतन्त्रम् ? परलोकमुद्भावयाम्यथेमम् ? सद्वृत्तमनुगच्छाम्युताहो लोकवृत्तम् ? श्रियमनुगच्छाम्युताहोस्वित्साधुदयितां श्रियम् ? तदात्वं पश्याम्युतायतिमिति। अथास्य लोभाकुलितमतेरेवमभूत्–शक्यमधिगतविपुलधनसमृद्धिना स्वजनमित्रातिथिप्रणयिजनसम्माननपरेण सुखान्यनुभवता परोऽपि लोकः

राजा रानी के स्वप्न-दर्शन की सत्यता से परिचित था। अतः उसकी बात मानकर रत्नमृग की खोज में राज्य के सभी व्याधों को लगा दिया। साथ ही प्रतिदिन राज्य में यह घोषणा करवाई—

"सुनहले रंग का कोई एक हिरण है। उसकी देह सैकड़ों मणियों की तरह जगमगाती चित्र-विचित्र है। धर्मग्रन्थों में उसका वर्णन है। किसी ने उसे देखा है। जो कोई उसे दिखलायेगा, राजा उसे एक उत्तम गाँव तथा दस सुन्दर स्त्रियाँ देगा।" ॥ १६ ॥

अनेक बार उस आदमी ने जब उस घोषणा को सुनी।

उस कस्तूरी मृग के महान् उपकार को याद करने के बावजूद अपनी गरीबी को सोचकर उसका मन काफी खिन्न हुआ। लोभ और उपकार के बीच हिलते मन से उसने सोचना शुरू किया॥ १७ ॥

मैं क्या करूँ ? धर्म देखूँ या धन ? परिवार का पालन करूँ या उपकार ? परलोक बचाऊँ या इहलोक भोगूँ ? सदाचारी बनूँ या लोकाचारी ? लक्ष्मी का अनुसरण करूँ या सज्जनता का पालन ? अतीत को देखूँ या भविष्य को ? लोभग्रस्त होकर उसने सोचना शुरू किया—परलोक का साधन भी तो धन ही है। धन से सुख

सम्पादयितुम् । इति निश्चितमतिर्विस्मृत्य तं रुरुमृगस्योपकारं समुपेत्य राजानमुवाच–अहं देव तं मृगवरमधिवासं चास्य जानामि । तदाज्ञापय कस्मै प्रदर्शयाम्येनमिति । तच्छ्रुत्वा स राजा प्रमुदितमनाः—ममैवैनं भद्र प्रदर्शयेत्युक्त्वा मृगयाप्रयाणानुरूपं वेषमास्थाय महता बलकायेन परिवृतः पुरवरान्निर्गम्य तेन पुरुषेणादेश्यमानमार्गस्तं नदीतीरमुपजगाम । परिक्षिप्य च तद्वनगहनं समग्रेण बलकायेन धन्वी हस्तावापी व्यवसिताप्तपुरुषपरिवृतः स राजा तेनैव पुरुषेणादेश्यमानमार्गस्तद्वनगहनमनुप्रविवेश । अथ स पुरुषस्तं रुरुमृगं विश्वस्तस्थितमालोक्य प्रदर्शयामास राज्ञे—अयमयं देव स मृगवरः । पश्यत्वेनं देवः, प्रयत्नश्च भवत्विति ।

तस्योन्नामयतो बाहुं मृगसन्दर्शनादरात् ।
प्रकोष्ठान्न्यपतत्पाणिर्विनिकृत्त इवासिना ॥ १८ ॥

आसाद्य वस्तूनि हि तादृशानि क्रियाविशेषैरभिसंस्कृतानि ।
लब्धप्रयामाणि विपक्षमान्द्यात्कर्माणि सद्यः फलतां व्रजन्ति ॥ १९ ॥

अथ स राजा तत्प्रदर्शितेन मार्गेण रुरुसन्दर्शनकुतूहले नयने विचिक्षेप ।

मिलता है । बन्धु, मित्र, अतिथि और याचकों का सम्मान भी तो इसी से होता है । यह निश्चय होते ही उसने राजा के पास जाकर कहा—हे राजन् ! मैं इस उत्तम मृग को और इसके निवास-स्थान को जानता हूँ । वह भूल गया उस हिरण के उपकार को । आज्ञा दीजिए किसे दिखलाऊँ ? राजा ने कहा—भद्र ! मुझे ही दिखलाओ । राजा ने शिकारी का भेष धारण किया । अपनी विशाल सेना के साथ उस पुरुष के बतलाये गये रास्ते से उक्त नदी तट तक पहुँच गया । सेना ने उस गहन वन को चारों ओर से घेर लिया । अंगुलित्राण पहनकर कुछ विश्वस्त एवं दृढ़निश्चयी सेवकों के साथ राजा ने उस पुरुष के साथ उस गहन वन में प्रवेश किया । उस पुरुष ने उस कस्तूरी मृग को वहाँ निश्चिन्त बैठे देखकर राजा को दिखलाया । उसे पकड़ने की प्रेरणा दी ।

पर ज्यों ही हिरण को दिखलाने के लिए उसने बाहें ऊपर की ओर उठाई, उसका हाथ कलाई से कट कर उसी तरह गिर गया जैसे किसी ने तलवार से उसे काट दिया हो ॥ १८ ॥

पुण्य-कर्मों से पवित्र प्राणियों को लक्ष्य बनानेवाले व्यक्ति के दुष्कर्म सुकर्म के अभाव में अत्यन्त शक्तिशाली बनकर उसे तत्काल फल देते हैं ॥ १९ ॥

उसके संकेत का अनुसरण करते हुए राजा ने आँखें फाड़कर उस कस्तूरी मृग को देखा ।

वनेऽथ तस्मिन्नवमेघनीले ज्वलत्तनुं रत्ननिधानलक्ष्म्या ।
गुणैरुरुं तं स रुरुं ददर्श शातह्रदं वह्निमिवाभ्रकक्षे ॥ २० ॥
तद्रूपशोभाहृतमानसोऽथ स भूमिपस्तद्ग्रहणातिलोभात् ।
कृत्वा धनुर्बाणविदष्टमौर्वि बिभित्सया चैनमुपारुरोह ॥ २१ ॥

अथ बोधिसत्त्वः समन्ततो जनकोलाहलमुपश्रुत्य व्यक्तं समन्तात्परिवृतोऽस्मीति निश्चितमतिर्व्यद्धुकाममुपारूढं चावेत्य राजानं नायमपयानकाल इति विदित्वा विशदपदाक्षरेण मानुषेण वचसा राजानमावभाषे—

तिष्ठ तावन्महाराज मा मां व्यात्सीर्नरर्षभ ।
कौतूहलमिदं तावद्विनोदयितुमर्हसि ॥ २२ ॥
अस्मिन्निर्जनसम्पाते निरतं गहने वने ।
असावत्र मृगोऽस्तीति को नु ते मां न्यवेदयत् ॥ २३ ॥

अथ स राजा तस्याद्भुतेन मानुषेणाभिव्याहारेण भृशतरमावर्जितहृदयस्तमस्मै पुरुषं शराग्रेण निर्दिदेश—अयमस्यात्यद्भुतस्य नो दर्शयितेति । अथ बोधिसत्त्वस्तं पुरुषं प्रत्यभिज्ञाय विगर्हमाण उवाच—कष्टं भोः ।

सत्य एव प्रवादोऽयमुदकौघगतं किल ।
दार्वेव वरमुद्धर्तुं नाकृतज्ञमतिं जनम् ॥ २४ ॥

मेघ के भीतर छिपी बिजली की तरह रत्नप्रभा से प्रज्ज्वलित शरीरवाले, अभिनव मेघ की तरह नीलवर्ण उस कस्तूरी मृग को उस वन में महागुणवान् के रूप में राजा ने देखा ॥ २० ॥

उसकी छवि से खिंचकर उसे पकड़ने की इच्छा से बाण को धनुष की डोरी पर रखकर राजा आगे की ओर बढा ॥ २१ ॥

चारों ओर कोलाहल सुनकर उसे यह समझते देर न लगी कि वह घिर चुका है। राजा को धनुष-बाण लिए अपनी ओर बढ़ते देखकर उसने मनुष्यवाणी में राजा को सम्बोधित करते हुए कहा—

हे राजन् ! एक क्षण के लिए रुको और अपने बाण को रोको, बिंधने के पूर्व मेरी एक जिज्ञासा शान्त कर दो ॥ २२ ॥

मैं तो इस निर्जन वन में रहता हूँ, मेरा यह निवास-स्थान आपको किसने बतलाया ॥ २३ ॥

मनुष्य की आवाज से विस्मित राजा ने अपने बाण की नोक से उस आदमी की ओर संकेत करते हुए कहा—'इसी आदमी ने आपके इस अद्भुत रूप को दिखलाया है।' उस आदमी को पहचानकर उसकी निन्दा करते हुए बोधिसत्त्व ने कहा—खेद है।

यह कहना बिल्कुल सच है कि कृतघ्न मनुष्य की अपेक्षा पानी के प्रवाह में पड़े काठ को निकालना उचित है ॥ २४ ॥

परिश्रमस्य तस्येयमीदृशी प्रत्युपक्रिया ।
आत्मनोऽपि न दृष्टोऽयं हितस्यापनयः कथम् ॥ २५ ॥

अथ स राजा किं नु खल्वयमेवं विजुगुप्सत इति समुत्पन्नकौतूहलः सावेगस्तं रुरुमुवाच—

अनिर्भिन्नार्थगम्भीरमनारभ्यविगर्हितम् ।
त्वदिदं समुपश्रुत्य साकम्पमिव मे मनः ॥ २६ ॥
मृगातिशय तद्ब्रूहि कमारभ्येति भाषसे ।
मनुष्यममनुष्यं वा पक्षिणं मृगमेव वा ॥ २७ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—

नायं विगर्हादर एव राजन् कुत्सार्हमेतत्त्ववगम्य कर्म ।
नायं पुनः कर्तुमिति व्यवस्येत्तीक्ष्णाक्षरं तेन मयैवमुक्तम् ॥ २८ ॥
को हि क्षते क्षारमिवावसिञ्चेद् रूक्षाक्षरं विस्खलितेषु वाक्यम् ।
प्रिये तु पुत्रेऽपि चिकित्सकस्य प्रवर्तते व्याधिवशाच्चिकित्सा ॥ २९ ॥
यमुह्यमानं सलिलेन हारिणा कृपावशादभ्युपपन्नवाहनम् ।
ततो भयं मां नृवरेदमागतं न खल्वसत्सङ्गतमस्ति भूतये ॥ ३० ॥

मेरी मेहनत का यही पुरस्कार है। इसे आखिर अपना हित भी क्यों नहीं सूझता ॥ २५ ॥

'यह इस तरह की निन्दा किसकी और क्यों कर रहा है ?' उत्सुकता जगने पर राजा ने कुतूहलवश उस कस्तूरी मृग से पूछा—

स्पष्ट अर्थ के बावजूद आपने किसे लक्ष्यकर यह गूढ निन्दात्मक बातें कही हैं ? यह जाने बिना मेरा मन थरथर काँप रहा है ॥ २६ ॥

हे अद्भुत मृग ! मनुष्य, पशु, पक्षी या मनुष्येतर किस प्राणी को लक्ष्य कर आपने यह कहा है ॥ २७ ॥

तब बोधिसत्त्व ने कहा—

हे राजन् ! इसके निन्दनीय कर्म को जानकर, किसी की निन्दा करने की रुचि से नहीं प्रत्युत् पुनः यह ऐसा करने की चेष्टा न करे—यही सोचकर मैंने ऐसी कठोर बातें कही हैं ॥ २८ ॥

किसी पापी को कठोर बातें कह कर भला कौन घाव पर नमक छिड़कने का काम करेगा ? किन्तु, कोई चिकित्सक, व्याधि-पीडित अपने प्यारे पुत्र की भी तो चिकित्सा करता ही है ॥ २९ ॥

पानी की धारा में बहते हुए किसी को दया से द्रवित होकर मैंने बचाया है। उसी की ओर से यह विपत्ति मुझ पर आई है। दुष्टों की संगति कभी कल्याणकारी नहीं होती ॥ ३० ॥

अथ स राजा तं पुरुषं तीक्ष्णया दृष्टचा निर्भर्त्सनरूक्षमवेक्ष्योवाच–सत्यमरे रे पुरा त्वमनेनैवमापन्नोऽभ्युद्धृत इति ? अथ स पुरुषः समापतितभयविषादस्वेदवैवर्ण्यदैन्यो ह्रीमन्दं सत्यमित्यवोचत्। अथ स राजा धिक् त्वामित्येनमवभर्त्सयन् धनुषि शरं सन्धायाब्रवीत्—मा तावद्भोः !

एवंविधेनापि परिश्रमेण मृदूकृतं यस्य न नाम चेतः।
तुल्याकृतीनामयशोध्वजेन किं जीवतानेन नराधमेन।। ३१ ।।

इत्युक्त्वा मुष्टिमाबध्य तद्वधार्थं धनुः प्रचकर्ष। अथ बोधिसत्त्वः करुणया महत्या समुपरुध्यमानहृदयस्तदन्तरा स्थित्वा राजानमुवाच–अलमलं महाराज हतं हत्वा।

यदेव लोभद्विषतः प्रतारणां विगर्हितामप्ययमभ्युपेयिवान्।
हतस्तदेवेह यशःपरिक्षयाद् ध्रुवं परत्रापि च धर्मसङ्क्षयात्।। ३२ ।।
असह्यदुःखोदयपीतमानसाः पतन्ति चैवं व्यसनेषु मानुषाः।
प्रलोभ्यमानाः फलसम्पदाशया पतङ्गमूर्खा इव दीपशोभया।। ३३ ।।

तब राजा ने बड़ी वेधक दृष्टि से उस आदमी की ओर देखा और कड़ाई के साथ फटकारते हुए उससे पूछा—'क्यों रे, नीच पहले कभी इन्होंने तुम्हें विपत्ति से बचाया है ?' दुःख और डर के मारे उसकी देह से पसीने छूटने लगे, मुँह पर मुर्दानी छा गई। लज्जा के मारे उसका सिर झुक गया। उसने धीरे से कहा—'इनका कहना बिल्कुल सच है।' इतना सुनते ही राजा ने कहा—'तुम्हें धिक्कार है।' पर इतना ही नहीं। 'तुम ठहरो' इतना कहते हुए उन्होंने धनुष पर बाण चढ़ाना शुरू किया—

और कहा, तुम नराधम हो, मानव जाति के कलङ्क हो। तुम्हें जीने का कोई अधिकार नहीं है। क्योंकि जिसने इतनी मेहनत कर तुम्हारी जान बचाई उसे भी तुमने नहीं छोड़ा।। ३१ ।।

इतना कहकर उसे मारने के लिए उन्होंने मुट्ठी बाँधकर धनुष की डोरी खींच दी। यह देखकर उस महासत्त्व का हृदय दया से भर गया। उन्होंने अपनी जान पर खेलकर, इन दोनों के बीच खड़े होकर राजा से कहा—महाराज ! अब इस मरे हुए को मत मारें।

लोभ ने इसे ठगा। लोक में कलंकी बना। परलोक का धर्म गया। फिर यह जिन्दा है कहाँ ? यह तो मर चुका है।। ३२ ।।

बहुत अधिक दुःख झेलने के कारण मनुष्य का मन विचलित हो जाता है। लोभवश सम्पत्ति पाने की आशा में विपत्ति में फँस जाता है। जैसे दीप के आकर्षण में फँसकर पतंग अपनी जान गवाँ देता है।। ३३ ।।

अतः कृपामत्र कुरुष्व मा रुषं यदीप्सितं चैवमनेन किञ्चन ।
कुरुष्व तेनैनमवन्ध्यसाहसं स्थितं त्वदाज्ञाप्रवणं हि मे शिरः ॥ ३४ ॥

अथ स राजा तेन तस्यापकारिण्यपि सदयत्वेनाकृतकेन च तत्प्रत्युपकारादरेण परमविस्मितमतिर्जातप्रसादः सबहुमानमुदीक्षमाणस्तं रुरुवरमुवाच—साधु साधु महाभाग !

प्रत्यक्षोग्रापकारेऽपि दया यस्येयमीदृशी ।
गुणतो मानुषस्त्वं हि वयमाकृतिमानुषाः ॥ ३५ ॥

येनानुकम्प्यस्तु तवैष जाल्मो हेतुश्च नः सज्जनदर्शनस्य ।
ददामि तेनेप्सितमर्थमस्मै राज्ये तवास्मिंश्च यथेष्टचारम् ॥ ३६ ॥

रुरुरुवाच—प्रतिगृहीतोऽयं मयावन्ध्यो महाराजप्रसादः । तदाज्ञापय यावदिह सङ्गमनप्रयोजनेन तवोपयोगं गच्छाम इति । अथ स राजा तं रुरुं गुरुमिव रथवरमारोप्य महता सत्कारेण पुरवरं प्रवेश्य कृतातिथिसत्कारं महति सिंहासने निवेश्य समुत्साह्यमानः सान्तःपुरोऽमात्यगणपरिवृतः प्रीतिबहुमानसौम्यमुदीक्षमाणो धर्मं पप्रच्छ—

धर्मं प्रति मनुष्याणां बहुधा बुद्धयो गताः ।
निश्चयस्तव धर्मे तु यथा तं वक्तुमर्हसि ॥ ३७ ॥

अतः यह दया का पात्र है, क्रोध का नहीं । आपसे जो कुछ भी पाने की आशा से इसने यह कुकर्म किया है, वह इसे देकर इसके साहस को सफल करें । आपके आदेश के लिए मैं नतमस्तक हूँ ॥ ३४ ॥

अपने अपकारी के प्रति भी उपकारी बने उस सत्त्व को देखकर राजा के विस्मय का ठिकाना न रहा । उस पर अत्यन्त प्रसन्न होकर ससम्मान उसकी ओर देखते हुए राजा ने कहा--'साधु' हे महाभाग !

भयंकर अपराध करनेवाले के प्रति भी आपकी इतनी दया ? पशु-योनि में भी आप में मानवोचित गुण भरे हैं । हम तो केवल मनुष्य के आकार में हैं ॥ ३५ ॥

यद्यपि यह महादुष्ट है फिर भी एक ओर आपका कृपाभाजन है और दूसरी ओर मेरे लिए आपके दर्शन का कारण है । अतः इसे अभीष्ट धन एवं आपको अपने राज्य में घूमने की स्वतन्त्रता देता हूँ । ३६ ॥

कस्तूरी मृग ने कहा—महाराज, आपकी यह सार्थक कृपा स्वीकार है । अब आज्ञा दें कि इस भेंट के फलस्वरूप आपकी क्या सेवा करूँ ? राजा ने ससम्मान रथ पर बैठा कर अपने राज्य में प्रवेश कराया । आतिथ्य के बाद राजसिंहासन पर उन्हें बैठाया । रानी, मन्त्री एवं पार्षदों ने उनकी प्रशंसा की । उन्हें उत्साहित किया । राजा ने खुश होकर सम्मानपूर्वक उन्हें देखते हुए धर्म के विषय में कुछ प्रश्न पूछे ।

धर्म के सम्बन्ध में मनुष्यों में मतभेद है । कृपया इस सम्बन्ध में आप अपना निश्चय प्रकट करें ॥ ३७ ॥

अथ बोधिसत्त्वस्तस्य राज्ञः सपर्षत्कस्य स्फुटमधुरचित्राक्षरेण वचसा धर्मं देशयामास—

दयां सत्त्वेषु मन्येऽहं धर्मं सङ्क्षेपतो नृप।
हिंसास्तेयनिवृत्त्यादिप्रभेदं विविधक्रियम् ॥ ३८॥

पश्य महाराज –

आत्मनीव दया स्याच्चेत्स्वजने वा यथा जने।
कस्य नाम भवेच्चित्तमधर्मप्रणयाशिवम् ॥ ३९ ॥

दयावियोगात्तु जनः परमामेति विक्रियाम्।
मनोवाक्कायविस्पन्दैः स्वजनेऽपि जने यथा ॥ ४० ॥

धर्मार्थी न त्यजेदस्माद्दयामिष्टफलोदयाम्।
सुवृष्टिरिव सस्यानि गुणान् सा हि प्रसूयते ॥ ४१ ॥

दयाक्रान्तं चित्तं न भवति परद्रोहरभसं
शुचौ तस्मिन् वाणी व्रजति विकृतं नैव च तनुः।
विवृद्धा तस्यैवं परहितरुचिः प्रीत्यनुसृतान्
प्रदानक्षान्त्यादीञ्जनयति गुणान् कीर्त्यनुगुणान् ॥ ४२ ॥

तब बोधिसत्त्व ने बड़ी मधुर किन्तु स्पष्ट एवं विचित्र वाणी में धर्मोपदेश करना शुरु किया—

'हे राजन् ! मैं प्राणीमात्र पर दया को ही धर्म का रूप मानता हूँ। अहिंसा, अस्तेय प्रभृति तो इस दयारूपी धर्म की विविध क्रियाएँ मात्र हैं ॥ ३८ ॥

देखिए महाराज—

अपनी आत्मा की तरह यदि अपने या पराये के प्रति मन में दया हो तो फिर ऐसा कौन होगा जिसका मन अमङ्गलकारी अधर्म के प्रति आकृष्ट होगा ॥ ३९ ॥

इसी दया के अभाव में कोई व्यक्ति अपने और पराये के प्रति समान रूप से मन, वचन या कर्म से अमङ्गलकारी बन जाता है ॥ ४० ॥

अतः धर्माभिलाषी व्यक्ति अभीष्ट फल देनेवाली दया का पल्ला कभी नहीं छोड़ता। क्योंकि, दया ही सभी गुणों को ठीक उसी तरह उत्पन्न करती है, जैसे सुन्दर वर्षा अच्छी फसलों को पैदा करती है ॥ ४१ ॥

दया से द्रवित हृदयवाला व्यक्ति कभी किसी से द्रोह नहीं करता। ऐसे पवित्र आदमी की बोली या देह में किसी तरह का दोष नहीं रहता। उनकी सदैव वर्द्धिष्णु परोपकारी प्रवृत्ति सहर्ष यशदायिनी दया, दान और क्षमा की क्षमता उत्पन्न करती रहती है ॥ ४२ ॥

दयालुर्नोद्वेगं जनयति परेषामुपशमाद्
दयावान् विश्वास्यो भवति जगतां बान्धव इव ।
न संरम्भक्षोभः प्रभवति दयाधीरहृदये
न कोपाग्निश्चित्ते ज्वलति हि दयातोयशिशिरे ।। ४३ ।।
सङ्क्षेपेण दयामतः स्थिरतया पश्यन्ति धर्मं बुधाः
को नाऽमास्ति गुणः स साधुदयितो यो नानुयातो दयाम् ।
तस्मात्पुत्र इवात्मनीव च दयां नीत्वा प्रकर्षं जने
सद्वृत्तेन हरन्मनांसि जगतां राजत्वमुद्भावय ।। ४४ ।।

अथ स राजा समभिनन्द्य तत्तस्य वचनं सपौरजानपदो धर्मपरायणो बभूव । अभयं च सर्वमृगपक्षिणां दत्तवान् ।

तदेवं परदुःखमेव दुःखं साधूनाम् । तद्धि न सहन्ते नात्मदुःखमिति । करुणावर्णेऽपि वाच्यम् । सज्जनमाहात्म्ये खलजनकुत्सायामप्युपनेयमिति ।।

इति रुरु-जातकं षड्विंशतितमम् ।

दयालु व्यक्ति दूसरों के लिए बन्धु के समान विश्वास का भाजन होता है । वह अपने शान्त स्वभाव के कारण किसी को उद्विग्न नहीं करता । उसका हृदय दया से भरा रहता है, उसके हृदय में क्रोधजन्य क्षोभ कभी नहीं होता । दया रूपी जल से शीतल बने चित्त में क्रोधरूपी आग कभी जलती ही नहीं ।। ४३ ।।

अतः संक्षेप में कहूँ तो दया ही धर्म है । यही विद्वानों का स्थिर मत है । सज्जनों का वह कौन प्रिय गुण है जो दया के पीछे नहीं चलता । उसी तरह आप अपने और अपने पुत्र की तरह दूसरों पर दया करते हुए राज्य कीजिए ।। ४४ ।।

उसी दिन से वह राजा प्रजा सहित उनकी बातों में आस्था रखते हुए धर्म-परायण बन गये । राज्य के सभी पशु पक्षियों को उसने अभयदान दिया ।

इस तरह दूसरों का दुःख ही सज्जनों का अपना दुःख है । वे दूसरों के दुःख की अवहेलना नहीं कर सकते । सज्जनों का माहात्म्य, दुर्जनों की निन्दा एवं करुणा के वर्णन में इस कथा को उपस्थापित करना चाहिए ।

रुरुजातक छब्बीसवाँ समाप्त ।

(२७) महाकपि-जातकम्

द्विषतामपि मानसान्यावर्जयन्ति सद्वृत्तानुवर्तिनः। तद्यथानुश्रूयते –

बोधिसत्त्वः किल श्रीमति हिमवत्कुक्षौ विविधरसवीर्यविपाकगुणैर्बहुभिरोषधिविशेषैः परिगृहीतभूमिभागे नानाविधपुष्पफलपल्लवपत्रविटपरचनैर्महीरुहशतैराकीर्णे स्फटिकदलामलसलिलप्रस्रवणे विविधपक्षिगणनादनादिते वानरयूथाधिपतिर्बभूव। तदवस्थमपि चैनं त्यागकारुण्याभ्यासात्प्रतिपक्षसेवाविरोधितानीर्ष्यामात्सर्यक्रौर्याणि नोपजग्मुः। स तत्र महान्तं न्यग्रोधपादपं पर्वतशिखरमिव व्योमोल्लिखन्तमधिपतिमिव तस्य वनस्य मेघसङ्घातमिव प्रत्यन्धकारविटपमाकीर्णपर्णतया तालफलाधिकतरप्रमाणैः परमस्वादुभिर्मनोज्ञवर्णगन्धैः फलविशेषैरानम्यमानशाखं निश्रित्य विजहार।

तिर्यग्गतानामपि भाग्यशेषं सतां भवत्येव सुखाश्रयाय।
कर्तव्यसम्बन्धि सुहृज्जनानां विदेशगानामिव वित्तशेषम्॥ १॥

---

२७. महाकपि-जातक

कोई पुण्यात्मा अपनी सद्वृत्ति से शत्रुओं के भी मन को जीत लेता है। सुना जाता है कि—

एक बार बोधिसत्त्व ने हिमाञ्चल के किसी भू-भाग में वानरकुल में जन्म ग्रहण किया। वहाँ वे वानरों के अधिपति हुए। इनकी जन्मभूमि रस, शक्ति, फल और अनेक गुणवाली औषधियों से सम्पन्न थी। वहाँ अनेक तरह के फलों, फूलों, किसलयों, पत्तों और डालों वाले पेड़ पौधे भरे पड़े थे। वहाँ निर्मल जलवाले झरनों से स्फटिक की तरह स्वच्छ जल झरते रहते थे। रंग-बिरंगे पक्षियों के कूजन से कूजित थी। जन्मार्जित त्याग और तपस्या के अभ्यास से पशु-योनि में भी ईर्ष्या-द्वेष या क्रूरता इनके पास नहीं फटकती थी। प्रतिपक्षी गुणों ने उनका प्रत्याख्यान कर दिया था। पर्वत-शिखर की तरह आकाश में छाया हुआ वहाँ एक विशाल बरगद का पेड़ था। अन्धकारपूर्ण उसकी सघन डालें पत्तों से भरी थीं। मेघमाला की तरह वह पेड़ उस वन का अधिपति जैसे लगता था। उसके फल ताड़ के फलों से बड़े थे। वे खाने में जितने स्वादिष्ट थे, देखने में उतने ही मनोहर एवं सुगन्ध से भरे थे। फल-भार से पेड़ की डालियाँ झुकी थीं। उसी पेड़ को अपना आश्रय बनाकर वानरों के साथ बोधिसत्त्व वहाँ विहार करते थे।

परदेश जानेवाले लोगों की अवशिष्ट सम्पत्ति का हक जैसे उसके सम्पर्की मित्रों को मिलता है, उसी तरह सज्जनों के पुण्यफल का सुख उसके पशु-पक्षियों की योनि-में भी मित्र-सुख के लिए होता है॥ १॥

तस्य तु वनस्पतेरेका शाखा तत्समीपगां निम्नगामभि प्रणताभवत्। अथ बोधिसत्त्वो दीर्घदर्शित्वात्तद्वानरयूथं समनुशशास – अस्यां न्यग्रोधशाखायामफलायामकृतायां न वः केनचिदन्यतः फलमुपभोक्तव्यमिति।

अथ कदाचित्तस्यां शाखायां पिपीलिकाभिः पर्णपुटावच्छादितं तरुणत्वान्नातिमहदेकं फलं न ते वानरा ददृशुः। तत्क्रमेणाभिवर्धमानं वर्णगन्धरसमार्दवोपपन्नं परिपाकवशाच्छिथिलबन्धनं तस्यां नद्यां निपपात। अनुपूर्वेण वाह्यमानं नदीस्रोतसाऽन्यतमस्य राज्ञः सान्तःपुरस्य तस्यां नद्यां सलिलक्रीडामनुभवतो जालकरण्डकपार्श्वे व्यासज्यत।

तत्स्नानमाल्यासववासगन्ध संश्लेषसम्पिण्डितमङ्गनानाम्।
विसर्पिणा स्वेन तिरश्चकार घ्राणाभिरामेण गुणोदयेन॥ २॥
तद्गन्धमत्ताः क्षणमङ्गनास्ता दीर्घीकृतोच्छ्वासविकुञ्चिताक्ष्यः।
भूत्वाथ कौतूहलचञ्चलानि विचिक्षिपुर्दिक्षु विलोचनानि॥ ३॥

कौतूहलप्रसृतलोलतरनयनास्तु ता योषितस्तन्न्यग्रोधफलं परिपक्वतालफलाधिकतरप्रमाणं जालकरण्डकपार्श्वतो विलग्नमवेक्ष्य किमिदमिति तदावर्जितनयनाः समपद्यन्त सह राज्ञा। अथ स राजा तत्फलमानाय्य प्रात्ययिकवैद्यजनपरिदृष्टं स्वयमास्वादयामास।

उस पेड़ की एक डाल नीचे बहनेवाली नदी के ऊपर झुकी थी। दूरदर्शी होने के नाते बोधिसत्त्व ने सहचारी वानरों को चेतावनी दी थी कि जब तक उस डाल के सारे फल चुक न जायें कोई भी दूसरी डाल का फल नहीं तोड़ सकता।

एक बार कुछ चीटियों ने एक नवप्रसूत छोटे फल को पत्रपुटों से ढँक दिया। पत्रपुट से आवृत होने के कारण उस फल को वानरों ने देखा ही नहीं और वह डाल में छूट गया। क्रमशः बढ़ता हुआ वह छोटा फल रूप रंग और सुगन्ध से भर उठा। पकने के कारण बन्धन के ढीले हो जाने पर एक दिन वह फल नदी में गिरकर धारा के साथ बह निकला और अपनी रानियों के साथ जलक्रीड़ा में निमग्न किसी राजा के हाथ में जा पड़ा।

यहाँ जलक्रीड़ा में निमग्न परस्पर आलिंगनबद्ध राजमहिलाओं के शरीर से निकलनेवाली स्नान में प्रयुक्त पदार्थों की गन्ध को भी इस फल की मधुर सुगन्ध ने पराजित कर दी॥ २॥

कुछ देर के लिए वे महिलायें उस मादकगन्ध से मदहोश हो गईं। उनकी आँखें उस सुगन्ध के मारे अर्द्धनिमिलित हो गईं। कुछ क्षण के बाद वे आँखें फाड़कर चारो ओर देखने लगी॥ ३॥

सहसा उन औरतों ने उस विशाल वटफल को घेरे के जाल के पास फँसा देखा। और उसे देखकर राजा के साथ आश्चर्यचकित हो उठीं। तब राजा ने उस फल को मँगवाकर, विश्वस्त वैद्यों को दिखलाकर स्वयं चखा।

अद्भुतेन रसेनाथ नृपस्तस्य विसिष्मिये ।
अद्भुतेन रसेनेव प्रयोगगुणहारिणा ॥ ४ ॥
अपूर्वत्वर्णगन्धाभ्यां तस्याकलितविस्मयः ।
ययौ तद्रससंरागात्परां विस्मयविक्रियाम् ॥ ५ ॥

अथ तस्य राज्ञः स्वादुरसभोजनसमुचितस्यापि तद्रससंरागवशगस्यैतदभवत्—

यो नाम नामूनि फलानि भुङ्क्ते स कानि राज्यस्य फलानि भुङ्क्ते ।
यस्मान्नमेतत्तु स एव राजा विनैव राजत्वपरिश्रमेण ॥ ६ ॥

स तत्प्रभवान्वेषणकृतमतिः स्वबुद्ध्या विममर्श—व्यक्तमयं तरुवर इतो नातिदूरे नदीतीरसन्निविष्टश्च यस्येदं फलम् । तथा ह्यनुपहतवर्णगन्धरसमदीर्घकालसलिलसम्पर्कादपरिक्षतमजर्जरं च यतः शक्यमस्य प्रभवोऽधिगन्तुमिति निश्चयमुपेत्य तद्रसतृष्णया आकृष्यमाणो विरम्य जलक्रीडायाः सम्यक् पुरवरे स्वे रक्षाविधानं सन्दिश्य यात्रासज्जेन महता बलकायेन परिवृतस्तां नदीमनुससार । क्रमेण चोत्सादयन् सश्वापदगणानि वनगहनानि समनुभवंश्चित्राणि रसान्तराणि पश्यन्नकृत्रिमरमणीयशोभानि वनान्तराणि त्रासयन् पटहरसितैर्वन्यगजमृगान् मानुषजनदुर्गमं तस्य वनस्पतेः समीपमुपजगाम ।

नाटकीय रस के उचित प्रयोग को देखकर दर्शक जैसे विस्मय-विमुग्ध होता है, उसी तरह इस फल के रसास्वादन से राजा आश्चर्यचकित हुआ ॥ ४ ॥

उसके अपूर्व रूपरंग से तो वह विस्मित था ही अब रसास्वाद से वह परम विस्मित हुआ ॥ ५ ॥

यद्यपि राजा के पास स्वादिष्ट भोजन की कमी न थी फिर भी इसके रसास्वादन से आकृष्ट होकर वह सोचने लगा—

जिसके राज्य में यह खाद्य फल उपलब्ध है, राज्य-संचालनजन्य परिश्रम किए बिना ही वह असली राजा है । इस फल के अभाव में वह किस फलको भोगता है ?

इस फल को पाने का निश्चय मन ही मन कर उस राजा ने सोचना शुरू किया—

नदी की धारा में बहकर यह फल यहाँ तक आया है । न इसके रूप बिगड़े हैं और न रस या स्वाद ही । न तो यह सड़ा है और न कहीं से फटा ही है । अतः इसका पेड़ इसी नदी के किनारे है और वह स्थान यहाँ से दूर भी नहीं है । अतः वहाँ तक पहुँचना असंभव नहीं है । मन में यह निश्चय होते ही जलक्रीड़ा से वह विरत हो गया । राजधानी में रक्षा की समुचित व्यवस्था कर दी और एक बड़ी सेना को साथ लेकर उस फल की उत्पत्ति के स्थान की खोज में नदी की धारा की विपरीत दिशा में प्रस्थान कर दिया । क्रमशः हिंसक जन्तुओं से भरी झाड़ियों को साफ करता हुआ, विविध वन्य फलों का आस्वाद लेते हुए, जंगल की स्वाभाविक एवं

तं मेघवृन्दमिव तोयभरावसन्नमासन्नशैलमपि शैलवदीक्ष्यमाणम् ।
दूराद्ददर्श नृपतिः स वनस्पतीन्द्रमुल्लोक्यमानमधिराजमिवान्यवृक्षैः ।।७।।

परिपक्वसहकारफलसुरभितरेण च निर्हारिणा अतिमनोज्ञेन गन्धेन प्रत्युद्गत इव तस्य पादपस्य अयं स वनस्पतिरिति निश्चयमुपजगाम । समुपेत्य चैनं ददर्श तत्फलोपभोगव्यापृतैरनेकवानरशतैराकीर्णविटपम् ।

अथ स राजा समभिलषितार्थविप्रलोपिनस्तान् वानरान् प्रत्यभिक्रुद्धमतिः– हत हतैतान् । विध्वंसयत विनाशयत सर्वान् वानरजाल्मानिति सपरुषाक्षरं स्वान् पुरुषानादिदेश । अथ ते राजपुरुषाः सज्यचापबाणव्यग्रकराग्रा वानरावभर्त्सनमुखराः समुद्यतलोष्टदण्डशस्त्राश्चापरे परदुर्गमिवाभिरोद्धुकामास्तं वनस्पतिमभिसस्रुः । अथ बोधिसत्त्वस्तुमुलं तद्राजबलमनिलजवाकलितमिवार्णवजलमनिभृतकलकलारावमभिपतदालोक्याशनिवर्षेणेव समन्ततो विकीर्यमाणं तरुवरं शरलोष्टदण्डशस्त्रवर्षेण भयविरसविरावमात्रपरायणं च विक्लतदीनमुखमुन्मुखं वानरगणमवेक्ष्य महत्या करुणया समाक्रम्यमाणचेतास्त्यक्तविषाददैन्यसन्त्रासः समाश्वास्य तद्वानरयूथं तत्परित्राणव्यवसितमतिरभिरुह्य तस्य वनस्पतेः शिखरं तत्समासन्नं गिरितटं लङ्घयितुमियेष । अथानेकप्रस्कन्दनक्रमप्राप्यमपि तं गिरितटं स महासत्त्वः स्ववीर्यातिशयात्खग इवाधिरुरोह

रमणीय छटा को देखता हुआ, नगाड़े की आवाज से बनैले जन्तुओं और हाथियों को डराता हुआ एक दिन उस पेड़ तक वह पहुँच ही गया । जहाँ सामान्य जन का प्रवेश बिल्कुल असंभव था ।

दूर से ही उस विशाल पेड़ को राजा ने देखा । जलभार से झुके मेघ-समूह की तरह वह सघन था । पहाड़ के पास रहने के बावजूद पहाड़ की तरह ही लगता था । वृक्षों में वह वृक्षराज था ।। ७ ।।

पके हुए आम्रफल की सुगन्ध से भी उत्कृष्ट सुगन्धवाले उस पेड़ ने दूर से ही अपनी सुगन्ध से मानों राजा की अगवानी की । फलखाने में संलग्न सैकड़ों वानरों से उसकी डाली भरी थी । उसे देखते ही राजा को विश्वास हो गया कि यह उसी फल का वृक्ष है, जिसकी उसे खोज थी ।

अपने वांछित फलों के लुटेरे इन वानरों को देखते ही राजा को अत्यधिक क्रोध हुआ । उसने सैनिकों को कठोर शब्दों में इन वानरों को मार गिराने का आदेश दे दिया । शत्रु के किले पर आक्रमणकारियों की तरह वे सैनिक हाथ में ढेले, लाठियाँ बर्छियाँ, तीर एवं धनुष लेकर उन वानरों को डाँटते-फटकारते उस पेड़ को घेर लिया । डर के मारे घिघियाते वानरों को अपनी ओर मुखातिब देखकर बोधिसत्त्व का हृदय दया से भर गया । उन त्रस्त वानरों को आश्वासन देकर उनकी रक्षा हेतु उस महासत्त्व ने पार्श्ववर्त्ती पर्वत-शिखर तक पहुँचने के लिए उस पेड़ की चोटी से

द्वाभ्यामपि लङ्घनक्रमाभ्यां गम्यं नैव तदन्यवानराणाम् ।
वेगेन यदन्तरं तरस्वी प्रततारात्पमिवैकविक्रमेण ।। ८ ।।

कृपयाभिविवर्धितः स तस्य व्यवसायः पटुतां जगाम शौर्यात् ।
स च यत्नविशेषमस्य चक्रे मनसैवाथ जगाम यत्नतैक्ष्ण्यात् ।। ९ ।।

अधिरुह्य च गिरेरुच्चतरं तटप्रदेशं तदन्तरालाधिकप्रमाणया महत्या विरूढयाऽशिथिलमूलया दृढया वेत्रलतया गाढमाबध्य चरणौ पुनस्तं वनस्पतिं प्रचस्कन्द । विप्रकृष्टत्वात्तु तस्यान्तरालस्य चरणबन्धनव्याकुलत्वाच्च स महासत्त्वः कथञ्चित्तस्य वनस्पतेरग्रशाखां कराभ्यां समाससाद ।

ततः समालम्ब्य दृढं स शाखामातत्य तां वेत्रलतां च यत्नात् ।
स्वसञ्ज्ञया यूथमथादिदेश द्रुमादतः शीघ्रमभिप्रयायात् ।। १० ।।

अथ ते वानरा भयातुरत्वादपयानमार्गमासाद्य चपलतरगतयस्तदाक्रमणनिर्विशङ्कास्तया स्वस्त्यपचक्रमुः ।

भयातुरैस्तस्य तु वानरैस्तैराक्रम्यमाणं चरणैः प्रसक्तम् !
गात्रं ययौ स्वैः पिशितैर्वियोगं न त्वेव धैर्यातिशयेन चेतः ।। ११ ।।

छलांग लगा दी । अपनी अलौकिक शक्ति के प्रभाव से आकाश में उड़ते पंछी की तरह वह महासत्त्व अपने अभीष्ट गन्तव्य तक पहुँच गये ।

दूसरे वानर दो छलाँगों में भी जहाँ तक नहीं पहुँच सकते थे उतनी दूरी को उस शक्तिशाली वानर ने बड़ी आसानी से पार कर ली, जैसे वह कोई दूरी ही न हो ।। ८ ।।

दया से द्रवित होकर उन्होंने यह निश्चय किया था और उनके पराक्रम से यह निश्चय अतिसुदृढ़ बन गया । इसके लिए उन्होंने प्रयत्न किया और प्रयत्न की तीव्रता ने उन्हें मानों मन से ही वहाँ पहुँचा दिया ।। ९ ।।

वहाँ पहाड़ के नीचे किनारे पर चढ़कर पहाड़ और पेड़ के बीच की दूरी से अधिक लम्बी, मजबूत, मोटी एवं जिनकी जड़े अधिक मजबूत थीं ऐसी बेतों से अपने पैरों को बाँधकर पुनः उसी पेड़ पर कूद पड़े । किन्तु बेतों की लम्बाई उस दूरी को पाट न सकी । बड़ी मुश्किल से उस महासत्त्व ने पेड़ की ऊपरी डाल की फुनगी को अपने हाथों से पकड़ लिया ।

फिर डाल को मजबूती से थाम कर बेंत और अपनी देह का पुल बनाकर इशारे से उन्होंने वानर-दल को पेड़ से शीघ्र भाग जाने का आदेश दिया ।। १० ।।

निकल भागने का रास्ता पाकर भयातुर वानरों ने उनकी चिन्ता किये बिना उन्हें रौंदते हुए उस पुल से भाग निकले ।

भयातुर बानरों ने भागते हुए उन्हें पैरों से रौंद डाला, उनकी देह से मांस अलग हट गया । फिर भी उनके हृदय से धैर्य का पल्ला नहीं छूटा ।। ११ ।।

तद्दृष्ट्वा स राजा ते च राजपुरुषाः परां विस्मयवक्तव्यतामुपजग्मुः ।

एवंविधा विक्रमबुद्धिसम्पदात्मानपेक्षा च दया परेषु ।
आश्चर्यबुद्धिं जनयेच्छ्रुतापि प्रत्यक्षतः किं पुनरीक्ष्यमाणा ।। १२ ।।

अथ स राजा तान् पुरुषान् समादिदेश—भयोद्भ्रान्तवानरगणचरणक्षोभितक्षतशरीरश्चिरमेकक्रमावस्थानाच्च दृढं परिश्रान्तो व्यक्तमयं वानराधिपतिः न चायमतः शक्ष्यति स्वयमात्मानं संहर्तुम्, तच्छीघ्रमस्याधः पटवितानं वितत्य वेत्रलतेयं च न्यग्रोधशाखा शराभ्यां युगपत्प्रच्छिद्येतामिति । ते तथा चक्रुः । अथैनं स राजा शनकैर्वितानादवतार्य मूर्च्छया व्रणवेदनाक्लमोपजातया समाक्रम्यमाणचेतसं मृदुनि शयनीये संवेशयामास । सद्यःक्षतप्रशमनयोग्यैश्च सर्पिरादिभिरस्य व्रणान्यभ्यज्य मन्दीभूतपरिश्रमं समाश्वस्तमेनमभ्युपगम्य स राजा सकौतूहलविस्मयबहुमानः कुशलपरिप्रश्नपूर्वकमुवाच —

गत्वा स्वयं सङ्क्रमताममीषां स्वजीविते त्यक्तदयेन भूत्वा ।
समुद्धृता ये कपयस्त्वयेमे को नु त्वमेषां तव वा क एते ।। १३ ।।

श्रोतुं वयं चेदिदमर्हरूपास्तत्तावदाचक्ष्व कपिप्रधान ।
न ह्यल्पसौहार्दनिबन्धनानामेवं मनांसि प्रतरन्ति कर्तुम् ।। १४ ।।

अथ बोधिसत्त्वस्तस्य राज्ञस्तदभ्युपपत्तिसौमुख्यं प्रतिपूजयन्नात्मनिवेदनमनुगुणेन क्रमेण चकार—

यह दृश्य देखकर ससैन्य विस्मित होकर राजा ने कहा—

इतना पराक्रम, ऐसी विलक्षण बुद्धि तथा अपनी उपेक्षा कर दूसरों के प्रति ऐसा सदय व्यवहार देखने को कौन कहे ? सुनने पर भी आश्चर्य उत्पन्न करता है ।।१२।।

राजा ने उन सैनिकों से कहा—"यह बानराधिपति अपने को इस स्थिति से मुक्त नहीं कर सकेगा । क्योंकि डर से घबड़ाये बानरों ने इन्हें पैरों से रौंद डाला है । इनकी देह क्षत-विक्षत हो गई है । नीचे कपड़े का चन्दोवा फैला दिया जाये और एक साथ ही एक बाण से बेंत तथा दूसरे बाण से पेड़ की डाली को काट दिया जाये ।" सैनिकों ने तत्क्षण इस आदेश का पालन किया। असह्य पीड़ा और थकावट से मूर्छित होते हुए बानराधिपति को कोमल बिस्तर पर सुलाया गया । घाव पर लेप चढ़ाया गया । जब उनकी पीड़ा कुछ कम हुई और वे आश्वस्त हुए तब राजा ने ससम्मान उनके पास जाकर कुशल-क्षेम पूछते हुए कहा—

अपने जीवन के प्रति निर्दय होकर, अपने को सेतु बनाकर आपने इन बानरों को बचाया है । मैं जानना चाहता हूँ, आप इनके कौन हैं या ये आपके कौन हैं ।। १३ ।।

हे बानरश्रेष्ठ, यदि आप मुझे सुनने योग्य समझते हैं तो फिर सुनाइये । सामान्य मैत्री के कारण कोई ऐसा दुःस्साहस नहीं कर सकता ।। १४ ।।

राजा की दया और अनुकूलता का उचित आदर करते हुए बोधिसत्त्व ने यों आत्म-परिचय दिया—

एभिर्मदाज्ञाप्रतिपत्तिदक्षैरारोपितो मय्यधिपत्वभारः ।
पुत्रेष्विवैतेष्ववबद्धहार्दस्तं वोढुमेवाहमभिप्रपन्नः ॥ १५ ॥
इयं महाराज समं ममैभिः सम्बन्धजातिश्चिरकालरूढा ।
समानजातित्वमयी च मैत्री ज्ञातेयजाता सहवासयोगात् ॥ १६ ॥
तच्छ्रुत्वा स राजा परं विस्मयमुपेत्य पुनरेनमुवाच—
अधिपार्थममात्यादि न तदर्थं महीपतिः ।
इति कस्मात्स्वभृत्यार्थमात्मानं त्यक्तवान् भवान् ॥ १७ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—काममेवं प्रवृत्ता, महाराज, राजनीतिः । दुरनुवर्त्या तु मां प्रतिभाति ।

असंस्तुतस्याप्यविषह्यतीव्रमुपेक्षितुं दुःखमतीव दुःखम् ।
प्रागेव भक्त्युन्मुखमानसस्य गतस्य बन्धुप्रियतां जनस्य ॥ १८ ॥
इदं च दृष्ट्वा व्यसनार्तिदैन्यं शाखामृगान् प्रत्यभिवर्धमानम् ।
स्वकार्यचिन्तावसरोपरोधि प्रादुद्रुवन्मां सहसैव दुःखम् ॥ १९ ॥
आनम्यमानानि धनूंषि दृष्ट्वा विनिष्पतद्दीप्तशिलीमुखानि ।
भीमस्वनज्यान्यविचिन्त्य वेगादस्मात्तरोः शैलमिमं गतोऽस्मि ॥ २० ॥

आत्म-रक्षा के लिए इन बानरों ने मुझपर अधिपति का भार सौंपा है । इन पर मेरा पुत्रवत् स्नेह है, उसी स्नेह की रक्षा के लिए मैंने ऐसा आचरण किया है ॥१५॥

इनके साथ मेरा यह बहुत पुराना सम्बन्ध है । समान जाति की यह मित्रता अतिसामीप्य के कारण स्वजन की तरह सुदृढ़ हो गई है ॥ १६ ॥

यह सुनकर अतिविस्मित होकर राजा ने उनसे फिर कहा—

अमात्य प्रभृति कर्मचारी राजा की सुविधा के लिए हैं न कि उनकी सुविधा के लिए ये राजे हैं । फिर इस नियम के विपरीत अपने अनुचरों के लिए आपने अपने को क्यों न्यौछावर किया ॥ १७ ॥

बोधिसत्त्व ने उत्तर दिया—हे महाराज ! राजनीति निश्चित रूप से यही है जो आपने कहा है । किन्तु मुझे इस नीति का अनुसरण करना कठिन जान पड़ता है ।

अपरिचितों की पीड़ा की उपेक्षा भी मेरे लिए कठिन है । फिर ये तो मेरे प्रति समर्पित हैं, स्वजन की तरह प्रिय हैं । इनके दुःख की उपेक्षा मैं कैसे कर सकता हूँ ॥ १८ ॥

बानरों के विपत्तिजन्य इस दुःख को देखकर मेरे मन में हठात् ही वह दुःख हुआ, जो स्वार्थ-चिन्तन के लिए अवसर ही नहीं देता ॥ १९ ॥

तने हुए धनुषों से चमकते हुए तीर निकल रहे थे । इसे देखकर तथा भयंकर टंकार की चिन्ता किये बिना यथाशीघ्र मैंने उस पहाड़ पर छलांग लगायी थी ॥२०॥

वैशेषिकत्रासपरीतचित्तैराकृष्यमाणोऽहमथ स्वयूथ्यैः ।
आलक्षितायामगुणां सुमूलां स्वपादयोर्वेत्रलतां निबध्य ।। २१ ।।
प्रास्कन्दमस्मात्पुनरेव शैलादिमं द्रुमं तारयितुं स्वयूथ्यान् ।
ततः कराभ्यां समवापमस्य प्रसारितं पाणिमिवाग्रशाखाम् ।। २२ ।।
समाततांङ्गं लतया तया च शाखाग्रहस्तेन च पादपस्य ।
अमी मदध्याक्रमणे विशङ्का निश्चित्य मां स्वस्ति गताः स्वयूथ्याः ।।२३।।

अथ स राजा प्रामोद्यजातं तस्यामप्यवस्थायां तं महासत्त्वमवेक्ष्य परं विस्मयमुद्वहन् पुनरेनमुवाच—

परिभूयात्मनः सौख्यं परव्यसनमापतत् ।
इत्यात्मनि समारोप्य प्राप्तः को भवता गुणः ।। २४ ।।

बोधिसत्त्व उवाच —

कामं शरीरं क्षितिप क्षतं मे मनः परस्वास्थ्यमुपागतं तु ।
अकारि येषां चिरमाधिपत्यं तेषां मयार्तिर्विनिर्वर्तितेति ।। २५ ।।
जित्वाहवे विद्विषतः सदर्पान् गात्रेष्वलङ्कारवदुद्वहन्ति ।
वीरा यथा विक्रमचिह्नशोभां प्रीत्या तथेमां रुजमुद्वहामि ।। २६ ।।

अत्यन्त डरे हुए बानरों के दुःख से खिचकर लक्ष्य के अनुरूप लम्बी एवं मजबूत जड़वाली बेतों को अपने पैरों में बाँध लिया ।। २१ ।।

फिर बानरों को दुःख से बचाने के लिए उस पहाड़ से मैं इस पेड़ पर चला आया । अपने हाथों से हाथ के समान फैले हुए इन पेड़ों की डाल को थाम लिया ।। २२ ।।

उस बेंत तथा पेड़ के डाल रूप हाथ के द्वारा फैलाये गये मेरे शरीर के सहारे मुझ पर चलनेवाले ये बानर निःशंक होकर भाग निकले ।। २३ ।।

ऐसी दुःखद स्थिति में भी उस महासत्त्व को इतना प्रसन्न देखकर राजा ने विस्मित होकर फिर पूछा—

अपने सुख की अवहेलना कर आपने दूसरे पर आई विपत्ति को अपने ऊपर लेकर कौन-सा लाभ उठाया ।। २४ ।।

तब बोधिसत्त्व ने कहा—

हे राजन् ! मेरा शरीर अवश्य घायल है, पर अपने अनुभवों का दुःख दूर कर मेरा मन तो स्वस्थ ही है ।। २५ ।।

जिस तरह युद्ध में अभिमानी शत्रुओं को जीत कर वीर पुरुष पराक्रम के चिह्न घाव को अलंकार के समान धारण करते हैं, उसी प्रकार इन घावों को मैं सहर्ष सहन कर रहा हूँ ।। २६ ।।

प्रणामसत्कारपुरःसरस्य भक्तिप्रयुक्तस्य समानजात्यैः ।
ऐश्वर्यलब्धस्य सुखक्रमस्य सम्प्राप्तमानृण्यमिदं मयाद्य ।। २७ ।।
तन्मां तपत्येष न दुःखयोगः सुहृद्वियोगः सुखविप्लवो वा ।
क्रमेण चानेन समभ्युपेतो महोत्सवाभ्यागम एष मृत्युः ।। २८ ।।
पूर्वोपकारानृणतात्मतुष्टिः सन्तापशान्तिर्विमलं यशश्च ।
पूजा नृपान्निर्भयता च मृत्योः कृतज्ञभावाद् ग्रहणं च सत्सु ।। २९ ।।
एते गुणाः सद्गुणवासवृक्ष प्राप्ता मयैतद् व्यसनं प्रपद्य ।
एषां विपक्षांस्तु समभ्युपैति दयाविहीनो नृपतिः श्रितेषु ।। ३० ।।
गुणैर्विहीनस्य विपन्नकीर्तेर्दोषोदयैरावसथीकृतस्य ।
गतिर्भवेत्तस्य च नाम कान्या ज्वालाकुलेभ्यो नरकानलेभ्यः ।। ३१ ।।
तद्दर्शितोऽयं गुणदोषयोस्ते मया प्रभावः प्रथितप्रभाव ।
धर्मेण तस्मादनुशाधि राज्यं स्त्रीचञ्चलप्रेमगुणा हि लक्ष्मीः ।। ३२ ।।
युग्यं बलं जानपदानमात्यान् पौराननाथाञ्छ्रमणान् द्विजातीन् ।
सर्वान् सुखेन प्रयतेत योक्तुं हितानुकूलेन पितेव राजा ।। ३३ ।।
एवं हि धर्मार्थयशःसमृद्धिः स्यात्ते सुखायेह परत्र चैव ।
प्रजानुकम्पार्जितया त्वमस्माद्राजर्षिलक्ष्म्या नरराज राज ।। ३४ ।।

स्वामी होने के कारण सजातियों के प्रणाम, सत्कार और भक्ति के साथ जिस परम्परा के सुख को पाया, उस ऋण से तो मुझे आज मुक्ति मिल गई ।। २७ ।।

अतः यह दैहिक-पीड़ा, बन्धु-वियोग या सुख का विनाश मुझे सन्तप्त नहीं कर रहा है । क्रमागत यह मृत्यु तो महोत्सव के आगमन के समान ही है ।। २८ ।।

पूर्वोपकारजन्य ऋण से मुक्ति, आत्मतोष, सन्ताप-शमन, निर्मलयश, राज-सम्मान, मृत्यु से निर्भयता, कृतज्ञता के कारण सज्जनों में प्रशंसा ।। २९ ।।

हे सद्गुणों की निवास-भूमि ! विपत्ति में पड़कर ही मैंने ये गुण पाये हैं । किन्तु आश्रितों के प्रति निर्दय राजा इनके विपरीत गुणों को पाता है ।। ३० ।।

जो गुणहीन हैं; जिनकी कीर्त्ति नष्ट हो गई है, जो दोषों का घर बन गया है, उसके लिए नरक-कुण्ड की जलती आग के अतिरिक्त दूसरी क्या गति हो सकती है ।। ३१ ।।

हे प्रभावशालिन् ! मैंने गुण और दोषों का यह प्रभाव बतला दिया । अतः आप धर्मानुसार राज्य का पालन करें । क्योंकि लक्ष्मी स्त्री के समान चंचल प्रेम-वाली होती है ।। ३२ ।।

राजा पिता की तरह घोड़े, सैनिक, प्रजा, पुरजन, अनाथों, श्रमणों, द्विजातियों तथा दूसरों को कल्याणकारी सुख पहुँचाने की चेष्टा करे ।। ३३ ।।

ऐसा करने से आप को इहलोक और परलोक के लिए सुख देनेवाला धन,

इति नृपमनुशिष्य शिष्यवद् बहुमतवाक्प्रयतेन तेन सः ।
रुगभिभवनसंहृतक्रियां तनुमपहाय ययौ त्रिविष्टपम् ।। ३५ ।।

तदेवं द्विषतामपि मनांस्यावर्जयन्ति सद्वृत्तानुवर्तिनः, इति लोकं समावर्जयितुकामेन सद्वृत्तानुवर्तिना भवितव्यम् । न समर्थास्तथा स्वार्थमपि प्रतिपत्तुं सत्त्वा यथा परार्थं प्रतिपन्नवान् स भगवानिति तथागतवर्णेऽपि वाच्यम् । सत्कृत्य धर्मश्रवणे करुणावर्णे राजाववादे च । एवं राज्ञा प्रजासु दयापन्नेन भवितव्यम् । कृतज्ञकथायामप्युपनेयम् । एवं कृतज्ञाः सन्तो भवन्तीति ।

इति महाकपि-जातकं सप्तविंशतितमम् ।

धर्म और यश की प्राप्ति होगी । हे राजन् ! प्रजा के ऊपर दया करने से प्राप्त होने वाली राजर्षि की महालक्ष्मी को आप प्राप्त करें ।। ३४ ।।

इस प्रकार उन्होंने राजा को उपदेश दिया । राजा ने भी सावधान शिष्य की तरह सुना और हृदय से उनकी बातों का बड़ा सम्मान किया । इसके बाद असह्य पीड़ा से निश्चेष्ट देह का परित्याग कर वे स्वर्ग सिधार गये ।। ३५ ।।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सदाचारी प्राणी शत्रुओं के मन को भी अपने आचरण से जीत लेते हैं । अतः जो लोगों के मन को जीतना चाहता है, उसे सदाचरण का ही अनुसरण करना चाहिए । कोई प्राणी अपने स्वार्थ को भी उस तरह सिद्ध नहीं कर सकता, जिस प्रकार उन्होंने परार्थ को सिद्ध किया । इस तरह धर्म-श्रवण, तथागतचरित एवं करुण प्रसंग में इस कथा का उल्लेख करना चाहिए । राजोपदेश एवं कृतज्ञता के प्रकाशन में भी इसका उल्लेख करना चाहिए ।

महाकपि-जातक सताइसवाँ समाप्त ।

---

(२८) क्षान्ति-जातकम्

सात्मीभूतक्षमाणां प्रतिसङ्ख्यानमहतां नाविषह्यं नाम किञ्चिदस्ति। तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किलानेकदोषव्यसनोपसृष्टमर्थकामप्रधानत्वादनौपशमिकं रागद्वेषमोहामर्षसंरम्भमदमानमात्सर्यादिदोषरजसामापातं पातनं ह्रीधर्मपरिग्रहस्यायतनं लोभासद्ग्राहस्य कुकार्यसम्बाधत्वात्कृशावकाशं धर्मस्यावेत्य गृहवासं परिग्रहविषयपरिवर्जनाच्च तद्दोषविवेकसुखां प्रव्रज्यामनुपश्यन् शीलश्रुतप्रशमविनयनियतमानसस्तापसो बभूव। तमस्खलितसमादानं क्षान्तिवर्णवादिनं तदनुरूपधर्माख्यानक्रमं व्यतीत्य स्वे नामगोत्रे क्षान्तिवादिनमित्येव लोकः स्वबुद्धिपूर्वकं सञ्जज्ञे।

ऐश्वर्यविद्यातपसां समृद्धिर्लब्धप्रयामश्च कलासु सङ्गः।
शरीरवाक्चेष्टितविक्रियाश्च नामापरं सञ्जनयन्ति पुंसाम् ॥ १ ॥
जानन् स तु क्षान्तिगुणप्रभावं तेनात्मवल्लोकमलङ्करिष्यन्।
चकार यत्क्षान्तिकथाः प्रसक्तं तत्क्षान्तिवादीति ततो विजज्ञे ॥ २ ॥

---

२८. क्षान्ति-जातक

शान्त एवं क्षमाशील व्यक्ति के लिए संसार में कुछ भी असहनीय नहीं है। जैसा कि सुना जाता है—

काम और अर्थ की प्रधानता के कारण गृहस्थों का जीवन अशान्तिदायक होता है। उनमें अनेक बुराई और विपत्तियाँ भरी रहती हैं। राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मद, मान और ईर्ष्या जैसे दोषों की तो वह जन्मभूमि है। लज्जा और धर्म का तो यह विनाशक है। लोभ और बुरे विचारों का यह घर है। पग-पग पर गन्दे कामों से भरे रहने के कारण धर्माचरण के लिए इसमें प्रायः कोई अवकाश नहीं होता, किन्तु इसके विपरीत संन्यस्त जीवन विषयभोगों के परित्याग से तथा उपर्युक्त दोषों के अभाव में अत्यन्त सुखकारक होता है। यही सोचकर बोधिसत्त्व ने शील, संयम, विद्या, विनय और शान्तियुक्त तापस-जीवन ग्रहण किया। वे अपने व्रत के पालन में कभी प्रमाद नहीं करते थे। क्षमा का सदैव सबको उपदेश देते और तदनुकूल धर्म की व्याख्या करते थे। अतः लोग अपनी बुद्धि के अनुसार उनका घरेलू नाम छोड़कर उन्हें 'क्षान्तिवादी' कहने लगे।

प्रभुत्व, विद्या, तप की प्रबलता, कलाओं के प्रति आसक्ति एवं शरीर और वाणी की बदली हुई चेष्टाएँ मनुष्य के नाम बदलने के कारण होते हैं ॥ १ ॥

क्षमा के प्रभाव से वे परिचित थे। दूसरों को भी अपने समान क्षमाशील

स्वभावभूता महती क्षमा च परापकारेष्वविकारधीरा ।
तदर्थयुक्ताश्च कथाविशेषाः कीर्त्या मुनिं तं प्रथयाम्बभूवुः ।। ३ ।।

अथ स महात्मा प्रविविक्तरमणीयं समर्तुसुलभपुष्पफलं पद्मोत्पलालङ्कृतविमलसलिलाशयमुद्यानरम्यशोभ वनप्रदेशमध्यासनात्तपोवनमङ्गल्यतामानिनाय ।

निवसन्ति हि यत्रैव सन्तः सद्गुणभूषणाः ।
तन्मङ्गल्यं मनोज्ञं च तत्तीर्थं तत्तपोवनम् ।। ४ ।।

स तत्र बहुमन्यमानस्तदध्युषितैर्देवताविशेषैरभिगम्यमानश्च श्रेयोऽभिलाषिणा गुणवत्सलेन जनेन क्षान्तिप्रतिसंयुक्ताभि श्रुतिहृदयह्लादिनीभिर्धर्म्याभिः कथाभिस्तस्य जनकायस्य परमनुग्रहं चकार ।

अथ कदाचित्ततस्त्यो राजा ग्रीष्मकालप्रभावादभिलषणीयतरां सलिलक्रीडां प्रति समुत्सुकमतिरुद्यानगुणातिशयनिकेतभूतं तं वनप्रदेशं सान्तःपुरः समभिजगाम ।

स तद्वनं नन्दनरम्यशोभमाकीर्णमन्तःपुरसुन्दरीभिः ।
अलञ्चकारेव चरन् विलासी विभूतिमत्या ललितानुवृत्त्या ।। ५ ।।

बनाना चाहते थे । अतः सबको सदैव क्षमा का उपदेश देते थे । इसीलिए वे 'क्षान्तिवादी' कहलाते थे ।। २ ।।

क्षमा उनका स्वभाव बन गई थी । किसी के अपकार करने पर भी उनकी क्षान्ति नहीं डिगती थी । उनके क्षमा विषयक उत्तम उपदेशों ने उन्हें 'मुनिजी' के रूप में विख्यात कर दिया ।। ३ ।।

उस महात्मा ने एकान्त एवं रमणीय वनस्थली में रहना प्रारंभ कर दिया । वहाँ हर ऋतु में फल और फूल उपलब्ध थे । रक्त और नील-कमलों से सुशोभित अनेक जलाशय थे । उद्यानों की रम्य छटा से वह स्थान सुशोभित था । मुनिजी के सम्पर्क से वह स्थान तपोवन की तरह मंगलमय बन गया ।

क्योंकि सदगुणों से विभूषित सज्जन लोग जहाँ कहीं भी रहते हैं, उनके सम्पर्क से वह स्थान मंगलमय और मनोहर बन जाता है । तीर्थ और तपोवन हो जाता है ।

वहाँ के मूल निवासी वनदेवताओं ने उनका बड़ा सम्मान किया । कल्याणकामी गुणानुरागी लोगों का वहाँ आना-जाना प्रारम्भ हो गया । मुनिजी ने भी अत्यन्त हृदयग्राही क्षमाविषयक कथाएँ उन्हें सुनाकर अनुगृहीत किया ।

ग्रीष्मऋतु के प्रभाव से अभिलषित जलक्रीडा के प्रति उत्सुक होकर उस देश के राजा अपने अन्तःपुर के साथ उद्यान की शोभा से सम्पन्न उस वनस्थली में आया ।

नन्दनवन के सदृश रमणीय उस सुन्दर वन में अन्तःपुर की सुन्दरियों के साथ

विमानदेशेषु लतागृहेषु पुष्पप्रहासेषु महीरुहेषु ।
तोयेषु चोन्मीलितपङ्कजेषु रेमे स्वभावातिशयैर्वधूनाम् ॥ ६ ॥
माल्यासवस्नानविलेपनानां सम्मोदगन्धाकुलितैर्द्विरेफैः ।
ददर्श कासाञ्चिदुपोह्यमाना जातस्मितस्त्रासविलासशोभाः ॥ ७ ॥
प्रत्यग्रशोभैरपि कर्णपूरैः पर्याप्तमाल्यैरपि मूर्धजैश्च ।
तृप्तिर्यथासीत्कुसुमैर्न तासां तथैव नासां ललितैर्नृपस्य ॥ ८ ॥
विमानदेशेषु विषज्यमाना विलम्बमानाः कमलाकरेषु ।
ददर्श राजा भ्रमरायमाणाः पुष्पद्रुमेषु प्रमदाक्षिमालाः ॥ ९ ॥
मदप्रगल्भान्यपि कोकिलानां रुतानि नृत्यानि च बर्हिणानाम् ।
द्विरेफगीतानि च नाभिरेजुस्तत्राङ्गनाजल्पितनृत्तगीतैः ॥१०॥
पयोदधीरस्तनितैर्मृदङ्गैरुदीर्णकेकास्ततबर्हचक्राः ।
नटा इव स्वेन कलागुणेन चक्रुर्मयूराः क्षितिपस्य सेवाम् ॥ ११ ॥

विचरण करते हुए उस विलासी राजा ने अपनी सुन्दर लीलाओं से उस वन को सुशोभित किया ॥ ५ ॥

कभी कुंज-कुटीरों में तो कभी खुले आसमान के नीचे, कभी विहंसते फूलों से लदे पेड़ों की छाया में, तो कभी विकसित कमलोंवाले जलाशयों में, वह राजा अपनी वधुओं के प्रसन्न विलासों से आनन्दित हुआ ॥ ६ ॥

स्नान से पूर्व वे युवतियाँ जो अपनी देह में सुगन्धित लेप या चूर्ण लगातीं उससे और उनकी मालाओं तथा आसवों से फूटती सुगन्ध पर मँड़राते भौंरों से डरकर जब वे घबड़ाती थीं, तब राजा उन विलासिनियों की उस विलास-लीला का मुसकुराते हुए आनन्द लेता था ॥ ७ ॥

यद्यपि उन विलासिनियों के कर्णाभूषण सुन्दर फूलों के बने थे, उनके केशपाश भी पर्याप्त पुष्पमालाओं से सुशोभित थे फिर भी जैसे उन्हें फूलों से तृप्ति नहीं थी, वैसे ही राजा का भी उनकी विलास-लीलाओं से जी नहीं भरता था ॥ ८ ॥

कभी कुंजों में भटकती, तो कभी कमलों में अटकती और कभी फूलों से लदे पेड़ों पर भौंरों की तरह मँडराती उन युवतियों की चंचल आँखों को देखकर राजा का जी नहीं अघाता था ॥ ९ ॥

उन महिलाओं की मधुर बोली, मादक नृत्य और मोहक गीतों के सामने मत्त कोयल के प्रगल्भ कूजन, मयूरों के मादक नृत्य और मधुकरों के गीत भी फीके पड़ गये ॥ १० ॥

मेघ की तरह गम्भीर नाद करनेवाले मृदङ्गों से प्रेरित होकर बोलते हुए तथा पंख फैलाकर नटों की तरह अपनी कला के द्वारा मोरों ने भी राजा की खूब सेवा की ॥ ११ ॥

स तत्र सान्तःपुर उद्यानवनविहारसुखं प्रकाममनुभूय क्रीडाप्रसङ्गपरिखेदान्मदपरिष्वङ्गाच्च श्रीमति विमानप्रदेशे महार्हशयनीयवरगतो निद्रावशमुपजगाम। अथ ता योषितः प्रस्तावान्तरगतमवेत्य राजानं वनशोभाभिराक्षिप्यमाणहृदयास्तद्दर्शनावितृप्ता यथाप्रीतिकृतसमवायाः समाकुलभूषणनिनादसम्मिश्रकलप्रलापाः समन्ततः प्रसस्रुः।

ताश्छत्रबालव्यजनासनाद्यैः प्रेष्याधृतैः काञ्चनभक्तिचित्रैः।
ऐश्वर्यचिह्नैरनुगम्यमानाः स्त्रियः स्वभावानिभृतं विचेरुः ॥१२॥
ताः प्राप्य रूपाणि महीरुहाणां पुष्पाणि चारूणि च पल्लवानि।
प्रेष्याप्रयत्नानतिपत्य लोभादालेभिरे स्वेन पराक्रमेण ॥१३॥
मार्गोपलब्धान् कुसुमाभिरामान् गुल्मांश्चलत्पल्लविनश्च वृक्षान्।
पर्याप्तपुष्पाभरणस्रजोऽपि लोभादनालुप्य न ता व्यतीयुः॥ १४॥

अथ ता वनरमणीयतयाक्षिप्यमाणहृदया राजयोषितस्तद्वनमनुविचरन्त्यः क्षान्तिवादिन आश्रमपदमुपजग्मुः। विदिततपःप्रभावमाहात्म्यास्तु तस्य मुनेः स्त्रीजनाधिकृता राज्ञो वाल्लभ्याद् दुरासदत्वाच्च तासां नैनास्ततो वारयितुं प्रसेहिरे। अभिसंस्काररमणीयतरया चाश्रमपदश्रिया समाकृष्यमाणा इव ता

उद्यान की तरह सुन्दर उस वन में अपने अन्तःपुर की ललनाओं के साथ विहार करने के सुख की यथेच्छ अनुभूति पाकर क्रीडाजन्य थकान और मद्यपान के कारण सलस वह राजा उस कुंज-कुटीर में बहुमूल्य उत्तम शय्या पर जाकर सो गया। राजा को प्रसुप्त जान कर वे ललनाएँ वन की शोभा से आकृष्ट होकर उन्हें देखने के लिए अलग-अलग झुंड बनाकर पायल खनकाती, मीठा-मीठा बोलतीं जहाँ-तहाँ बिखर गईं।

स्वर्णखचित छत्र, चँवर और आसन जैसे राज-चिह्नों को लेकर दासियाँ चल रही थीं। वे युवतियाँ अपनी स्वाभाविक उच्छृंखलता के साथ उस वन में जहाँ-तहाँ घूमने लगीं॥ १२॥

दासियों की उपेक्षा कर लोभवश उन औरतों ने सामने मिले पेड़ों के सुन्दर और सुलभ फूलों को तोड़ना शुरू किया॥ १३॥

यद्यपि फूलों और मालाओं से उनकी देह लदी थी, फिर भी लोभवश सुन्दर फूलों और कोंपलों को बटोरती वे राजमहिलाएँ आगे की ओर वन में धँसती चली गईं॥ १४॥

इस तरह वन के सौन्दर्य से आकृष्ट वे ललनाएँ क्षान्तिवादी के आश्रम तक पहुँच गईं। किन्तु अन्तःपुर के अधिकारी वर्ग जो उस मुनि के तप प्रभाव और माहात्म्य से अनभिज्ञ थे तथा यह भी जानते थे कि राजा को वे स्त्रियाँ कितनी प्रिय हैं और वे कितनी दुर्धर्ष हैं, उन्हें वहाँ जाने से न रोक सके। स्वच्छता के कारण आश्रम की रमणीय शोभा से आकृष्ट होती हुई उन स्त्रियों ने उस आश्रम में घुसकर उस महा-

योषितः प्रविश्याश्रमपदं ददृशुस्तत्र तं मुनिवरं प्रशमसौम्यदर्शनमतिगाम्भीर्यातिशयाद् दुरासदमभिज्वलन्तमिव तपःश्रिया ध्यानाभियोगादुदारविषयसन्निकर्षेऽप्यक्षुमितेन्द्रियनैभृत्यशोभं साक्षाद्धर्ममिव मङ्गल्यं पुण्यदर्शनं वृक्षमूले बद्धासनमासीनम् ।

अथ ता राजस्त्रियस्तस्य तपस्तेजसाक्रान्तसत्त्वाः सन्दर्शनादेव त्यक्तविभ्रमविलासौद्धत्या विनयनिभृतमभिगम्यैनं पर्युपासाञ्चक्रिरे। स तासां स्वागतादिप्रियवचनपुरःसरमतिथिजनमनोहरमुपचारविधिं प्रवर्त्य तत्परिप्रश्नोपपादितप्रस्तावाभिः स्त्रीजनसुखग्रहणार्थाभिर्दृष्टान्तवतीभिः कथाभिर्धर्मातिथ्यमासां चकार ।

अगर्हितां जातिमवाप्य मानुषीमनूनभावं पटुभिस्तथेन्द्रियैः ।
अवश्यमृत्युर्न करोति यः शुभं प्रमादभाक्प्रत्यहमेष वञ्च्यते ॥ १५ ॥
कुलेन रूपेण वयोगुणेन वा बलप्रकर्षेण धनोदयेन वा ।
परत्र नाप्नोति सुखानि कश्चन प्रदानशीलादिगुणैरसंस्कृतः ॥ १६ ॥
कुलादिहीनोऽपि हि पापनिःस्पृहः प्रदानशीलादिगुणाभिपत्तिमान् ।
परत्र सौख्यैरभिसार्यते ध्रुवं घनागमे सिन्धुजलैरिवार्णवः ॥१७॥

मुनि को एक पेड़ के नीचे आसन लगाकर बैठे हुए देखा। वे देखने में अत्यन्त शान्त और सौम्य थे। अतिशय गंभीरता के कारण उनके पास पहुँचना कठिन था। वे तपस्या की कान्ति से चमक रहे थे। ध्यान-योग के कारण आकर्षक विषयों के समीप भी उनका इन्द्रिय-संयम विचलित नहीं होता था। वे साक्षात् धर्म की प्रतिमूर्ति थे। वे मङ्गलमय और पुण्य-दर्शन थे।

वे राजकीय महिलाएँ मुनिजी के तपोबल से काफी प्रभावित हुई। उन्हें देखते ही इनका विभ्रम विलास और उच्छृंखलता छूट गई। विनम्र भाव से शान्तिपूर्वक वे उनके चारों ओर बैठ गईं। उन्होंने प्रियवचन से उनका स्वागत किया। फिर अतिथि-जनोचित उनका उपचार करते हुए उनके प्रश्नों से उत्पन्न प्रसङ्ग में स्त्रियों के लिए सुबोध दृष्टान्तपूर्ण धार्मिक प्रवचनों से अतिथि-सत्कार किया।

पवित्र मानव-योनि में जन्म पाकर समर्थ इन्द्रियोंवाला व्यक्ति यदि सावधान होकर प्रतिदिन शुभ कर्म नहीं करता है, तो वह निश्चय ही जन्म पाकर भी जीवन से वंचित रहता है ॥ १५ ॥

उत्तम कुल में जन्म लेने से, रूप से, उम्र से, बल की अधिकता से या धन-सम्पत्ति से कोई भी व्यक्ति परलोक में सुख नहीं पा सकता, यदि वह दान और शील जैसे गुणों से सुसंस्कृत नहीं है ॥ १६ ॥

जो व्यक्ति कुलहीन होकर भी पापरहित है। दान और शील जैसे गुणों का आचरण करता है। सुख उसका उसी तरह पीछा करता है, जैसे वर्षाऋतु में नदी का जल समुद्र का अनुसरण करता है ॥ १७ ॥

कुलस्य रूपस्य वयोगुणस्य या बलप्रकर्षस्य धनोच्छ्रयस्य वा ।
इहाप्यलङ्कारविधिर्गुणादरः समृद्धिसूचैव तु हेममालिका ।। १८ ।।
अलङ्क्रियन्ते कुसुमैर्महीरुहास्तडिद्गुणैस्तोयविलम्बिनो घनाः ।
सरांसि मत्तभ्रमरैः सरोरुहैर्गुणैर्विशेषाधिगतैस्तु देहिनः ।। १९ ।।
अरोगतायुर्धनरूपजातिभिर्निकृष्टमध्योत्तमभेदचित्रता ।
जनस्य चेयं न खलु स्वभावतः पराश्रयाद्वा त्रिविधा तु कर्मणः ।। २० ।।
अवेत्य चैवं नियतां जगत्स्थितिं चलं विनाशप्रवणं च जीवितम् ।
जहीत पापानि शुभक्रमाशयादयं हि पन्था यशसे सुखाय च ।। २१ ।।
मनःप्रदोषस्तु परात्मनोर्हितं विनिर्दहन्नग्निरिव प्रवर्तते ।
अतः प्रयत्नेन स पापभीरुणा जनेन वर्ज्यः प्रतिपक्षसंश्रयात् ।। २२ ।।
यथा समेत्य ज्वलितोऽपि पावकस्तटान्तसंसक्तजलां महानदीम् ।
प्रशान्तिमायाति मनोज्वलस्तथा श्रितस्य लोकद्वितयक्षमां क्षमाम् ।।२३।।

इति क्षान्त्या पापं परिहरति तद्धेत्वभिभवा-
दतश्चायं वैरं न जनयति मैत्र्याश्रयबलात् ।

सोने का हार तो केवल समृद्धि का ही सूचक है । वस्तुतः इस संसार में भी कुल, रूप, उम्र, शक्ति या धन-सम्पत्ति की शोभा गुण के प्रति अनुराग से ही सम्भव है ।। १८ ।।

वृक्ष फूलों से सुशोभित होते हैं । जलभार से लटकते मेघ की शोभा बिजली होती है । मदमत्त भौंरों से युक्त कमलों से ही सरोवर शोभता है । किन्तु प्राणियों की शोभा तो विशेषरूप से प्राप्त कोई गुण ही है ।। १९ ।।

स्वास्थ्य, आयु, धन, रूप और कुल के अनुसार मनुष्य के तीन भेद होते हैं—उत्तम, मध्यम और अधम । उनके ये भेद आप ही आप या दूसरों के कारण नहीं होते । ये तो उनके कर्म से सम्भव है ।। २० ।।

संसार की यह स्थिति निश्चित है । जीवन क्षणभंगुर और विनाशोन्मुख है । यह सोचकर शुभ कर्मों के सहारे दुष्कर्म का परित्याग करना चाहिए । यश और सुख का यही रास्ता है ।। २१ ।।

मन का मैल मनुष्य के अपने और पराये के कल्याण को आग की तरह जलाता है । अतः पाप से डरनेवालों को गुण के सहारे इन दोषों को छोड़ देना चाहिए ।। २२ ।।

जिस तरह जलती हुई आग भी किनारे तक जल से भरी नदी तक पहुँचकर अपने आप बुझ जाती है, उसी तरह मनुष्य का मानसिक ताप दोनों लोकों के योग्य क्षमा का आश्रय ग्रहण कर शान्त हो जाता है ।। २३ ।।

क्षमा के द्वारा पाप के कारण को नष्ट करने से मनुष्य पाप से बचता है, और

प्रियः पूज्यश्चास्माद्भवति सुखभागेव च ततः
प्रयात्यन्ते च द्यां स्वगृहमिव पुण्याश्रयगुणात् ॥ २४ ॥

अपि च भवत्यः क्षान्तिर्नामैषा —

शुभस्वभावातिशयः प्रसिद्धः पुण्येन कीर्त्या च परा विवृद्धिः ।
अतोयसम्पर्ककृता विशुद्धिस्तैस्तैर्गुणौघैश्च परा समृद्धिः ॥ २५ ॥
परोपरोधेषु सदानभिज्ञा व्यवस्थितिः सत्त्ववतां मनोज्ञा ।
गुणाभिनिर्वर्तितचारुसञ्ज्ञा क्षमेति लोकार्थकरी कृपाज्ञा ॥ २६ ॥
अलङ्क्रिया शक्तिसमन्वितानां तपोधनानां बलसम्पदग्र्या ।
व्यापाददावानलवारिधारा प्रेत्येह च क्षान्तिरनर्थशान्तिः ॥ २७ ॥
क्षमामये वर्मणि सज्जनानां विकुण्ठिता दुर्जनवाक्यबाणाः ।
प्रायः प्रशंसाकुसुमत्वमेत्य तत्कीर्तिमालावयवा भवन्ति ॥ २८ ॥
हन्तीति या धर्मविपक्षमायां प्राहुः सुखां चैव विमोक्षमायाम् ।
तस्मान्न कुर्यात्क इव क्षमायां प्रयत्नमेकान्तहितक्षमायाम् ॥ २९ ॥

इति स महात्मा तासां धर्मातिथ्यं चकार । अथ स राजा निद्राक्लम-विनोदनात्प्रतिविबुद्धः सावशेषमदगुरुनयनो मदनानुवृत्त्या कुत्र देव्य इति

मैत्री का आश्रय होने के कारण वह शत्रुता उत्पन्न नहीं करता। क्षमाशील मनुष्य प्रिय, पूज्य और सुख का भागी होता है। अपने पुण्य के प्रभाव से अन्त में वह अपने घर की तरह स्वर्ग भी पहुँच जाता है ॥ २४ ॥

और भी, हे देवियों ! यह क्षमा—

अत्यन्त शुद्ध स्वभाव के रूप में विख्यात है। यह पुण्य और कीर्ति का परम विकास है। जल के सम्पर्क में आये बिना ही शुद्धि है। गुणों से प्राप्त यह एक परम समृद्धि है ॥ २५ ॥

सात्त्विक पुरुषों की यह एक सुन्दर स्थिरता है। दूसरों से कष्ट पाकर भी उसके प्रति यह सदा उदासीन रहती है। लोकोपकारिणी दया से यह परिचित है, अतः इसका नाम क्षमा है ॥ २६ ॥

बलवानों का यह आभूषण है। तापसों का उत्तम बल है। द्वेष रूपी दावानल के लिए क्षमा जल की धारा है। इहलोक और परलोक के उपद्रवों को यह एक साथ शान्त करती है ॥ २७ ॥

सज्जनों के क्षमा रूप कवच पर दुर्जनों के वचन रूप बाण कुण्ठित हो जाते हैं। प्रशंसा के प्रायः फूल बनकर उनकी कीर्तिमाला के अवयव बन जाते हैं ॥ २८ ॥

धर्म के शत्रु माया की जो हत्या करती है, मोक्ष-प्राप्ति का जिसे सुगम उपाय कहते हैं, उस अत्यन्त हितैषिणी क्षमा के लिए कौन प्रयत्नशील नहीं होगा ॥ २९ ॥

इस तरह उस मुनि ने धर्मोपदेश देकर उन महिलाओं का आतिथ्य किया। जब राजा की थकान दूर हुई और आँखें खुलीं तब भी मदिरा के मद से उसकी पलकें

शयनपालिकाः सभ्रूक्षेपं पर्यपृच्छत् । एता देव वनान्तराण्युपशोभयमानास्तद्विभूतिं पश्यन्तीति चोपलभ्य शयनपालिकाभ्यः स राजा देवीजनस्य विस्रम्भनिर्यन्त्रणहसितकथितद्रवविचेष्टितदर्शनोत्सुकमतिरुत्थाय शयनाद्युवतिधृतच्छत्रव्यजनोत्तरीयखड्गः सकञ्चुकैर्वेत्रदण्डपाणिभिरन्तःपुरावचरैः कृतानुयात्रस्तद्वनमनुविचचार । स तत्र युवतिजनानैभृत्यविरचितां विविधकुसुमस्तवकपल्लवनिकरपद्धतिं ताम्बूलरसरागविचित्रामनुसरंस्तदाश्रमपदमभिजगाम । दृष्ट्वैव तु स राजा क्षान्तिवादिनं तमृषिवरं देवीजनपरिवृतं पूर्ववैरानुशयदोषान्मदपरिभ्रमितस्मृतित्वादीर्ष्यापराभूतमतित्वाच्च परं कोपमुपजगाम । प्रतिसङ्ख्यानबलवैकल्याच्च भ्रष्टविनयोपचारसौष्ठवः संरम्भपाप्माभिभवादापतितस्वेदवैवर्ण्यवेपथुर्भ्रूभङ्गजिह्मविवृत्तस्थिराभिताम्रनयनो विरक्तकान्तिलावण्यशोभः प्रचलत्कनकवलयौ परिमृद्नन् साङ्गुलिविभूषणौ पाणी तमृषिवरमधिक्षिपंस्तत्तदुवाच । हंहो—

अस्मत्तेजः खलीकृत्य पश्यन्नन्तःपुराणि नः ।
मुनिवेषप्रतिच्छन्नः कोऽयं वैतंसिकायते ।। ३० ।।

झुकी थीं । कामवासना से प्रेरित होकर उसने आँखें टेढ़ी कर शयनपालिकाओं से पूछा—"रानियाँ कहाँ हैं ?" "राजन् ! वे दूसरे वनों को सुशोभित करती हुईं उन वनों की शोभा देख रही हैं ?"

शयनपालिकाओं से यह जानकर उन रानियों के स्वच्छन्द और प्रेमपूर्ण मुस्कुराकर बोलना तथा उनकी सरस चेष्टाएँ देखने के लिए उत्सुक होकर बिछावन छोड़कर उठ गया । राजा उनकी खोज में जंगल की ओर निकल गया । उनके पीछे छत्र, चँवर, चादर और तलवार लेकर अन्तःपुर की परिचारिकाएँ चल रही थीं और सबसे अन्त में बेंत हाथ में लिये कञ्चुकी चल रहा था । निरंकुश राज-महिलाओं के द्वारा तोड़े गये विविध फूलों और कोंपलों से बने तथा पान की पीक से रंगे मार्ग का अनुसरण करते हुए राजा उस आश्रम तक पहुँच गया । वहाँ उन रानियों से घिरे उस महामुनि को देखा । पूर्वधारणाग्रस्त, नशे में बेहोश और ईर्ष्या से हतबुद्धि होने के कारण राजा मुनि पर अत्यन्त क्रुद्ध हुआ । विवेक-बल के अभाव में विनय और आचार से उसका पल्ला छूट गया । क्रोधरूपी पाप से अभिभूत होने के कारण पसीने से वह लथपथ हो गया । उसके चेहरे का रंग उड़ गया । उसकी भौंहें टेढ़ी तथा आँखें लाल होकर घूमने लगीं । कुछ क्षण तक टकटकी लगाकर वह उन्हें देखता रहा । उसकी कान्ति, सुन्दरता और शोभा नष्ट हो गई । हिलते हुए सोने के कंगनेवाले तथा अंगुलियों से युक्त हाथों को मलते हुए उसने उस उत्तम कोटि के ऋषि को फटकारते हुए कहा—

अरे, हमारे प्रभाव की उपेक्षा कर, हमारी अन्तःपुर की ललनाओं को देखते हुए मुनि के वेष में छिपा हुआ यह कौन बहेलिये का आचरण कर रहा है ? ।। ३० ।।

तच्छ्रुत्वा वर्षवराः ससम्भ्रमावेगा राजानमूचुः— देव! मा मैवम्। चिरकालसम्भृतव्रतनियमतपोभावितात्मा मुनिरयं क्षान्तिवादी नामेति। उपहताध्याशयत्वात्तु स राजा तत्तेषां वचनमप्रतिगृह्णन्नुवाच—कष्टं भोः!

चिरात्प्रभृति लोकोऽयमेवमेतेन वञ्च्यते।
कुहनाजिह्मभावेन तापसाकुम्भसात्मना॥ ३१॥

तदयमस्य तापसनेपथ्यावच्छादितं मायाशाठ्यसम्भृतं कुहकस्वभावं प्रकाशयामीत्युक्त्वा प्रतिहारीहस्तादसिमादाय हन्तुमुत्पतितनिश्चयस्तमृषिवरं सपत्नवदभिजगाम। अथ ता देव्यः परिजननिवेदिताभ्यागमनमालोक्य राजानं क्रोधसङ्क्षिप्तसौम्यभावं वितानीभूतहृदयाः ससम्भ्रमावेगचञ्चलनयनाः समुत्थायाभिवाद्य च तमृषिवरं समुद्यताञ्जलिकुड्मलाः शरन्नलिन्य इव समुद्गतैकपङ्कजाननमुकुला राजानमभिजग्मुः।

तत्तासां समुदाचारलीलाविनयसौष्ठवम्।
न तस्य शमयामास क्रोधाग्निज्वलितं मनः॥ ३२॥

लब्धतरप्राणप्रसरास्तु ता देव्यः ससंरम्भविकारसमुदाचाररूक्षक्रमं सायुधप्रभिपतन्तं तमुदीक्ष्य राजानं तमृषिवरं प्रति विवर्तिताभिनिविष्टदृष्टि समा-

---

यह सुनकर अन्तःपुर के हिंजड़ों ने घबड़ाहट में आकर राजा से कहा—'देव! ऐसा न कहें; बहुत दिनों से व्रत, नियम और तप करते हुए इन्होंने अपने को पवित्र कर लिया है। ये क्षान्तिवादी नामक मुनि हैं। किन्तु, अपनी गलत धारणा के कारण उनकी बात न मानते हुए राजा ने कहा—'अहो!

बहुत दिनों से कुटिल भाव से कपटाचार के द्वारा अपने को श्रेष्ठ तापस प्रतिपादित करता हुआ यह इसी तरह लोगों को ठग रहा है॥ ३१॥

अतः तपस्वी के भेष में छिपा हुआ, माया और शठता से पोषित इसके वंचक स्वभाव को प्रकाशित करता हूँ। यह कहकर प्रतिहारी के हाथ से तलवार लेकर, मुनि की हत्या का निश्चय कर, उन पर दुश्मन की तरह झपट पड़ा। रानियों को राजा के आने की खबर परिचारिकाओं ने दी। राजा को इस तरह अशान्त देखकर रानियों का हृदय विषाद से भर गया तथा डर के मारे उनकी आँखें चंचल हो उठीं। उन्होंने उठकर उस ऋषि को प्रणाम किया। फिर हाथ जोड़कर अंजलि बाँधे शरद् ऋतु की कमलिनियों की तरह मुकुलित कमलमुख हो राजा के सामने उपस्थित हो गईं। उनके सुन्दर शिष्टाचार और लीला-विनय से भी राजा का क्रोध से जलता हृदय शान्त न हो सका॥ ३२॥

प्राण-संकट से निकली हुई उन रानियों ने देखा कि राजा गुस्से के मारे सामान्य शिष्टाचार का अतिक्रमण कर, तलवार लेकर, उस मुनि की ओर अपनी घूरती

वृण्वत्य ऊचु:-देव ! मा मा खलु साहसं कार्षी: । क्षान्तिवादी भगवानयमिति। प्रदुष्टभावात्तु स राजा समावर्जितभावा नूनमनेनेमा इति सुष्ठुतरं कोपमुपेत्य स्फुटतरं भ्रूभङ्गैरसूयासमावेशतीक्ष्णैस्तिर्यगवेक्षितैस्तत्तासां प्रणयप्रागल्भ्यमवभत्स्यं सरोषमवेक्षमाण: स्त्रीजनाधिकृताञ्छिर:कम्पादाकम्पमानकुण्डलमुकुटविटपस्ता योषितोऽभिवीक्षमाण उवाच—

वदत्येव क्षमामेष न त्वेनां प्रतिपद्यते ।
तथा हि योषित्सम्पर्कतृष्णां न क्षान्तवानयम् ।। ३३ ।।
वागन्यथान्यैव शरीरे चेष्टा दुष्टाशयं मानसमन्यथैव ।
तपोवने कोऽयमसंयतात्मा दम्भव्रताडम्बरधीरमास्ते ।। ३४ ।।

अथ ता देव्यस्तस्मिन् राजनि क्रोधसंरम्भकर्कशहृदये प्रत्याहतप्रणया: प्रजानानाश्च तस्य राज्ञश्चण्डतां दुरनुनेयतां च वैमनस्यदैन्याक्रान्तमनस: स्त्रीजनाधिकृतैर्भयविषादव्याकुलितैर्हस्तसञ्ज्ञाभिरपसार्यमाणा व्रीडावनतवदनास्तमृषिवर्यं समनुशोचन्त्यस्ततोऽपचक्रमु: ।

अस्मान्निमित्तमपराधविवर्जितेऽपि
दान्ते तपस्विनि गुणप्रथितेऽप्यमुष्मिन् ।

आँखें गड़ाये बड़ी तेजी से आगे की ओर बढ़ रहा है । तब रानियों ने राजा को घेर कर कहा—देव ! ऐसा दुस्साहस न करें, ये क्षान्तिवादी भगवान् है । किन्तु राजा का हृदय दुष्ट था । अत: उस पर इनके कथन का उल्टा प्रभाव पड़ा । राजा ने सोचा इस मुनि ने अवश्य ही रानियों के दिल को अपनी ओर झुका लिया है । अत: और अधिक क्रुद्ध होकर, भौंहे टेढ़ी कर वक्र-दृष्टि से उनकी प्रार्थना को ठुकराकर, अन्त-पुर के अधिकारियों की ओर क्रोधपूर्वक देखते हुए, शिर के हिलने से हिलते हुए कुण्डल और मुकुटवाले राजा ने उन औरतों की ओर देखते हुए कहा—

यह क्षमा का तो उपदेश देता है, पर स्वयं उसका आचरण नहीं करता । इसकी सहनशीलता तो इसी से स्पष्ट है कि स्त्रियों के सम्पर्क की इच्छा को यह सह नहीं सका ।। ३३ ।।

इसकी बातें झूठी हैं । शारीरिक चेष्टाएँ व्यर्थ हैं । इस दुष्ट का मन अन्यथा है। यह असंयतात्मा है, तपोवन में आडम्बर करता हुआ धैर्यपूर्वक यह कौन बैठा है ।३४।

जब क्रोध से कठोरहृदय राजा ने उनकी प्रार्थना को ठुकरा दिया, तब राजा बड़ा क्रोधी अनुनय-विनय से बाहर है—यह जानकर उनके मन उदास और दु:खी हुए। उनके मन विषाद से व्याकुल अन्त:पुर के अधिकारियों के द्वारा हाथ के संकेत से हटाई जाती हुई वे स्त्रियाँ लज्जा से अधोमुख हो उस उत्तम ऋषि के लिए शोकाकुल हो वहाँ से हट गईं ।

यद्यपि यह तपस्वी निरपराध है, संयत और सद्गुणी है तथापि कौन जानता

को वेत्ति कामपि विवृत्य विकारलीलां
केनापि यास्यति पथा क्षितिपस्य रोषः ।। ३५ ।।

क्षितीशवृत्तिं प्रतिलब्धकीर्तिं तनुं मुनेरस्य तपस्तनुं च ।
अमून्यनागांसि च नो मनांसि तुल्यं हि हन्यादपि नाम राजा ।। ३६ ।।

इति तासु देवीष्वनुशोचितविनिःश्वसितमात्रपरायणास्वपयातासु स राजा तमृषिवरं सन्तर्जयन् रोषवशान्निष्कृष्य खड्गं स्वयमेव च्छेत्तुमुपचक्रमे । निर्विकारधीरमसम्भ्रान्तस्वस्थचेष्टितं च तं महासत्त्वमासाद्यमानमप्यवेक्ष्य संरम्भितरमेनमुवाच—

दाण्डाजिनिकतानेन प्रकर्षं गमिता यथा ।
उद्वहन् कपटाटोपं मुनिवन्मामपीक्षते ।। ३७ ।।

अथ बोधिसत्त्वः क्षान्तिपरिचयादविचलितधृतिस्तेनासत्कारप्रयोगेण तं राजानं रोषसंरम्भविरूपचेष्टितं भ्रष्टविनयोपचारश्रियं विस्मृतात्महिताहितपथमागतविस्मयः क्षणमभिवीक्ष्य करुणायमानः समनुनेष्यन्नियतमीदृशं किञ्चिदुवाच—

भाग्यापराधजनितोऽप्यपमानयोगः
सन्दृश्यते जगति तेन न मेऽत्र चिन्ता ।

है, उनके प्रति राजा का मन कितना विह्वल होगा, उसका क्रोध किस राह से निकलेगा ।। ३५ ।।

राजा राजोचित आचरण, अपनी कीर्त्ति, मुनि के पार्थिव शरीर और तप रूप शरीर और साथ ही हमारे मन की भी हिंसा कर सकता है ।। ३६ ।।

लम्बी उसाँसें खींचतीं, शोक प्रकट करतीं जब रानियाँ वहाँ से चली गईं, तब वह राजा क्रोधवश तलवार खींचकर उसे डराते हुए स्वयं ही उसे काटने के लिए उद्यत हो गया । आक्रमण किये जाने पर भी उस महासत्त्व को निर्विकार, धीर, घबड़ाहट से रहित तथा स्वस्थ देखकर और अधिक गुस्सा कर उसने कहा—

ढकोसला करने में यह ऐसा पारंगत हो गया है कि यह ढोंगी मुझे भी ऐसे देख रहा है जैसे कोई मुनि हो ।

बोधिसत्त्व तो सहनशील थे ही, अतः इस अपमान से भी वे विचलित नहीं हुए । राजा गुस्से में अनुचित काम कर रहा है । विनय और शिष्टाचार को ताके पर रख दिया है, अपने हित और अहित के मार्ग को भूल चुका है, यह जानकर वे विस्मित अवश्य हुए । एक क्षण तक उसे देख कर, उस पर करुणा करते हुए, उसे समझाते हुए उसने कुछ कहना शुरू किया—

भाग्यदोष से ही संसार में लोगों को अपमानित होना पड़ता है, ऐसा ही बहुधा देखा जाता है । अतः मुझे अपमान की चिन्ता नहीं है । किन्तु, मुझे कष्ट केवल इस

दुःखं तु मे यदुचिताभिगतेषु वृत्ति-
र्वाचापि न त्वयि मया क्रियते यथार्हम् ॥ ३८ ॥

अपि च महाराज !

असत्प्रवृत्तान् पथि सन्नियोक्ष्यतां भवद्विधानां जगदर्थकारिणाम् ।
न युक्तरूपं सहसा प्रवर्तितुं विमर्शमार्गोऽप्यनुगम्यतां यतः ॥ ३९ ॥
अयुक्तवत्साध्वपि किञ्चिदीक्ष्यते प्रकाशतेऽसाध्वपि किञ्चिदन्यथा ।
न कार्यतत्त्वं सहसैव लक्ष्यते विमर्शमप्राप्य विशेषहेतुभिः ॥ ४० ॥
विमृश्य कार्यं त्ववगम्य तत्त्वतः प्रपद्य धर्मेण न नीतिवर्त्मना ।
महान्ति धर्मार्थसुखानि साधयञ्जनस्य तैरेव न हीयते नृपः ॥ ४१ ॥
विनीय तस्मादतिचापलान्मतिं यशस्यमेवार्हसि कर्म सेवितुम् ।
अभिप्रथन्ते ह्यभिलक्षितात्मनामदृष्टपूर्वाश्चरितेष्वतिक्रमाः ॥ ४२ ॥
तपोवने त्वद्भुजवीर्यरक्षिते परेण यन्नाम कृतं न मर्षयेः ।
हितक्रमोन्माथि यदार्यगर्हितं स्वयं महीनाथ ! कथं व्यवस्यसि ॥ ४३ ॥
स्त्रियोऽभियाता यदि ते ममाश्रमं यदृच्छयान्तःपुररक्षिभिः सह ।
व्यतिक्रमस्तत्र च नो भवेत्कियान् रुषा यदेवं गमितोऽसि विक्रियाम् ॥४४॥

बात का है कि द्वार पर आये लोगों का जो समुचित सत्कार किया जाता है मैं तुम्हारा वह सत्कार वचन से भी नहीं कर पा रहा हूँ ॥ ३८ ॥

और भी, हे राजा !

कुमार्गगामियों को सुमार्ग पर लानेवाले तुम्हारे जैसे लोगों को सहसा कुछ कर बैठना क्या उचित है ? विचार-मार्ग का तुम्हें अनुसरण करना चाहिए ॥ ३९ ॥

कभी उचित अनुचित और कभी अनुचित ही उचित प्रतीत होता है, ऐसी दशा में विचार किये बिना कर्त्तव्य की सत्यता का बोध नहीं होता ॥ ४० ॥

विचारपूर्वक कर्त्तव्य को जानकर, धर्म और नीतिपूर्वक उसका आचरण करना चाहिए। ऐसा करनेवाला राजा ही अपनी प्रजा के लिए धर्म, अर्थ और काम की साधना करता है और स्वयं भी उस त्रिवर्ग से वंचित नहीं होता ॥ ४१ ॥

अतः सर्वप्रथम अपनी बुद्धि को स्थिर करो और वैसा ही काम करो जिससे यश हो, क्योंकि बड़े लोगों का कुकर्म बड़ी जल्दी फैल जाता है ॥ ४२ ॥

अपने भुजबल से रक्षित तपोवन में दूसरे के जिस कुकर्म को तुम नहीं सहोगे, उस अकल्याणकारी, निन्दित कर्म को तुम स्वयं क्यों करना चाहते हो ॥ ४३ ॥

यदि तुम्हारी अन्तःपुरकाएँ रक्षकों के साथ संयोग से मेरे आश्रम में आ गईं तो इसमें मेरा क्या कसूर है ? क्रोध से इतना विवृत्त होने की क्या जरुरत है ? ॥ ४४ ॥

अथाप्ययं स्यादपराध एव मे क्षमा तु शोभेत तथापि ते नृप ।
क्षमा हि शक्तस्य परं विभूषणं गुणानुरक्षानिपुणत्वसूचनात् ।। ४५ ।।
कपोललोलद्युतिनीलकुण्डले न मौलिरत्नद्युतयः पृथग्विधाः ।
तथाभ्यलङ्कर्तुमलं नृपान्यथा क्षमेति नैनामवमन्तुमर्हसि ।। ४६ ।।
त्यजाक्षमां नित्यमसंश्रयक्षमां क्षमामिवारक्षितुमर्हसि क्षमाम् ।
तपोधनेष्वभ्युदिता हि वृत्तयः क्षितीश्वराणां बहुमानपेशलाः ।। ४७ ।।

इत्यनुनीयमानोऽपि स राजा तेन मुनिवरेणानार्जवोपहतमतिस्तमन्यथैवाभिशङ्कमानः पुनरुवाच—

न तापसच्छद्म बिभर्ति चेद्भवान् स्थितोऽसि वा स्वे नियमव्रते यदि ।
क्षमोपदेशव्यपदेशसङ्गतं किमर्थमस्मादभयं प्रयाचसे ।।४८।।

बोधिसत्त्व उवाच—श्रूयतां महाराज ! यदर्थोऽयं मम प्रयत्नः ।

अनागसं प्रव्रजितमवधीद् ब्राह्मणं नृपः ।
इति ते मत्कृते मा भूद्यशो वाच्यविजर्जरम् ।। ४९ ।।
मर्तव्यमिति भूतानामयं नैयमिको विधिः ।
इति मे न भयं तस्मात्स्वं वृत्तं चानुपश्यतः ।। ५० ।।

या यदि मेरा यह अपराध ही है, तो भी तुम्हे क्षमा ही शोभा देगी । क्षमा शक्तिशालियों का ही आभूषण है । सद्‌गुणों की रक्षा की यह सूचिका है ।। ४५ ।।

गाल पर हिलते लाल-कुण्डल या कीमती शिरोभूषण राजा को उतनी शोभा नहीं देते, जितनी क्षमा । अतः आप क्षमा की उपेक्षा न करें ।। ४६ ।।

अग्राह्य क्रोध को थूक दो । धरती की तरह क्षमा की रक्षा करो । तापसों के प्रति सम्मानपूर्ण व्यवहार राजाओं के लिए सदैव अभ्युदयकारी होता है ।। ४७ ।।

इस तरह अनुनय-विनय करने के बावजूद कुटिलता से हतबुद्धि राजा ने मुनि को अन्यथा समझते हुए कहा—

यदि आप छद्मवेषधारी तापस नहीं है, अपने व्रत-नियम में स्थिर हैं, तो फिर क्षमा के उपदेश के बहाने मुझसे इस अभय-याचना का औचित्य क्या है ।। ४८ ।।

बोधिसत्त्व ने इस पर कहा—राजन् ! मेरे इस प्रयास का उद्देश्य क्या है ? सुनो—

"राजा ने एक निरपराध ब्राह्मण संन्यासी की हत्या की है ।" इस तरह की निन्दा से आपका यश मेरे कारण कहीं क्षीण न हो जाये, इसीलिए ऐसा कहता हूँ ।। ४९ ।।

सभी प्राणियों को कभी न कभी मरना तो पड़ेगा ही, यह तो अटल नियम है । यह जानते हुए तथा अपने निर्दोष आचरण को देखते हुए मुझे मरने का डर नहीं है ।। ५० ।।

सुखोदर्कस्य धर्मस्य पीडा मा भूत्तथैव तु।
क्षमामित्यवदं तुभ्यं श्रेयोऽभिगमनक्षमाम् ॥ ५१ ॥
गुणानामाकरत्वाच्च दोषाणां च निवारणात्।
प्राभृतातिशयप्रीत्या कथयामि क्षमामहम् ॥ ५२ ॥

अथ स राजा सूनृतान्यपि तान्यनादृत्य तस्य मुनेर्वचनकुसुमानि सासूयं तमृषिवरमुवाच – द्रक्ष्याम इदानीं ते क्षान्त्यनुरागमित्युक्त्वा निवारणार्थमीषदभिप्रसारितमभ्युच्छ्रितप्रतनुदीर्घाङ्गुलिं तस्य मुनेर्दक्षिणं पाणिं निशितेनासिना कमलमिव नालदेशाद्वयोजयत्।

छिन्नेऽग्रहस्तेऽपि तु तस्य नासीद्-
दुःखं तथा क्षान्तिदृढव्रतस्य।
सुखोचितस्याप्रतिकारघोरं
छेत्तुर्यथागामि समीक्ष्य दुःखम् ॥ ५३ ॥

अथ बोधिसत्त्वः कष्टमतिक्रान्तोऽयं स्वहितमर्यादामपात्रीभूतोऽनुनयस्येति वैद्यप्रत्याख्यातमातुरमिवैनं समनुशोचंस्तूष्णीम्बभूव। अथैनं स राजा सन्तर्जयन् पुनरुवाच –

धर्म जिसका परिणाम सुख है, तुम्हारे उस धर्म में किसी तरह की बाधा नहीं, यही सोचकर मैंने तुम्हें धर्म का उपदेश दिया है, क्योंकि यह कल्याण प्राप्ति का साधन है ॥ ५१ ॥

क्षमा सद्गुणों की खान है और दोषों को दूर रखती है। उत्तम उपहार देने की रुचि से मैंने आपको क्षमा का उपदेश दिया है ॥ ५२ ॥

तब राजा ने मुनि के सत्य और मधुर वचन का अनादर करते हुए उन्हें क्रोधपूर्वक कहा—"अब मैं तुम्हारे प्रेम और तुम्हारी क्षमा को देखता हूँ।" यह कहकर राजा ने मुनि के पतली लम्बी अंगुलीवाले हाथ को जो रोकने के लिए कुछ फैला हुआ और ऊपर की ओर उठा था, उसे तेज तलवार से काटकर अलग कर दिया; जैसे नाल से किसी ने कमल को काट कर हटा दिया हो।

हाथ के अगला हिस्सा काटे जाने पर भी क्षमा के उस दृढव्रती को उतनी तकलीफ नहीं हुई, जितना कष्ट सुख के अभ्यस्त उस काटनेवाले के भावी अप्रतिकार्य के घोर दुःख को देखकर ॥ ५३ ॥

हाय! "इसने अपने हित की सीमा का भी उल्लंघन कर दिया है, यह अब अनुनय-विनय का पात्र नहीं रह गया है।" यह सोचकर बोधिसत्त्व ने वैद्य के द्वारा परित्यक्त रोगी की तरह उसके लिए शोक प्रकट करते हुए मौन साध लिया। तब उसे डराते हुए राजा ने फिर उनसे कहा—

एवं चाच्छिद्यमानस्य नाशमेष्यति ते तनुः ।
मुञ्च दम्भव्रतं चेदं खलबुद्धिप्रलम्भनम् ।। ५४ ।।

बोधिसत्त्वस्त्वनुनयाक्षममेनं विदित्वायं च नामास्य निर्बन्ध इति नैनं किञ्चिदुवाच । अथ स राजा तस्य महात्मनो द्वितीयं पाणिमुभौ बाहू कर्णनासं चरणौ तथैव निचकर्त ।

पतति तु निशितेऽप्यसौ शरीरे न मुनिवरः स शुशोच नो चुकोप ।
परिविदितशरीरयन्त्रनिष्ठः परिचितया च जने क्षमानुवृत्त्या ।। ५५ ।।
गात्रच्छेदेऽप्यक्षतक्षान्तिधीरं चित्तं तस्य प्रेक्षमाणस्य साधोः ।
नासीद् दुःखं प्रीतियोगान्नृपं तु भ्रष्टं धर्माद्वीक्ष्य सन्तापमाप ।। ५६ ।।
प्रतिसङ्ख्यानमहतां न तथा करुणात्मनाम् ।
बाधते दुःखमुत्पन्नं परानेव यथाश्रितम् ।। ५७ ।।
घोरं तु तत्कर्म नृपः स कृत्वा सद्यो ज्वरेणानुगतोऽग्निनेव ।
विनिर्गतश्चोपवनान्तदेशाद् गां चावदीर्णां सहसा विवेश ।। ५८ ।।
निमग्ने तु तस्मिन् राजनि भीमशब्दमवदीर्णायां वह्निज्वालाकुलायां

इस तरह काटा जाता हुआ तुम्हारा सम्पूर्ण शरीर नष्ट हो जायेगा । तुम इस तपस्या के ढोंग को और दुष्टों की ठगबुद्धि को अभी भी छोड़ दो ।। ५४ ।।

'इसने हठ पकड़ लिया है, इसे अब समझाना बेकार है ।' यह सोचकर बोधिसत्त्व ने उसे कुछ भी नहीं कहा । तब राजा ने उस महात्मा के दोनों हाथ, बाहें, नाक, कान और पैरों को काट डाला ।

तेज तलवार का प्रहार खाकर भी उस मुनि को न तो क्रोध आया न शोक । क्योंकि उन्हें पता था कि इस देह का विनाश निश्चित है और वे सभी के प्रति क्षमाशील थे ।। ५५ ।।

देह कट जाने पर भी उनकी क्षमा अक्षुण्ण बनी रही । अपनी ऐसी दुर्दशा देखकर भी उस साधु का चित्त विचलित नहीं हुआ । सबके प्रति मैत्री-भाव होने के कारण इस स्थिति में भी अपने लिए उन्हें दुःख नहीं हुआ, किन्तु उस राजा के अधःपतन से उन्हें संताप अवश्य हुआ ।। ५६ ।।

शान्तचित्त, दयालु महापुरुष अपनी बिपत्ति की अपेक्षा दूसरों पर आये दुःख से अधिक दुःखी होते हैं ।। ५७ ।।

इस घोर दुष्कर्म के बाद अग्नितुल्य दाहक ज्वर से राजा शीघ्र ही ग्रस्त हो गया । वह ज्योंही उस उपवन से निकला, सहसा धरती फट गई और राजा उसमें समा गया ।। ५८ ।।

धरती फटने से पहले बहुत जोर की आवाज हुई थी और उससे आग की लपटें

समुद्भूते महति कोलाहले समन्ततः प्रक्षुभिते व्याकुले राजकुले तस्य राज्ञोऽमात्या जानानास्तस्य मुनेस्तपःप्रभावमाहात्म्यं तत्कृतं च राज्ञो धरणीतलनिमज्जनं मन्यमानाः पुरायमृषिवरस्तस्य राज्ञो दोषात्सर्वमिदं जनपदं निर्दहतीति जातभयाशङ्काः समभिगम्य तमृषिवरमभिप्रणम्य क्षमयमाणाः कृताञ्जलयो विज्ञापयामासुः—

इमामवस्थां गमितोऽसि येन नृपेण मोहादतिचापलेन ।
शापानलस्येन्धनतां स एव प्रयातु ते मा पुरमस्य धाक्षीः ॥ ५९ ॥
स्त्रीबालवृद्धातुरविप्रदीनाननागसो नार्हसि दग्धुमत्र ।
तत्साधु देशं क्षितिपस्य तस्य स्वं चैव धर्मं गुणपक्ष रक्ष ॥ ६० ॥

अथैतान् बोधिसत्त्वः समाश्वासयन्नुवाच—मा भैष्ट आयुष्मन्तः ।

सपाणिपादमसिना कर्णनासमनागसः ।
छिन्नवान् योऽपि तावन्मे वने निवसतः सतः ॥ ६१ ॥
कथं तस्यापि दुःखाय चिन्तयेदपि मद्विधः ।
चिरं जीवत्वसौ राजा मा चैनं पापमागमत् ॥ ६२ ॥

निकलकर राजा को निगल गई थी । भय से चारों ओर कोलाहल फैल गया । राजकुल के सभी लोग बुरी तरह घबड़ा गये । अमात्यगण उस मुनि के प्रभाव से परिचित थे । उन्हें विश्वास था कि मुनि के प्रभाव से ही राजा धरती में समाया है । उन्हें भय था कि राजा के दोष से यह मुनि कहीं सम्पूर्ण देश को ही न जला डाले । इस आशंका से वे उस श्रेष्ठ मुनि के पास पहुँचे । उन्हें प्रणाम कर मनाते हुए अमात्यों ने मुनि से कहा—

अपनी अज्ञानता और चपलता के कारण जिस राजा ने आपको ऐसा कष्ट दिया है, वह तो आपकी क्रोधाग्नि का ईंधन बन ही गया, अब आप उसके नगर को न जलायें ॥ ५९ ॥

हे गुणज्ञ ! आप उस राजा के देश और अपने धर्म की तो रक्षा करें । निरपराध बच्चे, औरत, बूढ़े, ब्राह्मण और दुःखियों को अपनी क्रोधरूपी आग में जलने से बचा लें ॥ ६० ॥

तब बोधिसत्त्व ने उन्हें आश्वासन देते हुए कहा—आयुष्मान् ! डरो मत ।

उस राजा ने मुझ निरपराध वनवासी के हाथ, पैर, नाक और कान काट लिए ॥ ६१ ॥

भला मैं उसका अहित क्यों चाहूँ । मैं तो चाहता हूँ वह राजा पापरहित होकर चिरायु बने ॥ ६२ ॥

मरणव्याधिदुःखार्ते लोभद्वेषवशीकृते ।
दग्धे दुश्चरितैः शोच्ये कः कोपं कर्तुमर्हति ।। ६३ ।।
स्याल्लभ्यरूपस्तु यदि क्रमोऽयं मय्येव पच्येत तदस्य पापम् ।
दुःखानुबन्धो हि सुखोचितानां भवत्यदीर्घोऽप्यविषह्यतीक्ष्णः ।। ६४ ।।
त्रातुं न शक्यस्तु मया यदेवं विनिर्दहन्नात्महितं स राजा ।
उत्सृज्य तामात्मगतामशक्तिं राज्ञे करिष्यामि किमित्यसूयाम् ।। ६५ ।।
ऋतेऽपि राज्ञो मरणादिदुःखं जातेन सर्वेण निषेवितव्यम् ।
जन्मैव तेनात्र न मर्षणीयं तन्नास्ति चेत्किं च कुतश्च दुःखम् ।। ६६ ।।
कल्पाननल्पान् बहुधा विनष्टं शरीरकं जन्मपरम्परासु ।
जह्यां कथं तत्प्रलये तितिक्षां तृणस्य हेतोरिव रत्नजातम् ।। ६७ ।।
वने वसन् प्रव्रजितप्रतिज्ञः क्षमाभिधायी नचिरान्मरिष्यन् ।
किमक्षमायां प्रणयं करिष्ये तद्भैष्ट मा स्वस्ति च वोऽस्तु यात ।। ६८ ।।
इति स मुनिवरोऽनुशिष्य तान् सममुपनीय च साधुशिष्यताम् ।
अविचलितधृतिः क्षमाश्रयात्समधिरुरोह दिवं क्षमाश्रयात् ।। ६९ ।।

मरण और व्याधि से दुःखी, लोभ और द्वेष से ग्रसित, अपने दुष्कर्मों से दग्ध व्यक्ति तो किसी के भी दया का पात्र होता है, भला कोई उस पर क्रोध क्यों करेगा ? ।। ६३ ।।

यदि दुःख प्राप्य ही हो तो उसके पाप का परिणाम मुझे भुगतना पड़े, क्योंकि जो सुख के अभ्यस्त हैं, उसके लिए अल्पकालीन दुःख तीक्ष्ण और असह्य होता है ।। ६४ ।।

अपनी भलाई में आग लगानेवाले राजा को बचाने की शक्ति मुझमें नहीं है, तो अपनी इस कमजोरी को छोड़कर मैं उस राजा पर क्रोध क्यों करूँ ? ।। ६५ ।।

राजा के बिना मारे भी तो जन्म लेनेवाले मरते ही हैं । अतः जन्म ही दुःख का कारण है। क्योंकि, यदि किसी का जन्म ही नहीं हो तो दुःख कैसे होगा ? ।। ६६ ।।

अनेक कल्पों तक असंख्य जन्मों में यह क्षुद्र शरीर नाना प्रकार से नष्ट हुआ है, तो फिर, आज इसके विनष्ट होने पर मैं अपनी क्षमा को कैसे छोड़ दूँ, जैसे मुट्ठी भर खर के लिए कोई रत्न के खजाने को छोड़ दे ।। ६७ ।।

प्रव्रज्या की प्रतिज्ञा लेकर वन में निवास करता हुआ मैं सभी को क्षमा का उपदेश देकर ही शरीर त्यागना चाहता हूँ । फिर क्रोध को शरण देने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ? अतः आप लोग मुझसे डरें नहीं । आपका कल्याण हो । अब आप लोग यहाँ से प्रस्थान करें ।। ६८ ।।

इस तरह वे उत्तम मुनि उन्हें क्षमा का उपदेश देकर अपना शिष्य बना कर अविचल धैर्य के साथ इस धरती को छोड़कर स्वर्ग सिधार गये ।। ६९ ।।

तदेवं सात्मीभूतक्षमाणां प्रतिसङ्ख्यानमहतां नाविषह्यं नामास्तीति क्षान्तिगुणसंवर्णने मुनिमुपनीय वाच्यम् । चापलाक्षान्तिदोषनिदर्शने राजानमुपनीय कामादीनवकथायामपि वाच्यम्—एवं कामहेतोर्दुश्चरितमासेव्य विनिपातभागिनो भवन्तीति । सम्पदामनित्यतासन्दर्शने चेति ॥

इति क्षान्ति-जातकमष्टाविंशतितमम् ।

इस तरह जो क्षमाशील एवं शान्त हैं, उनके लिए असह्य कुछ भी नहीं है । क्षमा का गुण-वर्णन करने में मुनि का दृष्टान्त लेकर तथा चंचलता और क्रोध के दोष दिलाने में उक्त राजा का उदारण देकर यह कथा कहनी चाहिए । काम-भोग के दुष्परिणाम की चर्चा में भी यह कहना चाहिए । क्योंकि कामभोग के लिए दुष्कर्म करनेवाले निश्चय ही अधोगामी होते हैं। सम्पत्ति की अनित्यता दिखलाने में भी यह कथा कहनी चाहिए ।

क्षान्तिजातक अट्ठाइसवाँ समाप्त ।

(२९) ब्रह्म-जातकम्

मिथ्यादृष्टिपरमाण्यवद्यानीति विशेषानुकम्प्याः सतां दृष्टिव्यसनगताः। तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किलायं भगवान् ध्यानाभ्यासोपचितस्य कुशलस्य कर्मणो विपाकप्रभावाद् ब्रह्मलोके जन्म प्रतिलेभे। तस्य तन्महदपि ध्यानविशेषाधिगतं ब्राह्मं सुखं पूर्वजन्मसु कारुण्यपरिचयान्नैव परहितकरणव्यापारनिरुत्सुकं मनश्चकार।

विषयसुखेनापि परां प्रमादवक्तव्यतां व्रजति लोकः।
ध्यानसुखैरपि तु सतां न तिरस्क्रियते परहितेच्छा॥ १॥

अथ कदाचित्स महात्मा करुणाश्रयभूतं विविधदुःखव्यसनशतोपसृष्टमुत्क्लिष्टव्यापादविहिंसाकामधातुं कामधातुं व्यलोकयन् ददर्श विदेहराजमङ्गदिन्नं नाम कुमित्रसम्पर्कदोषादसन्मनस्कारपरिचयाच्च मिथ्यादृष्टिगहने परिभ्रमन्तम्। नास्ति परलोकः, कुतः शुभाशुभानां कर्मणां विपाक इत्येवं स निश्चयमुपेत्य प्रशान्तधर्मक्रियौत्सुक्यः प्रदानशीलादिसुकृतप्रतिपत्तिविमुखः

---

२९. ब्रह्म-जातक

भ्रमात्मक विचार निन्दित है, अतः विचारजन्य-दोष के संकट में फँसे लोग सज्जनों की अनुकम्पा के पात्र हैं। अतः जैसाकि सुना जाता है—

एक बार भगवान् बोधिसत्त्व ने ध्यान-योग के अभ्यास से एकत्रित शुभ कर्मों के फलस्वरूप ब्रह्मलोक में जन्म ग्रहण किया। ध्यानविशेष के द्वारा प्राप्त उनके उस महान् ब्रह्मसुख ने भी जन्मार्जित करुणा के अभ्यास के कारण परोपकार की ओर से उनके मन को विमुख नहीं कर पाया।

विषय-सेवन से होनेवाले क्षणिक सुख को पाकर भी लोग अपनी असावधानी के कारण निन्दा के पात्र बनते हैं। किन्तु, ध्यानयोग से प्राप्त स्थायी सुख को पाकर भी सज्जनों की परोपकारी प्रवृत्ति नष्ट नहीं होती॥ १॥

एक बार उस महात्मा ने अङ्गदिन्न नामक विदेहराज को कुछ लोगों के साथ गहन वन में भटकते देखा। उसके साथी अनेक विपत्तियों से विपन्न थे। द्वेष, हिंसा और वासनाजन्य दुःख से वे भरे थे। अपने बुरे मित्रों की संगति के कारण विदेहराज की बुद्धि भी भ्रष्ट हो गई थी। शुभाशुभ कर्मों का फल एवं परलोक को वह नहीं मानता था। इसी विचार के कारण किसी भी धार्मिक क्रिया में उसकी कुछ भी आस्था नहीं थी। दान एवं सदाचार जैसे शुभ कर्मों से वह बिलकुल विमुख था। धार्मिकों के प्रति उसके मन में बिलकुल अनास्था थी। धर्मशास्त्रों के प्रति अश्रद्धा के

संरूढपरिभवबुद्धिर्धार्मिकेष्वश्रद्धारूक्षमतिर्धर्मशास्त्रेषु परिहासचित्तः परलोककथासु शिथिलविनयोपचारगौरवबहुमानः श्रमणब्राह्मणेषु कामसुखपरायणो बभूव ।

शुभाशुभं कर्म सुखासुखोदयं ध्रुवं परत्रेति विरूढनिश्चयः ।
अपास्य पापं यतते शुभाश्रयो यथेष्टमश्रद्धतया तु गम्यते ।। २ ।।

अथ स महात्मा देवर्षिस्तस्य राज्ञस्तेन दृष्टिव्यसनोपनिपातेनापायिकेन लोकानर्थाकरभूतेन समावर्जितानुकम्पस्तस्य राज्ञो विषयसुखाकलितमतेः श्रीमति प्रविविक्ते विमानदेशेऽवतिष्ठमानस्याभिज्वलन् ब्रह्मलोकात्पुरस्तात्समवततार ।

अथ स राजा तमग्निस्कन्धमिव ज्वलन्तं विद्युत्समूहमिव चावभासमानं दिनकरकिरणसङ्घातमिव च परया दीप्त्या विरोचमानमभिवीक्ष्य तत्तेजसाभिभूतमतिः ससम्भ्रमः प्राञ्जलिरेनं प्रत्युत्थाय सबहुमानमुदीक्षमाण इत्युवाच—

करोति ते भूरिव सम्परिग्रहं नभोऽपि पद्मोपमपाद पादयोः ।
विभासि सौरीमिव चोद्वहन् प्रभां विलोचनानन्दनरूप को भवान् ।। ३ ।।

कारण उसके स्वभाव बड़े रूखे थे । परलोक की बातें सुनकर उसे हँसी आती थी । साधु और ब्राह्मणों के प्रति उसका विनय और सम्मान का भाव विनष्ट हो गया था । वह आकण्ठ भोग-सुख में आसक्त था ।

'मरने के बाद मनुष्य को परलोक में जो सुख या दुःख मिलता है, वह उसके शुभ या अशुभ कर्म के ही फल होते हैं ? यह विश्वास जिसे हो जाता है, वह अशुभ कर्म छोड़कर शुभकर्म का ही पल्ला थाम लेता है । उसके लिए वह सदैव प्रयत्नशील भी बना रहता है । किन्तु इस बात में जिसे आस्था नहीं है, वह जहाँ जाना चाहता है वहाँ पहुँच ही जाता है ।। २ ।।

उस राजा की आसक्ति मिथ्यादृष्टि में थी । उसके विचार दुर्गतिदायक एवं अनर्थकारी थे । उसे देखकर उस देवर्षि के हृदय में दया उमड़ आयी । एक बार वह राजा विषय-सुख में आसक्तचित्त होकर अपने सुन्दर एकान्त कुन्ज में जब बैठा था, तब वह ब्रह्मर्षि ब्रह्मलोक से प्रज्ज्वलित अग्नि की तरह नीचे उतर कर उसके सामने प्रकट हुए ।

तब उस राजा ने अग्निपुन्ज के समान प्रज्ज्वलित, विद्युतसमूह की तरह प्रभासित, सूर्य-किरणों की तरह अति प्रदीप्त, उन्हें देखकर, उनके तेज से अभिभूत होकर, घबड़ाते हुए हाथ जोड़कर उनकी अगवानी में उठकर ससम्मान उनकी ओर देखते हुए कहा—

हे कमल की तरह पैरवाले ! आकाश भी धरती की तरह आपके चरणों को धारण कर रहा है । सूर्य की तरह प्रभा को धारण करते हुए आप चमक रहे हैं । हे आँखों को आनन्द देनेवाले ! आप कौन हैं ।। ३ ।।

बोधिसत्त्व उवाच—

जित्वा दृप्तौ शात्रवमुख्याविव सङ्ख्ये
रागद्वेषौ चित्तसमादानबलेन ।
ब्राह्मं लोकं येऽभिगता भूमिप तेषां
देवर्षीणामन्यतमं मां त्वमवेहि ॥ ४ ॥

इत्युक्ते स राजा स्वागतादिप्रियवचनपुरःसरं पाद्यार्घ्यसत्कारमस्मै समुपहृत्य सविस्मयमेनमभिवीक्षमाण उवाच—आश्चर्यरूपः खलु ते महर्षे ऋद्धिप्रभावः ।

प्रासादभित्तिष्वविषज्यमानश्चंक्रम्यसे व्योम्नि यथैव भूमौ ।
शतह्रदोन्मेषसमृद्धदीप्ते प्रचक्ष्व तत्केन तवेयमृद्धिः ॥ ५ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—

ध्यानस्य शीलस्य च निर्मलस्य वरस्य चैवेन्द्रियसंवरस्य ।
सात्मीकृतस्यान्यभवेषु राजन्नेवंप्रकारा फलसिद्धिरेषा ॥ ६ ॥

राजोवाच—किं सत्यमेवेदमस्ति परलोक इति ? ब्रह्मोवाच-आम् ! अस्ति महाराज परलोकः । राजोवाच—कथं पुनरिदं मार्ष शक्यमस्माभिरपि श्रद्धातुं स्यात् ? बोधिसत्त्व उवाच—स्थूलमेतन्महाराज प्रत्यक्षादिप्रमाणयुक्तिग्राह्यमाप्तजननिदर्शितक्रमं परीक्षाक्रमगम्यं च । पश्यतु भवान् ।

बोधिसत्त्व ने कहा—

युद्ध के मैदान में खड़े दो अभिमानी शत्रुओं की तरह राग और द्वेष को आत्मसंयम से जीत कर जो व्यक्ति ब्रह्मलोक जाते हैं। उन देवर्षियों में से आप मुझे एक जानें ॥ ४ ॥

इतना सुनने के बाद उस राजा ने मीठी बातों से उनका स्वागत-सत्कार किया। पाद-प्रक्षालन के लिए उन्हें जल और अर्घ्य दिया। फिर विस्मय के साथ उनकी ओर देखते हुए उसने कहा—हे महर्षि, आपकी दिव्य-शक्ति का प्रभाव आश्चर्यजनक है।

महल की दीवारों से अलग रहते हुए आप आकाश में ऐसे चलते हैं, जैसे धरती पर। हे बिजली की चमक के समान उज्ज्वल दीप्तिवाले ! कृपया बतलाइए कि आपने यह शक्ति कैसे पाई है ॥ ५ ॥

बोधिसत्त्व ने कहा—

हे राजन् ! पूर्वजन्मों में अभ्यस्त ध्यान, निर्मल सदाचरण और उत्तम इन्द्रियसंयम के फलस्वरूप यह शक्ति मैंने पाई है ॥ ६ ॥

राजा ने पूछा—'परलोक है' क्या यह बात सच है ? उस ब्रह्मर्षि ने कहा—हाँ राजन्, परलोक है। राजा ने फिर पूछा—इस पर विश्वास कैसे किया जाये ?

चन्द्रार्कनक्षत्रविभूषणा द्यौस्तिर्यग्विकल्पाश्च बहुप्रकाराः ।
प्रत्यक्षरूपः परलोक एष मा तेऽत्र सन्देहजडा मतिर्भूत् ॥ ७ ॥
जातिस्मराः सन्ति च तत्र तत्र ध्यानाभियोगात्स्मृतिपाटवाच्च ।
अतोऽपि लोकः परतोऽनुमेयः साक्ष्यं च नन्वत्र कृतं मयैव ॥ ८ ॥
यद्बुद्धिपूर्वैव च बुद्धिसिद्धिर्लोकः परोऽस्तीति ततोऽप्यवेहि ।
आद्या हि या गर्भगतस्य बुद्धिः सानन्तरं पूर्वकजन्मबुद्धेः ॥ ९ ॥
ज्ञेयावबोधं च वदन्ति बुद्धिं जन्मादिबुद्धेर्विषयोऽस्ति तस्मात् ।
न चैहिकोऽसौ नयनाद्यभावात्सिद्धौ यदीयस्तु परः स लोकः ॥ १० ॥
पित्र्यं स्वभावं व्यतिरिच्य दृष्टः शीलादिभेदश्च यतः प्रजानाम् ।
नाकस्मिकस्यास्ति च यत्प्रसिद्धिर्जात्यन्तराभ्यासमयः स तस्मात् ॥ ११ ॥
पटुत्वहीनेऽपि मतिप्रभावे जडप्रकारेष्वपि चेन्द्रियेषु ।
विनोपदेशात्प्रतिपद्यते यत्प्रसूतमात्रः स्तनपानयत्नम् ॥ १२ ॥

बोधिसत्त्व ने उत्तर दिया—राजन् ! यह मोटी बात है। तर्कों एवं प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा यह बोधगम्य है। विश्वसनीय व्यक्तियों ने इसे उदाहरण देकर समझाया है। परीक्षा-पद्धति द्वारा भी इसे जाना जा सकता है। आप देखिए—

आकाश सूर्य, चन्द्रमा और ताराओं से सुशोभित है तथा पशु एवं पक्षियों की अनेक जातियाँ हैं, यह परलोक का ही तो प्रत्यक्ष रूप है। इसमें आपको संदेह नहीं करना चाहिए ॥ ७ ॥

ध्यानयोग एवं तीक्ष्ण स्मृतियों के कारण बहुतों को पूर्वजन्मों की स्मृति है। इससे भी तो परलोक का अनुमान करना चाहिए। मैंने भी तो इस विषय में साक्ष्य दिया ही है ॥ ८ ॥

जन्मार्जित बुद्धि से ही बुद्धि का विकास होता है। इससे भी आपको जानना चाहिए कि परलोक है। गर्भस्थ शिशु की जो पहली बुद्धि है, वह भी तो पूर्वजन्म की बुद्धि से क्रमबद्ध है ॥ ९ ॥

किसी भी ज्ञान के विषय को समझने की शक्ति को बुद्धि कहते हैं। गर्भस्थ शिशु की बुद्धि के प्रयोग का कोई विषय होना चाहिए। किन्तु, इस संसार में उस अवस्था में नेत्र आदि इन्द्रियों के अभाव में वह विषय उपलब्ध नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि वह विषय परलोक में है ॥ १० ॥

पिता के स्वभाव के विपरीत सन्तान के आचरण में भेद पाया जाता है। यह भेद आकस्मिक नहीं कहा जा सकता। अतः यह कहना ही पड़ेगा कि वह जन्मान्तर के अभ्यास से होता है ॥ ११ ॥

सद्यःप्रसूत शिशु में न किसी तरह की पटुता है और न उसकी इन्द्रियाँ ही सक्षम हैं, फिर भी बिना किसी शिक्षा के वह स्तनपान की चेष्टा कैसे करता है ?

आहारयोग्यासु कृतश्रमत्वं तद्दर्शयत्यस्य भवान्तरेषु।
अभ्याससिद्धिर्हि पटूकरोति शिक्षागणं कर्मसु तेषु तेषु ॥ १३ ॥

तत्र चेत्परलोकसम्प्रत्ययापरिचयात्स्यादियमाशङ्का भवतः—

यत्सङ्कुचन्ति विकसन्ति च पङ्कजानि
कामं तदन्यभवचेष्टितसिद्धिरेषा।
नो चेत्तदिष्टमथ किं स्तनपानयत्नं
जात्यन्तरीयकपरिश्रमजं करोषि ॥ १४ ॥

सा चाशङ्का नानुविधेया नियमानियमदर्शनात्प्रयत्नानुपपत्त्युपपत्तिभ्यां च।

दृष्टो हि कालनियमः कमलप्रबोधे
सम्मीलने च न पुनः स्तनपानयत्ने।
यत्नश्च नास्ति कमले स्तनपे तु दृष्टः
सूर्यप्रभाव इति पद्मविकासहेतुः ॥ १५ ॥

तदेवं महाराज सम्यगुपपरीक्षमाणेन शक्यमेतच्छ्रद्धातुम्—अस्ति परलोक इति। अथ स राजा मिथ्यादृष्टिपरिग्रहाभिनिविष्टबुद्धित्वादुपचितपापत्वाच्च तां परलोककथां श्रुत्वा असुखायमान उवाच—भो महर्षे !

लोकः परो यदि न बालविभीषिकैषा
ग्राह्यं मयैतदिति वा यदि मन्यसे त्वम्।

इससे भी यह प्रमाणित होता है कि जन्मान्तर में उसने आहार-ग्रहण की विधियों का अभ्यास किया है। क्योंकि अभ्यासजन्य-सिद्धि कार्यक्षमता को तीव्र करती है ॥ १३ ॥

परलोक पर विश्वास न होने के कारण यदि आपको यह संदेह हो—

कमलों का खिलना और बन्द होना भी तो ऐसी स्थिति में जन्मान्तर की चेष्टा का ही परिणाम माना जा सकता है। यदि यह आपको मान्य नहीं है, तो स्तनपान के प्रयास को जन्मान्तर का संस्कार क्यों कहते हैं ॥ १४ ॥

ऐसा सन्देह आपको नहीं करना चाहिए। क्योंकि एक में आप काल का नियम देखते हैं और दूसरे में नहीं। एक प्रयत्नसाध्य है और दूसरा अनायास उपलब्ध है।

कमल समय पर ही विकसित या मुकुलित होता है। किन्तु स्तनपान में समय की कोई प्रतिबद्धता नहीं है। कमल के खिलने या बन्द होने में कोई यत्न नहीं है किन्तु स्तन पीनेवाले में यत्न है। कमल तो सूर्य-किरण के प्रभाव से ही खिलता है।

अतः अच्छी तरह परीक्षा लेकर हे राजन्! आप परलोक के अस्तित्व में विश्वास कर सकते हैं। किन्तु राजा ने मिथ्यादृष्टि के दुराग्रह तथा अपने एकत्रित पापों के कारण दुःख अनुभव करते हुए कहा—हे मुनि !

यदि परलोक बच्चों को डराने का हौआ नहीं है, अथवा मेरे स्वीकार करने

तेनेह नः प्रदिश निष्कशतानि पञ्च
तत्ते सहस्रमहमन्यभवे प्रदास्ये ।। १६ ।।

अथ बोधिसत्त्वस्तदस्य प्रागल्भ्यपरिचयनिर्विशङ्कं मिथ्यादृष्टिविषोद्गारभूतमसमुदाचारवचनं युक्तेनैव क्रमेण प्रत्युवाच—

इहापि तावद्धनसम्पदर्थिनः प्रयुञ्जते नैव धनं दुरात्मनि ।
न घस्मरे नानिपुणे न चालसे गतं हि यत्तत्र तदन्तमेति तत् ।। १७ ।।
यमेव पश्यन्ति तु सव्यपत्रपं शमाभिजातं व्यवहारनैपुणम् ।
ऋणं प्रयच्छन्ति रहोऽपि तद्विधे तदर्पणं ह्यभ्युदयावहं धनम् ।। १८ ।।
क्रमश्च तावद्विध एव गम्यतामृणप्रयोगे नृप पारलौकिके ।
त्वयि त्वसद्दर्शनदुष्टचेष्टिते धनप्रयोगस्य गतिर्न विद्यते ।। १९ ।।
कुदृष्टिदोषप्रभवैर्हि दारुणैर्निपातितं त्वां नरके स्वकर्मभिः ।
विचेतसं निष्कसहस्रकारणाद्रुजातुरं कः प्रतिचोदयेत्ततः ।। २० ।।
न तत्र चन्द्रार्ककरैर्दिगङ्गना विभान्ति सङ्क्षिप्ततमोऽवगुण्ठनाः ।
न चैव तारागणभूषणं नभः सरः प्रबुद्धैः कुमुदैरिवेक्ष्यते ।। २१ ।।

योग्य इसे आप समझते हैं, तो पाँच सौ स्वर्णमुद्राएँ मुझे अभी दीजिए, मैं अगले जन्म में एक हजार स्वर्णमुद्रा लौटा दूंगा ।। १६ ।।

तब बोधिसत्त्व ने राजा की प्रगलभता के कारण निस्संकोच भाव से कही गई अनुचित बातों का उचित रूप से उत्तर दिया। क्योंकि मिथ्यादृष्टि के कारण ही राजा ने जहर उगलने की चेष्टा की थी।

संसार में भी धन कमानेवाले लोग बदमाश, पेटू, निकम्मा या किसी आलसी को पैसे यों ही नहीं देते, क्योंकि ऐसे लोगों को दिया गया धन लौटता नहीं है।

ठीक इसके विपरीत संकोची, शान्त एवं व्यवहार-कुशल व्यक्ति को बिना किसी साक्ष्य के भी वे ऋण दे देते हैं। क्योंकि उन्हें दिया गया धन कभी डूबता नहीं है।

हे राजन् ! पारलौकिक ऋण की विधि को भी इसी तरह जानो। भ्रमात्मक ज्ञान के ही कारण आपका आचरण बिगड़ गया है। अतः आपको धन देना ठीक नहीं है ।। १९ ।।

भ्रमवश किए जानेवाले क्रूर कर्मों के लिए तुम्हें नरक जाना ही पड़ेगा। वहाँ पीड़ा में तड़पते बेहोशी की स्थिति में एक हजार स्वर्ण मुद्रा के लिए तुम्हें कौन तंग करेगा ।। २० ।।

वहाँ अन्धकार रूपी घूंघट में छिपे दिग्वधूओं का मुखड़ा न तो चन्द्र या सूर्य की किरणों से प्रकाशित होता है और न तो ताराओं से अलंकृत खिले कुमुदोंवाले सरोबर की तरह आकाश ही दिखलाई पड़ते हैं ।। २१ ।।

परत्र यस्मिन्निवसन्ति नास्तिका घनं तमस्तत्र हिमश्च मारुतः ।
करोति योऽस्थीन्यपि दारयन् रुजं तमात्मवान् कः प्रविशेद्धनेप्सया ॥२२॥
घनान्धकारे पटुधूमदुर्दिने भ्रमन्ति केचिन्नरकोदरे चिरम् ।
स्वव्रध्रचीरप्रविकर्षणातुराः परस्परप्रस्खलनार्तनादिनः ॥ २३ ॥
विशीर्यमाणैश्चरणैर्मुहुर्मुहुर्ज्वलत्कुकूले नरके तथापरे ।
दिशः प्रधावन्ति तदुन्मुमुक्षया न चान्तमायान्त्यशुभस्य नायुषः ॥ २४ ॥
आतक्ष्य तक्षाण इवापरेषां गात्राणि रौद्रा विनियम्य याम्याः ।
निस्तक्ष्णुवन्त्येव शिताग्रशस्त्राः सार्द्रेषु दारुष्विव लब्धहर्षाः ॥ २५ ॥
समुत्क्रुत्तसर्वत्वचो वेदनार्ता विमांसीकृताः केचिदप्यस्थिशेषाः ।
न चायान्ति नाशं धृता दुष्कृतैः स्वैस्तथा चापरे खण्डशश्छिद्यमानाः ॥२६॥
ज्वलितपृथुखलीनपूर्णवक्त्राः स्थिरदहनासु महीष्वयोमयीषु ।
ज्वलनकपिलयोक्त्रतोत्रवश्याश्चिरमपरे ज्वलतो रथान् वहन्ति ॥ २७ ॥

सङ्घातपर्वतसमागमपिष्टदेहाः
केचित्तदाक्रमणचूर्णितमूर्तयोऽपि ।

जहाँ घोर अन्धकार है, बर्फीली हवा हड्डियों को भेदकर पीड़ा पहुँचाती है, जहाँ केवल नास्तिकों का ही निवास है, ऐसे घोर नरक में कौन भला आदमी धन के लोभ से घुसेगा ॥ २२ ॥

अंधकार में छिपे, सघन धुंए से दुर्दिन बने नरक में भी कुछ लोग बहुत दिनों तक भटकते रहते हैं। वे चमड़े की रस्सी और चिथड़े खींचने में अकुलाते रहते हैं। वे एक दूसरे पर गिरते-पड़ते चिल्लाते रहते हैं ॥ २३ ॥

कुछ लोग जलती भूसीवाले नरक में पैर के घायल हो जाने के बावजूद उस नरक से छुटकारा पाने के लिए चक्कर मारते रहते हैं। फिर भी न तो उनके पाप का अन्त होता है और न आयु ही घटती है ॥ २४ ॥

डरावने यमदूत कुछ लोगों की देह को बाँधकर बढ़ई की तरह आरे से चीरते हैं। तेज हथियारों से उन्हें तराशते हुए वे उसी तरह खुश होते हैं, जैसे कच्ची लकड़ियों पर काम करते हुए कोई बढ़ई ॥ २५ ॥

कुछ लोगों की चमड़ियाँ उधेड़ दी जाती हैं। हड्डियों से मांस काटकर अलग कर दिया जाता है। पीड़ा से वे तड़पते रहते हैं और तब उन्हें टुकड़े-टुकड़े काटा जाता है। फिर भी वे मरते नहीं, पाप का फल भोगने के लिए उन्हें जिन्दा रहना पड़ता है।

कुछ के मुँह में कटीली, चौड़ी, आग में जलती लगाम लगी रहती है। आग में जलते लोहे की धरती पर, धधकते रथ को लगातार खींचने के लिए आग की रस्सी वाले चाबुक से मारकर वश में लाया जाता है ॥ २७ ॥

संघात नामक पर्वत के नीचे कुछ लोग दब कर पिस जाते हैं, चूर-चूर हो जाते

दुःखे महत्यविकलेऽपि च नो म्रियन्ते
यावत्परिक्षयमुपैति न कर्म पापम् ॥ २८ ॥

द्रोणीषु केचिज्ज्वलनोज्ज्वलासु लौहैर्महद्भिर्मुसलैर्ज्वलद्भिः।
समानि पञ्चापि समाशतानि सञ्चूर्ण्यमाना विसृजन्ति नासून् ॥ २९ ॥

तीक्ष्णायसज्वलितकण्टककर्कशेषु तप्तेषु विद्रुमनिभेष्वपरे द्रुमेषु।
पाटचन्त ऊर्ध्वमध एव च कृष्यमाणाः क्रूरै रवैरपुरुषैः पुरुषैर्यमस्य ॥३०॥

ज्वलितेषु तप्ततपनीयनिभेष्वङ्गारराशिषु महत्स्वपरे।
उपभुञ्जते स्वचरितस्य फलं विस्पन्दितारसितमात्रबलाः ॥ ३१ ॥

केचित्तीक्ष्णैः शङ्कुशतैराततजिह्वा
ज्वालामालादीप्ततरायां वसुधायाम्।
रारटचन्ते तीव्ररुजाविष्टशरीराः
प्रत्याय्यन्ते ते च तदानीं परलोकम् ॥ ३२ ॥

आवेष्टचन्ते लोहपट्टैर्ज्वलद्भिर्निष्क्वाथ्यन्ते लोहकुम्भीष्वथान्ये।
केचित्तीक्ष्णैः शस्त्रवर्षैः क्षताङ्गा निस्त्वङ्मांसा व्यालसङ्घैः क्रियन्ते ॥३३॥

केचित्क्लान्ता वह्निसंस्पर्शतीक्ष्णं क्षारं तोयं वैतरण्यां विशन्ति।
संशीर्यन्ते यत्र मांसानि तेषां नो तु प्राणा दुष्कृतैर्धार्यमाणाः ॥ ३४ ॥

हैं। घोर कष्ट में तड़पते रहते हैं, फिर भी वे तब तक नहीं मरते जब तक उनके पाप का फल चुक नहीं जाता ॥ २८ ॥

आग में जलती ओखली में जलते मुसल से कुछ लोग लगातार पाँच सौ साल तक कूटे जाने पर भी प्राण नहीं छोड़ते ॥ २९ ॥

कुछ लोगों को आग में जलते कटीले लोहे के पेड़ में लटका दिया जाता है और यमदूत गलियाकर उन्हें नीचे-ऊपर खींच कर चीरते रहते हैं ॥ ३० ॥

तपे हुए सोने की तरह जलते अंगारों के ढेर पर कुछ लोगों को अपने कुकर्म का फल भोगने के लिए छोड़ दिया जाता है। उस समय उनका अपना करुण-क्रन्दन ही एकमात्र सहारा होता है ॥ ३१ ॥

कुछ की देह में तेज धारवाली सैकड़ों बर्छियों को चुभाकर आग की लपटों में धधकती धरती पर जीभ निकाल कर जोर-जोर से चिल्लाने के लिए छोड़ दिया जाता है। पीड़ा में जब वे खूब छटपटाने लगते हैं, तब उन्हें परलोक पर विश्वास करना पड़ता है ॥ ३२ ॥

कुछ को लोहे की जलती चादरों में लपेटा जाता है। कुछ को लोहे के कड़ाहों में उबाला जाता है। कुछ की देह को तेज धारवाले हथियारों से काटकर अलग कर दिया जाता है। कुछ को हिंसक जन्तु मांस और हड्डियों को काट-काटकर कष्ट पहुँचाते हैं ॥ ३३ ॥

आग में खौलते वैतरणी के खारे जल में परिश्रम से थके कुछ को डुबाया जाता

अशुचिकुणपमभ्युपेयिवांसो ह्रदमिव दाहपरिश्रमार्तचित्ताः ।
अतुलमनुभवन्ति तत्र दुःखं क्रिमिशतजर्जरितास्थिभिः शरीरैः ।। ३५ ।।
ज्वलनपरिगता ज्वलच्छरीराश्चिरमपरेऽनुभवन्ति दाहदुःखम् ।
ज्वलनपरिगतायसप्रकाशाः स्वकृतधृता न च भस्मसाद्भवन्ति ।। ३६ ।।

पाटयन्ते क्रकचैर्ज्वलद्भिरपरे केचिन्निशातैः क्षुरैः
केचिन्मुद्गरवेगपिष्टशिरसः कूजन्ति शोकातुराः ।
पच्यन्ते पृथुशूलभिन्नवपुषः केचिद्विधूमेऽनले
पाय्यन्ते ज्वलिताग्निवर्णमपरे लौहं रसन्तो रसम् ।। ३७ ।।

अपरे श्वभिर्भृशबलैः शबलैरभिपत्य तीक्ष्णदशनैर्दशनैः ।
परिलुप्तमांसतनवस्तनवः प्रपतन्ति दीनविरुता विरुताः ।। ३८ ।।

एवं प्रकारमसुखं निरयेषु घोरं
प्राप्तो भविष्यसि (भवान्) स्वकृतप्रणुन्नः ।
शोकातुरं श्रमविषादपरीतचित्तं
याचेदृणं क इव नाम तदा भवन्तम् ।। ३९ ।।

लौहीषु दुर्जनकलेवरसङ्कुलासु
कुम्भीष्वभिज्वलितवह्निदुरासदासु ।

है । वहाँ उनके मांस तो गल जाते हैं पर, अपने कुकर्म का फल भोगने के लिए उन्हें जिन्दा रहना पड़ता है ।। ३४ ।।

जलन की थकावट से अभिभूत होकर कुछ लोग तालाब की तरह अपवित्र कुणप नामक नरक में पहुँचकर असीम कष्ट झेलते हैं । वहाँ उनके शरीर की हड्डियाँ सैकड़ों कीड़ों से खोखली बना दी जाती हैं ।। ३५ ।।

कुछ लोगों की देह बहुत दिनों तक आग में धधकती रहती है । जलते लोहे की तरह वे दीखते हैं और जलन का दुःख भोगते हुए दुष्कर्म का फल भोगने को जिन्दा रहते हैं ।। ३६ ।।

कुछ को जलते आरे से चीरा जाता है । तेज चाकू से कुछ को काटा जाता है । कुछ के माथे मुद्गर से चूर किये जाते हैं । वेदना से वे बिलखते रहते हैं । कुछ को पिघले ताम्बे का रस पिलाया जाता है और कुछ को निर्धूम आग में जलाया जाता है ।। ३७ ।।

कुछ को चितकबरे बलिष्ठ कुत्ते तेज दाँतों से नोच-नोचकर धराशायी बना डालते हैं । मांसहीन शरीरवाले ऐसे लोग आर्त्त-विलाप करते रहते हैं ।। ३८ ।।

अपने कुकर्म के कारण जब तुम नरक में ऐसे भोग भोगते रहोगे, तब तुमसे रुपये माँगने वहाँ कौन जायेगा ? तुम तो स्वयं शोक से विह्वल थकावट और विषाद से अभिभूत होकर तड़पते रहोगे ।। ३९ ।।

दुर्जनों की देह से भरे हुए, जलती आग से दुर्गम बने कड़ाहों में खौलते

प्रक्वाथवेगवशगं विवशं भ्रमन्तं
याचेदृणं क इव नाम तदा भवन्तम् ।। ४० ।।
यच्चायसज्वलितकीलनिबद्धदेहं
निर्धूमवह्निकपिले वसुधातले वा ।
निर्दह्यमानवपुषं करुणं रुदन्तं
याचेदृणं क इव नाम तदा भवन्तम् ।। ४१ ।।
प्राप्तं पराभवं तं दुःखानि महान्ति कस्तदानुभवन्तम् ।
याचेदृणं भवन्तं प्रतिवचनमपि प्रदातुमप्रभवन्तम् ।। ४२ ।।
विशस्यमानं हिममारुतेन वा निकूजितव्येऽपि विपन्नविक्रमम् ।
विदार्यमाणं भृशमार्तिनादिनं परत्र कस्त्वार्हति याचितुं धनम् ।। ४३ ।।
विहिंस्यमानं पुरुषैर्यमस्य वा विचेष्टमानं ज्वलितेऽथवानले ।
श्ववायसैर्व्याहृतमांसशोणितं परत्र कस्त्वा धनयाच्ञया तुदेत् ।। ४४ ।।
वधविकर्तनताडनपाटनैर्दहनतक्षणपेषणभेदनैः ।
विशसनैर्विविधैश्च सदातुरः कथमृणं प्रतिदास्यसि मे तदा ।। ४५ ।।

अथ स राजा, तां निरयकथामतिभीषणां समुपश्रुत्य जातसंवेगस्त्यक्त-मिथ्यादृष्टचनुरागो लब्धसम्प्रत्ययः परलोके, तमृषिवरं प्रणम्योवाच—

पानी के वेग से विवश होकर जब तुम चक्कर काटते रहोगे, तब तुमसे कौन ऋण वसूलेगा ? ।। ४० ।।

जब जलते हुए लोहे के कील आपकी देह में गड़े रहेंगे और धूमरहित आग से भूरी धरती पर आपकी देह जलती रहेगी, आप दीनतापूर्वक बिलखते रहेंगे, उस समय भला आपसे कौन ऋण माँगेगा ।। ४१ ।।

इस तरह अपमानित होते हुए, घोर दुःख झेलते किसी बात का जबाव भी देने योग्य जब तुम नहीं रहोगे, तब भला तुमसे कौन खाया ऋण वसूल करेगा ।। ४२ ।।

जब तुम बर्फीली हवा से काटे जाओगे, तब तुममें कराहने की भी ताकत नहीं रहेगी। हथियारों से काटे जाते समय तुम जोर से जब चिल्ला भी न पाओगे, तब भला तुमसे कौन ऋण माँगेगा उस परलोक में ।। ४३ ।।

जब यमदूत तुम्हारी हिंसा में लगे रहेंगे और जलती आग में तुम तड़पते रहोगे, कुत्ते और कौए नोंच-नोंचकर तुम्हारे मांस खाते रहेंगे, तब वह कौन निष्ठुर होगा, जो धन की माँग से परलोक में तुम्हें पीड़ित करना चाहेगा ।। ४४ ।।

वध, कर्त्तन, ताडन, विदारण, दाह, तराशना, पेषण और भेदन जैसे हिंसा के विविध हथकंडों से जब तुम वहाँ पीड़ित रहोगे तब तुम्हीं बतलाओ, उस परलोक में मेरा ऋण कैसे चुकाओगे ।। ४५ ।।

नरक की इस भयंकर गाथा को सुनकर राजा के मन में वैराग्य के बीज उग

निशम्य तावन्नरकेषु यातनां भयादिदं विद्रवतीव मे मनः।
कथं भविष्यामि न तां समेयिवान् वितर्कवह्निर्दहतीव मां पुनः ॥ ४६ ॥
मया ह्यसद्दर्शननष्टचेतसा कुवर्त्मना यातमदीर्घदर्शिना।
तदत्र मे साधुगतिर्गतिर्भवान् परायणं त्वं शरणं च मे मुने ॥ ४७ ॥
तथैव मे दृष्टितमस्त्वयोद्धृतं दिवाकरेणेव समुद्यता तमः।
यथैव मार्गं त्वमृषे प्रचक्ष्व मे भजेय येनाहमितो न दुर्गतिम् ॥ ४८ ॥

अथैनं बोधिसत्त्वः संविग्नमानसमृजूभूतदृष्टिं धर्मप्रतिपत्तिपात्रभूतमवेक्ष्य पितेव पुत्रमाचार्य इव च शिष्यमनुकम्पमान इति समनुशशास—

सुशिष्यवृत्त्या श्रमणद्विजेषु पूर्वे गुणप्रेम यथा विचक्रुः।
नृपाः स्ववृत्त्या च दयां प्रजासु कीर्तिक्षमः स त्रिदिवस्य पन्थाः ॥ ४९ ॥
अधर्ममस्माद् भृशदुर्जयं जयन् कदर्यभावं च दुरुत्तरं तरन्।
उपैहि रत्नातिशयोज्ज्वलं ज्वलन् दिवस्पतेः काञ्चनगोपुरं पुरम् ॥ ५० ॥
मनस्यसद्दर्शनसंस्तुतेऽस्तु ते रुचिस्थिरं सज्जनसम्मतं मतम्।
जहीहि तं बालिशरञ्जनैर्जनैः प्रवेदितोऽधर्मविनिश्चयश्च यः ॥ ५१ ॥

ाये। भ्रमात्मक बुद्धि के प्रति प्राप्त आसक्ति को छोड़कर उसने परलोक पर विश्वास ...या तथा उस ब्रह्मर्षि को प्रणाम कर निवेदित किया—

नरक की यातना सुनकर मेरा मन भयाक्रांत हो रहा है। उस यातना से मुक्ति ...झे कैसे मिलेगी, इस चिन्ता की आग मुझे बार-बार जला रही है ॥ ४६ ॥

भ्रमात्मक बुद्धि से ज्ञान नष्ट होने पर मैं अदीर्घदर्शी कुमार्ग पर चला। अतः ...स सम्बन्ध में आप उत्तम गतिवाले मेरी गति, मेरा आश्रय और एकमात्र मेरी ...रण हैं ॥ ४७ ॥

जैसे उगता हुआ सूर्य अन्धकार को दूर करता है, उसी तरह आपने मेरी आँखों ...र पड़े पर्दे को हटा दिया। हे ऋषे! कोई राह बतलायें ताकि मुझे दुर्गति से मुक्ति ...मिले ॥ ४८ ॥

उनके मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया है, दृष्टिदोष मिट गया है। वह धर्माचरण ...का पात्र बन गया है—यह सोचकर बोधिसत्त्व ने उस पर, पिता जैसे पुत्र पर, गुरु ...जैसे शिष्य पर अनुकम्पा करता है, उसी तरह कृपापूर्वक यों उपदेश दिया—

पूर्व के राजाओं ने संन्यासियों और ब्राह्मणों के प्रति उत्तम शिष्य की तरह ...आचरण करते हुए गुण के प्रति अपना जो अनुराग प्रदर्शित किया तथा अपने पवित्र ...आचरण से प्रजा पर जो दया की, एकमात्र वही कीर्त्तिदायक स्वर्ग प्राप्ति की राह है। अतः अत्यन्त दुर्जय अधर्म पर विजय प्राप्त करते हुए अपनी कृपणता को छोड़कर ...रत्नों से प्रदीप्त, स्वर्णद्वार वाली देवराज इन्द्र की नगरी में प्रवेश करो ॥ ५० ॥

मूर्खों को खुश करनेवाले लोगों ने तुम्हें जिस कुमार्ग की ओर बहकाया है, उसे

त्वया हि सद्दर्शनसाधुनाधुना नरेन्द्र वृत्तेन यियासता सता ।
यदैव चित्ते गुणरूक्षता क्षता तदैव ते मार्गकृतास्पदं पदम् ॥ ५२ ॥
कुरुष्व तस्माद् गुणसाधनं धनं शिवां च लोके स्वहितोदयां दयाम् ।
स्थिरं च शीलेन्द्रियसंवरं वरं परत्र हि स्यादशिवं न तेन ते ॥५३॥
स्वपुण्यलक्ष्म्या नृप दीप्तयाप्तया सुकृत्सु शुक्लत्वमनोज्ञयाज्ञया ।
चरात्मनोऽर्थप्रतिसंहितं हितं जगद्व्यथां कीर्तिमनोहरं हरन् ॥ ५४ ॥
त्वमत्र सम्मानससारथी रथी स्व एव देहो गुणसूरथो रथः ।
अरूक्षताक्षो दमदानचक्रवान् समन्वितः पुण्यमनीषयेषया ॥ ५५ ॥
यतेन्द्रियाश्वः स्मृतिरश्मिसम्पदा मतिप्रतोदः श्रुतिविस्तरायुधः ।
ह्र्युपस्करः सन्नतिचारुकूबरः क्षमायुगो दाक्षगतिर्धृतिस्थिरः ॥ ५६ ॥
असद्वचः संयमनादकूजनो मनोज्ञवाङ् मन्द्रगभीरनिःस्वनः ।
अमुक्तसन्धिर्नियमाविखण्डनादसत्क्रियाजिह्मविवर्जनार्जवः ॥ ५७ ॥

छोड़कर भ्रमात्मक बुद्धि के अभ्यस्त तुम्हारे मन में साधु-सम्मत मत स्थिर हो इसके लिए यत्न करो ॥ ५१ ॥

हे राजन् ! तुमने जिस समय सम्यक् दृष्टि के उपयुक्त राह पर चलने की इच्छा व्यक्त की, गुणों के प्रति अपनी वितृष्णा को विनष्ट किया, उसी क्षण सन्मार्ग पर पैर रख दिये ॥ ५२ ॥

अतः अपने धन को गुण-प्राप्ति का साधन बनाओ । प्रजा पर शुभ दया करो । अपने हित की बात सोचो । स्थिरतापूर्वक शील का पालन करो । इन्द्रियों पर अंकुश लगाकर परलोक के लिए अपना हित साधन करो ॥ ५३ ॥

अपने पुण्यबल से प्रशासन को पवित्र एवं सुदृढ़ बनाओ । पुण्यवानों के लिए मनोज्ञ उदाहरण प्रस्तुत करो । लोगों का दुःख दूर कर मनोहर कीर्त्ति अर्जित करो। इसके बाद अर्थ-सिद्धि के साथ अपना हितसाधन भी करते रहो ॥ ५४ ॥

गुणों को पैदा करनेवाली तुम्हारी देह ही तो रथ है और तुम उसके रथी हो। तुम्हारा मन उसका सारथी है और मैत्री इसकी धुरी है । दान और संयम इसके चक्के हैं । पुण्य की इच्छा ही इसका डण्डा है ॥ ५५ ॥

नियंत्रित इन्द्रियाँ इस रथ के घोड़े हैं, सतत जागरूकता ही लगाम है, बुद्धि इसका चाबुक है, शास्त्र इसके शस्त्र हैं । लज्जा इसकी सज्जा है, विनम्रता इसकी जूआ बाँधनेवाली रथ की सुन्दर बल्ली है, क्षमा इसका जूआ है । दक्षता इसकी गति है, धैर्य से यह डगमगाता नहीं है ॥ ५६ ॥

बुरी बातों के नियंत्रण से इस रथ की घड़घड़ाहट बन्द होती है । मीठी बातें ही इसकी मनोहर ध्वनि है । अखण्डित संयम-नियम के कारण यह जोड़रहित है। कुटिल कुकर्मों के परित्याग से यह कोमल बना है ॥ ५७ ॥

अनेन यानेन यशःपताकिना दयानुयात्रेण शमोच्चकेतुना ।
चरन् परात्मार्थममोहभास्वता न जातु राजन्निरयं गमिष्यसि ॥ ५८ ॥

इति स महात्मा तस्य राज्ञस्तदसद्दर्शनान्धकारं भास्वरैर्वचनकिरणै-र्व्यवधूय प्रकाश्य चास्मै सुगतिमार्गं तत्रैवान्तर्दधे । अथ स राजा समुपलब्ध-परलोकवृत्तान्ततत्त्वः प्रतिलब्धसम्यग्दर्शनचेताः सामात्यपौरजानपदो दानदमसंयमपरायणो बभूव ।

तदेवं मिथ्यादृष्टिपरमाण्यवद्यानीति विशेषेणानुकम्प्याः सतां दृष्टिव्यस-नगताः । एवं सद्धर्मश्रवणं परिपूर्णां श्रद्धां परिपूरयतीत्येवमप्युपनेयम् । एवं परतो धर्मश्रवणं सम्यग्दृष्टयुत्पादप्रत्ययो भवतीत्येवमप्युपनेयम् । एवमासा-दनामपि सन्तस्तद्धितोपदेशेन प्रतिनुदन्ति क्षमापरिचयान्न पारुष्येणेति सत्प्रशं-सायां क्षमावर्णेऽपि वाच्यम् । संवेगादेवमाशु श्रेयोऽभिमुखता भवतीति संवेग-कथायामपि वाच्यमिति ॥

॥ इति ब्रह्म-जातकमेकोनत्रिंशत्तमम् ॥

कीर्त्तिरूपी पताका से विभूषित, दयारूपी अनुयायी से संवलित, शमरूपी उच्च पताका-दण्ड से समन्वित ज्ञान से प्रदीप्त इस रथ पर सवार होकर हे राजन् ! तुम इहलोक और परलोक दोनों को साधते हुए नरक को जीत लो ॥ ५८ ॥

इस तरह उस महात्मा ने अपने वचनरूपी दिव्य किरणों से उस राजा की मिथ्यादृष्टि के अंधकार को दूर हटा दिया । उसके लिए सुगति का मार्ग प्रशस्त कर वहीं अन्तर्धान हो गये । तब परलोक की कथा की सत्यता समझकर, सम्यक् दृष्टि का ज्ञान प्राप्त कर वह राजा अपने अमात्यों, पुरवासियों एवं देशवासियों के साथ इन्द्रिय-दमन, आत्म-संयम एवं दान में तत्पर हो गया ।

भ्रमात्मक ज्ञान निन्दनीय है । अतः दृष्टिदोष में पड़े लोग सज्जनों की विशेष कृपा के पात्र होते हैं । इस तरह सद्धर्म का श्रवण पूरी श्रद्धा मन में पैदा करता है । इस कथा से यह निष्कर्ष निकालना चाहिए । दूसरे लोगों से धार्मिक कथा सुनकर भी सम्यक् दृष्टि प्राप्त होती है, यह भी इस कथा का निष्कर्ष हो सकता है । सज्जन लोग विपक्षी के आक्रमण का सामना उसकी भलाई के उपदेश के द्वारा ही करते हैं । सज्जन क्षमा के अभ्यस्त होते हैं । अतः वे कठोरता के साथ वैसा कुछ नहीं कर पाते । सज्जनों की प्रशंसा या क्षमा के प्रसंग में भी यह कथा कहनी चाहिए । संवेग के कारण कोई मनुष्य शीघ्र ही श्रेय के सम्मुख आ जाता है । यह वचन संवेग की कथा के प्रसंग में भी कहना चाहिए ।

ब्रह्म-जातक उनतीसवाँ समाप्त ।

---

(३०) हस्ति-जातकम्

परहितोदर्कं दुःखमपि साधवो लाभमिव बहु मन्यन्ते । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किल अन्यतमस्मिन् नागवने पुष्पफलपल्लवालक्षितशिखरैरलंकृत इव तत्र तरुवरतरुणैर्विविधवीरुत्तरुतृणपिहितभूमिभागे वनरामणीयकनिबद्धहृदयैरनुत्कण्ठितमध्यास्यमान इव पर्वतस्थलैराश्रयभूते वनचराणां गम्भीरविपुलसलिलाशयसनाथे महता निर्वृक्षक्षुपसलिलेन कान्तारेण समन्ततस्तिरस्कृतजनान्ते महाकाय एकचरो हस्ती बभूव ।

स तत्र तरुपर्णेन बिसेन सलिलेन च ।
अभिरेमे तपस्वीव सन्तोषेण शमेन च ।। १ ।।

अथ कदाचित्स महासत्त्वस्तस्य वनस्य पर्यन्ते विचरन् यतस्तत्कान्तारं ततो जनशब्दमुपशुश्राव । तस्य चिन्ता प्रादुरभूत्–किं नु खल्विदम् ? न तावदनेन प्रदेशेन कश्चिद्देशान्तरगामी मार्गोऽस्ति । एवं महत्कान्तारं च व्यतीत्य मृगयापि न युज्यते प्रागेव महासमारम्भपरिखेदमस्मत्सयूथ्यग्रहणम् ।

---

३०. हस्ति-जातक

साधुओं के लिए अपना दुःख भी सुख की तरह प्रतीत होता है बशर्ते कि उससे किसी दूसरे को लाभ मिलता हो । तब जैसा कि सुना जाता है—

एक बार बोधिसत्त्व ने किसी हस्तिवन में विशालकाय हाथी के रूप में जन्म ग्रहण किया । इस वन में नये-नये बहुत सारे पेड़ थे । उनके शिखर फल-फूल और पल्लवों से छिपे थे । इनसे वह जंगल बड़ा सुशोभित था । वहाँ की धरती अनेक पेड़ों, घासों और लताओं से घिरी थी । बड़े-बड़े पहाड़ वन की रमणीयता बड़ी स्थिर दृष्टि से देख रहे थे । वन-वासियों का वह आश्रय-स्थल था । वहाँ स्वच्छ जल के अनेक सरोवर थे । वृक्षों, झाड़ियों और जल से रहित एक बड़ी मरुभूमि चारों ओर मनुष्यों के आवागमन में रुकावट डाल रही थी ।

वहाँ वे एक तपस्वी की तरह पेड़ के पत्ते, कमल के नाल खाकर पानी पीकर सन्तोष और शान्ति से प्रसन्न रहते थे ।। १ ।।

एक बार उस वन के सीमान्त प्रदेश में विचरण करते हुए उस महासत्त्व ने मरुभूमि की ओर से आती मनुष्यों की आवाज सुनी । उन्होंने सोचा— यह क्या है ? यहाँ से दूसरी ओर निकलने का कोई दूसरा रास्ता भी तो नहीं है । इतनी बड़ी मरुभूमि को पारकर यहाँ शिकार के लिए भी किसी का आना तो संभव नहीं है । हमारे दल के हाथियों को यहाँ फँसाना तो और भी असंभव है । क्योंकि ऐसा करने के लिए बहुत बड़ी तैयारी की आवश्यकता होगी, जो अत्यन्त कष्टसाध्य ही होगा ।

व्यक्तं त्वेते परिभ्रष्टा मार्गाद्वा मूढदैशिका ।
निर्वासिता वा क्रुद्धेन राज्ञा स्वेनानयेन वा ॥ २॥
तथा ह्ययमनोजस्को नष्टहर्षोद्धवद्रवः ।
केवलार्तिबलः शब्दः श्रूयते रुदतामिव ॥ ३ ॥

तज्ज्ञास्यामि तावदेनमिति स महासत्त्वः करुणया समाकृष्यमाणो यतः स जननिर्घोषो बभूव ततः प्रससार । विस्पष्टतरविलापं च विषाददैन्यविरसं तमाक्रन्दितशब्दमुपश्रृण्वन् कारुण्यपर्युत्सुकमनाः स महात्मा द्रुततरं ततोऽभ्यगच्छत् । निर्गम्य च तस्माद्वनगहनान्निर्वृक्षक्षुपत्वात्तस्य देशस्य दूर एवावलोकयन् ददर्श सप्तमात्राणि पुरुषशतानि क्षुत्तर्षपरिश्रममन्दानि तद्वनमभिमुखानि प्रार्थयमानानि । तेऽपि च पुरुषास्तं महासत्त्वं ददृशुर्जङ्गममिव हिमगिरिशिखरं नीहारपुञ्जमिव शारद्बलाहकमिव पवनबलावर्जितमभिमुखमायान्तम् । दृष्ट्वा च विषाददैन्यपरीता हन्तेदानीं नष्टा वयमिति भयग्रस्तमनसोऽपि क्षुत्तर्षपरिश्रमविहतोत्साहा नापयानप्रयत्नपरा बभूवुः ।

ते विषादपरीतत्वात्क्षुत्तर्षश्रमविह्वलाः ।
नापयानसमुद्योगं भयेऽपि प्रतिपेदिरे ॥ ४ ॥

इससे साफ जाहिर होता है कि पथ-निर्देशक की भूल से ये दिग्भ्रमित बटोही हैं अथवा किसी राजा ने क्रोधवश या इनकी अनीति के कारण इन्हें देश से निष्कासित कर दिया है ॥ २ ॥

इनकी आवाज शक्ति, आनन्द और उत्साह से रहित, दुःखपूर्ण रुआंसा जैसे लग रही है ॥ ३ ॥

इस तरह दया से द्रवित होकर उस महासत्त्व ने 'मुझे इसका पता लगाना चाहिए' यह सोचकर जिधर से आवाज आ रही थी, उधर ही प्रस्थान किया । उनकी रुलाई की आवाज जिधर से आ रही थी, दया से प्रेरित होकर वे उधर उत्सुकता के साथ शीघ्र बढ़ने लगे । उस जंगल से बाहर निकल कर पेड़-पौधों से शून्य उस मरुभूमि में सात सौ लोगों को भूख-प्यास से तड़पते दूर से ही देखा । वे सभी उस जंगल की ओर मुखातिब होकर मानों सहायता की याचना कर रहे हों । उन मनुष्यों ने भी उस महासत्त्व को अपनी ओर बढ़ते दूर से ही देखा । वे जंगम हिमगिरि शिखर की तरह विशाल, घनीभूत कुहासे के ढेर की तरह धुंधले तथा हवा से संचालित शरद्कालीन बादल की तरह आगे बढ़ रहे थे । दुःख-दैन्य से ग्रसित उन लोगों ने इन्हें देखकर सोचा—'निश्चय ही अब हमारा अन्त निकट है ।' भूख-प्यास और थकावट के कारण वे इस तरह टूट चुके थे कि अत्यधिक डरने के बावजूद उन्होंने भागने की कोई कोशिश नहीं की ।

वे अत्यन्त दुःखी थे । भूख, प्यास और थकावट से व्याकुल थे । अतः इस विपत्ति में भी उन्होंने वहाँ से भागने की चेष्टा नहीं की ॥ ४ ॥

अथ बोधिसत्त्वो भीतानवेत्यैतान्—मा भैष्ट, भैष्ट न वो भयमस्ति मत्त इति समुच्छ्रितेन स्निग्धाभिताम्रपृथुपुष्करेण करेण समाश्वासयन्नभिगम्य करुणायमाणः पप्रच्छ - केऽत्रभवन्तः ? केन चेमां दशामनुप्राप्ताः स्थ ?

रजःसूर्यांशुसम्पर्काद्विवर्णाकृतयः कृशाः।
शोकक्लमार्ताः के यूयमिह चाभिगताः कुतः ॥ ५ ॥

अथ ते पुरुषास्तस्य तेन मानुषेणाभिव्याहारेण अभयप्रदानाभिव्यञ्जकेन चाभ्युपपत्तिसौमुख्येन प्रत्यागतहृदयाः समभिप्रणम्यैनमूचुः—

कोपोत्पातानिलेनेह क्षिप्ताः क्षितिपतेर्वयम्।
पश्यतां शोकदीनानां बन्धूनां द्विरदाधिप ! ॥ ६ ॥
अस्ति नो भाग्यशेषस्तु लक्ष्मीश्चाभिमुखी ध्रुवम्।
सुहृद्बन्धुविशिष्टेन यद् दृष्टा भवता वयम् ॥ ७ ॥
निस्तीर्णामापदं चेमां विद्मस्त्वद्दर्शनोत्सवात्।
स्वप्नेऽपि त्वद्विधं दृष्ट्वा को हि नापदमुत्तरेत् ॥ ८ ॥

अथैनान् स द्विरदवर उवाच—अथ कियन्तोऽत्रभवन्त इति ? मनुष्या ऊचुः—

सहस्रमेतद्वसुधाधिपेन त्यक्तं नृणामत्र मनोज्ञगात्र।
अदृष्टदुःखा बहवस्ततस्तु क्षुत्तर्षशोकाभिभवाद्विनष्टाः ॥ ९ ॥

तब बोधिसत्त्व ने उन्हें डरा हुआ जानकर कहा—'आप लोग डरें नहीं।' आप लोगों को मुझसे डरने की कोई बात नहीं है। ताम्रवर्णी, चौड़ी पुष्कर वाली अपनी कोमल सूँड़ उठाकर सर्वप्रथम उन्होंने उन्हें आश्वासन दिया। फिर दया से द्रवित होकर उनसे पूछा—आप कौन हैं ? और आपकी दुर्दशा किसने की है ? धूल और धूप से आपकी आकृति बिगड़ी हुई है। आप क्षीण हो गये हैं। दुःख और शोक कष्ट से पीड़ित हैं ? आप कहाँ से आये हैं ॥ ५ ॥

तब उनकी मनुष्यवाणी से आश्वस्त होकर अभयदानसूचक अनुग्रहात्मक प्रवृत्ति देखकर प्रणाम करते हुए कहा—हे गजेन्द्र ! शोक-विह्वल हमारे बन्धुओं को देखते ही क्रुद्ध राजा ने हमारी यह दुर्गति की है ॥ ६ ॥

अवश्य ही हमारा सौभाग्य अभी शेष है और लक्ष्मी सामने है कि हमें आप जैसे बन्धु प्राप्त हुए है ॥ ७ ॥

आपके शुभ-दर्शन से ही हम समझते हैं कि हमने इस विपत्ति को पार कर लिया है। सपने में भी आपको देखकर वह कौन है, जो विपत्ति को पार नहीं कर जाय।

तब उस श्रेष्ठ हाथी ने उनसे पूछा—'आप कितने लोग हैं ?' मनुष्यों ने कहा—

हे मनोज्ञ-गात्र ! राजा ने एक हजार व्यक्ति को निष्कासित किया था। उनमें से बहुत लोग जिन्होंने कभी दुःख नहीं देखा था, भूख, प्यास और शोक से तड़पकर मर गये ॥ ९ ॥

एतानि तु स्युर्द्विरदप्रधान सप्तावशेषाणि नृणां शतानि ।
निमज्जतां मृत्युमुखे तु येषां मूर्तस्त्वमाश्वास इवाभ्युपेतः ।। १० ।।

तच्छ्रुत्वा तस्य महासत्त्वस्य कारुण्यपरिचयादश्रूणि प्रावर्तन्त । समनुशोचंश्चैनान्नियतमीदृशं किञ्चिदुवाच—कष्टं भोः !

घृणाविमुक्ता बत निर्व्यपत्रपा नृपस्य बुद्धिः परलोकनिर्व्यथा ।
अहो तडिच्चञ्चलया नृपश्रिया हृतेन्द्रियाणां स्वहितानवेक्षिता ।। ११ ।।
अवैति मन्ये न स मृत्युमग्रतः शृणोति पापस्य न वा दुरन्तताम् ।
अहो बतानाथतमा नराधिपा विमर्शमान्द्याद्वचनक्षमां न ये ।। १२ ।।
देहस्यैकस्य नामार्थे रोगभूतस्य नाशिनः ।
इदं सत्त्वेषु नैर्घृण्यं धिगहो बत मूढताम् ।। १३ ।।

अथ तस्य द्विरदपतेस्तान् पुरुषान् करुणास्निग्धमवेक्षमाणस्य चिन्ता प्रादुरभूत्—एवममी क्षुत्तर्षश्रमपीडिताः परिदुर्बलशरीरा निरुदकमप्रच्छायमनेकयोजनायामं कान्तारमपथ्यादनाः कथं व्यतियास्यन्ति ? नागवनेऽपि च किं तदस्ति येनैषामेकाहमपि तावदपरिक्लेशेन वार्ता स्यात् ? शक्येयुः पुनरेते मदीयानि मांसानि पाथेयतामुपनीय दृतिभिरिव च ममान्त्रैः सलिलमादाय कान्तारमेतन्निस्तरितुं नान्यथा ।

इस समय उनमें से हम सात सौ बचे हैं । मृत्यु-मुख में पड़े हमारे लिए आप मूर्त्त आश्वासन के रूप में उपस्थित हुए हैं ।। १० ।।

करुणा के अभ्यस्त उस महात्मा की आँखों से यह सुनते ही आँसू बहने लगे । उनके लिए शोक व्यक्त करते हुए उन्होंने निश्चयपूर्वक यों कहा—

हाय ! राजा की बुद्धि कितनी निष्ठुर, निर्लज्ज एवं निर्भय है । बिजली की तरह चञ्चल राजलक्ष्मी से अपहृत इन्द्रियवाले अपनी कल्याण की भी बात नहीं सोंचते ।

मैं समझता हूँ उन्हें आनेवाली मौत का भी ज्ञान नहीं है और उन्होंने कुकर्म के दुष्परिणाम को भी लगता है अब तक नहीं सुना है । अपनी विवेकहीनता के कारण जो अच्छे उपदेश को भी नहीं सुनते ऐसे राजा निश्चय ही अनाथ हैं ।। १२ ।।

रोगों के घर एवं नश्वर एक शरीर के लिए प्राणियों के प्रति ऐसी निर्दयता ? धिक्कार है ऐसी निर्दयता को ।। १३ ।।

तब उस गजेन्द्र ने दया और स्नेह के साथ उन्हें देखते हुए सोंचा—भूख, प्यास और थकावट से इस तरह पीड़ित, दुर्बल शरीरवाले ये उचित आहार के बिना निर्जल और छायारहित तथा अनेक योजनों तक व्याप्त इस मरुभूमि को कैसे पार करेंगे ? इस नागवन में भी क्या रक्खा है, जिससे एक दिन भी सुख से इनकी शरीर-यात्रा चल सके ? हाँ, ये मेरे शरीर को पाथेय बनाकर तथा मशक की तरह अतड़ियों में जल लेकर ये इस मरुभूमि को पार कर सकते हैं ? अन्यथा नहीं ।

करोमि तदिदं देहं बहुरोगशतालयम्।
एषां दुःखपरीतानामापदुत्तरणप्लवम् ॥ १४ ॥
स्वर्गमोक्षसुखप्राप्तिसमर्थं जन्म मानुषम्।
दुर्लभं च तदेतेषां मैवं विलयमागमत् ॥ १५ ॥

स्वगोचरस्थस्य ममाभ्युपेता धर्मेण चेमेऽतिथयो भवन्ति।
आपद्गता बन्धुविवर्जिताश्च मया विशेषेण यतोऽनुकम्प्याः ॥ १६ ॥
चिरस्य तावद्बहुरोगभाजनं सदातुरत्वाद्विविधश्रमाश्रयः।
शरीरसञ्ज्ञोऽयमनर्थविस्तरः परार्थकृत्ये विनियोगमेष्यति ॥ १७ ॥

अथैनमन्ये क्षुत्तर्षश्रमघर्मदुःखातुरशरीराः कृताञ्जलयः साश्रुनयनाः समभिप्रणम्यार्ततया हस्तसञ्ज्ञाभिः पानीयमयाचन्त।

त्वं नो बन्धुरबन्धूनां त्वं गतिः शरणं च नः।
यथा वेत्सि महाभाग! तथा नस्त्रातुमर्हसि ॥ १८ ॥

इत्येनमन्ये सकरुणमूचुः। अपरे त्वेनं धीरतरमनसः सलिलप्रदेशं कान्तार-दुर्गोत्तारणाय च मार्गं पप्रच्छुः—

जलाशयः शीतजला सरिद्वा यद्यत्र वा नैर्झरमस्ति तोयम्।
छायाद्रुमः शाद्वलमण्डलं वा तन्नो द्विपानामधिप प्रचक्ष्व ॥ १९ ॥

अतः अनेक रोगों के घर इस देह को मैं विपत्तिग्रस्त प्राणियों को जिलाने का साधन बनाता हूँ ॥ १४ ॥

स्वर्ग एवं मोक्ष-सुख की प्राप्ति में समर्थ इनका यह दुर्लभ मानुष जन्म कहीं यों ही नष्ट न हो जाय ॥ १५ ॥

हमारे क्षेत्र में आये हैं। धर्मतः ये हमारे अतिथि हैं। ये विपत्ति में हैं, और अपने स्वजनों से अलग हैं। अतः ये विशेष रूप से मेरी कृपा के पात्र हैं ॥ १६ ॥

यह देह अनेक प्रपंचों और रोगों का घर है। सदा पीड़ित रहने के कारण अनेक कष्टों और अनर्थों का आश्रय है। चिरकाल के बाद परोपकार के लिए इसका सदुपयोग होगा ॥ १७ ॥

भूख, प्यास, गर्मी और थकावट से पीड़ित उनमें से कुछ ने सजल-नयन हाथ जोड़कर इन्हें प्रणाम किया और पीड़ा के कारण हाथ के इशारे से पानी माँगा। सकरुण भाव से दूसरे लोगों ने इनसे कहा—

हम बन्धुविहीनों के आप ही बन्धु हैं। आप ही हमारी गति एवं शरण हैं। हे महाभाग! अपनी जानकारी के अनुसार आप अब हमारी रक्षा करें ॥ १८ ॥

उनमें से कुछ धीर लोगों ने इनसे जलाशय का पता तथा उस मरुभूमि को पार करने का उपाय पूछा—

हे गजराज! पास में यदि कोई जलाशय, शीतल जलवाली नदी अथवा झरने का पानी, छाँहदार पेड़, हरी घास से ढँकी धरती हो तो कृपया हमें बतलाएँ ॥१९॥

कान्तारं शक्यमेतच्च निस्ततुं मन्यसे यतः।
अनुकम्पां पुरस्कृत्य तां दिशं साधु निर्दिश ॥ २० ॥

सम्बहुलानि हि दिनान्यत्र नः कान्तारे परिभ्रमताम्। तदर्हसि नः स्वामिन्निस्तारयितुमिति।

अथ स महात्मा तैः करुणैः प्रयाचितैस्तेषां भृशतरमाक्लेदितहृदयो यतस्तत्कान्तारं शक्यं निस्ततुं बभूव, तत एषां पर्वतस्थलं सन्दर्शयन्नभ्युच्छ्रितेन भुजगवरभोगपीवरेण करेणोवाच—अस्य पर्वतस्थलस्याधस्तात्पद्मोत्पलालङ्कृतविमलसलिलमस्ति महत्सरः। तदनेन मार्गेण गच्छत। तत्र च व्यपनीतघर्मतर्षक्लमास्तस्यैव नातिदूरेऽस्मात्पर्वतस्थलात्पतितस्य। हस्तिनः शरीरं द्रक्ष्यथ। तस्य मांसानि पाथेयतामानीय दृतिभिरिव तस्यान्त्रैः सलिलमुपगृह्यानयैव दिशा यातव्यम्। एवमल्पकृच्छ्रेण कान्तारमिदं व्यतियास्यथ। इति स महात्मा तान् पुरुषान् समाश्वासनपूर्वकं ततः प्रस्थाप्य ततो द्रुततरमन्येन मार्गेण तद्गिरिशिखरमारुह्य तस्य जनकायस्य निस्तारणापेक्षया स्वशरीरं ततो मुमुक्षुर्नियतमिति प्रणिधिमुपबृंहयामास—

आप इस मरुभूमि को जिस ओर से पार करने योग्य समझते हैं, कृपया वह दिशा भी दिखला दें॥ २० ॥

हे स्वामिन्! हमें इससे निकालने का कष्ट करें। इस मरुभूमि में हमें भटकते बहुत दिन बीत गये

उनकी कातर प्रार्थना से दयार्द्र उस महासत्त्व ने जिस ओर से उस मरुभूमि को आसानी से पार करना संभव था, उसी दिशा की ओर फणधर नाग की तरह ऊपर उठी हुई सूँड़ से एक पहाड़ दिखलाते हुए उनसे कहा—इस पहाड़ के नीचे विमल जलवाला एक सुन्दर सरोवर है। उसमें लाल और नीले कमल खिले हैं। अतः इसी राह से जाओ। पहले वहाँ गर्मी, प्यास और थकावट को दूर कर लो। फिर आगे बढ़ो। कुछ दूर आगे बढ़ने पर तुम्हें एक गिरा हुआ हाथी मिलेगा। उसके मांस को अपना पाथेय बना लेना। उसकी अतड़ियों में मशक की तरह पानी भर लेना। फिर उसी दिशा में आगे बढ़ जाना। थोड़ी तकलीफ तो होगी पर, बड़ी आसानी से तुम सभी इस मरुभूमि को पार कर लोगे। इस तरह उन्हें आश्वस्त कर उक्त दिशा की ओर प्रस्थान करवा दिया। फिर बड़ी तेजी से राह काटकर दूसरे मार्ग से इनके पहुँचने के पहले ही वे उक्त पहाड़ की चोटी पर पहुँच गये। फिर उन्हें मरुभूमि पार कराने के लिए अपना शरीर छोड़ने की इच्छा से मन-ही-मन उन्होंने संकल्प किया—

नायं प्रयत्नः सुगतिं ममाप्तुं नैकातपत्रां मनुजेन्द्रलक्ष्मीम् ।
सुखप्रकर्षैकरसां न च द्यां ब्राह्मीं श्रियं नैव न मोक्षसौख्यम् ।। २१ ।।
यत्त्वस्ति पुण्यं मम किञ्चिदेवं कान्तारमग्नं जनमुज्जिहीर्षोः ।
संसारकान्तारगतस्य तेन लोकस्य निस्तारयिता भवेयम् ।। २२ ।।

इति विनिश्चित्य स महात्मा प्रमोदादगणितप्रपातनिष्पेषमरणदुःखं स्वशरीरं तस्माद् गिरितटाद्यथोद्देशं मुमोच—

रेजे ततः स निपतञ्छरदीव मेघः
पर्यस्तबिम्ब इव चास्तगिरेः शशाङ्कः ।
तार्क्ष्यस्य पक्षपवनोग्रजवापविद्धं
शृङ्गं गिरेरिव च तस्य हिमोत्तरीयम् ।। २३ ।।
आकम्पयन्नथ धरां धरणीधरांश्च
मारस्य च प्रभुमदाध्युषितं च चेतः ।
निर्घातपिण्डितरवं निपपात भूमा-
वावर्जयन् वनलता वनदेवताश्च ।। २४ ।।

असंशयं तद्वनसंश्रयास्तदा मनस्सु विस्फारितविस्मयाः सुराः ।
विचिक्षिपुर्व्योम्नि मुदोत्तनूरुहाः समुच्छ्रितैकाङ्गुलिपल्लवान् भुजान् ।।

मेरा यह प्रयास एकच्छत्र राजलक्ष्मी, सद्गति, स्वर्ग, ब्रह्मलोक या मोक्ष-सुख पाने के लिए नहीं है ।। २१ ।।

मरुभूमि में फँसे इन निरीहों का केवल मैं उद्धार करना चाहता हूँ । इससे यदि मुझे कुछ पुण्यफल मिल ही जाय तो उससे मैं संसाररूपी मरुभूमि में फँसे लोगों का उद्धारक बनूँ ।। २२ ।।

यह निश्चय करते ही उस महात्मा ने खुशी के साथ गिरकर मरने की चिन्ता किये बिना अपने शरीर को पूर्वकृत निश्चय के अनुसार उस पहाड़ की चोटी से नीचे की ओर गिरा दिया ।

पहाड़ से गिरते समय उनकी देह की शोभा ठीक उसी तरह थी, जैसे शरदृऋतु में कोई मेघखण्ड पहाड़ की चोटी से लुढ़क गया हो, अथवा अस्ताचल की चोटी से चन्द्रमण्डल ही उलट गया हो । अथवा—गरुड़ के उड़ने से उनके पंख की हवा के भयंकर वेग से उस पहाड़ की हिमाच्छादित कोई चोटी ही नीचे खिसक गई हो ।। २३ ।।

धरती, पहाड़ और मार के महाभिमानी मन को कँपाते हुए, आँधी की तरह आवाज करते हुए, वन, लता और वनदेवताओं को झुकाते हुए वे धरती पर आ गिरे ।। २४ ।।

उनके गिरने की आवाज सुनकर निश्चय ही उस वन में रहनेवाले देवताओं के

सुगन्धिभिश्चन्दनचूर्णरञ्जितैः प्रसक्तमन्ये कुसुमैरवाकिरन् ।
अतान्तवैः काञ्चनभक्तिराजितैस्तमुत्तरीयैरपरे विभूषणैः ॥ २६ ॥

स्तवैः प्रसादग्रथितैस्तथापरे समुद्यतैश्चाञ्जलिपद्मकुड्मलैः ।
शिरोभिरावर्जितचारुमौलिभिर्नमस्क्रियाभिश्च तमभ्यपूजयन् ॥ २७ ॥

सुगन्धिना पुष्परजोविकर्षणात्तरङ्गमालारचनेन वायुना ।
तमव्यजन् केचिदथाम्बरेऽपरे वितानमस्योपदधुर्घनैर्घनैः ॥ २८ ॥

तमर्चितुं भक्तिवशेन केचन व्यरासयन् द्यां सुरदुन्दुभिस्वनैः ।
अकालजैः पुष्पफलैः सपल्लवैर्व्यभूषयंस्तत्र तरूनथापरे ॥ २९ ॥

दिशः शरत्कान्तिमयीं दधुः श्रियं रवेः कराः प्रांशुतरा इवाभवन् ।
मुदाभिगन्तुं तमिवास चार्णवः कुतूहलोत्कम्पितवीचिविभ्रमः ॥३०॥

अथ ते पुरुषाः क्रमेण तत्सरः समुपेत्य तस्मिन् विनीतघर्मतर्षक्लमा यथा-कथितं तेन महात्मना तदविदूरे हस्तिशरीरं नचिरमृतं ददृशुः । तेषां बुद्धि-रभवत्—अहो यथायं सदृशस्तस्य द्विरदपतेर्हस्ती ।

मन में बड़ा विस्मय हुआ । आनन्द से रोमाञ्चित होकर उन्होंने अपना हाथ ऊपर की ओर उठा दिया । उनकी एक-एक अंगुली आकाश में फैली थी ॥ २५ ॥

कुछ देवताओं ने उन पर चन्दन के चूरे से रंगे फूल बरसाये, कुछ ने धागेरहित, स्वर्ण-जटित चादर से उन्हें ढँक दिया, कुछ ने उन पर आभूषणों की वर्षा कर दी ॥

कुछ ने मुकुलित कमलों की तरह अञ्जलियों को ऊपर उठाकर, कुछ ने श्रद्धा-पूर्वक स्वविरचित स्तुतियाँ गाकर और कुछ ने समुकुट सिर झुकाकर नमस्कार करते हुए उनकी पूजा की ॥ २७ ॥

कुछ ने पुष्पपराग से सुगन्धित सरोवर में तरंगमालाएँ उठाकर शीतल पवन से उन्हें पंखा झला । कुछ ने आकाश में उन पर घने मेघों का वितान तान दिया ॥

कुछ ने भक्तिभाव से उनकी पूजा के निमित्त दिव्य दुन्दुभि बजाकर आकाश को भर दिया । पेड़ों में असमय ही नई कोंपलें फूट निकलीं; फल और फूल से वे लद गये ॥ २९ ॥

दिशाओं ने शरद की शोभा धारण की । सूर्य की किरणें लम्बी हो गईं । कुतू-हलवश समुद्र में तरंगे उठने लगीं, लगता था जैसे सागर प्रसन्न होकर उनसे मिलने को प्रस्तुत हो उठा हो ॥ ३० ॥

तब तक उन मनुष्यों ने सरोवर में अपनी प्यास बुझाकर उस महात्मा के कथना-नुसार कुछ ही दूर पर कुछ ही देर पहले मरे हुए हाथी के शरीर को देखा । उन्होंने सोचा—'निश्चय ही यह हाथी उस गजराज की ही तरह है ।'

भ्राता नु तस्यैष महाद्विपस्य स्याद् बान्धवो वान्यतमः सुतो वा ।
तस्यैव खल्वस्य सिताद्रिशोभं सञ्चूर्णितस्यापि विभाति रूपम् ।। ३१ ।।

कुमुदश्रीरिवैकस्था ज्योत्स्ना पुञ्जीकृतेव च ।
छायेव खलु तस्येयमादर्शतलसंश्रिता ।। ३२ ।।

अथ तत्रैकेषां निपुणतरमनुपश्यतां बुद्धिरभवत् —यथा पश्यामः स एव खल्वयं दिग्वारणेन्द्रप्रतिस्पर्धिरूपातिशयः कुञ्जरवर आपद्गतानामबन्धुसुहृदामस्माकं निस्तारणापेक्षया गिरितटादस्मान्निपतित इति ।

यः स निर्घातवदभूत्कम्पयन्निव मेदिनीम् ।
व्यक्तमस्यैव पततः स खल्वस्माभिर्ध्वनिः श्रुतः ।। ३३ ।।

एतद्वपुः खलु तदेव मृणालगौरं
चन्द्रांशुशुक्लतनुजं तनुबिन्दुचित्रम् ।
कूर्मोपमाः सितनखाश्चरणास्त एते
वंशः स एव च धनुर्मधुरानतोऽयम् ।। ३४ ।।

तदेवं चेदं मदराजिराजितं सुगन्धिवाय्वायतपीनमाननम् ।
समुन्नतं श्रीमदनर्पिताङ्कुशं शिरस्तदेतच्च बृहच्छिरोधरम् ।। ३५ ।।
विषाणयुग्मं तदिदं मधुप्रभं सदर्पचिह्नं तटरेणुनारुणम् ।
आदेशयन् मार्गमिमं च येन नः स एष दीर्घाङ्गुलिपुष्करः करः ।। ३६ ।।

यह उस बड़े हाथी का भाई, पुत्र या कोई सम्बन्धी है। चूर होने के बावजूद सफेद पहाड़ की तरह यह सुन्दर शोभा तो उसी गजेन्द्र की है ।। ३१ ।।

यह रूप तो लगता है किसी ने श्वेत कुमुदों की ढेर लगा दी है या पुञ्जीभूत ज्योत्स्ना है। यह तो दर्पण में पड़नेवाले उसी गजेन्द्र के प्रतिबिंब के समान है ।।३२।।

ध्यानपूर्वक देखते हुए कुछ लोगों ने सोंचा—जैसा हम देख रहे हैं, दिग्गज की तरह अत्यन्त रूपवान् यह वही श्रेष्ठ हाथी है। विपत्ति में पड़े हुए स्वजनों और मित्रों से रहित हमारी रक्षा के लिए इन्होंने अपने आपको पहाड़ से गिराया है।

कुछ देर पहले धरती को कँपाती आँधी की तरह हमने जो आवाज सुनी थी, वह इन्हीं के गिरने की आवाज थी ।। ३३ ।।

सूक्ष्म बिन्दुओं से चित्र-विचित्र, चाँदनी की तरह सफेद रोआँवाला, कमलनाल की तरह गौरवर्ण यह वही शरीर है। सफेद नखोंवाले कछुए की तरह ये वही चरण हैं। धनुष की तरह झुका हुआ यह वही मेरुदण्ड है ।। ३४ ।।

लम्बा और मोटा यह वही मुख है, जिससे मदजल की धारा बहती है और जिससे हवा सुगंधित हो रही है। यह वही सुन्दर और उन्नत सिर है, जिस पर कभी अंकुश नहीं पड़ा। यह वही विशाल गर्दन है ।। ३५ ।।

घाटी की धूल से धूसरित, दर्पीले मधुरंगवाले ये वही दोनों दाँत हैं। लम्बी

आश्चर्यमत्यद्भुतरूपं बत खल्विदम् ।
अदृष्टपूर्वान्वयशीलभक्तिषु क्षतेषु भाग्यैरपरिश्रुतेष्वपि ।
सुहृत्त्वमस्मासु बतेदमीदृशं सुहृत्सु वा बन्धुषु वास्य कीदृशम् ।। ३७ ।।
सर्वथा नमोऽस्त्वस्मै महाभागाय ।
आपत्परीतान् भयशोकदीनानस्मद्विधानाभ्युपपद्यमानः ।
कोऽप्येष मन्ये द्विरदावभासः सिषत्सतामुद्वहतीव वृत्तम् ।। ३८ ।।
क्व शिक्षितोऽसावतिभद्रतामिमामुपासितः को न्वमुना गुरुर्वने ।
न रूपशोभा रमते विना गुणैर्जनो यदित्याह तदेतदीक्ष्यते ।। ३९ ।।
अहो स्वभावातिशयस्य सम्पदा विदर्शितानेन यथार्हभद्रता ।
हिमाद्रिशोभेन मृतोऽपि खल्वयं कृतात्मतुष्टिर्हसतीव वर्ष्मणा ।। ४० ।।

तत्क इदानीमस्य स्निग्धबान्धवसुहृत्प्रतिविशिष्टवात्सल्यस्यैवमभ्युपपत्तिसुमुखस्य स्वैः प्राणैरप्यस्मदर्थमुपकर्तुमभिप्रवृत्तस्यातिसाधुवृत्तस्य मांसमुपभोक्तुं शक्ष्यति ? युक्तं त्वस्माभिः पूजाविधिपूर्वकमग्निसत्कारेणास्यानृण्यमुपगन्तुमिति । अथ तान् बन्धुव्यसन इव शोकानुवृत्तिप्रवणहृदयान् साश्रुनयनान्

अँगुलियों की तरह पुष्करवाली यह वही सूँढ़ है, जिसे उठाकर इन्होंने राह दिखलाई थी ।। ३६ ।।

यह अत्यन्त अद्भुत आश्चर्य है ।

हमारे जैसे अभागों के प्रति जिसके कुल-शील के सम्बन्ध में इन्होंने इससे पहले न कुछ देखा और न सुना, उसके प्रति जब इनकी यह सुजनता है तो फिर अपने स्वजन बान्धवों के प्रति इनकी स्थिति क्या होगी ।। ३७ ।।

यह महाभाग सर्वथा प्रणम्य हैं ।

विपत्ति, भय और शोक से घिरे हम पर कृपा करनेवाले हाथी के रूप में निश्चय ही ये कोई महासत्त्व हैं । क्योंकि, इनका आचरण सज्जनों के लिए भी दुर्लभ है ।। ३८ ।।

इस जंगल में किस गुरु ने इन्हें इस अलौकिक भद्रता की शिक्षा दी ? "सुन्दर आकृति सद्गुण के बिना सुन्दर नहीं होती ।" इस लोकोक्ति का प्रत्यक्ष रूप हमारे सामने है ।। ३९ ।।

हाय, अपने उत्तम स्वभाव के अनुरूप ही इन्होने अपनी सुजनता दिखलाई । आत्मतोष के साथ मरकर भी हिमालय की तरह सुन्दर देह से मानो ये इस स्थिति में भी हँस रहे हैं ।। ४० ।।

स्नेही से भी बढ़कर प्रेम करनेवाले, अनुग्रह-परायण, अपनी जान देकर भी हमें बचाने में प्रवृत्त अत्यन्त साधु आचरणवाले इस महापुरुष का फिर मांस खायेगा कौन? उचित तो यह है कि विधिवत् इनकी पूजाकर, दाह-क्रिया सम्पन्न कर, इनके

गद्गदायमानकण्ठानवेक्ष्य कार्यान्तरमवेक्षमाणा धीरतरमनस ऊचुरन्ये– न खल्वेवमस्माभिरयं द्विरदवरः सम्पूजितः सत्कृतो वा स्यात्। अभिप्रायसम्पादनेन त्वयमस्माभिर्युक्तः पूजयितुमिति पश्यामः।

अस्मन्निस्तारणापेक्षी स ह्यसंस्तुतबान्धवः।
शरीरं त्यक्तवानेवमिष्टमिष्टतरातिथिः॥ ४१॥
अभिप्रायमतस्त्वस्य युक्तं समनुवर्तितुम्।
अन्यथा हि भवेद्व्यर्थो ननु तस्यायमुद्यमः॥ ४२॥
स्नेहादुद्यतमातिथ्यं सर्वस्वं तेन खल्विदम्।
अप्रतिग्रहणाद्व्यर्थां कुर्यात्को न्वस्य सत्क्रियाम्॥ ४३॥
गुरोरिव यतस्तस्य वचसः सम्प्रतिग्रहात्।
सत्क्रियां कर्तुमर्हामः क्षेममात्मन एव च॥ ४४॥
निस्तीर्य चेदं व्यसनं समग्रैः प्रत्येकशो वा पुनरस्य पूजा।
करिष्यते नागवरस्य सर्वं बन्धोरतीतस्य यथैव कृत्यम्॥ ४५॥

अथ ते पुरुषाः कान्तारनिस्तारणापेक्षया तस्य द्विरदपतेरभिप्रायमनुस्मरन्तस्तद्वचनमप्रतिक्षिप्य तस्य महासत्त्वस्य मांसान्यादाय दृतिभिरिव च तदन्त्रैः सलिलं तत्प्रदर्शितया दिशा स्वस्ति तस्मात्कान्ताराद्विनिर्ययुः।

ऋण से मुक्त हों।' यह सोचकर उनका हृदय शोक से आकुल हो उठा, आँखें सजल हो गईं और कंठ गदगद हो गया। जैसे उनके स्वजनों की मृत्यु हुई हो। इस स्थिति में उन्हें देखकर कुछ धीर पुरुषों ने उनसे कहा—इस तरह हम इस श्रेष्ठ हाथी की पूजा नहीं कर सकेंगे। इससे इनका सत्कार भी संभव नहीं है। इनकी इच्छा पूरी करके ही हम इनका सत्कार कर सकेंगे।

इस अपरिचित बन्धु ने हमारी रक्षा करने के उद्देश्य से अपना प्रिय शरीर छोड़ा क्योंकि अपनी जान से भी अधिक प्रिय इन्हें अपने अतिथि थे॥ ४१॥

अतः इनकी इच्छा के अनुसार काम करना ही उचित है, नहीं तो इनका यह सारा प्रयास व्यर्थ हो जायेगा॥ ४२॥

स्नेह से अतिथि-सत्कार में इन्होंने अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया। अब इसे अस्वीकार कर कौन इस सत्कार को व्यर्थ करेगा॥ ४३॥

गुरु के समान इनके वचन का पालन कर हम इनका सम्मान एवं अपना कल्याण कर सकते हैं॥ ४४॥

इस विपत्ति को पार कर हम सब मिलकर या एक-एक कर इस गजेन्द्र की पूजा करेंगे। और इनकी और्ध्वदैहिक क्रिया मृत-सम्बन्धी की तरह पूर्ण करेंगे॥ ४५॥

तब वे लोग उस मरुभूमि को पार करने के लिए उस गजेन्द्र के अभिप्राय को ध्यान में रखते हुए, उनके वचन का पालन करते हुए, उस महासत्त्व का मांस लेकर

तदेवं परिहितोदर्कं दुःखमपि साधवो लाभमिव बहु मन्यन्ते, इति साधु-
नप्रशंसायां वाच्यम् । तथागतवर्णेऽपि, सत्कृत्य धर्मश्रवणे च भद्रप्रकृति-
ष्पादनवर्णेऽपि वाच्यम्—एवं भद्रा प्रकृतिरभ्यस्ता जन्मान्तरेष्वनुवर्तत इति ।
गपरिचयगुणनिदर्शनेऽपि वाच्यम्—एवं द्रव्यत्यागपरिचयादात्मस्नेहपरि-
गमप्यकृच्छ्रेण करोतीति । यच्चोक्तं भगवता परिनिर्वाणसमये समुपस्थि-
ु दिव्यकुसुमवादित्रादिषु—न खलु पुनरानन्द एतावता तथागतः सत्कृतो
वतीति, तच्चैवं निदर्शयितव्यम् । एवमभिप्रायसम्पादनात्पूजा कृता भवति
गन्धमाल्याद्यभिहारेणेति ॥

इति हस्ति-जातकं त्रिंशत्तमम् ।

या तथा उनकी अतड़ियों में मशक की तरह पानी भरकर उनके द्वारा बतलाये
मार्ग से चलकर मरुभूमि से सकुशल पार गये ।

इस प्रकार साधुओं के लिए अपना दुःख भी, जिससे दूसरों का उपकार होता
लाभ की तरह अत्यन्त प्रिय है । सज्जनों की प्रशंसा में यह कथा कहनी चाहिए ।
गत के वर्णन में, सादर धर्मकथा सुनने में तथा उत्तम स्वभाव के उल्लेख में भी
की चर्चा करनी चाहिए । अभ्यस्त उत्तम स्वभाव जन्मजन्मान्तर में भी साथ
ता है । त्याग के अभ्यास गुण दिखलाने के क्रम में भी यह कहानी कहनी चाहिए।
तरह द्रव्य-त्याग के अभ्यास से प्राणी आसानी से अपनी जान का भी मोह छोड़
ता है । भगवान् ने महानिर्वाण के समय दिव्य फूलों और वाद्यों के उपस्थित किये
े पर कहा था—"हे आनन्द, इससे तथागत का सत्कार नहीं होता । इसकी
ख्या में यह उदाहरण प्रस्तुत करना चाहिए । इस तरह अभिप्राय पूरा करने से
किसी की पूजा होती है न कि सुगन्धित पदार्थों और मालाओं से ।"

हस्ति-जातक तीसवाँ समाप्त ।

(३१) सुतसोम-जातकम्

श्रेयः समाधत्ते यथातथाप्युपनतः सत्सङ्गम इति सज्जनापाश्रयेण श्रेयोऽर्थिना भवितव्यम् । तद्यथानुश्रूयते --

बोधिसत्त्वभूतः किलायं भगवान् यशःप्रकाशवंशे गुणपरिग्रहप्रसङ्गात्सात्मीभूतप्रजानुरागे प्रतापानतदृप्तसामन्ते श्रीमति कौरव्यराजकुले जन्म प्रतिलेभे। तस्य गुणशतकिरणमालिनः सोमप्रियदर्शनस्य सुतस्य सुतसोम इत्येवं पिता नाम चक्रे। स शुक्लपक्षचन्द्रमा इव प्रतिदिनमभिवर्धमानकान्तिलावण्यः कालक्रमादवाप्य साङ्गेषु सोपवेदेषु च वेदेषु वैचक्षण्यं दृष्टक्रमः सोत्तरकलानां कलानां लोक्यानां लोकप्रेमबहुमाननिकेतभूतः सम्यगभ्युपपत्तिसौमुख्यादभिवर्धमानादरात्परिपालननियमाच्च वन्धुरिव गुणानां बभूव ।

शीलश्रुतत्यागदयादमानां तेजःक्षमाधीधृतिसन्नतीनाम् ।
अनुन्नतिह्रीमतिकान्तिकीर्तिदाक्षिण्यमेधाबलशुक्लतानाम् ।। १ ।।
तेषां च तेषां स गुणोदयानामलङ्कृतानामिव यौवनेन ।
विशुद्धतौदार्यमनोहराणां चन्द्रः कलानामिव संश्रयोऽभूत ।। २ ।।

---

३१. सुतसोम-जातक

जैसे-तैसे प्राप्त सत्संग भी कल्याणकारी होता है । अतः कल्याण चाहनेवाले को सप्रयास सत्सग करना चाहिए । जैसा कि सुना जाता है—

बोधिसत्त्वावस्था में ही एक वार भगवान् बुद्ध ने कीर्त्ति-समुज्ज्वल श्री-सम्पन्न कौरव-कुल में जन्म लिया । गुण-सञ्चय के प्रति आसक्ति के कारण उस कुल ने प्रजा के अनुराग को अपनाया था । अपने तेज से अभिमानी सामन्तों को झुकने के लिए बाध्य कर दिया था । वह वालक देखने में चन्द्रमा की तरह अत्यन्त सुन्दर था। सद्गुणरूपी किरण-मालाओं से वह विभूषित था । दिन दूनी रात चौगुनी उसकी कान्ति एवं आभा शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की तरह बढ़ रही थी । यह देखकर पिता ने उस पुत्र का नाम सुतसोम रखा । धीरे-धीरे उस बालक ने अङ्गों और उपवेदों के साथ वेदों में निपुणता प्राप्त कर ली । क्रमशः उसने लौकिक और लोकोत्तरकला में भी दक्षता प्राप्त कर ली । लोग उन्हें प्रेम और सम्मान की दृष्टि से देखते थे। अच्छे-अच्छे गुणों के अर्जन, संवर्धन और परिपालन में प्रवृत्त होने के कारण वह उन गुणों के बन्धु के समान लगता था ।

दया, संयम, त्याग, तेज, धैर्य, विनय, विनम्रता, विचार, लज्जा, सदाचार, कान्ति, कीर्ति, मेधा, शक्ति, पवित्रता और अनुकूलता जैसे अनेक गुण उसकी जवानी में ही अधिकृत थे । अपनी विशुद्धता और उदारता से वह अत्यन्त रमणीय बना था।

अतश्चैनं स राजा लोकपरिपालनसामर्थ्यादक्षुद्रभद्रप्रकृतित्वाच्च यौव-
राज्यविभूत्या संयोजयामास ।

विद्वत्तया त्वासुरतीव तस्य प्रियाणि धर्म्याणि सुभाषितानि ।
आनर्च पूजातिशयैरतस्तं सुभाषितैरेनमुपागमद्यः ।। ३ ।।

अथ कदाचित्स महात्मा कुसुममासप्रभावविरचितकिसलयलक्ष्मीमा-
धुर्याणि प्रविकसत्कुसुममनोज्ञप्रहसितानि प्राविततनशाद्वलकुथास्तरणसनाथ-
धरणीतलानि कमलोत्पलदलास्तीर्णनिर्मलनीलसलिलानि भ्रमद्भ्रमद्भ्रमर-
मधुकरीगणोपगीतान्यनिभृतपरभृतबर्हिगणानि मृदुसुरभिशिशिरसुखपवनानि
मनःप्रसादोद्भावनानि नगरोपवनान्यनुविचरन् अन्यतममुद्यानवनं नातिमहता
बलकायेन परिवृतः क्रीडार्थमुपनिर्जगाम ।

स तत्र पुंस्कोकिलनादिते वने मनोहरोद्यानविमानभूषिते ।
चचार पुष्पानतचित्रपादपे प्रियासहायः सुकृतीव नन्दने ।। ४ ।।

गीतस्वनैर्मधुरतूर्यरवानुविद्धै-
नृत्यैश्च हावचतुरैर्ललिताङ्गहारैः ।
स्त्रीणां मदोपहृतया च विलासलक्ष्म्या
रेमे स तत्र वनचारुतया तया च ।। ५ ।।

से अनेक कलाओं का आश्रय चन्द्रमा होता है, उसी तरह सद्गुणों का आश्रय
वह राजकुमार था ।। १-२ ।।

प्रजा-पालन में उसकी तत्परता, उत्तम स्वभाव और उदार विचार देखकर राजा
ने उसे युवराज बना दिया ।

विद्वान् होने के नाते उन्हें धार्मिक सूक्तियाँ अत्यधिक प्रिय थीं । उनके पास जो
कोई सूक्ति लेकर पहुँचता, उसका वे बड़ा सम्मान और सत्कार करते थे ।। ३ ।।

एक बार उस महात्मा ने क्रीड़ा के लिए कुछ अंगरक्षकों के साथ महल से
प्रस्थान किया । इधर-उधर घूमते-घामते वे नगर के एक उपवन में पहुँच गये ।
वसन्त की बहार थी । पेड़ों में सुन्दर, अभिनव मधुर कोंपलें निकल रही थीं । खिले
हुए फूलों की मुसकानें अलग ही गजब ढहा रही थीं । धरती पर घासों की हरी
चादर बिछी थीं । सरोवर का स्वच्छ जल नीले और उजले कमलों से ढँका था ।
भौंरे गुनगुनाते हुए फूलों पर मँडरा रहे थे । कोयल कूक रही थी । मोर बोल रहे
थे । शीतल सुगंधित हवा बह रही थी । सारा वातावरण आनन्दायक था ।

वे उस उपवन में ठीक उसी तरह विचरण कर रहे थे, जैसे कोई पुण्यात्मा अपनी
प्रियतमा के साथ नन्दनवन में विहार कर रहा हो । उसकी सुन्दरता भी गजब थी ।
कहीं लता-मण्डप बना था, तो कहीं कोयल कूक रही थीं, कहीं फूलों के भार से
रंगबिरंगे पेड़ों की डालियाँ झुकी थीं ।। ४ ।।

मधुर वाद्य-ध्वनि के साथ सुर मिलाकर कहीं औरतें गीत गा रही थीं, तो कहीं

तत्रस्थं चैनमन्यतमः सुभाषिताख्यायी ब्राह्मणः समभिजगाम। कृतोपचारसत्कारश्च तद्रूपशोभापहृतमनास्तत्रोपविवेश। इति स महासत्त्वो यौवनानुवृत्त्या पुण्यसमृद्धिप्रभावोपनतं क्रीडाविधिमनुभवंस्तदागमनादुत्पन्नबहुमान एव तस्मिन् ब्राह्मणे सुभाषितश्रवणादनवाप्तागमनफले सहसैवोत्थितं गीतवादित्रस्वनोपरोधि क्रीडाप्रसङ्गजनितप्रहर्षोपहन्तृ प्रमदाजनभयविषादजननं कोलाहलमुपश्रुत्य ज्ञायतां किमेतदिति सादरमन्तःपुरावचरान् समादिदेश। अथास्य दौवारिका भयविषाददीनवदनाः ससम्भ्रमं द्रुततरमुपेत्य न्यवेदयन्त—एष स देव पुरुषादः कल्माषपादः सौदासः साक्षादिवान्तको नरशतकदनकरणपरिचयाद्राक्षसाधिकक्रूरतरमतिरतिमानुषबलवीर्यदर्पो रक्षःप्रतिभयरौद्रमूर्तिर्मर्तिमानिव जगत्सन्त्रास इत एवाभिवर्तते। विद्रुतं च नस्तत्सन्त्रासग्रस्तधैर्यमुद्भ्रान्तरथतुरगद्विरदव्याकुलयोधं बलम्। यतः प्रतियत्नो भवतु देवः, प्राप्तकालं वा सन्धार्यतामिति।

अथ सुतसोमो जानानोऽपि तानुवाच—भोः क एष सौदासो नाम? ते त प्रोचुः—किमेतद्देवस्य न विदितं यथा सुदासो नाम राजा बभूव। स मृगयानिर्गतोऽश्वेनापहृतो वनगहनमनुप्रविष्टः सिंह्या सार्धं योगमगमत्। आपन्न-

---

हाव-भाव के साथ नाच रही थीं। वहाँ उनके मनोहर अंग-संचालन, मादक-विलास एवं वन की शोभा से वे काफी प्रसन्न हुए ॥ ५ ॥

इस मादक वातावरण में भी उन्हें सुभाषित सुनाने के लिए एक ब्राह्मण आया। उन्होंने ब्राह्मण का सम्मान किया। वह भी इनसे आकृष्ट हो वहीं बैठ गया। जवानी के अनुरूप पुण्यार्जन के प्रभाव से प्राप्त जब वे विलास-लीला का सुख अनुभव कर रहे थे, तभी इस ब्राह्मण के आगमन से उनके मन में उसके प्रति सम्मान का भाव जग आया। उस ब्राह्मण को अभी सूक्ति सुनाने की दक्षिणा भी नहीं मिली थी, कि सहसा दल में भगदड़ मच गई। गीत-वाद्य का बाधक, आनन्द का घातक, स्त्रियों को भयभीत एवं व्यथित करनेवाला कोलाहल का कारण जानने के लिए युवराज ने एक अन्तःपुर के विश्वस्त नौकर को भेजा। कुछ ही क्षण में भय और विषाद से मुँह लटकाये लौटकर उसने निवेदन किया—देव! नरभक्षी सुदास-पुत्र कल्माषपाद साक्षात् यम की तरह इधर ही आ रहा है। राक्षसों से अतिक्रूर, सैकड़ों मानव के संहार का अभ्यस्त, अतिमानव शक्ति, अतिगर्वीला, भयंकर वह मूर्तिमान् लोकभय है। उसे देखकर हमारी सेना भाग रही है। घोड़े, हाथी अस्त-व्यस्त हैं, योद्धा व्याकुल हैं। अतः देव! स्वयं उसका सामना करें या यथोचित कर्त्तव्य का आदेश दें।

तब अनजान बन सुतसोम ने उनसे पूछा—''भाई यह सुदास का बेटा कौन? परिचरों ने उन्हें बताया—क्या श्रीमान् इससे अवगत नहीं हैं। सुदास नामक कोई एक राजा था। एक दिन घोड़े पर सवार होकर शिकार खेलने के लिए वह जंगल

सत्त्वा च सा सिंही संवृता। कालान्तरेण च कुमारं प्रसुषुवे। स वनचरैर्गृहीतः सुदासायोपनीतः। अपुत्रोऽहमिति च कृत्वा सुदासेन संवर्धितः। पितरि च सुरपुरमुपगते स्वं राज्यं प्रतिलेभे। स मातृदोषादामिषेष्वभिसक्तः। इदमिदं रसवरं मांसमिति स मानुषं मांसमास्वाद्य स्वपौरानेव च हत्वा हत्वा भक्षयितुमुपचक्रमे। अथ पौरास्तद्वध्यायोद्योगं चक्रुः। यतोऽसौ भीतः सौदासो नररुधिरपिशितबलिभुग्भ्यो भूतेभ्य उपशुश्राव—अस्मात्सङ्कटान्मुक्तोऽहं राज्ञां कुमारशतेन भूतयज्ञं करिष्यामीति। सोऽयं तस्मात्सङ्कटान्मुक्तः। प्रसह्य प्रसह्य चानेन राजकुमारापहरणं कृतम्। सोऽयं देवमप्यपहर्तुमायातः। श्रुत्वा देवः प्रमाणमिति।

अथ स बोधिसत्त्वः पूर्वमेव विदितशीलदोषविभ्रमः सौदासस्य कारुण्यात्तच्चिकित्सावहितमतिराशंसमानश्चात्मनि तच्छीलविकृतप्रशमनसामर्थ्यं प्रियाख्यान इव च सौदासाभियाननिवेदने प्रीतिं प्रतिसंवेदयन्नियतमित्युवाच—

राज्याच्च्युतेऽस्मिन्नरमांसलोभादुन्मादवक्तव्य इवास्वतन्त्रे।
त्यक्तस्वधर्मे हतपुण्यकीर्तौ शोच्यां दशामित्यनुवर्तमाने॥ ६॥

गया। बहक कर उसके घोड़े गहन वन में पहुँच गये। वहाँ उन्होंने सिंहनी के साथ सहवास किया। कालक्रम से उस सिंहनी के गर्भ से इस कुमार का जन्म हुआ। कुछ वनचारियों ने उसे पकड़कर सुदास के पास पहुँचा दिया। अपने को पुत्रहीन समझकर राजा ने उसका पालन-पोषण किया। पिता की मृत्यु के बाद उसने अपना राज्य संभाला। किन्तु मातृदोष के कारण उसने मांस खाना शुरू किया। धीरे-धीरे वह नरभक्षी बन गया। अपने पुरवासियों को उसने मारकर खाना शुरू कर दिया। ऊबकर नागरिकों ने उसकी हत्या का प्रबन्ध कर दिया। उनसे डरकर मनुष्यों के रुधिर और कच्चे मांस की बलि खानेवाले भूतों से सौदास ने प्रतिज्ञा की—'यदि मुझे इस संकट से मुक्ति मिली तो सौ राजकुमारों को लेकर मैं 'भूत यज्ञ' करूँगा। संकट से मुक्त होकर उन्होंने अब राजकुमारों का अपहरण प्रारंभ कर दिया है। इसी क्रम में वह आपका भी अपहरण करने के लिए ही यहाँ आया है। अब आपकी जैसी आज्ञा हो।

बोधिसत्त्व उसकी दुःशीलता से अवगत थे। करुणावश वे उसकी चिकित्सा करना चाहते थे। उसकी दुःशीलता दूर करने में वे अपने को सामर्थ्यवान् समझते थे। अतः उसका आगमन सुनकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने दृढ़ता के साथ कहा—

नरमांस के लोभ से उसने अपना राज्य गँवाया। पागल की तरह परवश बना। इसने राजधर्म की ही तरह अपना यश और पुण्य भी खो दिया। अब यह अतिदयनीय दशा में पड़ा है॥ ६॥

को विक्रमस्यात्र ममावकाश एवंगताद्वा भयसम्भ्रमस्य ।
अयत्नसंरम्भपराक्रमेण पाप्मानमस्य प्रसभं निहन्मि ॥ ७ ॥
गत्वापि यो नाम मयानुकम्प्यो मद्गोचरं स स्वयमभ्युपेतः ।
युक्तं मयातिथ्यमतोऽस्य कर्तुमेवं हि सन्तोऽतिथिषु प्रवृत्ताः ॥ ८ ॥

तद्यथाधिकारमत्रावहिता भवन्तु भवन्तः । इति स तानन्तःपुरावचरान-नुशिष्य विषादविपुलतरपारिप्लवाक्षमागद्गदविलुलितकण्ठं मार्गावरणसोद्य-ममाश्वासनपूर्वकं विनिवर्त्य युवतिजनं यतस्तत्कोलाहलं ततः प्रससार। दृष्ट्वैव च व्यायताबद्धमलिनवसनपरिकरं वल्कलपट्टविनियतं रेणुपरुषप्रलम्ब-व्याकुलशिरोरुहे प्ररूढश्मश्रुजालावनद्धान्धकारवदनं रोषसंरम्भव्यावृत्तरौद्र-नयनमुद्यतासिचर्माणं सौदासं विद्रवदनुपतन्तं राजबलं विगतभयसाध्वसः समाजुहाव - अयमहमरे सुतसोमः । इत एव निवर्तस्व । किमनेन कृपणजन-कदनकरणप्रसङ्गेनेति । तत्समाह्वानशब्दाकलितदर्पस्तु सौदासः सिंह इव ततो न्यवर्तत । निरावरणप्रहरणमेकाकिनं प्रकृतिसौम्यदर्शनमभिवीक्ष्य च

मैं इससे डरूँ या लड़ूँ इसके लिए अब अवसर ही कहाँ है ? प्रयत्न, पराक्रम या ताकत लगाए बिना ही अब इसके पाप को जड़मूल से मिटा दूँगा ॥ ७ ॥

मुझे तो उसके पास स्वयं पहुँचकर उस पर कृपा करनी चाहिए थी । अब तो वह खुद खोजकर मेरे पास पहुँचा है । इसका अतिथि-सत्कार करना तो मेरे लिए उचित है ही । क्योंकि, सज्जनों का आगत अतिथियों के प्रति ऐसा ही आचरण होता है ॥ ८ ॥

आप लोग अपने काम के प्रति सावधानी बरतें । अन्तःपुर के रक्षकों को यह कहकर लौटा दिया । सामने राह रोककर कुछ युवतियाँ खड़ी थीं । अत्यन्त दुःख के मारे उनकी आँखें डबडबाई थीं । उनका कण्ठ अवरुद्ध था । उन्हें आश्वत कर अन्तः-पुर लौटा दिया । फिर स्वयं जिधर कोलाहल मचा था, उस दिशा की ओर बढ़ गये । वहाँ उन्होंने सौदास को देखा । मलिन फटे वस्त्र उसकी कमर में कसकर बँधे थे । उसके सिर के बाल धूलि-धूसरित थे । वे रुखे तथा लम्बे थे । उन्हें वल्कल से कसकर बाँध दिया था । बढ़ी हुई मूँछ-दाढ़ी के कारण उसका चेहरा अन्धकाराच्छन्न था । क्रोध से भयंकर बनी उसकी आँखें घूम रही थी । हाथ में खुली तलवार और ढाल लेकर भागती हुई राजसेना का वह पीछा कर रहा था । उसे देखते ही निडर होकर राजकुमार ने कहा—"अरे ओ सौदास ! ईधर देखो । मैं ही राजकुमार सुतसोम हूँ । दुःखी लोगों को मारने से क्या लाभ ?" उसकी आवाज सुनते ही बड़े दर्प के साथ सिंह की तरह सौदास उधर ही लौट गया । राजकुमार के शरीर पर न तो कवच था और न हाथ में कोई हथियार ही । उन्हें अकेले और स्वभाव से कोमल देखकर सौदास ने कहा—'मैं तो तुम्हें ही खोज रहा था' इतना कहते हुए बिना किसी डर

बोधिसत्त्वमहमपि त्वामेव मृगयामीत्युक्त्वा निर्विशङ्कः सहसा संरम्भद्रुततरमभिसृत्यैनं स्कन्धमारोप्य प्रदुद्राव। बोधिसत्त्वोऽपि चैनं संरम्भदर्पोद्धतमानसं ससम्भ्रमाकुलितमतिं राजबलविद्रावणादुपरूढप्रहर्षावलेपं साभिशङ्कमवेत्य नायमस्यानुशिष्टिकाल इत्युपेक्षाञ्चक्रे। सौदासोऽप्यभिमतार्थप्रसिद्धया परमिव लाभमधिगम्य प्रमुदितमनाः स्वमावासदुर्गं प्रविवेश।

हतपुरुषकलेवराकुलं रुधिरसमुक्षितरौद्रभूतलम्।
पुरुषमिव रुषावभर्त्सयत्स्फुटदहनैरशिवैः शिवारुतैः॥ ९॥

गृध्रध्वाङ्क्षाध्यासनरूक्षारुणपर्णैः
कीर्णं वृक्षैर्नैकचिताधूमविवर्णैः।
रक्षःप्रेतानर्तनबीभत्समशान्तं
दूराद् दृष्टं त्रासजडैः सार्थिकनेत्रैः॥ १०॥

समवतार्य च तत्र बोधिसत्त्वं तद्रूपसम्पदा विनिबध्यमाननयनः प्रततं वीक्षमाणो विशश्राम। अथ बोधिसत्त्वस्य सुभाषितोपायनाभिगतं ब्राह्मणमकृतसत्कारं तदुद्यानविनिवर्तनप्रतीक्षिणमाशावबद्धहृदयमनुस्मृत्य चिन्ता प्रादुरभूत्—कष्टं भोः!

के जल्दी-जल्दी उनके पास पहुँच गया। क्रोध से उन्मत्त बना सौदास उन्हें कन्धे पर हठात् बैठाकर ले भागा। कुमार बोधिसत्त्व ने देखा। क्रोध और गर्व से वह उद्धत बना है। शीघ्रता के कारण वह अपने आप में बुरी तरह घबड़ाया है। राजसेना को भगाने के उल्लास में उन्मत्त बना है। ऐसी स्थिति में—'उसे समझाने का यह समय नहीं है' यह जानकर उसने उसकी उपेक्षा कर दी। इधर सौदास ने अपने अभीष्ट की सिद्धि से जैसे परम लाभ को पाकर अपने निवास दुर्ग में सहर्ष प्रवेश किया।

सौदास का दुर्ग मारे गये मनुष्यों की लाशों से पटा था। रक्त से लाल-लाल वह धरती बड़ी डरावनी लग रही थी। गीदड़ों की अशुभ आवाजें सुननेवालों में अलग ही दहशत पैदा कर रही थी॥ ९॥

वहाँ के पेड़ लगातार जलते चिताओं के धुँए से विवर्ण हो गये थे। गीधों और कौओं के बैठने से उनके पत्ते पीले पड़ गये थे। राक्षसों और भूतों के नाच से बीभत्स और अशान्त बने उस स्थान को दूर से देख कर ही देखनेवालों की आँखें डर के मारे पथरा जाती थीं॥ १०॥

फिर वहाँ पहले बोधिसत्त्व को कन्धे से नीचे उतार दिया। फिर अपलक आँखों से कुछ देर तक उन्हें निहारते रहा। उनकी रूप-सम्पत्ति को देखकर उसकी सारी थकान दूर हो गई। सहसा बोधिसत्त्व को उस ब्राह्मण की याद आ गई, जिसने इन्हें सुभाषित सुनाया था। पुरस्कार देने की बात तो दूर रही, उसका उचित सत्कार भी ये नहीं कर सके। पुरस्कार पाने की आशा से उद्यान में बैठा वह ब्राह्मण इनके लौटने की प्रतीक्षा कर रहा होगा। उन्होंने सोचा—'हाय,

सुभाषितोपायनवानाशया दूरमागतः ।
स मां हृतमुपश्रुत्य विप्रः किं नु करिष्यति ॥ ११ ॥

आशाविघाताग्निपरीतचेता वैतान्यतीव्रेण परिश्रमेण ।
विनिश्वसिष्यत्यनुशोच्य वा मां स्वभाग्यनिन्दां प्रतिपत्स्यते वा ॥ १२ ॥

इति विचिन्तयतस्तस्य महासत्त्वस्य तदीयदुःखाभितप्तमनसः कारुण्यपरिचयादश्रूणि प्रावर्तन्त । अथ सौदासः साश्रुनयनमभिवीक्ष्य बोधिसत्त्वं समभिप्रहसन्नुवाच—मा तावद्भोः !

धीर इत्यसि विख्यातस्तैस्तैश्च बहुभिर्गुणैः ।
अथ चास्मद्वशं प्राप्य त्वमप्यश्रूणि मुञ्चसि ॥ १३ ॥

सुष्ठु खल्विदमुच्यते—

आपत्सु विफलं धैर्यं शोके श्रुतमपार्थकम् ।
न हि तद्विद्यते भूतमाहतं यन्न कम्पते ॥ १४ ॥

तत्सत्यं तावद् ब्रूहि—

प्राणान् प्रियानथ धनं सुखसाधनं वा
बन्धून्नराधिपतितामथवानुशोचन् ।
पुत्रप्रियं पितरमश्रुमुखान् सुतान् वा
स्मृत्वेति साश्रुनयनत्वमुपागतोऽसि ॥ १५ ॥

दूर देश से चलकर पुरस्कार की आशा से सुभाषित का उपहार लेकर वह ब्राह्मण मेरे पास आया होगा। किन्तु, जब उसने मेरी अपहरण की बात सुनी होगी, तब उस पर क्या-क्या बीता होगा ॥ ११ ॥

निराशा की आग में उसका दिल जलता होगा। विफलता के कारण वह तीव्र थकान महसूस करता होगा। मेरे लिए शोक प्रकट करते हुए लम्बी साँसे खींचता होगा। या फिर बैठकर अपने भाग्य को कोसता होगा ॥ १२ ॥

इस तरह सोचते हुए उस दयालु महापुरुष की आँखों से आँसू बहने लगे। तब सौदास ने उनकी आँखों से आँसू बहते देखकर हंसते हुए कहा—'ऐसा करते तुम्हें शोभता नहीं है।'

अपने अनेक गुणों के कारण लोगों में तुम धीर कहे जाते हो। आज मेरे चंगुल में फँसकर तुम ऐसे आँसू बहा रहे हो ॥ १३ ॥

यह ठीक ही कहा गया है—

विपत्ति में धैर्य छूट जाता है। शोक में शास्त्र-ज्ञान नष्ट हो जाता है। संसार में ऐसा एक भी प्राणी नहीं है, जो विपत्ति या शोक की चपेट में पड़कर विचलित न हो जाय ॥ १४ ॥

मुझे सच-सच बतला दो—

अपनी जान के लिए, सुख के साधन धन के लिए, बन्धुओं के लिए, राजपाट के

बोधिसत्त्व उवाच—

न प्राणान् पितरौ न चैव तनयान् बन्धून्न दारान्न च
नैवैश्वर्यसुखानि संस्मृतवतो बाष्पोद्गमोऽयं मम।
आशावांस्तु सुभाषितैरभिगतः श्रुत्वा हृतं मां द्विजो
नैराश्येन स दह्यते ध्रुवमिति स्मृत्वास्मि सास्रेक्षणः ॥१६॥

तस्माद्विसर्जयितुमर्हसि तस्य याव-
दाशाविघातमथितं हृदयं द्विजस्य।
सम्माननाम्बुपरिषेकनवीकरोमि
तस्मात्सुभाषितमधूनि च सम्बिभर्मि ॥ १७ ॥

प्राप्यैवमानृण्यमहं द्विजस्य गन्तास्मि भूयोऽनृणतां तवापि।
इहागमात्प्रीतिकृतक्षणाभ्यां निरीक्ष्यमाणो भवदीक्षणाभ्याम् ॥ १८ ॥

मा चापयातव्यनयोऽयमस्येत्येवं विशङ्काकुलमानसो भूः।
अन्यो हि मार्गो नृप मद्विधानामन्यादृशस्त्वन्यजनामिपन्नः ॥ १९ ॥

सौदास उवाच—

इदं त्वया ह्यादृतमुच्यमानं श्रद्धेयतां नैव कथञ्चिदेति।
को नाम मृत्योर्वदनाद्विमुक्तः स्वस्थः स्थितस्तत्पुनरभ्युपेयात् ॥ २० ॥

लिए, प्यारे पिता के लिए शोक प्रकट कर रहे हो अथवा अपने बिलखते बेटे को याद कर रो रहे हो ॥ १५ ॥

बोधिसत्त्व ने जवाब दिया—

अपनी जान, माँ-बाप, बेटे-बन्धु, या औरत ऐश्वर्य को याद कर मैं रो नहीं रहा हूँ। कुछ पाने की आशा से सूक्ति सुनाने के लिए आया ब्राह्मण मेरा अपहरण सुनकर निश्चय ही निराशा की आग में जलता होगा। यही सोचकर मेरी आँखें आँसू बहा रही हैं ॥ १६ ॥

अतः मुझे तब तक के लिए छोड़ दो जब तक मैं उसका सुभाषित रूपी मधु पी न लूँ, तथा निराशा की आग में झुलसते उसके दिल को सत्कार रूपी जल से सींच न दूँ ॥ १७ ॥

इस तरह ब्राह्मण के ऋण से मुक्त होकर मैं तुम्हारे पास लौट आऊँगा। फिर तुम हर्ष और उल्लास से मुझे जब भर आँख देखोगे, तो फिर तुम्हारे ऋण से भी मुझे मुक्ति मिल जायेगी ॥ १८ ॥

तुम यह सोचकर दुःखी मत होना कि मैं तुमसे भागने का बहाना कर रहा हूँ। क्योंकि हे राजन्, हमारे जैसे लोगों के चलने की राह कुछ दूसरी होती है और अन्य लोगों की राह कुछ और है ॥ १९ ॥

यह सुनकर सौदास ने कहा—

निश्चयपूर्वक कही गई तुम्हारी यह बात किसी भी स्थिति में विश्वास करने

दुरुत्तरं मृत्युभयं व्यतीत्य सुखे स्थितः श्रीमति वेश्मनि स्वे ।
किं नाम तत्कारणमस्ति येन त्वं मत्समीपं पुनरभ्युपेयाः ।। २१ ।।

बोधिसत्त्व उवाच—कथमेवं महदपि ममागमनकारणमत्रभवान्नावबुध्यते ? ननु मया प्रतिपन्नमागमिष्यामीति । तदलं मां खलजनसमतयैवं परिशङ्कितुम् । सुतसोमः खल्वहम् ।

लोभेन मृत्योश्च भयेन सत्यं सत्यं यदेके तृणवत्त्यजन्ति ।
सतां तु सत्यं वसु जीवितं च कृच्छ्रेऽप्यतस्तन्न परित्यजन्ति ।। २२ ।।
न जीवितं यत्सुखमैहिकं वा सत्याच्च्युतं रक्षति दुर्गतिभ्यः ।
सत्यं विजह्यादिति कस्तदर्थं यच्चाकरः स्तुतियशःसुखानाम् ।। २३ ।।
सन्दृश्यमानव्यभिचारमार्गे त्वदृष्टकल्याणपराक्रमे वा ।
श्रद्धेयतां नैति शुभं तथा च किं वीक्ष्य शङ्का तव मय्यपीति ।। २४ ।।

त्वत्तो भयं यदि च नाम ममाभविष्यत्
सङ्गः सुखेषु करुणाविकलं मनो वा ।
विख्यातरौद्रचरितं ननु वीरमानी
त्वामुद्यतप्रहरणावरणोऽभ्युपैष्यम् ।। २५ ।।

योग्य नहीं है । क्योंकि, ऐसा कौन विचारवान् व्यक्ति है कि मौत के मुँह से छूटकर फिर स्वेच्छा से उसी के पास लौट आये ।। २० ।।

दुस्तर मौत के डर को पारकर सुख-शोभा से सम्पन्न अपने घर जब तुम पहुँच जाओगे, तब फिर ऐसा कारण क्या होगा कि तुम मरने के लिए फिर मेरे पास लौट आओगे ।। २१ ।।

बोधिसत्त्व ने कहा—मेरे आने का कारण तो स्पष्ट है । फिर भी तुम इसे समझ क्यों नहीं पा रहे हो ? "मैंने यह प्रतिज्ञा की है कि मैं लौट आऊँगा ।" मुझे भी दुर्जन की तरह समझकर तुम मुझ पर सन्देह मत करो । याद रखो, मेरा नाम सुतसोम है ।

मौत का डर या लोभ से दुर्जन ही तृणवत् सत्य का त्याग करते हैं । किन्तु, सज्जनों के लिए तो सत्य ही धन और जीवन है । अतः किसी भी स्थिति में मैं सत्य का दामन नहीं छोड़ सकता ।। २२ ।।

जिन्दगी या संसार का सुख सत्य से गिरे हुए लोगों को किसी भी दशा में दुर्गति से बचा नहीं सकते । तो फिर इस जीवन या सुख के लिए सत्य का दामन कौन छोड़ेगा । सत्य ही तो स्तुति, कीर्ति और सुख की जड़ है ।। २३ ।।

जो खराब रास्ते पर चलता है अथवा आत्म-कल्याण के लिए जो कोशिश नहीं करता, ऐसे ही लोगों के शुभाचरण भी विश्वास करने योग्य नहीं होता है । फिर, क्या देखकर तुम मुझ पर संदेह कर रहे हो ।। २४ ।।

मैं अगर तुमसे डरता, सांसारिक सुख में आसक्त होता तो फिर तुम्हारे जैसे

त्वत्संस्तवस्त्वयमभीप्सित एव मे स्यात्
तस्य द्विजस्य सफलश्रमतां विधाय।
एष्याम्यहं पुनरपि स्वयमन्तिकं ते
नास्मद्विधा हि वितथां गिरमुद्गिरन्ति ॥ २६ ॥

अथ सौदासस्तद् बोधिसत्त्ववचनं विकल्पितमिवामृष्यमाणश्चिन्तामापेदे-सुष्ठु खल्वयं सत्यवादितया च धार्मिकतया च विकत्थते। तत्पश्यामि तावदस्य सत्यानुरागं धर्मप्रियतां च। किं च तावन्ममानेन नष्टेनापि स्यात्? अस्ति हि मे स्वभुजवीर्यप्रतापाद्वशीकृतं शतमात्रं क्षत्रियकुमाराणाम्। तैर्यथोपयाचितं भूतयज्ञं करिष्यामीति विचिन्त्य बोधिसत्त्वमुवाच—तेन हि गच्छ। द्रक्ष्यामस्ते सत्यप्रतिज्ञतां धार्मिकतां च।

गत्वा कृत्वा च तस्य त्वं द्विजस्य यदभीप्सितम्।
शीघ्रमायाहि यावत्ते चितां सज्जीकरोम्यहम् ॥ २७ ॥

अथ बोधिसत्त्वस्तथेत्यस्मै प्रतिश्रुत्य स्वभवनमभिगतः प्रतिनन्द्यमानः स्वेन जनेन तमाहूय ब्राह्मणं तस्माद् गाथाचतुष्टयं शुश्राव। तच्छ्रुत्वा सुभाषिताभिप्रसादितमनाः स महासत्त्वः संराधयन् प्रियवचनसत्कारपुरःसरं साह-

---

कुख्यात क्रूरकर्मा के सामने वीर होकर भी बिना कवच या हथियार उठाये कैसे आ जाता? ॥ २५ ॥

मेरी इच्छा है कि मैं तुमसे कुछ बातें करूँ। उस ब्राह्मण की मेहनत सफल कर मैं फिर तुम्हारे पास लौट आऊँगा। मेरे जैसे लोग झूठ तो कभी बोलते ही नहीं हैं ॥ २६ ॥

सौदास को इनकी बातें मनगढ़न्त लगीं, वह इसे सह नहीं सका। उसने सोचा, इसे अपनी सत्यवादिता और धर्मानुराग के प्रति घमंड है। इसकी सत्यवादिता और धर्मानुराग को जरा देखूँ। इसके चले जाने से मेरा क्या बिगड़ जायेगा? मेरे पास तो एक सौ क्षत्रिय राजकुमार है हीं, जिन्हें मैंने अपने भुजबल से वश में किया है। अपने संकल्प के अनुसार उन्हीं को लेकर मैं भूत-यज्ञ कर लूँगा। यह सोचकर उसने बोधिसत्त्व से कहा—अच्छा तो तुम जा सकते हो, तुम्हारी सत्यवादिता और धार्मिकता भी देख लूँ।

जाओ, और जल्दी उस ब्राह्मण को इच्छा पूरी कर लौट आओ, तब तक मैं तुम्हारे लिए चिता करता हूँ ॥ २७ ॥

शीघ्र लौट आने की प्रतिज्ञा कर तब बोधिसत्त्व अपने घर लौट आये। यहाँ अपने लोगों ने उनका हृदय से अभिनन्दन किया। बोधिसत्त्व ने उस ब्राह्मण को बुलाकर चार सूक्तियाँ सुनीं। सूक्तियाँ सुनकर उन्हें काफी प्रसन्नता हुई। उन्होंने मधुरवचन और सम्मान के साथ उनकी स्तुति की। उनकी प्रत्येक गाथा का एक

स्त्रिकीं गाथां कृत्वा समभिलषितेनार्थेन तं ब्राह्मणं प्रतिपूजयामास। अथैनं तस्य पिता अस्थानातिव्ययनिवारणोद्यतमतिः प्रस्तावक्रमागतं सानुनयमित्युवाच– तात ! सुभाषितप्रतिपूजने साधु मात्रां ज्ञातुमर्हसि। महाजनः खलु ते भर्तव्यः, कोशसम्पदपेक्षिणी च राजश्रीः। अतश्च त्वां ब्रवीमि—

शतेन सम्पूजयितुं सुभाषितं परं प्रमाणं न ततः परं क्षमम्।
अतिप्रदातुर्हि कियच्चिरं भवेद्धनेश्वरस्यापि धनेश्वरद्युतिः ॥ २८ ॥
समर्थमर्थः परमं हि साधनं न तद्विरोधेन यतश्चरेत्प्रियम्।
नराधिपं श्रीर्न हि कोशसम्पदा विवर्जितं वेशवधूरिवेक्षते ॥ २९ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—

अर्घप्रमाणं यदि नाम कर्तुं शक्यं भवेद्देव सुभाषितानाम्।
व्यक्तं न ते वाच्यपथं व्रजेयं तन्निष्क्रयं राज्यमपि प्रयच्छन् ॥ ३० ॥
श्रुत्वैव यन्नाम मनः प्रसादं श्रेयोऽनुरागः स्थिरतां च याति।
प्रज्ञा विवृद्धया वितमस्कतां च क्रय्यं ननु स्यादपि तत्स्वमांसैः ॥ ३१ ॥

सहस्र मूल्य निर्धारित किया। इसके अतिरिक्त अभिलषित धन देकर बोधिसत्त्व ने उस ब्राह्मण को विदा कर दिया। सुतसोम के पिता ने अनुचित और अतिव्यय से उन्हें रोकने के निमित्त प्रसङ्गवश समझाते हुए कहा—'सुभाषित के पुरस्कार में सीमा का ज्ञान होना चाहिए। तुम्हें बहुत सारे लोगों का भरण-पोषण करना है। साथ ही राजलक्ष्मी भी तभी तक टिकती है, जब तक खजाने में धन है।

इसीलिए मैं तुमसे कहता हूँ—

सुभाषित का पुरस्कार सौ मुद्रा से अधिक नहीं होना चाहिए। यदि धनपति कुबेर भी अतिदानी बन जायें तो उनकी लक्ष्मी भी उन्हें कब तक साथ देगी ॥२८॥

सफलता का धन एक बहुत बड़ा शक्तिशाली साधन है। क्योंकि इसके बिना कोई अपना अभीष्ट सिद्ध नहीं कर सकता है। वेश्या की तरह राज्यलक्ष्मी भी कोश और सम्पत्तिविहीन राजा की ओर आँख उठाकर नहीं देखती ॥ २९ ॥

तब बोधिसत्त्व ने कहा—

हे राजन् ! यदि सुभाषितों के मूल्य की सीमा निर्धारित की जाये तो स्पष्ट है कि उनके मूल्य में आपका राज्य देकर भी मैं आपकी निन्दा का पात्र नहीं हो सकता ॥ ३० ॥

जिस सुभाषित को सुनते ही मन गद्गद हो जाता है, कल्याण पाने की कामना सुदृढ़ हो जाती है, ज्ञान विकसित होकर निर्मल हो जाता है, ऐसी महनीय वस्तु को जहाँ तक मैं समझता हूँ अपनी देह का मांस देकर भी खरीद लेना चाहिए ॥ ३१ ॥

दीपः श्रुतं मोहतमःप्रमाथी चौराद्यहार्यं परमं धनं च।
सम्मोहशत्रुव्यथनाय शस्त्रं नयोपदेष्टा परमश्च मन्त्री ।। ३२ ।।
आपद्गतस्याप्यविकारि मित्रमपीडनी शोकरुजश्चिकित्सा।
बलं महद्दोषबलावमर्दि परं निधानं यशसः श्रियश्च।। ३३ ।।
सत्सङ्गमे प्राभृतशीभरस्य सभासु विद्वज्जनरञ्जनस्य।
परप्रवादद्युतिभास्करस्य स्पर्धावतां कीर्तिमदापहस्य ।। ३४ ।।
प्रसन्ननेत्राननवर्णरागैरसंस्कृतैरप्यतिहर्षलब्धैः ।
संराधनव्यग्रकराग्रदेशैर्विख्याप्यमानातिशयक्रमस्य ।। ३५ ।।
विस्पष्टहेत्वर्थनिदर्शनस्य विचित्रशास्त्रागमपेशलस्य।
माधुर्यसंस्कारमनोहरत्वादक्लिष्टमाल्यप्रकरोपमस्य ।। ३६ ।।
विनीतदीप्तप्रतिभोज्ज्वलस्य प्रसह्य कीर्तिप्रतिबोधनस्य।
वाक्सौष्ठवस्यापि विशेषहेतुर्योगात्प्रसन्नार्थगतिः श्रुतश्रीः ।। ३७ ।।
श्रुत्वा च वैरोधिकदोषमुक्तं त्रिवर्गमार्गं समुपाश्रयन्ते।
श्रुतानुसारप्रतिपत्तिसारास्तरन्त्यकृच्छ्रेण च जन्मदुर्गम् ।। ३८ ।।

सुभाषित कानों से सुना गया वह दीपक है, जो अज्ञान रूप अन्धकार को मिटाता है। वह ऐसा धन है, जिसे चोर चुरा नहीं पाते। मोहरूपी शत्रु को मिटानेवाला हथियार है और नीति उपदेशक मंत्री है ।। ३२ ।।

विपत्ति में साथ देनेवाला अडिग मित्र है। शोकरूपी रोग की पीड़ाहीन चिकित्सा है। काम, क्रोध आदि दोषों को पराजित करनेवाली महाशक्ति है। कीर्ति और श्री की उत्तम निधि है ।। ३३ ।।

सुभाषित तो सत्संग का एक उत्तम उपहार है। विद्वद्गोष्ठी में विद्वानों के आनन्द का एक साधन है। वाद-विवाद में एक द्युतिमान् सूर्य है। ईर्ष्यालु व्यक्तियों के यश और गर्व को चूर्ण करता है ।। ३४ ।।

सुभाषित सुनकर सामान्य स्तर के लोग भी प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। अनायास उनके मुख और आँखों से प्रसन्नता झलकने लगती है। हाथ हिला-हिलाकर वे सुभाषित की उत्कृष्टता सूचित करते हैं ।। ३५ ।।

सुभाषित कार्य-कारण के स्पष्ट उदाहरणों से युक्त, अनेक शस्त्रों के उद्धरणों से रमणीय तथा मधुर संस्कार एवं अपनी मनोहरता के कारण नई माला की तरह सुन्दर होता है ।। ३६ ।।

सुभाषित अत्यन्त विनत होता है। दीप की दीप्ति की तरह प्रकाशपूर्ण होता है। यशदायक होता है। अर्थच्छवि से भरा सुवचन सुभाषित में उत्कर्ष उत्पन्न करता है ।। ३७ ।।

लोग इसे सुनकर धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि में सफलता प्राप्त करते हैं

गुणैरनेकैरिति विश्रुतानि प्राप्तान्यहं प्राभृतवच्छ्रुतानि ।
शक्तः कथं नाम न पूजयेयमाज्ञां कथं वा तव लङ्घयेयम् ।। ३९ ।।
यास्यामि सौदाससमीपमस्मादर्थो न मे राज्यपरिश्रमेण ।
निवृत्तसङ्केतगुणोपमर्दे लभ्यश्च यो दोषपथानुवृत्त्या ।। ४० ।।

अथैनं पिता स्नेहात्समुत्पतितसम्भ्रमः सादरमुवाच तवैव खलु तात हितावेक्षिणा मयैवमभिहितम् । तदलमत्र ते मन्युवशमनुभवितुम् । द्विषन्तस्ते सौदासवशं गमिष्यन्ति । अथापि प्रतिज्ञातं त्वया तत्समीपोपगमनम्, अतः सत्यानुरक्षी तत्सम्पादयितुमिच्छसि, तदपि ते नाहमनुज्ञास्यामि । अपातकं हि स्वप्राणपरिरक्षानिमित्तं गुरुजनार्थं चानृतमार्गो वेदविहित इति । तत्परिहारश्रमेण तव कोऽर्थः ? अर्थकामाभ्यां च विरोधिदृष्टं धर्मसंश्रयमनयमिति व्यसनमिति च राज्ञां प्रचक्षते नीतिकुशलाः । तदलमनेनास्मन्मनस्तापिना स्वार्थनिरपेक्षेण ते निर्बन्धेन । अथाप्ययशस्यं मार्ष धर्मविरोधि चेति प्रतिज्ञाविसंवादनमनुचितत्वान्न व्यवस्यति ते मतिः, एवमपीदं त्वद्विमोक्षणार्थं समुद्यक्तं

और जो इसे अपने आचरण में उतारने की चेष्टा करते हैं, वे अनायास भवसागर पार कर जाते हैं ।। ३८ ।।

अपने अनेक गुणों के लिए विख्यात यह सुभाषित मुझे तो उपहार की तरह ही प्राप्त हुए हैं । समर्थ होने पर भी मैं उन्हें कैसे सत्कृत न करूँ ? अथवा सत्कार की सीमा के विषय में आपकी आज्ञा का कैसे उलंघन करूँ ।। ३९ ।।

अतः मैं सौदास के ही पास लौट जाता हूँ । राज्य-संचालन हेतु परिश्रम करने की मुझे कोई आवश्यकता नहीं है । सौदास के पास लौट जाने की प्रतिज्ञा का भंग करने से जो मेरे गुणों का विनाश होगा, उससे भला क्या लाभ होने को है ।।४०।।

यह सुनकर सुतसोम के पिता बुरी तरह घबड़ा गये और उन्होंने कहा—बेटे, मैंने तो यह केवल तुम्हारे हित को देखते हुए ही कहा था । गुस्सा मत करो । तुम्हारे दुश्मन सौदास के वश में जाय । तुमने सौदास के पास लौट जाने की प्रतिज्ञा की है । तुम सत्यवादी हो इसलिए तुम अपने सत्य की रक्षा करना चाहते हो । यह जानते हुए भी सौदास के पास लौट जाने की अनुमति मैं तुम्हें नहीं दूंगा । क्योंकि अपने प्राणों की रक्षा के लिए तथा गुरुजनों के लिए असत्य की राह पर चलने में भी पाप नहीं लगता, यह वेदों की सम्मति है । इस मार्ग को छोड़ने से क्या लाभ ? नीति-निपुण लोगों का कहना है कि अर्थ और काम भोग के विरुद्ध धर्म के आश्रय में जाना राजाओं के लिए अनीतिपूर्ण और आपत्तिजनक है । अतः हमारे मन के विरुद्ध एवं अपने स्वार्थ के विरुद्ध इस दुराग्रह को छोड़ दो । तुम सोचते हो प्रतिज्ञा तोड़ने से अयश और अधर्म होगा, और तुमने कभी ऐसा किया भी नहीं, अतः ऐसा करना नहीं चाहते हो । तुम्हारी रक्षा के लिए हाथियों, घोड़ों,

गज्जमेव नो हस्त्यश्वरथपत्तिकायं सम्पन्नमनुरक्त कृतास्त्रशूरपुरुषमनेकसमर-
नीराजितं महन्महौघभीमं बलम्। तदनेन परिवृतः समभिगम्यैनं वशमानय,
न्तकवशं वा प्रापय। एवमप्यर्थप्रतिज्ञता सम्पादिता स्यादात्मरक्षा चेति।

बोधिसत्त्व उवाच—नोत्सहे देव! अन्यथा प्रतिज्ञातुमन्यथा कर्तुं शोच्येषु
ा व्यसनपङ्कनिमग्नेषु नरकाभिमुखेषु सुहृत्सु स्वजनपरित्यक्तेष्वनाथेषु च
द्विधेषु प्रहर्तुम्।

अपि च,

दुष्करं पुरुषादोऽसावुदारं चाकरोन्मयि।
मद्वचःप्रत्ययाद्यो मां व्यसृजद्वशमागतम्॥ ४१॥
लब्धं तत्कारणाच्चेदं मया तात! सुभाषितम्।
उपकारी विशेषेण सोऽनुकम्प्यो मया यतः॥ ४२॥

अलं चात्र देवस्य मदत्ययाशङ्कया। का हि तस्य शक्तिरस्ति मामेवमभि-
तं विहिंसितुमिति। एवमनुनीय स महात्मा पितरं विनिवारणसोद्यमं च
निवर्त्य प्रणयिजनमनुरक्तं च बलकायमेकाकी विगतभयदैन्यः सत्यानुरक्षी
ोकहितार्थं सौदासमभिविनेष्यंस्तन्निकेतमभिजगाम।

ों और पैदलों की विशाल सेना भी साथ जायेगी, जो अस्त्र-शस्त्र संचालन में
तिनिपुण हैं। अनेक युद्धों में विजय प्राप्त कर चुकी है। यह शक्तिशाली, राजभक्त
र जल-प्रवाह की तरह भयंकर है। इसे साथ लेकर सौदास के पास जाओ। उसे
ावर्ती बनाकर लौटो या उसे यम के घर पहुँचा दो। इस तरह तुम्हारी प्रतिज्ञा भी
ेगी और आत्मरक्षा भी होगी।

बोधिसत्त्व ने कहा—राजन्! प्रतिज्ञा कुछ और फिर आचरण कुछ और; ऐसा
मैं कदापि नहीं कर सकता। जो दया के पात्र हैं, विपत्ति के जाल में फँसे हैं,
रक की ओर बढ़ रहे हैं, आत्मीयों ने जिन्हें, छोड़कर अनाथ बना दिया है और
ावश मैं जिनका मित्र बन गया, उन पर भला मैं प्रहार कैसे कर सकता हूँ।

और भी—

यद्यपि मैं उसके वश में था। फिर भी उसने मेरी बात पर विश्वास कर मुझे
हाँ आने दिया। उसने अपनी ओर से तो यह दुष्कर उदारता दिखलाई है॥ ४१॥
पिताजी! उसी के कारण तो मुझे यह सुभाषित मिले हैं। वह मेरा उपकारी है।
तः वह मेरी विशेष अनुकम्पा का पात्र है॥ ४२॥

आप मेरे अनिष्ट की बिलकुल आशङ्का न करें। जब मैं इस तरह उसके पास
ौटकर पहुंच जाऊँगा, तब उसका क्या मजाल है कि वह मेरा बाल बाँका कर
के। इस तरह उस महात्मा ने अपने पिता से अनुनय-विनय कर, रोकने की चेष्टा
रते हुए प्रेमीजनों को तथा अतिअनुरक्त सेना को लौटाकर भय और घबड़ाहट

दूरादेवावलोक्य सौदासस्तं महासत्त्वमतिविस्मयादभिवृद्धबहुमानप्रसादः शिचराभ्यासविरूढक्रूरतामलिनमतिरपि व्यक्तमिति चिन्तामापेदे--अहहहह !

आश्चर्याणां बताश्चर्यमद्भुतानां तथाद्भुतम् ।
सत्यौदार्यं नृपस्येदमतिमानुषदैवतम् ॥ ४३ ॥
मृत्युरौद्रस्वभावं मां विनीतभयसम्भ्रमः ।
इति स्वयमुपेतोऽयं ही धैर्यं साधु सत्यता ॥ ४४ ॥
स्थाने खल्वस्य विख्यातं सत्यवादितया यशः ।
इति प्राणान् स्वराज्यं च सत्यार्थं योऽयमत्यजत् ॥ ४५ ॥

अथ बोधिसत्त्वः समभिगम्यैनं विस्मयबहुमानावर्जितमानसमुवाच –

प्राप्तं सुभाषितधनं प्रतिपूजितोऽर्थी
प्रीतिं मनश्च गमितं भवतः प्रभावात् ।
प्राप्तस्तदस्म्ययमशान यथेप्सितं मां
यज्ञाय वा मम पशुव्रतमादिश त्वम् ॥ ४६ ॥

सौदास उवाच—

को छोड़कर, सत्यरक्षा के निमित्त लोकहित का ध्यान में रखकर सौदास को शिक्षा देने के लिए उसके निवास-स्थान को पहुँच गये ।

दूर से ही उस महापुरुष को आते देखकर विस्मित, प्रसन्न एवं श्रद्धावनत हो गया । बहुत दिन से कुकर्म में लीन रहने के कारण यद्यपि उसकी बुद्धि कलुषित हो गई थी, क्रूरता उसमें बद्धमूल थी, फिर भी उसने स्पष्टतः सोचा—

अहो ! आश्चर्यों का आश्चर्य, अद्भुतों का अद्भुत, राजकुमार की यह सत्य-वादिता और उदारता मनुष्यों को कौन कहे, देवताओं से भी बढ़कर है ॥ ४३ ॥

भय और घबड़ाहट छोड़कर काल की तरह रौद्र स्वभाववाले मेरे पास निःशंक भाव से चलकर यह स्वयं चले आये । इसका धीरज और इसकी सत्यरक्षा निश्चय ही प्रशंसनीय है ॥ ४४ ॥

इसी सच्चाई के कारण इसका यश चारों ओर ठीक ही फैला है । यही कारण है कि अपने वचन की रक्षा के लिए इन्होंने अपने राज्य को कौन कहे प्राणों तक का मोह छोड़ दिया है ॥ ४५ ॥

विस्मय और श्रद्धा से अवनत सौदास के पास पहुँचकर बोधिसत्त्व ने उससे कहा—

मैंने आप की कृपा से ही रत्न पाया । प्रार्थी का सत्कार भी कर दिया । मुझे यह सब करने में मानसिक प्रसन्नता हुई । अब मैं आपके पास मौजूद हूँ, चाहे तो मुझे खा लीजिए या अपने यज्ञ का बलि-पशु बनाइये ॥ ४६ ॥

सौदास ने कहा—

नात्येति कालो मम खादितुं त्वां धूमाकुलां तावदियं चितापि।
विधूमपक्वं पिशितं च हृद्यं शृण्मस्तदेतानि सुभाषितानि ॥ ४७ ॥
बोधिसत्त्व उवाच—कस्तवार्थ इत्थंगतस्य सुभाषितश्रवणेन?
इमामवस्थामुदरस्य हेतोः प्राप्तोऽसि संत्यक्तघृणः प्रजासु।
इमाश्च धर्मं प्रवदन्ति गाथाः समेत्यधर्मेण यतो न धर्मः ॥ ४८ ॥
रक्षोविकृतवृत्तस्य संत्यक्तार्यपथस्य ते।
नास्ति सत्यं कुतो धर्मः किं श्रुतेन करिष्यसि ॥ ४९ ॥
अथ सौदासस्तामवसादनाममृष्यमाणः प्रत्युवाच—मा तावद्भोः!
कोऽसौ नृपः कथय यो न समुद्यतास्त्रः
क्रीडावने वनमृगीदयितान्निहन्ति।
तद्वन्निहन्मि मनुजान् यदि वृत्तिहेतो-
राधर्मिकः किल ततोऽस्मि न ते मृगघ्नाः ॥ ५० ॥
बोधिसत्त्व उवाच—
धर्मे स्थिता न खलु तेऽपि नमन्ति येषां
भीतद्रुतेष्वपि मृगेषु शरासनानि।
तेभ्योऽपि निन्द्यतम एव नराशनस्तु
जात्युच्छ्रिता हि पुरुषा न च भक्षणीयाः ॥ ५१ ॥

तुम्हें खाने के लिए मेरे पास अभी समय है। यह चिता धुँआ से भरी है। न आग में पका मानव-मांस स्वादिष्ट होता है। जब तक इस चिता का धुँआ न जाये, आओ बैठकर जो सुभाषित सुनकर आये हो, वही सुनाओ ॥ ४७ ॥
बोधिसत्त्व ने कहा—ऐसी स्थिति में सुभाषित सुनकर तुम्हें क्या लाभ होगा? अपनी प्रजा के प्रति निष्ठुर बनकर अपने पेट के लिए तुम इस दुर्दशा की स्थिति हो। ये गाथाएँ तो धर्म की राह बतलाती हैं और धर्म एवं पाप में तो सीधा ध है ॥ ४८ ॥
तुमने सज्जनों का मार्ग छोड़ दिया है। तुम्हारा आचरण राक्षसों की तरह गया है। तुम सत्य-धर्म रहित हो। सुभाषित सुनकर क्या करोगे ॥ ४९ ॥
तब इस अपमान से तिलमिलाकर सौदास ने कहा—ऐसा मत बोलो—
तुम्हीं बतलाओ ऐसा कौन राजा है, जो हथियार उठाकर शिकार नहीं करता? तरह यदि अपनी जीविका के लिए मैं मनुष्य मारकर खाता हूँ, तो मैं अधार्मिक या और पशु को मारनेवाला धार्मिक हो गया ॥ ५० ॥
बोधिसत्त्व ने कहा—
डरकर भागे हुए हिरण पर जो तीर चलाते हैं, वे निश्चय ही धर्मात्मा नहीं कहे कते। पर, उनसे भी अधिक निन्दनीय वे है, जो मनुष्य मारकर खाते हैं। यों में मनुष्य श्रेष्ठ होने के कारण अभक्षणीय है ॥ ५१ ॥

अथ सौदासः परिकर्कशाक्षरमप्यभिधीयमानो बोधिसत्त्वेन तन्मैत्रीगुणप्रभावादभिभूतरौद्रस्वभावः सुखायमान एव तद्वचनमभिप्रहसन्नुवाच – भोः सुतसोम !

मुक्तो मया नाम समेत्य गेहं समन्ततो राज्यविभूतिरम्यम् ।
यन्मत्समीपं पुनरागतस्त्वं न नीतिमार्गे कुशलोऽसि तस्मात् ॥ ५२ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—नैतदस्ति । अहमेव तु कुशलो नीतिमार्गे यदेनं न प्रतिपत्तुमिच्छामि ।

यं नाम प्रतिपन्नस्य धर्मादैकान्तिकी च्युतिः ।
न तु प्रसिद्धिः सौख्यस्य तत्र किं नाम कौशलम् ॥ ५३ ॥

किं च भूयः,

ये नीतिमार्गप्रतिपत्तिधीराः प्रायेण ते प्रेत्य पतन्त्यपायान् ।
अपास्य जिह्मानिति नीतिमार्गान् सत्यानुरक्षी पुनरागतोऽस्मि ॥ ५४ ॥
अतश्च नीतौ कुशलोऽहमेव त्यक्त्वाऽनृतं योऽभिरतोऽस्मि सत्ये ।
न तत्सुनीतं हि वदन्ति तज्ज्ञा यन्नानुबध्नन्ति यशःसुखार्थाः ॥ ५५ ॥

सौदास उवाच—

बोधिसत्त्व की मैत्री के प्रभाव से उसका कठोर दिल भी कोमल हो गया। उनकी कठोर बातें सुनकर भी उसे क्रोध नहीं आया। उसने हँसते हुए कहा—हे सुतसोम !

राजसुख से सम्पन्न अपने घर पहुँचकर भी तुम फिर लौटकर मेरे पास चले आये, अतः तुम नीति-मार्ग में पक्के नहीं हो ॥ ५२ ॥

तब बोधिसत्त्व ने कहा—नहीं तुम भूल में हो। मैं नीति-मार्ग का अनुयायी हूँ। पर, तुम्हारी तरह की नीति पर चलना नहीं चाहता हूँ।

जिस राह पर चलकर मनुष्य धर्मच्युत होता है, अपना सारा सुख खो देता है, उस पर चलने में क्या निपुणता है ॥ ५३ ॥

और फिर,

जो नीतिमार्ग पर चलने में धीर है, वे प्रायः मृत्यु के बाद विपद्-जाल में फँसते हैं। अतः नीति के कुटिल मार्ग को छोड़कर अपने सत्य की रक्षा के निमित्त पुनः मैं तुम्हारे पास लौट आया हूँ ॥ ५४ ॥

अतः झूठ को छोड़कर सच से प्रेम करता हुआ मैं सच्चा नीति-कुशल हूँ। कीर्त्ति, आनन्द और कल्याण की प्राप्ति जिससे न हो, उसे विद्वान् कदापि सुनीति नहीं कहते ॥ ५५ ॥

यह सुनकर सौदास ने कहा—

प्राणान् प्रियान् स्वजनमश्रुमुखं च हित्वा
राज्याश्रयाणि च सुखानि मनोहराणि।
कामर्थसिद्धिमनुपश्यसि सत्यवाक्ये
तद्रक्षणार्थमपि मां यदुपागतोऽसि ।। ५६ ।।

बोधिसत्त्व उवाच—बहवः सत्यवचनाश्रया गुणातिशयाः। सङ्क्षेपस्तु श्रूयताम्—

माल्यश्रियं हृद्यतयातिशेते सर्वान् रसान् स्वादुतया च सत्यम्।
श्रमादृते पुण्यगुणप्रसिद्धया तपांसि तीर्थाभिगमश्रमांश्च ।।५७।।
कीर्तेर्जगद्व्याप्तिकृतक्षणाया मार्गस्त्रिलोकाक्रमणाय सत्यम्।
द्वारं प्रवेशाय सुरालयस्य संसारदुर्गोत्तरणाय सेतुः ।।५८।।

अथ सौदासः साधु युक्तमित्यभिप्रणम्यैनं सविस्मयमभिवीक्षमाणः नरुवाच—

अन्ये नरा मद्वशगा भवन्ति दैन्यार्पणात्त्रासविलुप्तधैर्याः।
संत्यज्यसे त्वं तु न धैर्यलक्ष्म्या मन्ये न ते मृत्युभयं नरेन्द्र ! ।। ५९ ।।

बोधिसत्त्व उवाच—

अपने प्राण, रोता परिवार और मनोहर राज्य-सुख को छोड़कर अपने सत्य-[न] के पालन में तुमने किस कल्याण की सिद्धि देखी है, जिसकी रक्षा के लिए मेरे [स] पहुँचे हो।। ५६ ।।

तब बोधिसत्त्व ने कहा—सत्य की रक्षा में लाभ ही लाभ है। संक्षेप में सुनो—

सत्यवचन अपनी मनोहरता में माला की तरह सुन्दर और स्वाद में सभी रसों [से] अधिक स्वादिष्ट है। परिश्रम के बिना ही यह पुण्य का फल है। अतः श्रमसाध्य [तप]स्या एवं तीर्थयात्रा से बढ़कर है ।। ५७ ।।

सत्यवचन ही वह रास्ता है, जिसके द्वारा व्यक्ति का आनन्दप्रद यश धरती में [फैल]कर होकर त्रिलोक तक पहुँचता है। यह स्वर्ग का प्रवेशद्वार है तथा भवसागर [पार] करने का सेतु है ।। ५८ ।।

तब सौदास ने "आपका कहना युक्तिसंगत है" यह कहते हुए उन्हें प्रणाम किया [और] विस्मयपूर्वक देखते हुए कहा—

मेरे सामने आते ही लोगों की घिग्घी बँध जाती है; डरके मारे थर-थर काँपने [लगते] हैं। पर, हे राजकुमार ! तुम्हारा धैर्य तुम्हें छोड़ नहीं रहा है, क्या तुम्हें मौत [से] बिल्कुल डर नहीं है ।। ५९ ।।

बोधिसत्त्व ने कहा—

महताऽपि प्रयत्नेन यच्छक्यं नातिवर्तितुम् ।
प्रतीकारासमर्थेन भयक्लैब्येन तत्र किम् ।। ६० ।।

इति परिगणितलोकस्थितयोऽपि तु कापुरुषाः—
पापप्रसङ्गादनुतप्यमानाः शुभेषु कर्मस्वकृतश्रमाश्च ।
आशङ्कमानाः परलोकदुःखं मर्तव्यसंत्रासजडा भवन्ति ।। ६१ ।।
तदेव कर्तुं न तु संस्मरामि भवेद्यतो मे मनसोऽनुतापः ।
सात्मीकृतं कर्म च शुक्लमस्माद्धर्मस्थितः को मरणाद् बिभीयात् ।।६२।।
न च स्मराभ्यर्थिजनोपयानं यन्न प्रहर्षाय ममार्थिनां वा ।
इति प्रदानैः समवाप्ततुष्टिर्धर्मे स्थितः को मरणाद् बिभीयात् ।।६३।।
चिरं विचिन्त्यापि च नैव पापे मनःपदन्यासमपि स्मरामि ।
विशोधितस्वर्गपथोऽहमेवं मृत्योः किमर्थं भयमभ्युपेयाम् ।। ६४ ।।

विप्रेषु बन्धुषु सुहृत्सु समाश्रितेषु
दीने जने यतिषु चाश्रमभूषणेषु ।
न्यस्तं मया बहु धनं ददता यथार्हं
कृत्यं च यस्य यदभूत्तदकारि तस्य ।। ६५ ।।

प्रयास करके भी जिसे रोका नहीं जा सकता, जिसका प्रतीकार असम्भव है, ऐसी मौत से डरकर या घबड़ाकर भला क्या लाभ होगा ? ।। ६० ।।

संसार की वास्तविकता से परिचित होते हुए भी कायर—

मौत के डर से थर-थर काँपते हैं, सत्कर्म के लिए प्रयत्न किये बिना अपने पाप को यादकर संतप्त होते हुए, परलोक में होनेवाले दुःख की आशंका से घबड़ाते हैं ।

मुझे याद नहीं आता कि अपने जीवन में मैंने ऐसा कुछ किया है, जिससे मुझे मानसिक पीड़ा हो, मैंने आजीवन सत्कर्म किया है, अतः धर्म में स्थिर रहनेवाला आदमी मौत से क्यों डरे ? ।। ६२ ।।

मुझे यह भी याद नहीं आता है कि कभी हमारे पास कोई याचक आया हो और बिना प्रसन्न हुए लौट गया हो । धरती का दान देकर भी मुझे आनन्द ही आया है । इस तरह धर्म में जो आदमी स्थिर है, वह मौत से क्यों डरेगा ? यह बात मेरी समझ में नहीं आती है ।। ६३ ।।

काफी सोचने पर भी मुझे याद नहीं आता कि मैंने भूल से भी कभी पाप-पथ पर पैर रक्खा हो । मैंने तो इसी जीवन में स्वर्ग की राह साफ कर ली है, फिर मुझे मौत से डर क्यों लगे ? ।। ६४ ।।

ब्राह्मण, बन्धु, मित्र, आश्रित, दीन-दुःखी एवं संन्यासियों को दान देने में मैंने काफी धन खर्च किया है, जिसके लिए जो कुछ करना चाहिए, मैंने पूरा कर लिया है ।। ६५ ।।

श्रीमन्ति कीर्तनशतानि निवेशितानि
सत्राजिराश्रमपदानि सभाः प्रपाश्च ।
मृत्योर्न मे भयमतस्तदवाप्ततुष्टे-
र्यज्ञाय तत्समुपकल्पय भुङ्क्ष्व वा माम् ।। ६६ ।।

तदुपश्रुत्य सौदासः प्रसादाश्रुव्याप्तनयनः समुद्भिद्यमानरोमाञ्चपिटको विस्मृतपापस्वभावतामिस्रः सबहुमानमवेक्ष्य बोधिसत्त्वमुवाच-शान्तं पापम् ।

अद्याद्विषं स खलु हालहलं प्रजान-
न्नाशीविषं प्रकुपितं ज्वलदायसं वा ।
मूर्धाऽपि तस्य शतधा हृदयं च यायाद्
यस्त्वद्विधस्य नृपपुङ्गव ! पापमिच्छेत् ।। ६७ ।।

तदर्हति भवांस्तान्यपि मे सुभाषितानि वक्तुम् । अनेन हि ते वचनकुसुमवर्षेणाभिप्रसादितमनसः सुष्ठुतरमभिवृद्धं च तेषु मे कौतूहलम् । अपि च भोः ।

दृष्ट्वा मे चरितच्छायावैरूप्यं धर्मदर्पणे ।
अपि नामागतावेगं स्यान्मे धर्मोत्सुकं मनः ।। ६८ ।।

अथैनं बोधिसत्त्वः पात्रीकृताशयं धर्मश्रवणप्रवणमानसमवेत्योवाच—तेन हि धर्मार्थिना तदनुरूपसमुदाचारसौष्ठवेन धर्मः श्रोतुं युक्तम् । पश्य ।

मैंने सैकड़ों धर्मशालाएँ, यज्ञशालाएँ, आश्रम, सभाभवन और प्याऊ का निर्माण-करवाया है । इस निर्माण-कार्य से मैं संतुष्ट हूँ । मुझे मौत से कोई डर नहीं है । अतः तुम जैसे चाहो मुझे खा जाओ या अपने यज्ञ के लिए तैयार करो ।। ६६ ।।

यह सुनते ही सौदास की आँखों से आँसू बहने लगे । उसके रोंगटे खड़े हो गये । अपने तामसी और पापी स्वभाव को छोड़कर ससम्मान बोधिसत्त्व की ओर देखते हुए कहा—हाय, पाप शान्त हो ।

हे राजकुमार ! तुम्हारे जैसे लोगों का जो अनिष्ट चाहे, उसके दिल के सौ टुकड़े हो जाय । वह गुस्सैल साँप के मुँह में पड़े, हलाहल विष पीए या पिघलते लोहे को पीकर मर जाय ।। ६७ ।।

अतः आप मुझे सूक्ति सुनायें । आपकी बातों से फूल झड़ते हैं । उन्हें सुनकर मेरा दिल खुश हो गया । उसे सुनते ही रहने की प्यास मुझे बेचैन बनाये है ।।

और भी—

धर्म के आईने में अपने चरित्र की परछाईं देखकर मुझे अपनी कुरूपता का बोध हो गया है । धर्म के प्रति उत्सुक मेरे मन में बिना सोचे विचारे कुछ कर बैठने की अन्तःप्रेरणा जग गई है ।। ६८ ।।

तब उसे शुद्ध और धर्म सुनने के लिए उपयुक्त पात्र समझ कर बोधिसत्त्व ने कहा—धर्म सुनने के प्रति जिज्ञासुओं को उचित आचार के साथ ही धर्म सुनना चाहिए । देखो—

नीचैस्तरासनस्थानाद्विबोध्य विनयश्रियम् ।
प्रीत्यर्पिताभ्यां चक्षुर्भ्यां वाङ्मध्वास्वादयन्निव ।। ६९ ।।
गौरवावर्जितैकाग्रप्रसन्नामलमानसः ।
सत्कृत्य धर्मं शृणुयाद्भिषग्वाक्यमिवातुरः ।। ७० ।।

अथ सौदासः स्वेनोत्तरीयेण समास्तीर्योच्चैस्तरं शिलातलं तत्र चाधिरोप्य बोधिसत्त्वं स्वयमनास्तरितायामुपविश्य भूमौ बोधिसत्त्वस्य पुरस्तादाननोद्वीक्षणव्यापृतनिरीक्षणरतं महासत्त्वमुवाच—ब्रूहीदानीं मार्षेति । अथ बोधिसत्त्वो नवाम्भोधरनिनदमधुरेण गम्भीरेणापूरयन्निव तद्वनं व्यापिना स्वरेणोवाच—

यदृच्छयाप्युपानीतं सकृत्सज्जनसङ्गतम् ।
भवत्यचलमत्यन्तं नाभ्यासक्रममीक्षते ।। ७१ ।।

तदुपश्रुत्य सौदासः साधु साध्विति स्वशिरः प्रकम्प्याङ्गुलीविक्षेपं बोधिसत्त्वमुवाच—ततस्ततः ?

अथ बोधिसत्त्वो द्वितीयां गाथामुदाजहार—

न सज्जनाद् दूरचरः क्वचिद्भवेद्भजेत साधून् विनयक्रमानुगः ।
स्पृशन्त्ययत्नेन हि तत्समीपगं विसर्पिणस्तद्गुणपुष्परेणवः ।।७२।।

जैसे कोई रोगी अपनी एकान्त निष्ठा के साथ चिकित्सक की राय को सुनता है, उसी प्रकार नीचे आसन पर विनयावनत बैठकर, आँखों में प्रेमरस भरकर प्रवचन-कर्त्ता के वचनरूपी मधु का पान करते हुए, श्रद्धालु व्यक्ति को प्रसन्न एवं निर्मल मन से एकाग्र होकर आदरपूर्वक धर्म सुनना चाहिए ।। ६९-७० ।।

तब सौदास ने सामने पड़ी एक उच्च शिला को अपनी चादर से ढँककर बोधिसत्त्व को उस पर बैठा दिया । स्वयं नंगी धरती पर नीचे बैठकर उनकी ओर देखते हुए विनम्र प्रार्थना की—"महाशय ! अब आप धर्मोपदेश करें" तब जलद रव की तरह अपनी गम्भीर आवाज से उस निर्जन वन को भरते हुए बोधिसत्त्व ने कहना प्रारम्भ किया—

संयोग से ही सही पर, यदि एक बार भी किसी सज्जन से दोस्ती हो जाय तो वह चिरस्थायी बन जाती है । यह दोस्ती बार-बार मिलने की अपेक्षा ही नहीं रखती है ।। ७१ ।।

यह सुनकर सौदास ने अपना सिर हिलाकर स्वीकृति दी तथा अंगुली हिलाकर आगे कहने की प्रार्थना की, तब बोधिसत्त्व ने दूसरी गाथा शुरू की—

सज्जनों के सम्पर्क से व्यक्ति को कभी दूर नहीं रहना चाहिए । विनम्रभाव से उनकी सेवा करनी चाहिए । उनके गुणरूपी फूलों के झरते पराग को पार्श्ववर्त्ती लोगों को ही मिलेंगे ।। ७२ ।।

सौदास उवाच—

सुभाषितान्यर्चयता साधो सर्वात्मना त्वया ।
स्थाने खलु नियुक्तोऽर्थः स्थाने नावेक्षितः श्रमः ॥ ७३ ॥

ततस्ततः ? बोधिसत्त्व उवाच—

रथा नृपाणां मणिहेमभूषणा व्रजन्ति देहाश्च जराविरूपताम् ।
सतां तु धर्मं न जराभिवर्तते स्थिरानुरागा हि गुणेषु साधवः ॥ ७४ ॥

अमृतवर्षं खल्विदम् । अहो सन्तर्पिताः स्मः । ततस्ततः ? बोधिसत्त्व उवाच—

नभश्च दूरे वसुधातलाच्च पारादवारं च महार्णवस्य ।
अस्ताचलेन्द्रादुदयस्ततोऽपि धर्मः सतां दूरतरेऽसतां च ॥ ७५ ॥

अथ सौदासः प्रसादविस्मयाभ्यामावर्जितप्रेमबहुमानो बोधिसत्त्वमुवाच—

चित्राभिधानातिशयोज्ज्वलार्था गाथास्त्वदेता मधुरा निशम्य ।
आनन्दितस्तत्प्रतिपूजनार्थं वरानहं ते चतुरो ददामि ॥ ७६ ॥

तद् वृणीष्व यद्यन्मत्तोऽभिकाङ्क्षसीति । अथैनं बोधिसत्त्वः सविस्मय-बहुमान उवाच- कस्त्वं वरप्रदानस्य ?

सौदास ने कहा—

हे महाशय ! आपने सब कुछ सोचकर सुभाषित सुनने में अपने धन का उचित उपयोग किया है । इस सत्कार्य के सम्पादन में अपने श्रम का विचार नहीं करना भी आपका उचित काम ही हुआ ॥ ७३ ॥

इसके बाद फिर बोधिसत्त्व ने कहा—

मणिरत्नों से सुशोभित राजाओं के रथ और शरीर तो जरा-जीर्ण हो जाते हैं । किन्तु, सज्जनों का धर्म तो कदापि जीर्ण होता ही नहीं हैं । क्योंकि सद्गुणों में उनका अनुराग दृढ़ होता है ॥ ७४ ॥

यह तो अमृत की वर्षा है । मैं तृप्त हो गया । इसके बाद बोधिसत्त्व ने फिर कहा—

धरती से आकाश दूर है, सागर के एक किनारे से दूसरा किनारा दूर है, अस्ताचल से उदयाचल दूर है, उसी तरह सज्जनों का धर्म दुष्टों के धर्म से और दूर है ॥ ७५ ॥

तब आनन्द और उल्लास के कारण सौदास के हृदय में इनके प्रति प्रेम और सम्मान का भाव उदित हुआ । उन्होंने बोधिसत्त्व से कहा—

रंग-बिरंगे शब्दोंवाली, अतिशय सुन्दर अर्थवाली ये मीठी गाथाएँ आप से सुनकर मैं काफी खुश हूँ । अतः इनके सत्कार में मैं आपको चार वर देता हूँ ॥ ७६ ॥

'अब आप जो चाहें माँग ले ।' तब बोधिसत्त्व ने ससम्मान विस्मित भाव से कहा—तुम वर देनेवाले कौन हो ?

यस्यास्ति नात्मन्यपि ते प्रभुत्वमकार्यसंरागपराजितस्य ।
स त्वं वरं दास्यसि कं परस्मै शुभप्रवृत्तेरपवृत्तभावः ॥ ७७ ॥
अहं च देहीति वरं वदेयं मनश्च दित्साथिशिलं तव स्यात् ।
तमत्ययं कः सघृणोऽभ्युपेयादेतावदेवालमलं यतो नः ॥ ७८ ॥

अथ सौदासः किञ्चिद् व्रीडावनतवदनो बोधिसत्त्वमुवाच—अलमत्रभवतो मामेवं विशङ्कितुम् ।

प्राणानपि परित्यज्य दास्याम्येतानहं वरान् ।
विस्रब्धं तद् वृणीष्व त्वं यद्यदिच्छसि भूमिप ! ॥ ७९ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—तेन हि

सत्यव्रतो भव विसर्जय सत्त्वहिंसां बन्दीकृतं जनमशेषमिमं विमुञ्च ।
अद्या न चैव नरवीर मनुष्यमांसमेतान् वराननवरांश्चतुरः प्रयच्छ ॥८०॥

सौदास उवाच

ददामि पूर्वान् भवते वरांस्त्रीनन्यं चतुर्थं तु वरं वृणीष्व ।
अवैषि किं न त्वमिदं यथाहमीशो विरन्तुं न मनुष्यमांसात् ॥ ८१ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—हन्त ! तवैतत्संवृत्तम् । ननूक्तं मया कस्त्वं वरप्रदानस्येति ? अपि च भोः !

तुम तो कुकर्म में दिन-रात डूबे हो। तुम्हें अपने पर तो अधिकार है ही नहीं। अच्छी राह से तुम स्वयं भटके हो। फिर तुम दूसरे को वरदान क्या दोगे ? ॥७७॥

मैं तुमसे वर माँगू और तुम्हारा मन देने में अलसा जाये, तो फिर कौन दयालु व्यक्ति तुम्हें इस पाप में डाले ? अतः मेरे लिए इतना ही काफी है ॥ ७८ ॥

तब लज्जा से सिर झुकाकर सौदास ने कहा—आप इस तरह मुझ पर संदेह न करें।

मैं जान पर खेलकर अपने दिये गये वचन का पालन करूँगा। अतः हे राजन् ! आप जो कुछ चाहते हों, विश्वस्त होकर मुझसे माँग ले।

बोधिसत्त्व ने कहा—

सच बोलो ! जीव हिंसा बन्द करो ! बन्दी राजकुमारों को मुक्त करो ! मानव-माँस मत खाओ ! हे नरश्रेष्ठ ! ये ही चार वर देना चाहते हो तो मुझे दो ॥ ८० ॥

सौदास ने कहा—

आपको प्रथम तीन वर तो मैंने दिया। पर, चौथे वर की जगह आप कोई दूसरा वर मांग लें। क्या आप को पता नहीं कि मानव-मांस के बिना मैं जी नहीं सकता ॥ ८१ ॥

बोधिसत्त्व ने कहा—वही हुआ, जिसका मुझे डर था, इसलिए मैंने कहा था—तुम वर देनेवाले कौन हो ? फिर बोले—

सत्यव्रतत्वं च कथं स्यादहिंसकता च ते ।
अपरित्यजतो राजन् ! मनुष्यपिशिताशिताम् ॥ ८२ ॥

आह—

ननूक्तं भवता पूर्वं दास्याम्येतानहं वरान् ।
प्राणानपि परित्यज्य तदिदं जायतेऽन्यथा ॥ ८३ ॥
अहिंसकत्वं च कुतो मांसार्थं ते घ्नतो नरान् ।
सत्येवं कतमे दत्ता भवता स्युर्वरास्त्रयः ॥ ८४ ॥

सौदास उवाच—

त्यक्त्वा राज्यं वने क्लेशो यस्य हेतोर्धृतो मया ।
हतो धर्मः क्षता कीर्तिस्त्यक्ष्यामि तदहं कथम् ॥ ८५ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—अत एव तद्भवांस्त्यक्तुमर्हति ।

धर्मादर्थात्सुखात्कीर्तेर्भ्रष्टो यस्य कृते भवान् ।
अनर्थायतनं तादृक्कथं न त्यक्तुमर्हसि ॥ ८६ ॥
दत्तानुशयिता चेयमनौदार्यहते जने ।
नीचता सा कथं नाम त्वामप्यभिभवेदिति ॥ ८७ ॥

तदलं ते पाप्मानमेवानुभ्रमितुम् । अवबोद्धुमर्हस्यात्मानम् । सौदासः खल्वत्रभवान् ।

हे राजन् ! यदि तुम नरमांस भक्षण नहीं छोड़ते, तो तुम्हारे सत्य का पालन कैसे होगा ? या तुम्हारी अहिंसा कैसी होगी ? ॥ ८२ ॥

फिर कहा—

तुमने पहले ही कहा था कि अपनी जान देकर भी मैं ये वर दूँगा । अब तुम्हारा यह वचन भी तो झूठला रहा है ॥ ८३ ॥

मांस के लिए यदि तुम मनुष्य को मारते ही रहोगे, तो तुम्हारी जीव हिंसा कैसे रुकेगी ? फिर ऐसा होने पर तुमने प्रथम कौन तीन वर दिए ? ॥ ८४ ॥

सौदास ने कहा—

जिसके लिए मैंने अपना राज्य छोड़ा, धर्म छोड़ा, अपनी कीर्त्ति अपने हाथों से नष्ट की, जंगल की खाक छानता फिरा, उसे मैं कैसे छोड़ दूँ ? ॥ ८५ ॥

बोधिसत्त्व ने कहा—इसीलिए तो तुम इन्हें छोड़ सकते हो ।

जिसके लिए तुमने धर्म, अर्थ, सुख और कीर्त्ति को नष्ट किया, उस अनर्थ की जड़ मांसभक्षण को तुम क्यों नहीं छोड़ सकते ? ॥ ८६ ॥

और, देकर पछताना तो कंजूसों का काम हैं । यह नीचता तुम्हें क्यों सताती है ? ॥ ८७ ॥

अतः अब तुम पाप के पीछे मत पड़ो । अपने आपको समझो । तुम सौदास हो ।

वैद्येक्षितानि कुशलैरुपकल्पितानि
ग्राम्याण्यनूपजलजान्यथ जाङ्गलानि ।
मांसानि सन्ति कुरु तैर्हृदयस्य तुष्टिं
निन्दावहाद्विरम साधु मनुष्यमांसात् ।। ८८ ।।
तूर्यस्वनान् सजलतोयदनादधीरान्
गीतस्वनं च निशि राज्यसुखं च तत्तत् ।
बन्धून् सुतान् परिजनं च मनोनुकूलं
हित्वा कथं नु रमसेऽत्र वने विविक्ते ।। ८९ ।।
चित्तस्य नार्हसि नरेन्द्र वशेन गन्तुं
धर्मार्थयोरनुपरोधपथं भजस्व ।
एको नृपान् युधि विजित्य समस्तसैन्यान्
मा चित्तविग्रहविधौ परिकातरो भूः ।। ९० ।।
लोकः परोऽपि मनुजाधिप नन्ववेक्ष्य-
स्तस्मात्प्रियं यदहितं च न तन्निषेव्यम् ।
यत्स्यात्तु कीर्त्यनुपरोधि मनोज्ञमार्गं
तद्विप्रियं सदपि भेषजवद्भजस्व ।। ९१ ।।

अथ सौदासः प्रसादाश्रुव्याप्तनयनो गद्‌गदायमानकण्ठः समभिसृत्यैव बोधिसत्त्वं पादयोः संपरिष्वज्योवाच—

गाँवों में, पानी में तथा जंगलों में पाये जानेवाले मांस, जिन्हें वैद्यों ने खाद्य ठहराया है। कुशल रसोइयों के द्वारा तैयार किये गये मांस तो तुम्हारे लिए सुलभ है ही। उन्हीं मांसों को खाकर तुम्हें संतुष्ट रहना चाहिए। निन्दित नरमांस तो तुम्हें छोड़ ही देना है ।। ८८ ।।

सजल मेघ के गर्जन की तरह गम्भीर तुरही या मृदंग की आवाज, सान्ध्य-संगीत की स्वरलहरी, अनेक राज्यसुख, बन्धु एवं मनोनुकूल परिजन तथा अपनी सुखद संतान को छोड़कर इस जनशून्य जंगल में सदैव भटकते रहना, तुम्हें कैसे मन भाता है ? ।। ८९ ।।

हे राजन् ! अब तुम मन के हाथ का खिलौना मत बनो। धर्म और अर्थ के अनुकूल रास्ते पर चलो। तुमने अकेले ही अनेक राजाओं को सेनासहित जीता है। फिर एक अपने मन से लड़ने में ऐसे कातर मत बनो ।। ९० ।।

हे नराधिप ! तुम्हें परलोक पर भी ध्यान देना चाहिए। अहितकर प्रिय का सेवन करने की अपेक्षा मनोहर एवं यशदायक अप्रिय कर्म का भी औषधि की तरह सेवन करना चाहिए।। ९१ ।।

इतना सुनते ही सौदास की आँखों से अविरल अश्रुधारा बह चली। उसके कंठ

गुणकुसुमरजोभिः पुण्यगन्धैः समन्ता-
ज्जगदिदमवकीर्णं कारणे त्वद्यशोभिः।
इति विचरति पापे मृत्युदूतोग्रवृत्तौ
त्वमिव हि क इवान्यः सानुकम्पो मयि स्यात् ॥ ९२ ॥

शास्ता गुरुश्च मम दैवतमेव च त्वं
मूर्ध्ना वचांस्यहममूनि तवार्चयामि।
भोक्ष्ये न चैव सुतसोम मनुष्यमांसं
यन्मां यथा वदसि तच्च तथा करिष्ये ॥ ९३ ॥

नृपात्मजा यज्ञनिमित्तमाहृता मया च ये बन्धनखेदपीडिताः।
हतत्विषः शोकपरीतमानसास्तदेहि मुञ्चाव सहैव तानपि ॥ ९४ ॥

अथ बोधिसत्त्वस्तथेत्यस्मै प्रतिश्रुत्य यत्र ते नृपसुतास्तेनावरुद्धास्तत्रैवाभिजगाम। दृष्ट्वैव च ते नृपसुताः सुतसोमं हन्त मुक्ता वयमिति परं हर्षमुपजग्मुः।

विरेजिरे ते सुतसोमदर्शनान्नरेन्द्रपुत्राः स्फुटहासकान्तयः।
शरन्मुखे चन्द्रकरोपबृंहिता विजृम्भमाणाः कुमुदाकरा इव ॥ ९५ ॥

भर आये। वह उठ कर बोधिसत्त्व के पास चला गया और उनके पैरों में लिपटकर कहने लगा—

आपकी सुन्दर कीर्त्ति ने आपके गुणरूपी पुष्प-पराग की पवित्र सुगन्ध से सारे संसार को भर दिया है। यमदूत की तरह क्रूरकर्मा मुझ पापी पर आपकी तरह दूसरा कौन दया दिखलाता? ॥ ९२ ॥

आप मेरे उपदेशक गुरु ही नहीं, देवता हैं, आपका आदेश सिर आँखों पर। हे सुतसोम! मैंने अभी से नरमांस-भक्षण का परित्याग किया, आगे आप जो कुछ जैसे कहेंगे, मैं उसे उसी प्रकार करूँगा ॥ ९३ ॥

मैंने भूतयज्ञ के निमित्त जिन राजकुमारों को पकड़कर बन्धन में डाला था उन्हें पीडित किया, जो अत्यन्त उदास और शोकाकुल है, चलिए उन्हें हम दोनों मिलकर अभी मुक्त कर दें ॥ ९४ ॥

तब बोधिसत्त्व ने 'बहुत अच्छा' कहकर सौदास के साथ कारागृह पहुँचे, जहाँ सैकड़ों राजकुमार बन्दी थे। सुतसोम को वहाँ देखते ही 'अब हम मुक्त हो गये' यह सोचकर सभी खुशी के मारे झूम उठे।

शरदृतु के प्रारम्भ में जैसे चन्द्र-किरण के स्पर्श से खिलते कुमुद पर सौन्दर्य की रेखा झलक उठती है, ठीक उसी प्रकार सुतसोम को उपस्थित देखकर उन राजकुमारों के मुरझाये चेहरे पर हास्य की रेखा फूट पड़ी ॥ ९५ ॥

अथैनानभिगम्य बोधिसत्त्वः समाश्वासयन् प्रियवचनपुरःसरं च प्रतिसम्मोद्य सौदासस्याद्रोहाय शपथं कारयित्वा बन्धनाद्विमुच्य सार्धं सौदासेन तैश्च नृपतिपुत्रैरनुगम्यमानः स्वं राज्यमुपेत्य यथार्हकृतसंस्कारांस्तान् राजपुत्रान् सौदासं च स्वेषु स्वेषु राज्येषु प्रतिष्ठापयामास ।

तदेवं श्रेयः समाधत्ते यथातथाप्युपनतः सत्सङ्गम इति श्रेयोऽर्थिना सज्जनसमाश्रयेण भवितव्यम् । एवमसंस्तुतहृत्पूर्वजन्मस्वप्युपकारपरत्वाद् बुद्धो भगवानिति तथागतवर्णेऽपि वाच्यम् । एवं सद्धर्मश्रवणं दोषापचयाय गुणसमाधानाय च भवतीति सद्धर्मश्रवणेऽपि वाच्यम् । श्रुतप्रशंसायामपि वाच्यम्—एवमनेकानुशंसं श्रुतमिति । सत्यकथायामपि वाच्यम्—एवं सज्जनेष्टं पुण्यकीर्त्याकरं सत्यवचनमित्येवं स्वप्राणसुखैश्वर्यनिरपेक्षाः सत्यमनुरक्षन्ति सत्पुरुषा इति । सत्यप्रशंसायामप्युपनेयं करुणावर्णेऽपि चेति ॥

॥ इति सुतसोम-जातकमेकत्रिंशत्तमम् ॥

तब उन बन्दी राजकुमारों के पास जाकर सुतसोम ने उन्हें आश्वासन दिया। फिर उन्हें अपनी मीठी-मीठी बातों से अभिनन्दन किया। फिर सौदास से आजीवन द्रोह नहीं करने की उन से प्रतिज्ञा करवाई। फिर उन्हें बन्धनमुक्त करवा दिया। इसके बाद सौदास के साथ उन राजकुमारों को लेकर वे अपनी राजधानी लौट आये। यहाँ उनका यथायोग्य सत्कार कर उन्हें अपने-अपने राज्य मे राजा के पद पर प्रतिष्ठित करवा दिया।

"जिस किसी तरह से प्राप्त सत्संग निश्चय ही कल्याणकारी होता है।" यह सोचकर भले लोगों को सज्जनों के सम्पर्क में जाना चाहिए। अपने पूर्वजन्मों में भी परोपकारी भगवान् बुद्ध अपरिचितों के मित्र थे। इस तरह तथागत के वर्णन में यह कथा कहनी चाहिए। सत्कर्म के सुनने से दोष क्षीण होता है तथा गुण प्राप्त होता है। सद्धर्म की चर्चा में भी यह कथा कहनी चाहिए। शास्त्रज्ञान से अनेक लाभ होते है, अतः शास्त्रज्ञान की चर्चा में इसे कहना चाहिए। सत्यवचन सज्जनों का अभीष्ट है, पुण्य और कीर्त्ति का घर है, सत्पुरुष अपने जीवन के सुख और ऐश्वर्य की उपेक्षा कर सत्य की रक्षा करते हैं। अतः सत्य की प्रशंसा में और करुणा के वर्णन में यह दृष्टान्त अवश्य उपस्थित करना चाहिए।

सुतसोमजातक इकतीसवाँ समाप्त।

---

(३२) अयोगृह-जातकम्

राजलक्ष्मीरपि श्रेयोमार्गं नावृणोति संविग्नमानसानामिति संवेगपरिचयः कार्यः । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वभूतः किलायं भगवान् व्याधिजरामरणप्रियविप्रयोगादिव्यसनशतोपनिपातं दुःखितमनाथमत्राणमपरिणायकं लोकमवेक्ष्य करुणया समुत्साह्यमानस्तत्परित्राणव्यवसितमतिरतिसाधुस्वभावस्तत्तत्सम्पादयमानो विमुखस्यासंस्तुतस्यापि च लोकस्य हितं सुखविशेषं च कदाचिदन्यतमस्मिन् राजकुले प्रजानुरागसौमुख्यादस्खलिताभिवृद्धया च समृद्धया समानतदृप्तसामन्तया चाभिव्यज्यमानमहाभाग्ये विनयश्लाघिनि जन्म प्रतिलेभे । स जायमान एव तद्राजकुलं तत्समानसुखदुःखं च पुरवरं परयाभ्युदयश्रिया संयोजयामास ।

प्रतिग्रहव्याकुलतुष्टविप्रं मदोद्धताभ्युज्ज्वलवेषभृत्यम् ।
अनेकतूर्यस्वनपूर्णकूजमानन्दनृत्तानयवृत्तभावम् ॥ १ ॥
संसक्तगीतद्रवहासनादं परस्पराश्लेषविवृद्धहर्षम् ।
नरैः प्रियाख्यानकदानतुष्टैराशास्यमानाभ्युदयं नृपस्य ॥ २ ॥

---

३२. अयोगृह-जातक

जिनके मन में वैराग्य का उदय हुआ है, उनके कल्याण-मार्ग को राजलक्ष्मी भी रोक पाने में असमर्थ हैं । अतः वैराग्य से परिचय करना चाहिए । तब जैसाकि सुना जाता है—

एक बार बोधिसत्त्वावस्था में भगवान् बुद्ध ने संसार को रोग, बुढ़ापा, मौत, प्रिय-वियोग जैसे सैकड़ों विपत्ति से घिरे दुःखी, अनाथ, असहाय और नायकहीन देखकर दया से द्रवित होकर उसकी रक्षा के लिए संकल्प किया । वे अपने सरल स्वभाव के कारण विरोधी हो या अपरिचित सबके सुख-साधन में संलग्न रहते थे । उन्होंने विनयसम्पन्न राजकुल में जन्म ग्रहण किया । प्रजा अनुकूल थी । राजा से प्रेम करती थी । अतः उस राजकुल की समृद्धि दिन-दूनी रात चौगुनी बढ़ती जाती थी । अभिमानी सामन्त विनम्र थे । राज्य का सौभाग्य चमक रहा था । इनके जन्म से उस राजकुल की शोभा और बढ़ गई थी । राजा प्रजा के सुख में सुखी तथा उनके दुःख में दुःखी होते थे । अतः यह राज्य अभ्युदय के शिखर पर था ।

वहाँ दान लेते-लेते संतुष्ट ब्राह्मण थक गये । निर्मल वस्त्राभूषण से लदे नौकर-चाकर फूले नहीं समाये । अनेक तुरहियों की मंगलध्वनि से नगर गूँज उठा । आनन्द और नृत्य में लोग मदहोश हो गये ॥ १ ॥

संगीत-रस की धारा बह चली । खल-खल हँसी के फव्वारे फूट गये । लोग एक-

विघट्टितद्वारविमुक्तबन्धनं समुच्छ्रिताग्रध्वजचित्रचत्वरम् ।
विचूर्णपुष्पासवसिक्तभूतलं बभार रम्यां पुरमुत्सवश्रियम् ॥ ३ ॥
महागृहेभ्यः प्रविकीर्यमाणैर्हिरण्यवस्त्राभरणादिवर्षैः ।
लोकं तदा व्याप्तुमिवोद्यता श्रीरुन्मत्तगङ्गालसितं चकार ॥ ४ ॥

तेन च समयेन तस्य राज्ञो जाता जाताः कुमारा म्रियन्ते स्म । स तं विधिममानुषकृतमिति मन्यमानस्तस्य तनयस्य रक्षार्थं मणिकाञ्चनरजतभक्तिचित्रे श्रीमति सर्वायसे प्रसूतिभवने भूतविद्यापरिदृष्टेन वेदविहितेन च क्रमेण विहितरक्षोघ्नप्रतीकारे समुचितैश्च कौतुकमङ्गलैः कृतस्वस्त्ययनपरिग्रहे जातकर्मादिसंस्कारविधिं संवर्धनं च कारयामास । तमपि च महासत्त्वं सत्त्वसम्पत्तेः पुण्योपचयप्रभावात्सुसंविहितत्वाच्च रक्षाया नामानुषाः प्रसेहिरे । स कालक्रमादवाप्तसंस्कारकर्मा श्रुताभिजनाचारमहद्भ्यो लब्धविद्यायशःसम्माननेभ्यः प्रशमविनयमेधागुणावर्जितेभ्यो गुरुभ्यः समधिगतानेकविद्यः प्रत्यहमापूर्यमाणमूर्तिर्यौवनकान्त्या निसर्गसिद्धेन च विनयानुरागेण परं प्रेमास्पदं स्वजनस्य जनस्य च बभूव ।

दूसरे को बाहों में भरकर झूम उठे । प्रियसंवादजन्यदान से संतुष्ट लोगों ने राजा के अभ्युदय की कामना की ॥ २ ॥

कारागार के द्वार खुल गये । बन्दियों को मुक्त कर दिया गया । महलों पर झंडे फहरा दिये गये । प्राङ्गण सजा दिया गया । चन्दनचूड़े, फूल और सुगन्धित द्रव से धरती पट गई । नगर उत्सव की शोभा से सम्पन्न हुआ ॥ ३ ॥

ऊँची-ऊँची अटारियों से वस्त्राभूषण की वर्षा होने लगी । लगता था संसार को निगल जाने के लिए राज्यलक्ष्मी ने उन्मत्त गंगा की लीला का अनुकरण किया हो ॥ ४ ॥

इससे पहले राजा को जो बेटे जन्म लेते थे, वे मर जाते थे । इसे उन्होंने प्रेतबाधा समझा । फिर नवजात शिशु की रक्षा-व्यवस्था उन्होंने की । एक सुन्दर प्रसूतिगृह बनवाया । इस गृह का निर्माण लोहे से हुआ था । यह गृह सोना, चांदी और मणियों की आकृति से सुशोभित था । प्रेतबाधा-विनाशक एवं वेदसम्मत विधियों से भूतों के विनाश का प्रतीकार किया गया था । समुचित शुभ अनुष्ठान और मंगल कर्म किये गये । बालक का जातकर्मादिक संस्कार से संवर्द्धन किया गया। उस महासत्त्व की सात्त्विकता, पुण्यप्रभाव और रक्षा की पूर्ण व्यवस्था के कारण भूतों के लिए यह बालक अजेय बन गया । यथावसर इनके सारे संस्कार सम्पन्न हुए । यथावसर शास्त्रज्ञ, कुलीन, सदाचारी, विद्याविख्यात, सम्मानित, शान्त, विनयी और मेधावी गुरु से इन्होंने अनेक विद्या सीख ली । जवानी की कान्ति से दिन-दिन इनकी देह निखरने लगी । स्वभावसिद्ध विनम्रता के कारण ये अपने तथा पराये सबका प्रियपात्र बन गये ।

असंस्तुतमसम्बन्धं दूरस्थमपि सज्जनम् ।
जनोऽन्वेति सुहृत्प्रीत्या गुणश्रीस्तत्र कारणम् ॥५॥
हासभूतेन नभसः शरद्विकचरश्मिना ।
सम्बन्धसिद्धिर्लोकस्य का हि चन्द्रमसा सह ॥ ६ ॥

अथ स महासत्त्वः पुण्यप्रभावसुखोपनतैर्दिव्यकल्पैरनल्पैरपि च विषयैरुपलाल्यमानः स्नेहबहुमानसुमुखेन च पित्रा विश्वासनिर्विशङ्कं दृश्यमानः कदाचित्स्वस्मिन् पुरवरे प्रविततरमणीयशोभां कालक्रमोपनतां कौमुदीविभूतिं दिदृक्षुः कृताभ्यनुज्ञः पित्रा काञ्चन मणिरजतभक्तिचित्रालङ्कारं समुच्छ्रितनानाविधरागप्रचलितोज्ज्वलपताकध्वजं हेमभाण्डाभ्यलङ्कृतविनीतचतुरतुरङ्गं दक्षदाक्षिण्यनिपुणशुचिविनीतधीरसारथिं चित्रोज्ज्वलवेषप्रहरणावरणानुयात्रं रथवरमधिरुह्य मनोज्ञतूर्यस्वनपुरःसरस्तत्पुरवरमनुविचरंस्तद्दर्शनाक्षिप्तहृदयस्य कौतूहललोलचक्षुषः स्तुतिसभाजनाञ्जलिप्रग्रहप्रणामाशीर्वचनप्रयोगसव्यापारस्योत्सवरम्यतरवेषरचनस्य पौरजानपदस्य समुदयशोभामालोक्य लब्धप्रहर्षावकाशेऽपि मनसि कृतसंवेगपरिचयत्वात्पूर्वजन्मसुस्मृतिं प्रतिलेभे ।

सज्जनों में सद्गुण रहने के कारण ही दूरदराज के लोग भी जो न परिचित है न ही सम्बन्धी, वे भी मित्रभाव से उनके पीछे चलते हैं ॥ ५ ॥

आकाश की हँसी की तरह शरद्पूर्णिमा के खिलखिलाते चाँद से लोगों के लगाव का क्या कोई कारण होता है ? ॥ ६ ॥

उस महासत्त्व ने अपने पुण्य-प्रभाव से अनायास-प्राप्त अनेक सुखों का उपभोग करना शुरू कर दिया । पुत्र के प्रति पिता का स्नेह और सम्मान था । अपने अनुकूल बेटे के प्रति विश्वस्त होने के कारण पिता उनकी ओर से निश्चिन्त थे । कालक्रम से उनके नगर में एक बार कौमुदी-महोत्सव का आयोजन किया गया । पिता की आज्ञा लेकर नगर की शोभा देखने हेतु इन्होंने रथ से प्रस्थान किया । रथ को सोने, चाँदी और अनेक रत्नों से खूब सजा दिया गया । उस पर अनेक रंग के झंडे लहरा दिये गये । उस रथ में प्रशिक्षित चतुर एवं स्वर्णाभूषणों से सुसज्जित घोड़े जुते थे । सारथी पर्याप्त दक्ष, पवित्र, विनम्र और धीर था । रथ के पीछे रंग-बिरंगे कपड़े पहने, हथियार और कवच से लैस अंगरक्षक चल रहे थे । उत्सव में सम्मिलित सुन्दर वेष बनाये ग्रामीणों और नागरिकों का ध्यान अनायास कुमार की ओर खींच गया । उनकी आँखें उत्कण्ठा से चंचल हो उठीं । उन्होंने कुमार की स्तुति की, सम्मान किया, हाथ जोड़कर प्रणाम किया और कुछ ने आशीर्वाद भी दिए । नगर की विलक्षण शोभा देखकर यद्यपि उनके हृदय में आनन्द की अनुभूति हुई, फिर वैराग्य से परिचित होने के कारण उन्हें उस समय अपने पूर्वजन्म की याद आ गई ।

कृपणा बत लोकस्य चलत्वविरसा स्थितिः ।
यदियं कौमुदीलक्ष्मीः स्मर्तव्यैव भविष्यति ।। ७ ।।
एवंविधायां च जगत्प्रवृत्तावहो यथा निर्भयता जनानाम् ।
यन्मृत्युनाधिष्ठितसर्वमार्गा निःसम्भ्रमा हर्षमनुभ्रमन्ति ।। ८ ।।
अवार्यवीर्येष्वरिषु स्थितेषु जिघांसया व्याधिजरान्तकेषु ।
अवश्यगम्ये परलोकदुर्गे हर्षावकाशोऽत्र सचेतसः कः ।। ९ ।।
स्वनानुकृत्येव महार्णवानां संरम्भरौद्राणि जलानि कृत्वा ।
मेघास्तडिद्भासुरहेममालाः सम्भूय भूयो विलयं व्रजन्ति ।। १० ।।
तटैः समं तद्विनिबद्धमूलान् हृत्वा तरूँल्लब्धजवैः पयोभिः ।
भवन्ति भूयः सरितः क्रमेण शोकोपतापादिव दीनरूपाः ।। ११ ।।
हृत्वाऽपि शृङ्गाणि महीधराणां वेगेन वृन्दानि च तोयदानाम् ।
विघूर्ण्य चोद्वर्त्य च सागराम्भः प्रयाति नाशं पवनप्रभावः ।। १२ ।।
दीप्तोद्धतार्चिर्विकसत्स्फुलिङ्गः सङ्क्षिप्य कक्षं क्षयमेति वह्निः ।
क्रमेण शोभाश्च वनान्तराणामुद्यन्ति भूयश्च तिरोभवन्ति ।। १३ ।।

उन्होंने सोचना शुरू किया—संसार की स्थिति अस्थिरता के कारण ही दुःखदायी और दयनीय है । कौमुदी-महोत्सव की यह शोभा भी तो कुछ क्षण के बाद समाप्त ही होनेवाली है ।। ७ ।।

संसार की प्रवृत्ति ऐसी चंचल है फिर भी लोग इतने निडर हैं । हर ओर मौत का पहरा है । फिर भी वे घबड़ाहट छोड़कर मौज-मस्ती लूट रहे हैं ।। ८ ।।

अत्यधिक ताकतवर और अजेय शत्रु, रोग, बुढ़ापा और मौत मुँहबाये खड़ी है । संसार छोड़कर परलोकरूपी दुर्ग में जाना ही है । तब फिर ज्ञानी लोगों के लिए मौज मनाने का मौका ही कहाँ है ? ।। ९ ।।

बिजलीरूपी स्वर्णमालाओं से सुसज्जित बादल मानो सागर की गरज का अनुकरण करते हुए मानो क्रोध से विह्वल होकर जल बरसाता है, फिर वे वर्षा के पानी एक साथ मिलकर कहीं खो जाते हैं ।। १० ।।

नदियाँ अपनी तेज जलधारा से अपने ही तटों को ढहा देती है, किनारे के बद्धमूल विशाल पेड़ों को भी ढहा देती है, फिर पुनः ग्रीष्म की ज्वाला में झुलस कर शोक-संतप्त की तरह दीन-हीन बन जाती है ।। ११ ।।

हवा अपने वेग से पहाड़ की चोटियों को ढहाकर, बादलों को तितर-बितर कर, समुद्र के जल को आलोड़ित और क्षुब्ध कर, प्रभावहीन हो जाती है ।। १२ ।।

जलती हुई तेज चिनगारियों और लपटोंवाली आग घास-फूंस को जलाकर राख कर देती हैं । वसन्त में वन की शोभा क्रमशः बढ़ कर ग्रीष्म में क्षीण हो जाती है ।। १३ ।।

कः सम्प्रयोगो न वियोगनिष्ठः का सम्पदो या न विपत्परैति ।
जगत्प्रवृत्ताविति चञ्चलायामप्रत्यवेक्ष्यैव जनस्य हर्षः ।। १४ ।।

इति स परिगणयन् महात्मा संवेगाद्व्यावृत्तप्रमोदोद्धवेन मनसा रमणीये-ष्वपि पुरवरविभूषार्थमभिप्रसारिषु लोकचित्रेष्वविषज्यमानबुद्धिः क्रमेण [भ]वभवनमनुप्राप्तमेवात्मानमपश्यत् । तदभिवृद्धसंवेगश्च विषयसुखेष्वनास्थो [ध]र्म एकः शरणमिति तत्प्रतिपत्तिनिश्चितमतिर्यथाप्रस्तावमभिगम्य राजानं [कृ]ताञ्जलिस्तपोवनगमनायानुज्ञामयाचत—

प्रव्रज्यासंश्रयात्कर्तुमिच्छामि हितमात्मनः ।
कृतां तत्राभ्यनुज्ञां च त्वयाऽनुग्रहपद्धतिम् ।। १५ ।।

तच्छ्रुत्वा प्रियतनयः स तस्य राजा दिग्धेन द्विरद इवेषुणाभिविद्धः ।
गम्भीरोऽप्युदधिरिवानिलावधूतस्तच्छोकव्यथितमनाः समाचकम्पे ।।१६।।

निवारयिष्यन्नथ तं स राजा स्नेहात्परिष्वज्य सबाष्पकण्ठः ।
उवाच कस्मात्सहसैव तात संत्यक्तुमस्मान् मतिमित्यकार्षीः ।। १७ ।।

वह कौन-सा मिलन है, जिसका अन्त वियोग नहीं होता ? वह कौन-सी सम्पत्ति [है] जिसे विपत्ति नहीं घेरती ? संसार की इस चंचल स्थिति से सभी परिचित हैं, [फि]र भी वास्तविकता से आँख मूंदकर मौज-मस्ती मनाते हैं ।। १४ ।।

इस तरह सोचते हुए उस महात्मा का मन वैराग्य के कारण आनन्द और उत्ते[ज]ना से रहित हो गया । राजधानी को विभूषित करनेवाले चित्र-विचित्र रमणीय [दृश्य]गों के बीच भी उनका मन नहीं रमा । उन्होंने क्रम से अपने आपको राजभवन में [प]हुँचा ही देखा । इन दृश्यों को देखकर उनके मन का वैराग्य और ही बढ़ गया । [वि]षयसुख से सम्बन्ध नहीं रखनेवाला धर्म ही एकमात्र सबकी शरण है । यह [सो]चते हुए उन्होंने अपने मन में धर्माचरण का निश्चय कर लिया । मौका मिलते ही [रा]जा के पास जाकर उसने हाथ जोड़कर उनसे तपोवन जाने की अनुमति माँगी ।

संन्यास ग्रहण कर मैं अपना कल्याण करना चाहता हूँ, इसके लिए आप मुझे [त]पोवन जाने की आज्ञा देने का कष्ट करें ।। १५ ।।

यह सुनकर वह पुत्रप्रिय राजा शोक से मर्माहत होकर थर-थर काँपने लगे । [उ]नकी स्थिति विष-लिप्त बाण से विद्ध हाथी की तरह तथा गम्भीर होने के बावजूद [वा]यु से विक्षुब्ध सागर की तरह हो गई ।। १६ ।।

आँसुओं के आवेग से उनका कण्ठ अवरुद्ध हो गया, उन्होंने स्नेह के आवेग में [बे]टे को बाँहों में भरकर समझाते हुए कहा—सहसा हमें छोड़कर चले जाने का [नि]श्चय तुमने क्यों किया ? ।। १७ ।।

त्वदप्रियेणात्मविनाशहेतुः केनायमित्याकलितः कृतान्तः ।
शोकाश्रुपर्याकुललोचनानि भवन्तु कस्य स्वजनाननानि ।। १८ ।।
अथापि किञ्चित्परिशङ्कितं वा ययि व्यलीकं समुपश्रुतं वा ।
तद् ब्रूहि यावद्विरमामि तस्मात्पश्यामि न त्वात्मनि किञ्चिदीदृक् ।।१९।।
बोधिसत्त्व उवाच—

इत्यभिस्नेहसुमुखे व्यलीकं नाम किं त्वयि ।
विप्रियेण समर्थः स्यान्मामासादयितुं च कः ।। २० ।।

अथ किं तर्हि नः परित्यक्तुमिच्छसीति चाभिहितः साश्रुनयनेन राज्ञा स महासत्त्वस्तमुवाच—मृत्युभयात् । पश्यतु देवः—

यामेव रात्रिं प्रथमामुपैति गर्भे निवासं नरवीर लोकः ।
ततःप्रभृत्यस्खलितप्रयाणः स प्रत्यहं मृत्युसमीपमेति ।। २१ ।।
नीतौ सुयुक्तोऽपि बले स्थितोऽपि नात्येति कश्चिन्मरणं जरां वा ।
उपद्रुतं सर्वमितीदमाभ्यां धर्मार्थमस्माद्वनमाश्रयिष्ये ।। २२ ।।
व्यूढान्युदीर्णनरवाजिरथद्विपानि सैन्यानि दर्परभसाः क्षितिपा जयन्ति ।
जेतुं कृतान्तरिपुमेकमपि त्वशक्तास्तन्मे मतिर्भवति धर्ममभिप्रपत्तुम् ।।२३।।

तुम्हारे किस शत्रु ने अपने विनाश के लिए यम को पुकारा है, किसके स्वजनों के मुख आँसुओं से तर होने को हैं ।। १८ ।।

अथवा यदि मुझमें ही तुम्हें किसी अकार्य की आशंका हुई हो या किसी से तुमने कुछ सुना है, तो स्पष्ट कहो, मैं उसे छोड़ दूँगा, किन्तु मैं अपने आपमें तो ऐसा कुछ नहीं पाता हूँ ।। १९ ।।

बोधिसत्त्व ने कहा—

आप तो स्नेहशील अनुकूल पिता हैं, आपमें भला क्या अनुचित हो सकता है ? और मेरा अप्रिय या अनिष्ट करनेवाला कौन हो सकता है ? ।। २० ।।

तब फिर हमें छोड़कर क्यों जाना चाहते हो ? रोते हुए राजा ने जब यह पूछा, तब उस महात्मा ने कहा—'केवल मृत्यु के भय से ? श्रीमान् स्वयं देखें ।

हे राजन् ! जिस पहली रात में मनुष्य गर्भ में प्रवेश करता है; उसी रात से वह प्रतिदिन बिना रूके मौत की ओर बढ़ता रहता है ।। २१ ।।

नीतिवान् हो या बलवान्, वृद्धावस्था और मौत से कोई बच नहीं सकता, सारी दुनियाँ इन दोनों से पीड़ित है, यही कारण है कि धर्माचरण के लिए मैं तपोवन जाऊँगा ।। २२ ।।

मदोद्धत राजे पैदल, घोड़े, रथ और हाथी की विशाल शक्तिशाली सेनाओं को पराजित करते हैं, किन्तु वे यमरूपी शत्रु को, यद्यपि वह एक ही है, जीतने में असमर्थ हैं, इसीलिए मैं धार्मिक आचरण करने का विचार करता हूँ ।। २३ ।।

ह्रष्टाश्वकुञ्जरपदातिरथैरनीकै-
र्गुप्ताविमोक्षमुपयान्ति नृपा द्विषद्भ्यः ।
सार्धं बलैरतिबलस्य तु मृत्युशत्रो-
र्मन्वादयोऽपि विवशा वशमभ्युपेताः ॥ २४ ॥

सञ्चूर्ण्य दन्तमुसलैः पुरगोपुराणि
मत्ता द्विपा युधि रथांश्च नरान् द्विपांश्च ।
नैवान्तकं प्रतिमुखाभिगतं नुदन्ति
वप्रान्तलब्धविजयैरपि तैर्विषाणैः ॥ २५ ॥

दृढचित्रवर्मकवचावरणान् युधि दारयन्त्यपि विदूरचरान् ।
इषुभिस्तदस्त्रकुशला द्विषतश्चिरवैरिणं न तु कृतान्तमरिम् ॥ २६ ॥

सिंहा विकर्तनकरैर्नखरैर्द्विपानां
कुम्भाग्रमग्नशिखरैः प्रशमय्य तेजः ।
भित्त्वैव च श्रुतमनांसि रवैः परेषां
मृत्युं समेत्य हतदर्पबलाः स्वपन्ति ॥ २७ ॥

दोषानुरूपं प्रणयन्ति दण्डं कृतापराधेषु नृपाः परेषु ।
महापराधे यदि मृत्युशत्रौ न दण्डनीतिप्रवणा भवन्ति ॥ २८ ॥

मजबूत घोड़े, हाथी, पैदल और रथ की सेना से सुरक्षित राजा अन्य किसी भी मन से छुटकारा पा सकता है, किन्तु मृत्युरूपी शत्रु से कोई छुटकारा नहीं पा ता। मनु जैसे राजा भी अपनी सेना के साथ शक्तिशाली मौत के गाल में ा गये ॥ २४ ॥

मदोन्मत्त गजराज अपने वज्रदन्त से युद्ध के मैदान में रथ, मनुष्य या हाथी वा नगरद्वार को चूर-चूर कर देते हैं। किन्तु वही गजेन्द्र दीवाल तोड़ने में सक्षम हीं दांतों से कालवली को नहीं हटा पाते हैं ॥ २५ ॥

कुशल रणबांकुरा रंग-बिरंगे मजबूत कवच पहनकर अपने बाणों से दूरस्थ शत्रु भी चीर डालते हैं, किन्तु सबके सनातन शत्रु काल पर उनका भी वश नहीं ता ॥ २६ ॥

मदोन्मत्त गजराज के माथे में अपने तेज नाखूनों को धँसाकर सिंह उनकी शक्ति शान्त कर देते हैं, अपने भयंकर गर्जन से सुननेवालों के दिल को दहला देते हैं। न्तु मौत के सामने वे भी अपना स्वाभिमान और सामर्थ्य खोकर सदा के लिए सो ते हैं ॥ २७ ॥

अपराधियों को अपराध के अनुसार राजा लोग दण्ड देते हैं, परन्तु मृत्युरूपी ापराधी शत्रु के सामने उनकी दण्डनीति कुछ भी काम नहीं कर पाती है ॥ २८॥

नृपाश्च सामादिभिरप्युपायैः कृतापराधं वशमानयन्ति ।
रौद्रश्चिराभ्यासदृढावलेपो मृत्युः पुनर्नानुनयादिसाध्यः ॥२९॥

क्रोधानलज्वलितघोरविषाग्निगर्भै-
दंष्ट्राङ्कुरैरभिदशन्ति नरान् भुजङ्गाः ।
दंष्टव्ययत्नविधुरास्तु भवन्ति मृत्यौ
वध्येऽपि नित्यमपकारविधानदक्षे ॥ ३० ॥

दष्टस्य कोपरभसैरपि पन्नगैश्च
मन्त्रैर्विषं प्रशमयन्त्यगदैश्च वैद्याः ।
आशीविषस्त्वतिविषोऽयमरिष्टदंष्ट्रो
मन्त्रागदादिभिरसाध्यबलः कृतान्तः ॥ ३१ ॥

पक्षानिलैर्ललितमीनकुलं व्युदस्य
मेघौघभीमरसितं जलमर्णवेभ्यः ।
सर्पान् हरन्ति विततग्रहणाः सुपर्णा
मृत्युं पुनः प्रमथितुं न तथोत्सहन्ते ॥ ३२ ॥

भीतद्रुतानपि जवातिशयेन जित्वा
संसाद्य चैकभुजवज्रविलासवृत्त्या ।
व्याघ्राः पिबन्ति रुधिराणि वने मृगाणां
नैवं प्रवृत्तिपटवस्तु भवन्ति मृत्यौ ॥ ३३ ॥

वे राजे साम, दामादिक उपायों से अपराधियों को वशवर्त्ती बना लेते हैं। किन्तु सिद्धहस्त, महाभिमानी भयंकर मौत को विनयादि के द्वारा भी वे वशवर्त्ती नहीं बना सकते हैं ॥ २९ ॥

अपने जहरीले दाँतों से क्रुद्ध सर्प आदमी को तो डँसते हैं, किन्तु नित्य अपराधी वध के योग्य मृत्यु के सामने उनके डँसने की शक्ति भी कुण्ठित हो जाती है ॥ ३० ॥

क्रुद्ध सर्प से डँसे आदमी को विषौषधि या मंत्र के उपचार से जिला दिया जाता है, किन्तु अति विषधर सुदृढ़ दाँतोंवाले कालसर्प से डँसे आदमी को औषधि या मंत्र से नहीं बचाया जा सकता है ॥ ३१ ॥

मछलियों के क्रीड़ास्थल सागर के गंभीर जल को अपने पंखों की हवा से गरुड़जी मथ डालते हैं। मेघों की तरह भयंकर आवाज करते हुए मुँह खोलकर जहरीले साँपों को निगल जाते हैं, किन्तु वही गरुड़ मृत्यु को उसी तरह तो विनष्ट नहीं कर पाते हैं ॥ ३२ ॥

डरकर भागे हुए जंगली हिरणों को झपट्टा मारकर बाघ पकड़ लेते हैं। वज्र के समान अपने पंजे से उनका काम तमाम कर जितनी आसानी से उनका खून पी लेते हैं, वैसी पटुता मौत के सामने प्रदर्शित क्यों नहीं कर पाते हैं ? ॥ ३३ ॥

दंष्ट्राकरालमपि नाम मृगः समेत्य
वैयाघ्रमाननमुपैति पुनर्विमोक्षम्।
मृत्योर्मुखं तु पृथुरोगजरार्तिदंष्ट्रं
प्राप्तस्य कस्य च पुनः शिवतातिरस्ति ।। ३४ ।।

पिबन्ति नॄणां विकृतोग्रविग्रहा
सहौजसायूंषि दृढग्रहा ग्रहाः।
भवन्ति तु प्रस्तुतमृत्युविग्रहा
विपन्नदर्पोत्कटतापरिग्रहाः ।। ३५ ।।

पूजारतद्रोहकृतेऽभ्युपेतान् ग्रहान्नियच्छन्ति च सिद्धविद्याः।
तपोबलस्वस्त्ययनौषधैश्च मृत्युग्रहस्त्वप्रतिवार्य एव ।। ३६ ।।

मायाविधिज्ञाश्च महासमाजे जनस्य चक्षूंषि विमोहयन्ति।
कोऽपि प्रभावस्त्वयमन्तकस्य यद् भ्राम्यते तैरपि नास्य चक्षुः ।।३७।।

हृत्वा विषाणि च तपोबलसिद्धमन्त्रा
व्याधीन्नृणामुपशमय्य च वैद्यवर्याः।
धन्वन्तरिप्रभृतयोऽपि गता विनाशं
धर्माय मे नमति तेन मतिर्वनान्ते ।। ३८ ।।

विकराल दाँतवाले बाघ के मुँह में पड़कर भी संभव है हिरण बच जाय, परन्तु रोग, बुढ़ापा और दुःखरूपी दाँतवाले मृत्यु-मुख से भला किसको छुटकारा मिला है ? ।। ३४ ।।

विकराल और विकृत आकृतिवाले दैत्य आदमी को दृढ़ता से पकड़कर उसकी शक्ति और आयु को पी जाते हैं, किन्तु उन्हें भी जब मौत से संघर्ष करने का समय आता है, तब उनका सारा अभिमान, सारी भयङ्करता और मजबूत पकड़ समाप्त हो जाती है ।। ३५ ।।

पूजा-पाठ में निरत व्यक्ति से विद्रोह करने के लिए आये हुए राक्षसों को प्रेत-विद्या-विशारद व्यक्ति वशवर्त्ती बना डालते हैं, किन्तु तपोबल, मंगलकर्म और औषधियों से भी मौतरूपी राक्षस का निवारण तो कोई नहीं कर सकता ।। ३६ ।।

एक जादूगर खचाखच भरे आदमी की भीड़ में उनकी आँखों को चकमें में डाल देता है, परन्तु वही जादूगर प्रभावशाली यम की आँखों को फेर नहीं सकता ।। ३७।।

मंत्रद्रष्टा महर्षि, विष उतारनेवाले सिद्ध, रोग दूर करनेवाले श्रेष्ठ वैद्य एवं धन्वन्तरि महाराज भी तो काल के गाल में समा गये। अतः वन में धर्माचरण करने का मेरा विचार है ।। ३८ ।।

आविर्भवन्ति च पुनश्च तिरोभवन्ति
गच्छन्ति वाऽनिलपथेन महीं विशन्ति ।
विद्याधरा विविधमन्त्रबलप्रभावा
मृत्युं समेत्य तु भवन्ति हतप्रभावाः ॥ ३९ ॥

दृप्तानपि प्रतिनुदन्त्यसुरान् सुरेन्द्रा दृप्तानपि प्रतिनुदन्त्यसुराः सुरांश्च ।
मानाधिरूढमतिभिः समुदीर्णसैन्यैस्तैः संहतैरपि तु मृत्युरजय्य एव ॥४०॥

इमामवेत्याप्रतिवार्यरौद्रतां कृतान्तशत्रोर्भवने न मे मतिः ।
न मन्युना स्नेहपरिक्षयेण वा प्रयामि धर्माय तु निश्चितो वनम् ॥ ४१ ॥

राजोवाच—अथ वने तव क आश्वासः एवमप्रतिक्रिये मृत्युभये सति धर्मपरिग्रहे च ।

किं त्वा वने न समुपैष्यति मृत्युशत्रु-
र्धर्मे स्थिताः किमृषयो न वने विनष्टाः ।
सर्वत्र नाम नियतः क्रम एष तत्र
कोऽर्थो विहाय भवनं वनसंश्रयेण ॥ ४२ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—

कामं स्थितेषु भवने च वने च मृत्यु-
र्धर्मात्मकेषु विगुणेषु च तुल्यवृत्तिः ।

विविध मंत्रों की शक्ति और प्रभाव से विद्याधर प्रकट और अदृश्य होते हैं, वायुमार्ग से चलते हैं या धरती में समा जाते हैं, किन्तु मौत से मुठभेड़ होने पर वे भी प्रभावहीन हो जाते हैं ॥ ३९ ॥

मदोद्धत राक्षसों को देवगण पीछे ढकेल देते हैं, उसी तरह मदोन्मत्त देवताओं को भी राक्षसगण कभी पीछे हटने को बाध्य कर देते हैं, किन्तु दोनों की सम्मिलित शक्तिशाली सेमा भी आज तक मौत को जीत नहीं पाई है ॥ ४० ॥

मृत्युरूपी शत्रु की इस भयंकरता का कोई निवारण नहीं है, यह सोचकर घर में रहने का मेरा विचार नहीं है । मैं क्रोध से या स्नेह घट जाने के कारण नहीं बल्कि अपने धर्माचरण के लिए मन में निश्चय कर जंगल जा रहा हूँ ॥ ४१ ॥

तब राजा ने कहा—जब मौतरूपी भय का कोई प्रतीकार है ही नहीं, तब फिर तुम्हें जंगल में धर्माचरण करने से क्या लाभ होगा ?

क्या वन में जाने से मौत तुम्हारे पास नहीं फटकेगी ? क्या धर्मरत ऋषियों की जंगल में मौत नहीं हुई है ? यह गति तो सब जगह अवश्यम्भावी है, तब घर छोड़कर जंगल जाने से क्या लाभ ? ॥ ४२ ॥

बोधिसत्त्व ने जबाव दिया—

वनवासी हो या गृहवासी, धर्मात्मा हो या धर्महीन, अवश्य ही मृत्यु का व्यवहार

धर्मात्मनां भवति न त्वनुतापहेतु-
धर्मश्च नाम वन एव सुखं प्रपत्तुम् ॥ ४३ ॥

पश्यतु देवः—

प्रमादमदकन्दर्पलोभद्वेषास्पदे गृहे ।
तद्विरुद्धस्य धर्मस्य कोऽवकाशपरिग्रहः ॥ ४४ ॥

विकृष्यमाणो बहुभिः कुकर्मभिः परिग्रहोपार्जनरक्षणाकुलः ।
अशान्तचेता व्यसनोदयागमैः कदा गृहस्थः शममार्गमेष्यति ॥ ४५ ॥

वने तु संत्यक्तकुकार्यविस्तरः परिग्रहक्लेशविवर्जितः सुखी ।
शमैककार्यः परितुष्टमानसः सुखं च धर्मं च यशांसि चार्छति ॥ ४६ ॥

धर्मश्च रक्षति नरं न धनं बलं वा
धर्मः सुखाय महते न विभूतिसिद्धिः ।
धर्मात्मनश्च मुदमेव करोति मृत्यु-
र्न ह्यस्ति दुर्गतिभयं निरतस्य धर्मे ॥ ४७ ॥

क्रियाविशेषश्च यथा व्यवस्थितः शुभस्य पापस्य च भिन्नलक्षणः ।
तथा विपाकोऽप्यशुभस्य दुर्गतिश्चित्रस्य धर्मस्य सुखाश्रया गतिः ॥ ४८ ॥

सबके लिए समान है, किन्तु घर की अपेक्षा वन में धर्माचरण सुकर है। साथ ही धर्मात्मा के लिए मृत्यु उतनी दुःखद नहीं होती ॥ ४३ ॥

देव ! आप देखें—

असावधानी, अभिमान, वासना, लोभ और द्वेष का घर स्थान है, धर्माचरण के लिए वहाँ अवकाश ही कहाँ है ? ॥ ४४ ॥

अनेक अपकर्मों में लिपटा, उपार्जन, संग्रह और संरक्षण से व्याकुल, सम्पत्ति और विपत्ति की प्राप्ति से अशान्तचित्त गृहस्थ शान्ति-मार्ग पर कब चलेगा ? ॥४५॥

कुकर्मों को छोड़कर, संग्रहजन्य पीड़ा से मुक्त मनुष्य जंगल में ही मंगल पाता है। शान्ति की छाया में वहाँ उसका चित्त बड़ा सन्तुष्ट रहता है। वहाँ उसे सुख, धर्म और यश मिलते हैं ॥ ४६ ॥

धर्म ही मनुष्य की रक्षा करता है, न कि धन या बल। धर्म से ही महासुख होता है, न कि सम्पदा से। धर्मात्मा के लिए मृत्यु आनन्द का विषय है न कि दुर्गति का भय है ॥ ४७ ॥

जिस तरह धर्म और अधर्म में भेद है, उनके लक्षण भिन्न हैं, उसी तरह अधर्म का परिणाम दुःखद दुर्गति और धर्म का परिणाम सुखद सुगति है ॥ ४८ ॥

इत्यनुनीय स महात्मा पितरं कृताभ्यनुज्ञः पित्रा तृणवदपास्य राज्यलक्ष्मीं तपोवनाश्रयं चकार। तत्र च ध्यानान्यप्रमाणानि चोत्पाद्य तेषु च प्रतिष्ठाप्य लोकं ब्रह्मलोकमधिरुरोह ॥

तदेवं संविग्नमनसां राजलक्ष्मीरपि श्रेयोमार्गं नावृणोतीति संवेगपरिचयः कार्यः। मरणसंज्ञावर्णेऽपि वाच्यम्-एवमाशुमरणसंज्ञा संवेगाय भवतीति। तथा मरणानुस्मृतिवर्णेऽनित्यताकथायामप्युपनेयम्--एवमनित्याः सर्वसंस्कारा इति। तथा सर्वलोकेऽनभिरतिसंज्ञायाम्—एवमनाश्वासिकं संस्कृतमिति। एवमत्राणोऽयमसहायश्च लोक इत्येवमपि वाच्यम्। एवं वने धर्मः सुखं प्रतिपत्तुं न गेह इत्येवमप्युन्नेयम् ॥

॥ इति अयोगृह-जातकं द्वात्रिंशत्तमम् ॥

इस तरह उस महात्मा ने पिता को मनाकर, उनकी आज्ञा लेकर, राज्यलक्ष्मी को तृण की तरह छोड़कर तपोवन की ओर प्रस्थान किया। वहाँ अपरिमित ध्यान स्वयं कर, अन्य लोगों से ध्यान करा अन्त में ब्रह्मलोक की ओर प्रस्थान किया।

अतः जिनके मन में वैराग्य का उदय होता है, उनके कल्याण-मार्ग को राजलक्ष्मी भी रोक नहीं पाती। 'शीघ्र मरना है' यह ज्ञान वैराग्य को जन्म देता है, अतः मृत्यु के ज्ञान सम्बन्ध में यह कथा कहनी चाहिए। मरण का स्मरण कराने के लिए तथा अनित्यता के प्रसंग में भी यह कथा कहनी चाहिए। संसार की प्रत्येक वस्तु अनित्य है; इसमें कहीं भी आनन्द नहीं है। इसका भी उल्लेख करना चाहिए। जो कुछ उत्पन्न हुआ है, वह अविश्वसनीय है। संसार त्राणरहित और असहाय है। वन में धर्माचरण सुकर है न कि घर में—इसकी भी चर्चा करनी चाहिए।

अयोगृह-जातक बत्तीसवाँ समाप्त।

(३३) महिष-जातकम्

सति क्षन्तव्ये क्षमा स्यान्नासतीत्यपकारिणमपि साधवो लाभमिव बहु मन्यन्ते । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किलान्यतमस्मिन्नरण्यप्रदेशे पङ्कसम्पर्कात्परुषवपुर्नीलमेघविच्छेद इव पादचारी वनमहिषवृषो बभूव । स तस्यां दुर्लभधर्मसंज्ञायां सम्मोहबहुलायामपि तिर्यग्गतौ वर्तमानः पटुविज्ञानत्वान्न धर्मचर्यानिरुद्योगमतिर्बभूव ।

चिरानुवृत्त्येव निबद्धभावा न तं कदाचित्करुणा मुमोच ।
कोऽपि प्रभावः स तु कर्मणो वा तस्यैव वा यत्स तथा बभूव ।। १ ।।
अतश्च नूनं भगवानवोचदचिन्त्यतां कर्मविपाकयुक्तेः ।
कृपात्मकः सन्नपि यत्स भेजे तिर्यग्गतिं तत्र च धर्मसंज्ञाम् ।। २ ।।
विना न कर्मास्ति गतिप्रबन्धः शुभं न चानिष्टविपाकमस्ति ।
स धर्मसंज्ञोऽपि तु कर्मलेशांस्तांस्तान् समासाद्य तथा तथाऽऽसीत् ।। ३ ।।

अथान्यतमो दुष्टवानरस्तस्य कालान्तराभिव्यक्तां प्रकृतिभद्रतां दयानु-

---

३३. महिष-जातक

क्षमा का मौका तब मिलता है, जब कोई क्षमा का पात्र हो । साधु जीव अपकार करनेवालों को भी उपकारी की तरह ही मानते हैं । तब जैसा कि सुना जाता है—

एक बार एक जंगल में बोधिसत्त्व ने जंगली भैंसा के रूप में जन्म ग्रहण किया । कीचड़ के लेप से उनका शरीर इतना मैला था कि देखनेवाले को लगता था कि काले बादल का कोई टुकड़ा ही धरती पर चल रहा हो । वे पशु-योनि में भी, जहाँ अज्ञान छाया रहता है और धर्मज्ञान होना तो कठिन ही है—बड़े ज्ञानी और धर्मात्मा थे ।

चिराचरित बद्धमूल करुणा ने उनका साथ कभी नहीं छोड़ा, किन्तु उनके पूर्व जन्मार्जित कर्म के फलस्वरूप उन्हें इस योनि में आना पड़ा ।। १ ।।

अतः भगवान् ने ठीक ही कहा है—कर्मफल के रहस्य को समझना संभव नहीं है । स्वभाव से दयालु होने के बावजूद उन्हें पशु-योनि में जाना पड़ा, किन्तु वहाँ भी उनका धर्मज्ञान बरकरार रहा ।। २ ।।

कर्म के बिना बार-बार जन्म लेना संभव नहीं है और शुभ कर्म का अशुभ फल भी असंभव है । धर्मज्ञ होने के बावजूद कभी उहोंने कुछ वैसा कर्म किया था, जिसके कारण उन्हें पशु-योनि में जाना पड़ा ।। ३ ।।

कोई एक दुष्ट वानर था । समय-समय पर अभिव्यक्त इनके साधु स्वभाव से

वृत्त्या च विगतक्रोधसंरम्भतामवेत्य नास्माद्भयमस्तीति तं महासत्त्वं तेन तेन विहिंसाक्रमेण भृशतरमबाधत ।

दयामृदुषु दुर्जनः पटुतरावलेपोद्धवः
परां व्रजति विक्रियां न हि भयं ततः पश्यति ।
यतस्तु भयशङ्कया सुकृशयाऽपि संस्पृश्यते
विनीत इव नीचकैश्चरति तत्र शान्तोद्धवः ॥ ४ ॥

स कदाचित्तस्य महासत्त्वस्य विस्रब्धप्रसुप्तस्य निद्रावशाद्वा प्रचलायतः सहसैवोपरि निपतति स्म । द्रुममिव कदाचिदेनमधिरुह्य भृशं संचालयामास । क्षुधितस्यापि कदाचिदस्य मार्गमावृत्य व्यतिष्ठत । काष्ठेणाप्येनमेकदा श्रवणयोर्घट्टयामास । सलिलावगाहनसमुत्सुकस्याप्यस्य कदाचिच्छिरः समभिरुह्य पाणिभ्यां नयने समाववे । अप्येनमधिरुह्य समुद्यतदण्डः प्रसह्यैव वाहयन् यमस्य लीलामनुचकार । बोधिसत्त्वोऽपि महासत्त्वः सर्वं तदस्याविनयचेष्टितमुपकारमिव मन्यमानो निःसंक्षोभसंरम्भमन्युर्मर्षयामास ।

स्वभाव एव पापानां विनयोन्मार्गसंश्रयः ।
अभ्यासात्तत्र च सतामुपकार इव क्षमा ॥ ५ ॥

से वह परिचित था । ये परम दयालु थे । इन्हें क्रोध कभी नहीं सताता था । इनसे किसी को कुछ डर नहीं है, यह सोचकर उस वानर ने अनेक हिंसक उपायों से इस महापुरुष को सताना शुरू कर दिया ।

दयालु व्यक्ति के प्रति दुर्जन उद्धत और उत्तेजित होकर बड़ी दुष्टता करता है, क्योंकि वह समझता है कि ऐसे व्यक्ति से कोई भय नहीं है, किन्तु ठीक इसके विपरीत दुष्टों को जिनसे थोड़ा भी डर लगता है, उसके प्रति वह शान्त होकर विनीत शिष्य की तरह विनम्र आचरण करता है ॥ ४ ॥

ये महासत्त्व जब शान्तिपूर्वक सोये रहते थे या बैठकर नींद में उँघते रहते थे, तब यह दुष्ट वानर इनके ऊपर अचानक ही कूद पड़ता था । कभी पेड़ की तरह उनकी पीठ पर बैठकर जोरों से इन्हें हिलाने लगता था । भूख लगने पर जब वह खाने पीने की खोज में निकलने लगते, तो उनकी राह रोककर वह बीच में खड़ा हो जाता था । एक बार एक काठ उठाकर उससे उनके कान को रगड़ दिया । जब वे किसी जलाशय में घुसना चाहते थे, तो उनके माथे पर चढ़कर अपने दोनों हाथों से उनकी आँखें बन्द कर देता था । कभी उनपर चढ़कर यमराज की तरह लाठी उठाकर उन्हें हांकने लगता, किन्तु उस महासत्त्व ने उनके सारे उद्धत कार्यों को उपकार समझकर ही उन्हें माँफ कर दिया । इससे उन्हें न कभी क्षोभ हुआ या क्रोध ।

उन्मार्ग पर चलना पापियों का स्वभाव है और अभ्यासवश उसे उपकार समझकर क्षमा करना साधु-स्वभाव है ॥ ५ ॥

अथ किलान्यतमो यक्षस्तमस्य परिभवममृष्यमाणो भावं वा जिज्ञासमानस्तस्य महासत्त्वस्य तेन दुष्टकपिना वाह्यमानं तं महिषवृषभं मार्गे स्थित्वेदमुवाच—मा तावद्भोः! किं परिक्रीतोऽस्यनेन दुष्टकपिना? अथ द्यूते पराजितः? उताहो भयमस्मात्किञ्चिदाशङ्कसे? उताहो बलमात्मगतं नावैषि यदेवमनेन परिभूय वाह्यसे? ननु भोः!—

वेगाविद्धं त्वद्विषाणाग्रवज्रं वज्रं भिन्द्याद्वज्रवद्वा नगेन्द्रान्।
पादाश्चेमे रोषसंरम्भमुक्ता मज्जेयुस्ते पङ्कवच्छैलपृष्ठे ॥ ६ ॥
इदं च शैलोपमसंहतस्थिरं समग्रशोभं बलसम्पदा वपुः।
स्वभावसौजस्कनिरीक्षितोऽजितं दुरासदं केसरिणोऽपि ते भवेत् ॥ ७ ॥
मथान धृत्वा तदिमं क्षुरेण वा विषाणकोटचा मदमस्य वोद्धर।
किमस्य जाल्मस्य कपेरशक्तवत्प्रबाधनादुःखमिदं तितिक्षसे ॥ ८ ॥
असज्जनः कुत्र यथा चिकित्स्यते गुणानुवृत्त्या सुखशीलसौम्यया।
कटूष्णरूक्षाक्षि हि यत्र सिद्धये कफात्मको रोग इव प्रसर्पति ॥ ९ ॥
अथ बोधिसत्त्वस्तं यक्षमवेक्षमाणः क्षमापक्षपतितमरूक्षाक्षरमित्युवाच—

एक दिन एक यक्ष ने इनकी पीठ पर बैठकर इन्हें हाँकते हुए उस वानर को देखा। उससे इनका यह अपमान सहा नहीं गया। इनके मन की बात जानने की इच्छा से इनकी राह रोककर उसने इनसे पूछा—ऐसा तो नहीं होना चाहिए। क्या, इस दुष्ट वानर ने तुम्हें खरीद लिया है, या इसने तुम्हें जुए में हराया है, अथवा तुम्हें इससे डर लगता है। या तुम अपने को इससे अधिक शक्तिशाली नहीं समझते हो। आखिर क्यों तुम पर सवारी गाँठकर तुम्हें अपमानित कर यह इस तरह तुम्हें हाँक रहा है? अवश्य ही—

तुम्हारे सींग की चोट से पत्थर फूट सकता है, वज्र की तरह बड़े-बड़े पेड़ उखड़ सकते हैं, क्रोध से फेंके गये तुम्हारे पैर चट्टानों में भी कीचड़ की तरह धँस सकते हैं ॥ ६ ॥

पर्वत की तरह सुदृढ़, शक्तिशाली और सुन्दर तुम्हारा शरीर, तुम्हारी शक्ति से परिचित और स्वभाव से शक्तिशाली सिंह के लिए भी दुर्लभ है ॥ ७ ॥

तो फिर क्यों नहीं इस दुष्ट बन्दर को अपने खुर से मथ डालते? या सींग की नोंक से इसका अभिमान चूर कर देते? आखिर क्यों इस दुष्ट से सताये जाकर दुःख भोग रहे हो? ॥ ८ ॥

शील और सद्गुण से किसी दुर्जन की चिकित्सा नहीं हो सकती, इससे तो उसका मन और बढ़ेगा ही, जैसे कटु, उष्ण और रूखे पदार्थों से साध्य कफरोग विपरीत वस्तु के सेवन से बढ़ता ही है ॥ ९ ॥

तब बोधिसत्त्व ने उस यक्ष की ओर देखते हुए क्षमासूचक कोमल शब्दों में कहा—

अवैश्येनं चलं नूनं सदा चाविनये रतम् ।
अत एव मया त्वस्य युक्तं मर्षयितुं ननु ।। १० ।।
प्रतिकर्तमशक्तस्य क्षमा का हि बलीयसि ।
विनयाचारधीरेषु क्षन्तव्यं किं च साधुषु ।। ११ ।।
शक्त एव तितिक्षते दुर्बलस्खलितं यतः ।
वरं परिभवस्तस्मान्न गुणानां पराभवः ।। १२ ।।
असत्क्रिया हीनबलाच्च नाम निर्देशकालः परमो गुणानाम् ।
गुणप्रियस्तत्र किमित्यपेक्ष्य स्वधैर्यभेदाय पराक्रमेत ।। १३ ।।
नित्यं क्षमायाश्च ननु क्षमायाः कालः परायत्ततया दुरापः ।
परेण तस्मिन्नुपपादिते च तत्रैव कोपप्रणयक्रमः कः ।। १४ ।।
स्वां धर्मपीडामविचिन्त्य योऽयं मत्पापशुद्ध्यर्थमिव प्रवृत्तः ।
न चेत्क्षमामप्यहमत्र कुर्यामन्यः कृतघ्नो बत कीदृशः स्यात् ।। १५ ।।
यक्ष उवाच—तेन हि न त्वमस्याः कदाचित्प्रबाधनाया मोक्ष्यसे—
गुणेष्वबहुमानस्य दुर्जनस्याविनीतताम् ।
क्षमानैभृत्यमत्यक्त्वा कः सङ्कोचयितुं प्रभुः ।। १६ ।।

निश्चय ही मैं जानता हूँ यह चंचल है और हमेशा गलत काम करता है, अतः इसे क्षमा करना मेरा कर्त्तव्य है ।। १० ।।

प्रतीकार करने में असमर्थ व्यक्ति बलवान् को क्या क्षमा करेगा ? और आचार-विनयसम्पन्न साधुओं को क्षमा ही क्या करना है ? ।। ११ ।।

बलवान् ही दुर्बल को क्षमा कर सकता है, अतः अपना गुण छोड़ने की अपेक्षा दुर्बल से अपमानित होना अच्छा है ।। १२ ।।

दुर्बल से अपमानित होना अपने गुणों के प्रकाशन का उत्तम अवसर है, ऐसी स्थिति में गुणानुरागी व्यक्ति क्या देखकर अपना धीरज छोड़ने की चेष्टा करेगा ? ।। १३ ।।

समुचित क्षमा करने का मौका बार-बार नहीं आता, क्योंकि यह दूसरों के हाथ की बात होती है । संयोग से दूसरों के द्वारा यदि ऐसा अवसर हाथ लग जाय तो फिर, उस पर क्रोध क्यों किया जाय ? ।। १४ ।।

अपने अधर्म को बिना देखे जिसने मेरे पाप की शुद्धि के लिये यह प्रयास किया है, यदि मैं (उसके इस उपकार पर ध्यान दिए बिना) उसे क्षमा नहीं करूँ तो फिर, मुझसे बड़ा कृतघ्न कौन होगा ? ।। १५ ।।

यक्ष ने कहा—तब तुम इसके द्वारा सताये जाने से कभी छुटकारा नहीं पाओगे ।

गुणों का आदर नहीं करनेवाले दुष्टों की दुष्टता को बिना क्षमा को छोड़े कौन दूर कर सकता है ? ।। १६ ।।

बोधिसत्त्व उवाच—

परस्य पीडाप्रणयेन यत्सुखं निवारणं स्यादसुखोदयस्य वा।
सुखार्थिनस्तन्न निषेवितुं क्षमं न तद्विपाको हि सुखप्रसिद्धये ॥ १७ ॥
क्षमाश्रयादेवमसौ मयाऽर्थतः प्रबोध्यमानो यदि नावगच्छति।
निवारयिष्यन्ति त एनमुत्पथादमर्षिणो यानयमभ्युपैष्यति ॥ १८ ॥
असत्क्रियां प्राप्य च तद्विधाज्जनान्न मादृशेऽप्येवमसौ करिष्यति।
न लब्धदोषो हि पुनस्तथाचरेदतश्च मुक्तिर्मम सा भविष्यति ॥ १९ ॥

अथ यक्षस्तं महासत्त्वं प्रसादविस्मयबहुमानावर्जितमतिः साधु साध्विति शिरःप्रकम्पाङ्गुलिविक्षेपमभिसंराध्य तत्तत्प्रियमुवाच—

कुतस्तिरश्चामियमीदृशी स्थितिर्गुणेष्वसौ चादरविस्तरः कुतः।
कथापि बुद्धया त्विदमास्थितो वपुस्तपोवने कोऽपि भवांस्तपस्यति ॥२०॥

इत्येनमभिप्रशस्य तं चास्य दुष्टवानरं पृष्ठादवधूय समादिश्य चास्य ाविधानं तत्रैवान्तर्दधे।

तब बोधिसत्त्व ने कहा—

दूसरों को सताकर यदि सुख मिले या दुःख का विनाश तो सुख चाहनेवाले को कुछ नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसे काम का परिणाम कभी सुखदायी नहीं है ॥ १७ ॥

क्षमा का सहारा लेकर मैंने इसे ठीक-ठीक समझाने की चेष्टा की है, फिर भी यह उसे समझ नहीं पाता है तो, जिन असहनशील प्राणियों के पास यह जायेगा, इसे कुपथ से रोकेंगे ॥ १८ ॥

वैसे प्राणियों से पीड़ित होकर यह मेरे जैसे जीव के प्रति भी तब अपनी दुष्टता कर देगा, जब इसे दण्ड मिल जायेगा तो फिर, यह वैसा काम नहीं करेगा, फिर इस तरह इसकी दुष्टता से हमें मुक्ति मिल जायेगी ॥ १९ ॥

तब उस महासत्त्व के प्रति यक्ष के हृदय में आनन्द, आश्चर्य और सम्मान के भर गये।

'बहुत अच्छा' कहकर उसने साधुवाद व्यक्त किया। फिर सिर और अंगुलियों हिलाकर उसने इनकी अभ्यर्थना की और बहुत कुछ प्रियवचन कहा—

पशु-पक्षियों की यह स्थिति कैसे होती हैं? गुणों के प्रति उनका आदर क्यों होता कुछ सोचकर ही आपने यह शरीर धारण किया है? तपोवन में आप निश्चय ही तपस्वी है ॥ २० ॥

इस तरह उनकी प्रशंसाकर उस दुष्ट वानर को उनकी पीठ से उतार दिया उनकी रक्षा का उपाय बतलाकर वह वहीं अन्तर्ध्यान हो गया।

तदेवं सति क्षन्तव्ये क्षमा स्यान्नासतीत्यपकारिणमपि साधवो लाभमिव बहु मन्यन्ते इति क्षान्तिकथायां वाच्यम् । एवं तिर्यग्गतानां बोधिसत्त्वानां प्रतिसंख्यानसौष्ठवं दृष्टम् । को नाम मनुष्यभूतः प्रव्रजितप्रतिज्ञो वा तद्विकलः शोभेत ? इत्येवमपि वाच्यम् । तथागतवर्णे सत्कृत्य धर्मश्रवणे चेति ॥

॥ इति महिषजातकं त्रयस्त्रिंशत्तमम् ॥

अतः क्षमा के लिए अवसर तब मिलता है, जब कोई क्षमा के योग्य हो, अन्यथा नहीं । इस तरह साधु अपकारी को भी कुछ लाभ मानकर ही आदर देते हैं । क्षमा के प्रसंग में यह कथा कहनी चाहिए । पशु-पक्षियों की योनि में पड़े बोधिसत्त्व का उत्कृष्ट ज्ञान देखा गया है । तब मनुष्य होकर या संन्यास की प्रतिज्ञा लेकर क्षमा के बिना कौन शोभा पायेगा ? तथागत का वर्णन करने में और आदरपूर्वक धर्म श्रवण करने में भी यह कथा कहनी चाहिए ।

महिष-जातक तैंतीसवाँ समाप्त ।

(३४) शतपत्र-जातकम्

प्रोत्साह्यमानोऽपि साधुर्नालं पापे प्रवर्तितुमनभ्यासात् । तद्यथानुश्रूयते—
बोधिसत्त्वः किलान्यतमस्मिन् वनप्रदेशे नानाविधरागरुचिरचित्रपत्रः
ातपत्रो बभूव । करुणापरिचयाच्च तदवस्थोऽपि न प्राणिहिंसाकलुषां शतपत्र-
ृत्तिमनुववर्त ।

बालैः प्रवालैः स महीरुहाणां पुष्पाधिवासैर्मधुभिश्च हृद्यैः ।
फलैश्च नानारसगन्धवर्णैः सन्तोषवृत्तिं बिभराञ्चकार ।। १ ।।
धर्मं परेभ्यः प्रवदन् यथार्हमार्तान् यथाशक्ति समुद्धरंश्च ।
निवारयंश्चाविनयादनार्यानुद्भावयामास परार्थचर्याम् ।। २ ।।

इति परिपाल्यमानस्तेन महासत्त्वेन तस्मिन् वनप्रदेशे सत्त्वकायः साचार्यक
त्र बन्धुमानिव सवैद्य इव राजन्वानिव सुखमभ्यवर्धत ।

दयामहत्त्वात्परिपाल्यमानो वृद्धिं यथासौ गुणतो जगाम ।
स सत्त्वकायोऽपि तथैव तेन संरक्ष्यमाणो गुणवृद्धिमाप ।। ३ ।।

अथ कदाचित्स महासत्त्वः सत्त्वानुकम्पया वनान्तराणि समनुविचरंस्ती-

---

३४. शतपत्र-जातक

बहकाये जाने पर भी पूर्वाभ्यास की कमी के कारण सज्जन पाप-मार्ग में प्रवृत्त
हीं होते । अनुश्रुति है—
एक बार किसी जंगल में बोधिसत्त्व ने मयूर-पक्षी के कुल में जन्म ग्रहण किया ।
नके चित्र-विचित्र पंख अनेक रंगों के कारण बड़े लुभावने थे । दयालु होने के
ारण इस हिंसक पक्षी की योनि में भी उन्होंने प्राणि-हिंसा जैसे विगर्हित कर्म का
रित्याग कर दिया ।

वे पेड़ की नई कोंपले, स्वादिष्ट मीठे फूलों और अनेक रूप, रस और गंधवाले
नीले फलों को खाकर ही सन्तुष्ट रहते थे ।। १ ।।

वे दूसरे को यथायोग्य धर्मोपदेश दिया करते, पीड़ितों को यथाशक्ति मदद
रते और दुष्टों को दुष्कर्म से रोकते हुए परोपकार किया करते थे ।। २ ।।

उस वन में उनसे पालित प्राणी-समूह सुख से निवास करते थे, बोधिसत्त्व
नके लिए गुरु, बन्धु, वैद्य और उत्तम राजा की तरह थे ।

जैसे अतिशय दया के कारण परिपालित वह सत्त्व-समूह गुणों में बढने लगा,
से ही उनसे संरक्षित सत्त्वगुण भी बढ़ने लगा ।। ३ ।।

एक बार जीव-दया के कारण दूसरे वन में घूमते हुए उस महासत्त्व ने एक सिंह

व्रवेदनाभिभवाद्विचेष्टमानं दिग्धविद्धमिवान्यतमस्मिन् वनप्रदेशे रेणुसम्पर्क-व्याकुलमलिनकेसरसटं सिंहं ददर्श । समभिगम्य चैनं करुणया परिचोद्यमानः पप्रच्छ--किमिदं मृगराज ? बाढं खल्वकल्यशरीरं त्वां पश्यामि ।

द्विपेषु दर्पातिरसानुवृत्त्या जवप्रसङ्गादथवा मृगेषु ।
कृतं तवास्वास्थ्यमिदं श्रमेण व्याधेषुणा वा रुजया कयाचित् ॥ ४ ॥
तद् ब्रूहि वाच्यं मयि चेदिदं ते तदेव वा कृत्यमिहोच्यतां तत् ।
ममास्ति या मित्रगता च शक्तिस्तत्साध्यसौख्यस्य भवान् सुखी च ॥५॥

सिंह उवाच साधो पक्षिवर ! न मे श्रमजातमिदमस्वास्थ्यं रुजया व्याधेषुणा वा । इदं त्वस्थिशकलं गलान्तर विलग्नं शल्यमिव मां भृशं दुनोति । न ह्येनच्छक्नोम्यभ्यवहर्तुमुद्गरितुं वा । तदेष कालः सुहृदाम् । यथेदानीं जानासि, तथा मां सुखिनं कुरुष्वेति ।

अथ बोधिसत्त्वः पटुविज्ञानत्वाद्विचिन्त्य शल्योद्धरणोपायं तद्वदनविष्कम्भ-प्रमाणं काष्ठमादाय तं सिंहमुवाच या ते शक्तिस्तया सम्यक् तावत्स्वमुखं निर्व्यादेहीति । स तथा चकार । अथ बोधिसत्त्वस्तदस्य काष्ठं दन्तपाल्योरन्तरे

को देखा । वह तीव्र वेदना से छटपटा रहा था । लगता था किसी ने जहरीले बाण से उसे वेध दिया हो । धूल में लोटने के कारण उसकी गर्दन के चमकीले बाल अस्त-व्यस्त और धूलि-धूसरित हो गये थे । दयावश उसके पास जाकर उन्होंने पूछा -हे मृगेन्द्र ! क्या बात है ? आप काफी अस्वस्थ दीख रहे हैं ।

हाथियों के बीच पराक्रम प्रकट करने के कारण अथवा हिरणों का वेगपूर्वक पीछा करने से या किसी बहेलिये के बाण से अथवा किसी रोग से आपकी यह दुर्दशा हुई है ? ॥ ४ ॥

यदि आप मुझे कहने योग्य समझते है तो कहिए और यदि कुछ करने लायक समझते हैं तो काम भी बतलाइए । यदि मुझ मित्र में कुछ शक्ति है और उसके द्वारा आपकी परिचर्या संभव है, तो निश्चय ही आप अपने को कष्ट-मुक्त समझिये ॥ ५ ॥

तब सिंह ने कहा—'हे पक्षि श्रेष्ठ ! मेरी इस स्थिति का कारण थकावट, रोग या व्याध का बाण नहीं है । बल्कि गले के भीतर अटका हुआ हड्डी का टुकड़ा बर्छी की तरह चुभ रहा है । इसे मैं न निगल पाता हूँ और न उगल ही पाता हूँ । मित्र की सहायता का यह समय है, यदि आप कुछ कर सकते हैं तो करें ।'

बोधिसत्त्व ने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि के कारण हड्डी निकालने का उपाय सोच लिया । मुख बिस्तार की माप का काठ लेकर उन्होंने सिंह से कहा—"आप जहाँ तक मुँह खोल सकते हैं खोलिए ।" सिंह ने वैसा ही किया । तब उन्होंने उसके दाँतो

सम्यग्निवेश्य प्रविश्य चास्य गलमूलं तत्तिर्यगवस्थितमस्थिशकलं वदनाग्रेणाभिहृत्यैकस्मिन् प्रदेशे समुत्पादितशैथिल्यमितरस्मिन् परिगृह्य पर्यन्ते विचकर्ष । निर्गच्छन्नेव तत्तस्य वदनविष्कम्भणकाष्ठं निपातयामास ।

सुदृष्टकर्मा निपुणोऽपि शल्यहृन्न तत्प्रयत्नादपि शल्यमुद्धरेत् ।
यदुज्जहारानभियोगसिद्धया स मेधया जन्मशतानुबद्धया ।। ६ ।।
उद्धृत्य शल्येन सहैव तस्य दुःखं च तत्सञ्जनितां शुचं च ।
प्रीतः स शल्योद्धरणाद्यथाऽऽसीत् प्रीतः सशल्योद्धरणात्तथाऽऽसीत् ।।७।।
धर्मता ह्येषा सज्जनस्य ।

प्रसाध्य सौख्यं व्यसनं निवर्त्य वा सहापि दुःखेन परस्य सज्जनः ।
उपैति तां प्रीतिविशेषसम्पदं न यां स्वसौख्येषु सुखागतेष्वपि ।। ८ ।।

इति स महासत्त्वस्तस्य तद्दुःखमुपशमय्य प्रीतहृदयस्तमामन्त्र्य सिंहं प्रतिनन्दितस्तेन यथेष्टं जगाम ।

अथ स कदाचित्प्रविततरुचिरचित्रपत्रः शतपत्रः परिभ्रमन् किञ्चित्क्वचित् तद्विधमाहारजातमनासाद्य क्षुदग्निपरिगततनुस्तमेव सिंहमचिरहतस्य

बीच लकड़ी के उस टुकड़े को ठीक से फँसा दिया, फिर उसके मुँह में घुसकर उन्होंने देखा वह टुकड़ा गले में तिरछा होकर अड़ा था । सावधानी के साथ अपनी चोंच से उसका एक छोर हिलाकर सीधा कर दिया । फिर दूसरे छोर को चोंच से पकड़ कर बाहर खींच लिया । इसके बाद बाहर निकलते समय उस मुख विस्तारक काठ को भी बाहर की ओर ढकेल कर गिरा दिया ।

प्रयत्नपूर्वक एक निपुण शल्य-चिकित्सक भी जिस हड्डी को निकाल नहीं सकता था, उसे उन्होंने जन्म-परम्परा से अनायास प्राप्त बुद्धि से निकाल दिया ।। ६ ।।

उन्होंने उस काँटे के साथ ही सिंह की पीड़ा और उस पीड़ा से उत्पन्न शोक को भी मिटा दिया । काँटे निकलने से जितनी खुशी उस सिंह को हुई, उतने ही खुश बोधिसत्त्व भी थे ।। ७ ।।

सज्जन का यह धर्म है—

सज्जन स्वयं दुःख झेलकर भी दूसरों के दुःख का निवारण करते हैं, दूसरों को सुख पहुँचाकर उन्हें जितनी खुशी होती है, उतनी प्रसन्नता अनायास प्राप्त अपनी सुख-समृद्धि से भी नहीं होता है ।। ८ ।।

इस तरह उस महासत्त्व ने सिंह का दुःख दूर कर, प्रसन्नचित्त, उसका धन्यवाद स्वीकार कर, उससे विदा लेकर अपने अभीष्ट स्थान की ओर चल दिया ।

एक बार आहार की खोज में अपने रंग-बिरंगे पाँखों को फैलाये वे इधर-उधर भटक रहे थे । उन्हें अपने खाने योग्य कोई वस्तु मिल ही नहीं रही थी । इधर भूख

हरिणतरुणस्य मांसमुपभुञ्जानं तद्रुधिरानुरञ्जितवदननखरकेसराग्रं सन्ध्या-प्रभासमालब्धं शरन्मेघविच्छेदमिव ददर्श ।

कृतोपकारोऽपि तु न प्रसेहे वक्तुं स याच्ञाविरसाक्षरं तम् ।
विशारदस्यापि हि तस्य लज्जा तत्कालमौनव्रतमादिदेश ॥ ९ ॥

कार्यानुरोधात्तु तथापि तस्य चक्षुष्पथे ह्रीविधुरं चचार ।
स चानुपश्यन्नपि तं दुरात्मा निमन्त्रणामप्यकरोन्न तस्य ॥ १० ॥

शिलातले बीजमिव प्रकीर्णं हुतं च शान्तोष्मणि भस्मपुञ्जे ।
समप्रकारं फलयोगकाले कृतं कृतघ्ने विदुले च पुष्पम् ॥ ११ ॥

अथ बोधिसत्त्वो नूनमयं मां न प्रत्यभिजानीत इति निर्विशङ्कतरः समभिगम्यैनमर्थिवृत्त्या प्रयुक्तयुक्ताशीर्वादः संविभागमयाचत--

पथ्यमस्तु मृगेन्द्राय विक्रमार्जितवृत्तये ।
अर्थिसम्मानमिच्छामि त्वद्यशःपुण्यसाधनम् ॥ १२ ॥

इत्याशीर्वादमधुरमप्युच्यमानोऽथ सिंहः क्रौर्यमात्सर्यपरिचयादनुचितार्य-

---

की ज्वाला में उनकी देह झुलस रही थी। अचानक उनकी आँखें उस सिंह पर टिक गई। उसी समय वह एक युवा हिरण को मारकर उसका मांस खा रहा था। हिरण के लोहू से उसके मुँह, नाखून और केसर रंगे थे। सांध्य-सुषमा से रंगे शरद्-ऋतु के मेघखण्ड की तरह वह दीख रहा था।

उन्होंने उस सिंह का उपकार किया था, फिर भी उससे वे कुछ माँग नहीं सके। लज्जा ने उन्हें धर दबोचा। बोलने में चतुर होने के बावजूद मौन रहना ही उन्होंने उचित समझा ॥ ९ ॥

फिर भी भूख की ज्वाला के कारण संकोच छोड़कर उसकी आँखों के सामने इधर-उधर घूमने लगे। उस सिंह ने उन्हें देखकर भी अनदेखा कर दिया, उस दुष्ट ने उन्हें खाने पर नहीं बुलाया ॥ १० ॥

जिस प्रकार चट्टान पर बोया गया बीज, तेजरहित राख के ढ़ेर पर डाली गई आहुति बेकार होती है, उसी प्रकार बेंत का फूल और कृतघ्न का किया गया उपकार समय पर काम नहीं आता ॥ ११ ॥

बोधिसत्त्व ने समझा शायद इसने मुझे पहचाना ही नहीं। फिर क्या था निःसंकोच भाव से उसके पास पहुँचकर आशीर्वाद देते हुए उससे उन्होंने याचना की।

अपने पराक्रम से आहार प्राप्त करनेवाले हे मृगराज! आपका कल्याण हो, मैं चाहता हूँ कि आप याचक का सम्मानकर यश एवं पुण्य प्राप्त करें ॥ १२ ॥

सज्जनों के व्यवहार से अपरिचित उस क्रूरकर्मा और द्वेषी सिंह ने गुस्से से

वृत्तिः कोपाग्निदीप्तयाऽतिपिङ्गलया दिधक्षन्निव विवर्तितया दृष्टया बोधिसत्त्वमीक्षमाण उवाच—मा तावद्भोः।

दयाक्लैब्यं न यो वेद खादन् विस्फुरतो मृगान्।
प्रविश्य तस्य मे वक्त्रं यज्जीवसि न तद्बहु ॥ १३ ॥
मां पुनः परिभूयैवमासादयसि याच्ञया।
जीवितेन नु खिन्नोऽसि परं लोकं दिदृक्षसे ॥ १४ ॥

अथ बोधिसत्त्वस्तेन तस्य रूक्षाक्षरक्रमेण प्रत्याख्यानवचसा समुपजातव्रीडस्तत्रैव नभः समुत्पपात। पक्षिणो वयमित्यर्थतः पक्षविस्फारणशब्देनैनमुक्त्वा प्रचक्राम।

अथान्यतमा वनदेवता तस्य तमसत्कारमसहमाना धैर्यप्रयामजिज्ञासया वा समुत्पत्य तं महासत्त्वमुवाच—पक्षिवर! कस्मादिममसत्कारमस्य दुरात्मनः कृतोपकारः सन् संविद्यमानायां शक्तावपि मर्षयसि? कोऽर्थः कृतघ्नेनानेनैव मुपेक्षितेन?

शक्तस्त्वमस्य नयने वदनाभिघाताद्
विस्फूर्जितः प्रमथितुं बलशालिनोऽपि।
दंष्ट्रान्तरस्थमपि चामिषमस्य हतु
तन्मृष्यते किमयमस्य बलावलेपः ॥ १५ ॥

लाल-लाल आँखें तरेरकर इनकी ओर देखा। लगता था जैसे वह अपनी क्रोधाग्नि में इन्हें जला डालेगा। उस मधुर आशीर्वाद की अवहेलना करते हुए उसने कहा—"नहीं।"

दयारूपी कायरता से अपरिचित, तड़पते हिरनों को चीरकर खानेवाले मेरे जैसे सिंह के मुँह में घुस कर तुम जिन्दा बाहर निकल कर इस तरह घूम रहे हो, क्या यह कम है? ॥ १३ ॥

फिर, कुछ माँग कर मुझे अपमानित और पीड़ित कर रहे हो? क्या जीवन तुम्हें भार रूप हो गया है? क्या अब परलोक जाना चाहते हो? ॥ १४ ॥

इस तिरस्कार से काफी लजाकर बोधिसत्त्व आकाश में उड़ गये। पंख फैलाने की आवाज से 'हम पँखेरू हैं' यह कहते हुए वे चले गये।

तब बोधिसत्त्व के इस अपमान को सह नहीं सकने के कारण अथवा उनमें धैर्य कितना है, यह जानने की इच्छा से किसी वनदेवता ने उड़कर उस महासत्त्व के पास पहुँचकर उनसे कहा—हे पक्षिश्रेष्ठ! तुमने तो इसका उपकार किया और इसने तुम्हें दुत्कार दिया। फिर शक्ति रहते हुए भी तुम इसे बर्दाश्त कैसे कर रहे हो? इस कृतघ्न की उपेक्षा करने से क्या लाभ?

माना, यह बलवान् है, फिर भी अपनी चोंच की चोट से झपटकर तुम इसकी

अथ बोधिसत्त्वस्तथाप्यसत्कारविप्रकृतः प्रोत्साह्यमानोऽपि तया वनदेवतया स्वां प्रकृतिभद्रतां प्रदर्शयन्नुवाच–अलमलमनेन क्रमेण। नैष मार्गोऽस्मद्विधानाम्।

आर्ते प्रवृत्तिः साधूनां कृपया न तु लिप्सया।
तामवैतु परो मा वा तत्र कोपस्य को विधिः ॥ १६ ॥

वञ्चना सा च तस्यैव यन्न वेत्ति कृतं परः।
को हि प्रत्युपकारार्थी तस्य भूयः करिष्यति ॥ १७ ॥

उपकर्ता तु धर्मेण परतस्तत्फलेन च।
योगमायाति नियमादिहापि यशसः श्रिया ॥ १८ ॥

कृतश्चेद्धर्म इत्येव कस्तत्रानुशयः पुनः।
अथ प्रत्युपकारार्थमृणदानं न तत्कृतम् ॥ १९ ॥

उपकृतं किल वेत्ति न मे परस्तदपकारमिति प्रकरोति यः।
ननु विशोध्य गुणैः स यशस्तनुं द्विरदवृत्तिमभिप्रतिपद्यते ॥ २० ॥

आँखें तो फोड़ ही सकते हो, इसके दाँतों के बीच से मांस के टुकड़े तो छीन ही सकते हो, तब फिर इसके बल से इस अभिमान को तुम कैसे सह सकते हो ? ॥१५॥

इस तरह अपमानित होने पर तथा वनदेवता के द्वारा इस तरह समझाये जाने पर भी बोधिसत्त्व ने अपने उत्तम स्वभाव का परिचय देते हुए कहा—'यह रास्ता ही गलत है।' हमारे जैसे प्राणियों के लिए यह मार्ग बिल्कुल उचित नहीं है।

दुःख में पड़े हुए व्यक्ति का उपकार कोई सज्जन दया से प्रेरित होकर ही करता है, न कि किसी तरह के लाभ की इच्छा से। उस उपकार को वह माने या न माने इसके लिए क्रोध क्यों किया जाय ? ॥ १६ ॥

यदि वह उपकार को नहीं मानता है तो फिर, इससे तो उसी की हानि होगी, क्योंकि प्रत्युपकार चाहनेवाला कोई व्यक्ति फिर उसका उपकार कैसे करेगा ? ॥१७॥

उपकार करनेवाले का धर्म होता है, परलोक में उस धर्म का फल तथा संसार में यश निश्चित रूप से उसे मिलता है ॥ १८ ॥

यदि धर्म समझकर किसी ने किसी का उपकार किया तो फिर अनुताप क्यों ? यदि प्रत्युपकार की आशा से किसी का उपकार किया तो, वह ऋणदान था, उपकार नहीं ॥ १९ ॥

वह मेरे उपकार को नहीं मानता, यह सोचकर यदि कोई किसी का अपकार करता है, तो वह गुणों से अपने यशरूपी शरीर को शुद्धकर हाथी की वृत्ति अपनाता है ॥ २० ॥

न वेत्ति चेदुपकृतमातुरः परो न योऽपरतेऽपि स गुणकान्तया श्रिया।
सचेतसः पुनरथ को भवेत्क्रमः समुच्छ्रितं प्रमथितुमात्मनो यशः ॥२१॥

इदं त्वत्र मे युक्तरूपं प्रतिभाति—

यस्मिन् साधूपचीर्णेऽपि मित्रधर्मो न लक्ष्यते।
अनिष्ठुरमसंरब्धमपयायाच्छनैस्ततः ॥ २२ ॥

अथ सा देवता तत्सुभाषितप्रसादितमनाः साधु साध्विति पुनरुक्तमभि-
शस्य तत्तत्प्रियमुवाच –

ऋते जटावल्कलधारणश्रमाद्भवानृषिस्त्वं विदितायतिर्यतिः।
न वेषमात्रं हि मुनित्वसिद्धये गुणैरुपेतस्त्विह तत्त्वतो मुनिः ॥ २३ ॥

इत्यभिलक्ष्य प्रतिपूज्यैनं तत्रैवान्तर्दधे।

तदेवं प्रोत्साह्यमानोऽपि साधुर्नालं पापे प्रवर्तितुमनभ्यासादिति सज्जन-
प्रशंसायां वाच्यम्। एवं क्षान्तिकथायामप्युपनेयम्–एवं क्षमापरिचयान्न वैर-
बहुलो भवति, नावद्यबहुलो बहुजनप्रियो मनोज्ञश्चेति। एवं प्रतिसंख्यान-
बहुलाः स्वां गुणशोभामनुरक्षन्ति पण्डिता इति प्रतिसंख्यानवर्णे वाच्यम्।

यदि कोई चंचल प्राणि किसी के द्वारा किये गये उपकार को नहीं मानता है, तो
... गुणों की शोभा नहीं मिलेगी, किन्तु कोई ज्ञानी प्राणी किसी का अपकार कर
... उज्ज्वल यश को नष्ट करे क्या यह उचित होगा ? ॥ २१ ॥

ऐसी स्थिति में मुझे तो यही उचित लगता है—

यदि उपकार करने पर भी कोई मित्र धर्म का पालन न करें, तो उस पर
... जुगुप्सा किये धीरे-धीरे कोमलता के साथ वहाँ से हट जाना चाहिए ॥ २२ ॥

इन सुभाषितों से खुश होकर उस वनदेवता ने उन्हें साधुवाद ज्ञापित कर
...की भूरि-भूरि प्रशंसा की और बहुत सारे प्रियवचन कहे।

यद्यपि आप जटा और वल्कल नहीं धारण करते, फिर भी आप ऋषि हैं।
...विष्यवेत्ता यति हैं। केवल वेष बदल लेने से कोई मुनि नहीं हो जाता, किन्तु जो
...ी हैं, वही वास्तव में मुनि है ॥ २३ ॥

इस तरह उनकी विशेषता का उल्लेख कर तथा उनकी पूजा कर वे वहीं
...न्तर्धान हो गये।

इस तरह बहकाये जाने पर भी सज्जन अभ्यास के अभाव में पापकर्म में कभी
...त्त नहीं होते हैं। सज्जनों की प्रशंसाक्रम में इसकी चर्चा करनी चाहिए। क्षमा
अभ्यास से प्रायः शत्रुता नष्ट हो जाती है। उसकी निन्दा कोई नहीं करता।
...माशील व्यक्ति लोकप्रिय और सबके लिए आनन्ददायक होता है। अतः क्षमा के
...ंग में इस कथा का उल्लेख करना चाहिए। विवेकी पण्डित अपने गुणों की रक्षा

तथागतमाहात्म्ये च भद्रप्रकृत्यभ्यासवर्णे च–एवं भद्रप्रकृतिरभ्यस्ता तिर्यग्गता-नामपि न निवर्तत इति ।

॥ इति शतपत्र-जातकं चतुस्त्रिंशत्तमम् ॥

॥ कृतिरियमार्यशूरपादानाम् ॥

हर हालत में करते हैं। अतः विवेक की प्रशंसा में यह कथा कहनी चाहिए। तथागत के माहात्म्य में और उत्तम स्वभाव की प्रशंसा में यह कथा कहनी चाहिए। क्योंकि उत्तम स्वभाव का यदि अभ्यास किया जाय, तो पशु-पक्षी की योनि में पड़ने पर भी उत्तम स्वभाव नष्ट नहीं होता है।

शतपत्र-जातक चौतीसवाँ समाप्त।

यह रचना आर्यशूर की है।

श्लोकानुक्रमणिका